हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

जनवरी, १९२७

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी, जनवरी, १९३७

संपादक—रामचंद्र टंडन

संपादक-मंडल

लेख-सूची

वार्षिक मूल्य ५) एक प्रति का १) डाक-व्यय अलग

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ७ } जनवरी, १९३७ { अंक १

मथुरा कला में ब्राह्मणधर्म-संबंधी देवताओं की मूर्तियाँ

[लेखक—श्रीयुत वासुदेवशरण अग्रवाल, एम्० ए०]

भगवान् कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा जिस प्रकार भारतवर्ष के धार्मिक और साहित्यिक इतिहास में अग्रणी है, उसी प्रकार भारतीय कला में भी उस का प्रमुख स्थान है। धर्म, साहित्य, और कला की रम्य त्रिवेणी ने इस पुण्यभूमि को कृतार्थ किया है। भागवत-धर्म की भक्ति-प्रधान सरिता का अमृत-स्रोत ब्रज के महावनों में से निकल कर नित्य वर्धमान प्रवाह से देश के विपुल भाग को तृप्त करता रहा है। ब्रज के भक्तिमय साहित्य का विस्तार भी अपनी शाखा-प्रशाखाओं द्वारा बहुव्यापी हुआ है। धर्म और साहित्य के समान मथुरा की कला ने भी भारतवर्ष की कला पर अपना गहरा प्रभाव डाला है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि मथुरा के शिल्पी लगभग बारह सौ वर्षों तक भास्कर शिल्प और स्थापत्य की एक से एक विचित्र सृष्टि करते रहे। उन के वेदिका-स्तंभों पर उत्कीर्ण स्त्रियों की मूर्ति या शालभंजिकाओं के सौंदर्य की तुलना में रखने के लिए हमारे पास अन्य कुछ नहीं है। वामनीभूत कुब्जकों के वाहनों पर चापभुग्नगात्रों से आसीन युवतियों की सुभग मूर्तियाँ मथुरा की शिल्प-संपत्ति का अद्भुत उदाहरण मानी जाती हैं। नाना भाँति के

चित्रण, बहिर्द्वार, तोरण, वेदिका, उष्णीप, सूची, सिहाकृति-स्तंभ, आयागपट्ट तथा अन्य विविध शिलापट्टों में अभिव्यक्त माथुरी शिल्प-श्री की जितनी प्रशंसा की जाय कम है।

कला, साहित्य, तथा धर्म की त्रिवेणी के पुण्य-संगम की भाँति मथुरा अन्य दो त्रिवेणियों का भी तीर्थराज है। भारतवर्ष के पञ्चनद-सिंचित विशाल बाहीक प्रांत में प्रवेश करने के लिए देहली-द्वार के समान ही सदा से शूरसेन प्रदेश का भी बहुत अधिक महत्व रहा है। इस प्रदेश में शक-पह्लव, यूनानी, और भारतीय—तीनों ही सभ्यताओं की धाराएँ बही हैं। शकों की प्रतापी कुषाण-शाखा के सम्राट् कनिष्क और उन के पूर्वज 'सर्वलोकेश्वर महाराजाधिराज, परममाहेश्वर सत्यधर्मस्थित' श्री वेम कैडफासिस के राज्यकाल मे धार्मिक आंदोलनों की बाढ़ सी आ गई थी। मथुरा में शक-जाति की सभ्यता को भारतीय सभ्यता ने आत्मसात् कर लिया। उदीच्यवेषधारी कुषाणों को अपना कर उन को अपनी ही संस्कृति के रंग में रग लेना मथुरा के धर्म-गुरुओं का महत्वपूर्ण कार्य था। कुषाणो से पूर्व और उन के समय में भी यूनानी संस्कृति की छाप मथुरा पर पड़ी जिस के अकाट्य प्रमाण यहाँ की कला में मिलते हैं। इस प्रकार तुषार, यवन, और भारतीय संस्कृतियों के विलक्षण समन्वय का सौभाग्य मथुरा को प्राप्त हुआ।

मथुरा की तीसरी त्रिवेणी बौद्ध, जैन और हिंदू धर्म का सम्मिलन है। ईस्वी द्वितीय शताब्दी पूर्व से ही यहाँ के स्वच्छंद वातावरण में तीनों धर्मो के अनुयायी प्रीतिपूर्वक अपने उच्च जीवन का विकास कर रहे थे। बौद्धों के बुद्ध, जैनों के तीर्थंकर, और हिंदुओ के त्रिदेव तथा देवियों की अनेक मूर्तियाँ मथुरा मे पाई गई हैं। एक प्रकार से मथुरा को ही तीनों धर्मो की देव-प्रतिमाओं के प्रथम निर्माण का श्रेय प्राप्त है। बौद्ध और जैन मूर्तियो के संबंध में पहले विद्वानों द्वारा बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इस लेख में हम मथुरा की ब्राह्मणधर्म-संबंधी मूर्तियो की ही विशेष चर्चा करेंगे।

भारतवर्ष में मूर्ति-निर्माण का प्रारंभ कब हुआ इस विषय में विद्वानों में अनेक मतभेद हैं। यहाँ उस का ऐतिहासिक निरूपण न करके हम यह दिखलाना चाहते है कि ईस्वी प्रथम शताब्दी के प्रारंभ होते-होते मथुरा में हिंदू देवताओं की मूर्तियो के रूप हमें उपलब्ध हो जाते हैं। ईस्वी तीसरी शताब्दी तक के तीन सौ वर्षो मे, जिसे कुषाण-काल भी कहते है प्राय सभी प्रधान हिंदू मूर्तियों के स्वरूप बहुत कुछ निश्चित हो चुकते है मूर्ति विद्या

या इकानोग्राफ़ी की दृष्टि से मथुरा की कुषाण-कला भारतवर्ष में सब से अधिक महत्व रखती है। बौद्ध, जैन, और हिंदू मूर्तियों की सर्वप्रथम रचना-शैली या प्रारंभिक रूप को समझने के लिए हमें मथुरा की ही शरण लेनी पड़ती है। कुषाण-काल के बाद का गुप्त-काल (३००–६०० ई०) भारतीय कला की उन्नति का सुवर्ण-युग कहलाया। उस समय भी हिंदू देवी-देवताओं के नवीन-रूपों की कल्पना का सूत्र जारी रहा, और पूर्व-कल्पित रूपों का उत्तरोत्तर विकास और संस्कार होता रहा। हमारे लिए कुषाण और गुप्त-काल की मूर्तियाँ ही अधिक महत्व रखती है। उस के बाद आने वाले मध्ययुग में मथुरा के अतिरिक्त अन्य केंद्रों में भी मूर्तियों का निर्माण बहुतायत से होने लगा था और उन की तुलना में मथुरा की महत्ता फीकी पड चुकी थी। अतएव यहाँ हम कुषाण और गुप्त-काल को लेकर ही मथुरा की ब्राह्मण-मूर्तिकला का वर्णन करेंगे।

त्रिदेव

भारतीय मूर्ति-विद्या का वैज्ञानिक श्रेणी-विभाग करते समय हमें ब्रह्मा, विष्णु, और शिव-रूप त्रिमूर्ति या त्रिदेव का आश्रय लेना चाहिए। इस देश के दर्शन-शास्त्र, तत्वज्ञान और धर्म का सरल सूत्र यह है कि एक ही मूलतत्व सृष्टि-प्रक्रिया के लिए तीन प्रकार से विभक्त हो जाता है। महाकवि कालिदास ने कहा है–

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा।

अथवा–

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे ॥

अर्थात् सृष्टि के पूर्व जो तत्व अकेला रहता है, वही सृष्टि का कार्य चलाने के लिए सत, रज, तम–इन तीन गुणों–के कारण विष्णु, ब्रह्मा और शिव इन तीन रूपों में प्रगट होता है। सृष्टि को जन्म देने वाली मूर्ति ब्रह्मा है, स्थिति या प्रतिपाल करने वाले देव विष्णु हैं, और संहार करने वाली शक्ति रुद्र या शिव है। महाभारत में इन तीनों रूपों का स्पष्टीकरण और विकास निश्चित रूप से मिलता है। साहित्यिक और धार्मिक वर्णनों के अनुसार ही कला के वर्ण्य विषय बनते हैं। अतएव मथुरा की आरंभ-काल की कला में त्रिदेवों का चित्रण खूब उपलब्ध होता है।

ब्रह्मा

वैदिक साहित्य और पुराणों मे ब्रह्मा का प्रजापति-रूप से विशद वर्णन पाया जाता है। ब्रह्मा की एक संज्ञा हिरण्यगर्भ है। हिरण्य-नामक ब्रह्मांड जिन के गर्भ में था वे प्रजापति हिरण्यगर्भ हैं। प्रजापति-रूप में मत्स्य, कूर्म, वराह, अवतार भी ब्रह्मा ने धारण किए। ब्रह्मा को चतुरानन भी कहा जाता है। चार वेदों के प्रवक्ता होने के कारण ब्रह्मा चतुर्मुख है। ब्रह्मा का संबंध वेदविद्या और यज्ञविद्या से था अतएव उन के हाथों में वेद, कुशा, स्रुवा, स्रुक्, कमंडलु, अक्षमाला आदि चिन्हों की कल्पना की गई थी, जिन का विशेष संबंध स्वाध्याय और कर्मकांड के साथ हो सकता है। दुर्भाग्य से ब्रह्मा की उपासना का अधिक प्रचार नहीं हुआ। कहा जाता है कि शिव के रूप की इयत्ता को नापने के लिए ब्रह्मा और विष्णु दोनों ने प्रयत्न किया। विष्णु ने शिव की अनंतता को पहचान कर 'नेति, नेति' द्वारा उन के सामने श्रद्धांजलि अर्पित की, परंतु ब्रह्मा जी ने उन को ज्ञानगम्य मान कर यह कहा कि हम ने शिव के अंत को जान लिया। इस असत्य एवं दर्पोक्ति के कारण ब्रह्मा को उपास्य देवों की पंक्ति मे से पृथक् कर दिया गया। इसी कारण ब्रह्मा के मंदिरों का अभाव है। यह कथा एक दार्शनिक सत्य को अर्थात् 'ईश्वर अनंत है' बताने के लिए तो उपयोगी हो सकती है परंतु ब्रह्मा की श्रद्धा या आदर इस से कम नही हो सकता। किसी समय ब्रह्मा की पूजा का भी यथेष्ट प्रचार था। पुराणों की कथाओ के विकास के साथ ब्रह्मा के भी बहुत से कार्यों का अंतर्भाव विष्णु के रूप में कर लिया गया। दूसरे काव्यात्मक वर्णनों के लिए ब्रह्मा का चरित्र उतना उपयुक्त नही मालूम हुआ जितना शिव और विष्णु का। इस लिए भी ब्रह्मा का स्थान और चर्चा गौण पड़ गई।

मथुरा-संग्रहालय में ब्रह्मा की दो मूर्तियाँ कुषाण-काल की है। चित्र संख्या १ में चतु-र्मुखी ब्रह्मा की बहुत ही अद्भुत मूर्ति है। भारतवर्ष की कला में यह ब्रह्मा की सब से पुरानी मूर्ति कही जा सकती है। ब्रह्मा के तीन मुख तो एक रेखा में हैं अर्थात् मध्य शिर के दाएँ-बाएँ दो सिर और दिखाए गए हैं। चौथा मुख बीच वाले सिर के पीछे मनुष्य की पूर्वकाय-मूर्ति (बस्ट) के रूप में बनाया गया है। इस में बौद्ध मूर्तियों की तरह अभयमुद्रा और छाया-मंडल भी दिखाए गए है।

इस मूर्ति के पृष्ठभाग पर एक अशोक-वृक्ष अंकित है (चित्र संख्या २)। इस अशोक वृक्ष का ब्रह्मा जी के साथ क्या अर्थ लगाया जाय, इस विषय पर विद्वानों का बहुत मतभेद है। मथुरा-संग्रहालय में एक बहुमुखी नागी की मूर्ति है जिसे पंचात्मिका शक्ति भी कहते हैं। (एफ्० २) इस नागराज्ञी के पृष्ठभाग में भी एक अशोक वृक्ष है। प्रस्तुत ब्रह्मा जी से रचना में बिल्कुल मिलती-जुलती इंद्र की एक मूर्ति है। वह लगभग इसी समय की है, इतनी ही बड़ी है और इसी रंग के सफ़ेद पत्थर की है (मथुरा म्यूज़ियम, ३९२)। उस के पृष्ठभाग पर भी अशोकवृक्ष बना हुआ है। हमारी सम्मति मे इस प्रकार के वृक्ष का जो अर्थ इंद्र और नागराज्ञी मूर्तियों में है वही ब्रह्मा की मूर्ति मे भी लगाना चाहिए। इन देवों को वृक्षादि देवता नहीं कह सकते और न किसी विशेष वृक्ष के साथ इन का संबंध साहित्य में ही प्राप्त होता है। ऐसी दशा में वृक्षों को केवल सजावट के लिए बनाया हुआ मान सकते हैं। अशोकवृक्ष कुषाण-काल की कला में सब से अधिक प्रिय और व्यापक पेड़ था। केवल शोभा-व्यंजना के लिए भी उस का उपयोग होता था। अशोक के नीचे खड़ी हुई तरुण स्त्रियाँ, अशोक-दोहद के दृश्य अथवा अशोक-पुष्प की क्रीड़ाओं मे प्रसक्त युवतियों के चित्रण मथुरा कला में बहुतायत से पाए जाते हैं। उन्ही की शैली पर इन देव-मूर्तियों में भी अशोक का चित्रण शोभार्थ ही समझना चाहिए। मथुरा के संग्रहालय में ब्रह्मा जी की एक दूसरी मूर्ति है जो इस से छोटी और मँजीठी पत्थर की बनी हुई है। उस में भी सिरों की रचना की युक्ति इसी प्रकार की है (चित्र-संख्या ३)।

मध्यकाल की बनी हुई एक बहुत ही सुंदर ब्रह्मा जी की मूर्ति महावन से मिली थी (डी २२) इस में चतुर्भुजी ब्रह्मा जी सावित्री के साथ पद्मासन पर बैठे हुए हैं—

पद्मपत्रासनस्थश्च ब्रह्मा कार्यश्चतुर्मुखः।

सावित्री तस्य कर्तव्या वामोत्संगगता तथा॥

(आदित्यपुराण)

अर्थात् कमलासन पर चतुर्मुखी ब्रह्मा और उन के बाएँ अंग में सावित्री को बनाना चाहिए। ब्रह्मा का दाहिना पैर और सावित्री का बायाँ पैर दो हंसो की पीठ पर रक्खा हुआ है। ब्रह्मा जी के हाथो में स्रुवा, पद्म, और वेद है। सावित्री दर्पण लिए हुए है। मूर्ति के दाहिने-बाएँ कोनों में दो विद्याधर-युगल है। यह सुंदर मूर्ति लगभग सातवीं आठवी शताब्दी की होनी चाहिए। सावित्री के साथ ब्रह्मा जी की मूर्तियाँ बहुत कम मिलती हैं- इस लिए भी

यह प्रतिमा महत्वपूर्ण है। शुद्ध कला की दृष्टि से भी यह प्रतिमा शांतभाव की अभिव्यक्ति और रचना-सौष्ठव के लिए बहुत सराहनीय है (चित्र ४)।

विष्णु

देवों में विष्णु का स्थान बहुत ऊँचा है। ऋग्वेद में भी विष्णु के पराक्रमों के अनेक आलंकारिक वर्णन हैं। सूर्य की भी विष्णु संज्ञा पाई जाती है। अनेक प्रकार से विष्णु के रूपों का विस्तार पाया जाता है। कालिदास ने विष्णु की स्तुति में कहा है—

नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनुबिभ्रते।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने ॥

(रघुवंश, १०।१६)

अर्थात् सर्व-प्रथम तुम विश्व का सृजन करते हो, उस के पश्चात् उस का भरण करते हो और अंत में तुम्हीं विश्व का संहार करते हो। इस प्रकार तुम्हारे त्रेधा-स्थित स्वरूप को प्रणाम है। इस से ज्ञात होता है कि त्रिदेवों का समन्वय कभी विष्णु में देखा जाता था और कभी शिव में। शिव और विष्णु पृथक् देव होते हुए भी अभिन्न रूप हैं। इस प्रकार का सहिष्णु धार्मिक भाव कुषाण-काल और गुप्त-काल की विशेषता थी।

भारतवर्ष में विष्णु की पूजा के पुरातत्वगत प्रमाण द्वितीय शताब्दी ईस्वी पूर्व से मिलते हैं। यवन राजदूत हीलिओडोरस का गरुड़ध्वज प्रसिद्ध ही है। चित्तौरगढ़ के पास की नगरी स्थान में संकर्षण और वासुदेव के प्रासादों का वर्णन करने वाले शिलालेख मिले हैं। स्वयं मथुरा में महाक्षत्रप सुदास के समय (लगभग प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व) का एक तोरण मिला है जिस के लेख में भगवान् वासुदेव के प्रासाद के चतुःशाल तोरण का वर्णन है। परंतु विष्णु की सब से पहली विग्रहमूर्ति मथुरा-कला में कुषाण-काल में पाई जाती है। विष्णु की सब से पुरानी मूर्ति बोधिसत्व-मूर्तियों का रूपांतर है। मुकुट आभरणधारी बोधिसत्व-मूर्तियों में दो हाथ होते हैं। उन्हीं को चतुर्भुजी बनाने से विष्णु-मूर्ति की कल्पना की गई थी (चित्र सं० ५)। विष्णु के दाहिने हाथ में स्थूल गदा और बाएँ में चक्र है। निचला दाहिना हाथ बोधिसत्व की भाँति अभयमुद्रा में है और बायाँ हाथ शंख के सदृश कुछ लिए हुए है। कुषाण-कालीन बोधिसत्व की तरह ही इस में आभूषण और वस्त्र हैं।

चित्र सं० ६ का शिलापट्ट भी कुषाण-कालीन है (ईस्वी द्वितीय शताब्दी)। इस पर नवजात कृष्ण को ऊपर उठाए हुए वसुदेव के यमुना पार करने का दृश्य है (मथुरा म्यूज़ियम, १३४४)। कछवे, मछली, मगर आदि जल-जंतु स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। यमुना की लहरें भी बनाई गई हैं। सामने हाथ जोड़े पर नाग की मूर्ति है। कृष्ण की जीवन-लीला के साथ संबंध रखने वाली कुषाण-काल की यह अकेली मूर्ति है, और भारतवर्ष में अपने ढग की सब से प्राचीन मूर्ति है। इसके बाद पहाड़पुर (बंगाल) के मदिर में से ही गुप्त-काल की कृष्णलीला-संबंधी मूर्तियाँ मिली हैं।

चित्र सं० ७ में मिट्टी का एक छोटा खिलौना है, जिस में गुप्त-समय की विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति दिखाई गई है। विष्णु के केश घुँघराले हैं, और वे जाँघियेदार धोती पहने हुए हैं। दाहिनी ओर चक्र और बाईं ओर गदा-रूप आयुध है। यह मूर्ति अन्यत्र अप्रकाशित है। परमभागवत गुप्त-सम्राट् श्री चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने हमारे अनुमान से मथुरा की कटरा केशवदेवभूमि पर एक विष्णुमदिर का निर्माण कराया था।[1] उन्ही के समय में मथुरा नगरी में विष्णुपूजा का अतिशय प्राधान्य हुआ प्रतीत होता है, जब कि बच्चो के सामान्य खिलौनों के रूप में विष्णु की इतनी सुदर मूर्तियाँ बाजारो में बिकती थी।

परंतु गुप्त-काल की एक सर्वोत्तम और भव्य विष्णु की मूर्ति भी मथुरा के संग्रहालय मे है (ई० ६) (चित्र ८)। चतुर्भुजी विष्णु, किरीट, मुकुट, हारावली, मुक्ताकलाप, कुंडल, अगद, वैजयंती, यज्ञोपवीत, मेखला, नेत्र-सूत्र आदि से अत्यंत सुभग जान पड़ते हैं।

अंतर्मुखी ध्यान में लीन भाव-मुद्रा गुप्त-काल की विशेषता है। मानों कलाकार ने समाधिगृहीत शक्ति के भंडार को विष्णु की मुखाकृति द्वारा व्यक्त किया है। गात्रों का घन सन्निवेश भी ऊर्जित शक्ति का सूचक है। पर इस के साथ एक अलभ्य शांति और स्थिरता है जो आत्मानुभव से ही जाति या व्यक्ति में उत्पन्न होती है। गुप्त-काल की महाप्रजाओं ने आत्मोद्धार के लिए जिन दिव्याभरण-भूषित, व्यूढोरस्क, भुजगेंद्रबाहु आदि पुरुष का आवाहन विष्णु के रूप में किया था उन का आभास बहुत अंश में कलाकार ने इस सुदर प्रतिमा द्वारा व्यक्त किया है।

---

[1] काशी के 'गीताधर्म' में प्रकाशित 'कृष्णजन्मभूमि' शीर्षक हमारा लेख देखिए।

इस प्रतिमा से मिलती-जुलती एक दूसरी विष्णुमूर्ति (मथुरा म्यूज़ियम, २५२५) अभी हाल में प्राप्त हुई है (चित्र ९)। कला की उत्कृष्टता में यह पहली मूर्ति से उन्नीस है, परंतु मूर्तिशास्त्र के लिए इस का महत्व बहुत अधिक है। यह नृसिंह-वराह-विष्णु मूर्ति है अर्थात् वे विष्णु जिन्हों ने प्रलयमग्ना पृथिवी का वराह-रूप से उद्धार किया और असुरों के उपप्लवों से त्रस्त भक्तों की रक्षा के लिए नृसिंह रूप से दुष्टों का विदारण किया। 'शकमुरुंड शाहानुशाहि' और हूणों से पादाक्रांत पृथिवी का उद्धार करने वाले परम-भागवत महीपतियों ने नृसिंह-वराह-विष्णु की पूजा को पसंद किया हो तो आश्चर्य नहीं। इस प्रकार की और भी कई मूर्तियाँ मथुरा के संग्रहालय मे मौजूद हैं।

चित्र सं० १० में मिट्टी के चौखटे में नृसिंह-वराह-विष्णु की बैठी हुई मूर्ति है। इस में बाएँ कंधे पर वराह का मुख है, दाहिने कंधे पर का नृसिंह मुख टूट गया है। विष्णु वैजयंती पहने हुए हैं। उन के दाहिनी ओर एक पुरुष और बाईं ओर एक स्त्री की मूर्ति है जिन को विष्णु हाथों से छू रहे हैं। ये चक्र और गदा के उपलक्षण आयुध-पुरुष हैं। मनुष्य के विग्रह में आयुधों का चित्रण गुप्त-काल में पहली बार पाया जाता है। महाकवि कालिदास ने कौशल्यादि रानियों के स्वप्नों का वर्णन करते हुए लिखा है—

गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः।
जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभिः ॥

(रघुवंश, १०।६०)

अर्थात् स्वप्न में उन्हों ने अपने आप को वामन पुरुषों द्वारा जिन के ऊपर चक्र, गदा, पद्म, खड्ग और धनुष के चिन्ह थे रक्षित देखा। इस का तात्पर्य यही है कि विष्णु के आयुध-पुरुषों से अपने आप को (अपने अंदर गृहीत वैष्णव-तेज को) गुप्त देखा। वामनीभूत आयुध-पुरुषों की कल्पना इस मूर्ति में स्पष्ट देख पड़ती है। घरों को सजाने के लिए इस प्रकार के चौखटे गुप्त-काल में बहुत प्रयुक्त होते थे।

लगभग छठी शताब्दी की एक मूर्ति गोवर्धनधारी कृष्ण की है (चित्र ११)। ऊपर वसुदेव के यमुना पार जाने के जिस शिलापट्ट का वर्णन हुआ है, उस के बाद यही मूर्ति मथुरा में ऐसी मिली है जिस का गोपाल-कृष्ण की लीलाओं के साथ संबंध कहा जा सकता है। कृष्ण की तो इस को मथुरा कला में सर्व प्रथम मूर्ति ही कहना चाहिए। यह मूर्ति मथुरा शहर के गतश्रम नारायण-मंदिर के पास से मिली थी। मालूम पड़ता है वहाँ विश्रांत-

घाट के समीप गुप्तोत्तरकाल में विष्णु का एक मंदिर था। यह मूर्ति उतरती हुई गुप्त कला का अच्छा उदाहरण है।

त्रिविक्रम विष्णु

विष्णु के दशावतारों में से केवल त्रिविक्रम विष्णु की मूर्ति मथुरा की कला में प्राप्त हुई है (चित्र १२)। यह गुप्त-काल की मूर्ति है जो उसी समय के विष्णु-मंदिर में जो कटरा केशवदेव की भूमि पर गुप्त-सम्राटों ने बनवाया था लगी थी। इस मूर्ति में विराट् रूपधारी विष्णु बाएँ पैर को बढ़ा कर द्युलोक को नाप रहे हैं। पैर के पास एक असुर का सिर है। ऊपर ऋक्षराज जांबवंत हर्ष से भगवान् की स्तुति कर रहे हैं। नीचे एक स्त्री विष्णु की वंदना कर रही है। विष्णु के त्रेधा-विचंक्रमण की कथा वेदों और पुराणों में प्रसिद्ध है। उस की कलात्मक अभिव्यक्ति सर्वप्रथम गुप्त-काल में ही देखी जाती है, और वह भी मथुरा में।

बलदेव या बलराम

मथुरा जिले के बाजना गाँव से मिली हुई बलराम की एक चतुर्भुजी मूर्ति लगभग चौथी शताब्दी की है (चित्र १३)। बलराम की मूर्तियों का विकास कुषाण-कालीन नागमूर्तियों से हुआ है। नागों की भाँति ही बलराम दाहिना हाथ सिर से ऊपर नृत्यमुद्रा में उठाए हुए हैं और बाएँ हाथ में वारुणी-पात्र लिए हैं। ऊपर फनों का घटाटोप है।

इस से भी प्राचीन बलराम की एक बड़ी मूर्ति जो मथुरा-गोवर्धन सड़क पर जुनसुटी गाँव से रायबहादुर पंडित राधाकृष्ण को मिली थी, इस समय लखनऊ के अजायबघर में है।

शिव

महाकवि कालिदास के ग्रंथ शिव के वर्णनों से भरे पड़े हैं। उन के युग में शिव की पूजा अनेक रूपों में प्रचलित मालूम होती है। उन से भी पहले कुषाण-वंशी सम्राटों के सिक्कों पर नन्दीवृष के साथ खड़े हुए शिव की मूर्तियाँ पाई जाती हैं। महाराजाधिराज वेम कैडफाइसिज द्वितीय ने अपने आप को 'सर्वलोकेश्वर सत्यधर्मस्थित परममाहेश्वर' के

बिरुदों से अलंकित किया था। इन्ही सम्राट् के एक सिक्के पर पंचमुखी शिव की मूर्ति भी पाई गई है। कुषाण-काल ओर गुप्त-काल में शिव-पूजा की ओर लोगों की रुचि बहुत बढ़ी। शैवधर्म के इतिहास में मथुरा का भी बहुत महत्व है जैसा कि चंद्रगुप्त द्वितीय के नए स्तंभ-लेख से विदित होता है, जिस में शैवाचार्यो द्वारा दो शिवलिंगों की स्थापना का उल्लेख है। डाक्टर भंडारकर ने इस लेख का ऐतिहासिक निरूपण करते हुए सिद्ध किया है कि लगभग प्रथम शताब्दी ईस्वी में मथुरा में लकुलीश शैवाचार्यो का केंद्र हो गया था। पुरातत्व-शास्त्र के अनुसार दक्षिण में गुडीमल्लम् स्थान का शिवलिंग सब से प्राचीन माना जाता है (डाक्टर कुमारस्वामी के मत से ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी के लगभग)। श्री राखालदास बनर्जी उसे कुछ नया मानते थे। यहाँ हम जिस शिवलिंग का वर्णन करते है वह ईस्वी प्रथम शताब्दी के लगभग कुषाण-काल का है। इस में कोट पाजामा पहने उदीच्यवेषधारी दो कुषाण-जाति के भक्त शिवलिंग की पूजा कर रहे है (चित्र १४) एक के हाथ मे माला है और दूसरे के पास कमल के फूलों का गुच्छा है। बाई ओर सुदर अंगूरी बेल है जिस पर मयूर बैठा हुआ है। ऊपर एक देवता पुष्पवृष्टि करता हुआ दिखाया गया है। इस मूर्ति का ढग कुषाण-कालीन बौद्ध-मूर्तियों से मिलता हुआ है। इस के दो शताब्दी बाद का एक अत्यंत विचित्र शिवलिंग मथुरा में रायबहादुर राधाकृष्ण को प्राप्त हुआ जो उन्हो ने विदेश में भेज दिया था। पर उस का वर्तमान ठिकाना ज्ञात नहीं है। यह शिवलिंग गुडीमल्लम् के शिवलिंग से मिलता हुआ है, अर्थात् इस में भी लिंग के आश्रित शिव की पुरुष-विग्रह मूर्ति भी बनाई गई है। शिव चतुर्भुजी हैं। उन की चेष्टा ऊर्ध्वरेत दिखाई गई है। शिव के पैरों के पास गणों की मूर्तियाँ है (चित्र १५)। मूर्तिशास्त्र की दृष्टि से यह मूर्ति बहुत ही विलक्षण महत्व रखती है, क्योंकि इस में शिव के दोनों स्वरूपों (लिंग-रूप और पुरुषविग्रह-रूप) का समन्वय है।

जान पड़ता है कि लिंग-रूप के अतिरिक्त शिव के साक्षात् दर्शन की कल्पना गुप्त-काल में बहुत लोकप्रिय थी। मथुरा में एकमुखी शिवलिंग की छोटी-बड़ी अनेक मूर्तियाँ पाई गई हैं। गुप्तकालीन इन शिवमूर्तियों का सौंदर्य बहुत ही आकर्षक है। भूम्रा और खोह स्थानों के शिवलिंग अपनी सुंदरता के लिए प्रसिद्ध ही हैं। उसी शैली का एक शिवलिंग चित्र सं० १६ में दिखाया गया है। चित्र सं० १७ में पंचमुखी शिवलिंग का एक उदाहरण है (मथुरा म्यूजियम ५१६)। इस मर्ति में जो शिव के पाँच मुख थे उन के नाम क्रमश ये

हैं—ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव, सद्योजात। पूर्वदिशा की ओर रहने वाला ऊपर स्थित ईशान-नामक मुख इस में टूट गया है। योग की परिभाषा में पंचप्राणों द्वारा जो भाव व्यक्त किया जाता है, उसी को पौराणिक भाषा में शिव के पंचमुखी रूप द्वारा प्रगट करते हैं। वस्तुतः शिव योगविद्या के आचार्य हैं। शिव के योगीश्वर-रूप का चित्रण कालिदास ने अपने 'कुमारसंभव' नामक काव्य में किया है।

मथुरा में शिव-पार्वती की एक अद्भुत मूर्ति मिली है। इस में नंदीवृष के सहारे शिव-पार्वती आलिंगन मुद्रा में खड़े हैं। शिव जी के दो हाथ हैं। शिव ऊर्ध्वमेढ्र मुद्रा में हैं। उन के बाएँ हाथ में उत्पल-कलिका है, जो विवाह के उपरांत पार्वती के साथ विहार करने की सूचक है (चित्र १८)। इस मूर्ति में पृष्ठभाग की ओर भी ठीक सामने की तरह ही शिव-पार्वती और नंदी का दर्शन है। यह मूर्ति गुप्त-कालीन कला का सुंदर उदाहरण है।

शिव-लीला

शिव की अनेक लीलाओं में से अभी तक केवल एक का उदाहरण मथुरा में उपलब्ध हुआ है (मथुरा म्यूज़ियम, २५७७)। इस में जब शिव-पार्वती कैलाश पर बैठे हुए हैं, उस समय रावण के कैलाश को उठाने का दृश्य है (चित्र १९)। यद्यपि अन्यत्र भी इस कथा का चित्रण मिला है, परंतु मथुरा का उदाहरण सब से प्राचीन ज्ञात होता है। दानवाकृति रावण ने अपनी पूरी शक्ति से कैलाश को उठा लिया है। शिव-पार्वती तथा कैलाश अब अपने स्थान से चलित हो गए हैं। कैलाश की संधियाँ शिथिल हो गई हैं। कालिदास ने 'मेघदूत' में इसी घटना का बड़ा सुंदर वर्णन करते हुए कहा है—

दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः।
कैलाशस्य................

(मेघदूत, १।५८)

शिव जी अपने आप को समाहित कर के रावण के भुजदंड को अपने पैर से दबा रहे हैं जिसके कारण रावण मानों तिलमिला गया है—

यदरोदीत तस्माद्रावणः।

स्वामी कार्तिकेय

गुप्त-काल में शिव के पुत्र सेनानी स्वामी कार्तिकेय या स्कंद की भी पूजा बहुत प्रचलित है। कार्तिकेय ने जिस प्रकार देव-सेनाओं का सेनापतित्व ग्रहण करके देवों को असुरों पर विजयी बनाया था, वैसे ही परमभट्टारक महाराजाधिराज स्कंदगुप्त ने गुप्त चतुरंगिणी का सैनापत्य ग्रहण करके देश को हूणों के पंजे से छुड़ाया था। इस समता के कारण राष्ट्र के तत्कालीन साहित्य में स्कंद की कथा का मानो नवावतार हुआ और कवियों ने कुमार के जन्म को काव्य-रूप में जनता के समक्ष रक्खा। मथुरा में स्वामी कार्तिकेय की कई प्रतिमाएँ मिली हैं। उन सब में श्रेष्ठ मूर्ति चित्र सं० २० में दिखाई गई हैं। पंख फैलाए हुए मोर पर अधिष्ठित स्वामी कार्तिकेय की दाहिनी ओर चतुर्मुखी ब्रह्मा और बाईं ओर शिव आवर्जित जल-कुंभों से स्नान करा रहे हैं। इस प्रकार देवों की सेना के सेनानी पद पर स्कंद का अभिषेक दिखाया गया है। यह मूर्ति गुप्तकालीन क्षात्रधर्म के उदात्त भावों को सुंदरता से प्रगट करती है।

गणपति

चित्र सं० २१ में गुप्तकालीन गणपति की एक मूर्ति है जो नागेंद्रयज्ञोपवीत पहने हुए है। यह मूर्ति अत्यंत विशाल है और मथुरा के गेरुए पत्थर की है। यह अभी तक म्यूजियम के लिए प्राप्त नहीं हो सकी है और पास की एक बगीची में प्रतिष्ठित है।

अन्य देवता : सूर्य

चार घोड़ों के रथ में सवार सूर्य की सब से पहली भारतीय मूर्ति बोधगया की शुंगकालीन चहारदीवारी के एक खंभे पर पाई गई है। पर वह शुद्ध भारतीय वेष में धोती पहने हुए है। मथुरा में शक राजाओं के आगमन से सूर्य की पूजा का नए रूप में प्रचार हुआ। यहाँ सूर्य की नए ढंग की अर्थात् उदीच्यवेषधारी मूर्तियाँ बनने लगीं। उस का एक उदाहरण चित्र सं० २२ में है। इस में कुषाण-सम्राट् की तरह सूर्य कोट, पाजामा, बूट पहने हुए हैं। बाएँ हाथ में पेटी में खोसी हुई कटारी है और दाहिने हाथ में फूलों का गुच्छा है। सूर्य दो घोड़ों के रथ पर बैठे हुए है। यह सूर्य की मूर्ति ठेठ विदेशी वेषभूषा में है। इस के कोट पर सामने की ओर कुछ जड़ाऊ काम है। इस मूर्ति को देख कर पहले

कुषाण राजा का भ्रम होता है। कालांतर में इसी मूर्ति से अन्य प्रकार के सूर्यों का क्रमशः विकास हुआ। बाद को सूर्य के घोड़ों की संख्या चार हुई (चित्र २३) और फिर सात। इस दूसरी मूर्ति में सूर्य का गोला भी रथ के पीछे दिखाया गया है। शेष ढंग पहले जैसा ही है। इस में दूसरी मार्के की बात यह है कि सूर्य के कंधों पर छोटे-छोटे दो पंख हैं जैसे गरुड जी की मूर्तियों मे रहते हैं। ठीक है सूर्य की भी एक संज्ञा गरुत्मा या गरुड है। वर्तमान अजायबघर की भूमि में एक सप्तसमुद्री नामक बड़ा कूप है उसी में से यह मूर्ति निकली थी।

पिंगल

'मत्स्यपुराण' (अ० २६१) में लिखा है कि सूर्य के दो पार्श्वचर हैं---दंड और पिंगल। 'भविष्यपुराण' में लिखा है कि मनुष्यों के भले-बुरे कर्मों का लेखा रखने के लिए अग्नि, पिंगल के रूप में सूर्य के पार्श्वचर बन कर रहते हैं (अ० १२४, १३०)। मथुरा कला में पिंगल की कई मूर्तियाँ सूर्य के साथ मिली हैं। परंतु एक बड़ी महत्वपूर्ण मूर्ति पृथक् भी प्राप्त हुई है। यह गुप्त-कालीन मूर्ति पारसीक वेष में है। इस के सिर पर कुलह टोपी है। पीछे छाया-मडल है। दाहिने हाथ में लेखनी और बाएँ में दावात है। पिंगल का उदर कुछ निकला हुआ भारी बनाते हैं। यह मूर्ति अपने ढंग की बिल्कुल निराली और सर्व-प्राचीन है (चित्र २४)।

अग्नि

भारतीय कला में अग्नि की मूर्तियाँ बहुत ही कम है। अग्नि वैदिक काल का प्रमुख देव था, पर पौराणिक धर्म में उस का माहात्म्य घट गया। देवों में अग्नि ब्राह्मण है। ब्रह्मा के समान वह तुंदिल और श्मश्रुल बनाया जाता है (चित्र २५)। अग्नि के कंधों से ज्वालाएँ निकल रही हैं। दाहिनी ओर अग्नि का मेषाकृति वाहन है। यह मूर्ति गुप्त-काल के कुछ बाद की है।

नवग्रह

ब्राह्मणधर्म के मंदिरों की सजावट के लिए गुप्त-काल मे नवग्रहो की मूर्तियों का भी प्रचार हो गया था। कामबन से मिली हुई एक अत्यंत भव्य मूर्ति का चित्र यहाँ दिया जाता

है, (चित्र २६), यद्यपि यह मूर्ति पंडित राधाकृष्ण जी द्वारा कहीं विदेश में भेज दी गई थी। इस में सर्वप्रथम दो पद्म दोनों हाथों मे लिए हुए सूर्य पारसीक कोट पहने खड़े हैं। उन के बाद छः मूर्तियाँ जटाजूट बाँधे क्रमशः चंद्र, मगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, और शनि की हैं। आठवीं मूर्ति तर्पण-मुद्रा मे राहु की है। संभवतः इसी में पुच्छाकृति केतु की मूर्ति भी जुड़ी हुई थी। नवग्रहों से चित्रित यह शिलापट्ट मथुरा की गुप्तकालीन कला का अत्यत उत्कृष्ट उदाहरण है। विदित होता है कि नवग्रहों की स्वतंत्र मूर्तियाँ भी बनती थीं। गुप्तोत्तर कालीन राहु की एक अच्छी मूर्ति शांतनुकुंड के मंदिर में है। दो पार्श्वचरों के बीच में तर्पणमुद्रा में मुस्कराते हुए राहु दिखाए गए हैं (चित्र २७)। ये दोनों मूर्तियाँ अप्रकाशित हैं।

कामदेव

योगी शिव और ध्यानी बुद्ध की मूर्तियों के साथ ही कलाविदों ने कामदेव की मूर्तियों का भी निर्माण किया। मथुरा में कुषाण-काल की कई मूर्तियों में भगवान् कुसुमायुध का चित्रण पाया गया है। अपना इक्षुकोदंड और पंचबाण लिए हुए वसंत की पुष्पश्री के मध्य में विराजमान कामदेव की एक सुंदर मिट्टी की मूर्ति मिली है (चित्र २८)। कामदेव को 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में योपिद्वाहन और 'शश्वद्यूनिकृताधार' (कृष्ण-जन्मखंड, अ० ३१) कहा गया है। अर्थात् युवतिजन और युवा पुरुष, ये ही काम के वाहन हैं। प्रस्तुत मूर्ति में कामदेव युवा पुरुष के ऊपर खड़े हुए दिखाए गए हैं।

देवी-मूर्तियाँ

देवताओं के साथ देवियों की मूर्तियों की कल्पना भी भक्तिधर्म का लक्षण है। मथुरा कला में प्रधान-प्रधान देवियों की मूर्तियों का भी आदिम रूप पाया जाता है। यहाँ हम केवल छः मूर्तियों का वर्णन करेंगे।

चित्र सं० २९ में कुषाणकालीन शिलापट्ट है, जिस पर सात स्त्रियाँ मालाएँ लिए हुए खड़ी हैं, और दाहिनी ओर एक पुरुष है। ये सात स्त्रियाँ सप्तमातृकाएँ हैं, जो बहुत सादा वेष में एक-सी दिखाई गई हैं। इन के दोनों ओर दो आयुध-पुरुष थे जिन में से अब केवल एक शेष है। कला की दृष्टि से यह मूर्ति श्रेष्ठ नहीं है, पर सप्तमातृकाओं की यह निस्संदेह सब से पहली कल्पना को प्रगट करती है।

चित्र सं० ३० में सिंहवाहिनी दुर्गा की अत्यंत मनोहर मूर्ति है। दाहिने हाथ में दृढता के साथ भाला दबाए हुए सिंह पर देवी का आसन है। सिंह भी उन के शासन में विजित भाव से बैठा हुआ है। कुषाण-काल में शिव-मूर्तियों के साथ देवी की दो प्रकार की मूर्तियो का प्रचार हुआ। एक तो यही सिंह-वाहिनी और दूसरी महिषासुर-मर्दिनी का।

चित्र सं० ३१ में गुप्त-काल की एक महिषासुर-मर्दिनी दुर्गा का रूप है। सूक्ष्म विमल वस्त्र पहने हुए चतुर्भुजी दुर्गा महिष-नामक असुर का दमन करती हुई दिखाई गई है। मूर्ति में रौद्ररस सौम्यभाव में परिणत दिखाया गया है।

चित्र सं० ३२ में गज-लक्ष्मी हैं। यह कुषाण-कालीन गज-लक्ष्मी की वहुत ही सुंदर मूर्ति है जो इसी वर्ष प्राप्त हुई है। गज-लक्ष्मी की सब से पुरानी मूर्ति तो साँची के तोरणो पर पाई जाती है। परंतु कुषाण और गुप्त-काल में भी इस देवी की पूजा प्रचलित रही। यहाँ तक कि हमारे समय में भी गजलक्ष्मी की मूर्तियाँ बनती हैं। दोनों ओर दो हाथी वना कर उन के सूँडों में पकड़े हुए जलकुंभों से लक्ष्मी का मंगल अभिषेक दिखाया जाता था यही दृश्य वर्तमान मूर्ति में है। इस मे केवल हाथियों के सूँड ही अवशिष्ट हैं।

गुप्तकालीन मंदिरों में गंगा और यमुना की मूर्तियाँ द्वारो पर लगाई जाती थी। कालिदास ने भी गंगा और यमुना के द्वारा शिव की सेवा का वर्णन किया है--

मूर्ते च गंगायमुने तदानीं

सचामरे देवमसेविषाताम्।

(कुमारसम्भव, सर्ग ७)

चित्र सं० ३३ में मूर्ति कच्छप-वाहन पर आरूढ़ यमुना जी को प्रगट करती है। यह मूर्ति कटरा केशवदेव से मिली थी और ज्ञात होता है कि यह गुप्त-कालीन विष्णुमंदिर मे लगी हुई थी।

चित्र सं० ३४ में स्कंद को गोद में लिए हुए पार्वती की मूर्ति गृहस्थ जीवन के आदर्श सुख की कल्पना है। यह मिट्टी की मूर्ति गुप्त-कला का एक उत्तम उदाहरण है और इसी भाव को व्यक्त करती है। हिंस्र भाव को त्याग कर शिव-परिवार का अंग वना हुआ सिंह सौम्यवाहन की भाँति पार्वती जी के आसन के नीचे बैठा हुआ है। उस के ऊपर स्वाभाविक शांति के साथ स्थिर भाव से पार्वती जी समासीन हैं।

इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, अग्नि, कामदेव, सप्तमातृका, दुर्गा, महिषासुर-मर्दिनी, गजलक्ष्मी, और गगा-यमुना आदि प्रधान ब्राह्मणधर्म-सबधी मूर्तियो के प्रारभ-काल के उत्तमोत्तम उदाहरण मथुरा की कुषाण और गुप्त-समय की कला मे पाए गए है। न केवल कला बल्कि भारतीय मूर्ति-विद्या की दृष्टि से भी उन का अत्यधिक महत्व है। कला के सूत्रो मे जिन महार्घ धार्मिक और दार्शनिक तत्वो का आविर्भाव किया गया था, उन की पौराणिक परिभाषाओ को जान कर उन का सहानुभूति-पूर्ण अध्ययन आवश्यक है। इस प्रकार हम भारतीय इतिहास के सुवर्णयुग के साथ घनिष्ठ परिचय प्राप्त कर सकेंगे। जो ब्राह्मण धर्म एक विशाल राष्ट्र का जीवन-प्राण रहा है, उस में जिन दिव्य भावो की उपासना के लिए मनुष्यो ने देव और देवियो की कल्पना की उन का ज्ञान कला के अध्ययन द्वारा हम सुलभता से प्राप्त कर सकते है।
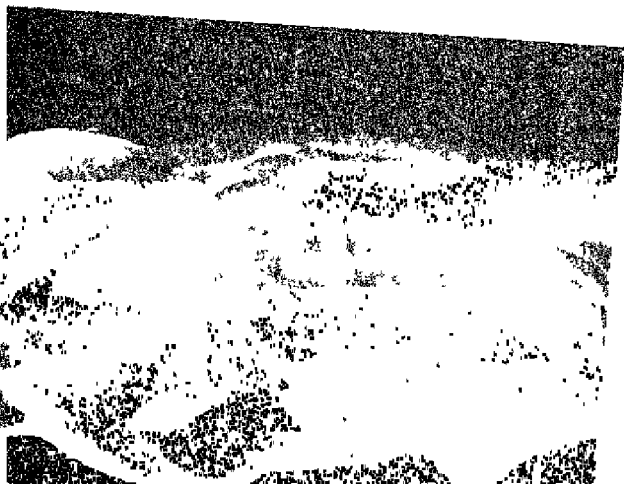
६—कृष्ण को लेकर वसुदेव का यमुना पार करना
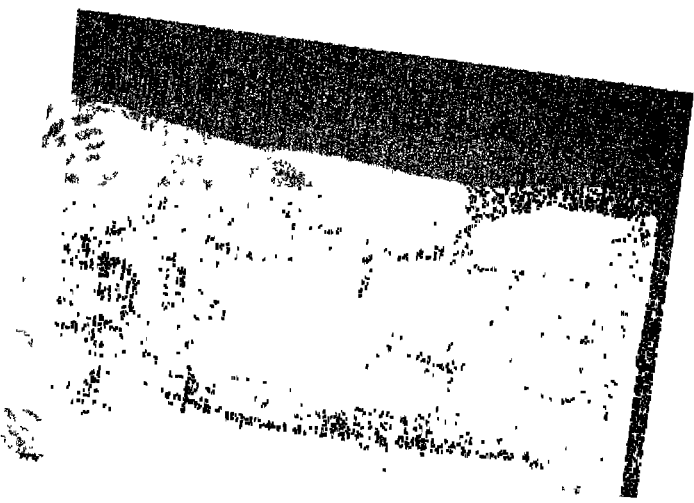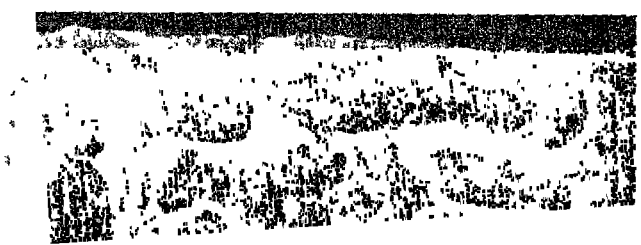
आयुध-पुरुषों के साथ नृसिंह-वराह विष्णु (गुप्तकाल)
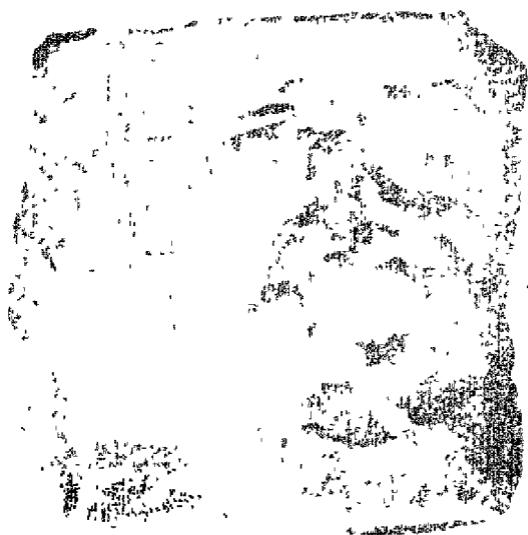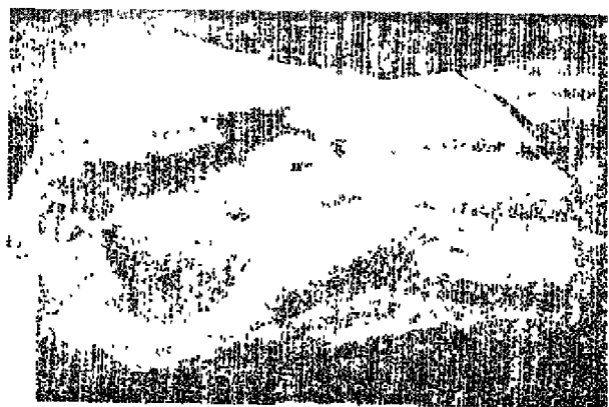
१२—त्रिविक्रम विष्णु की गुप्तकालीन मूर्ति
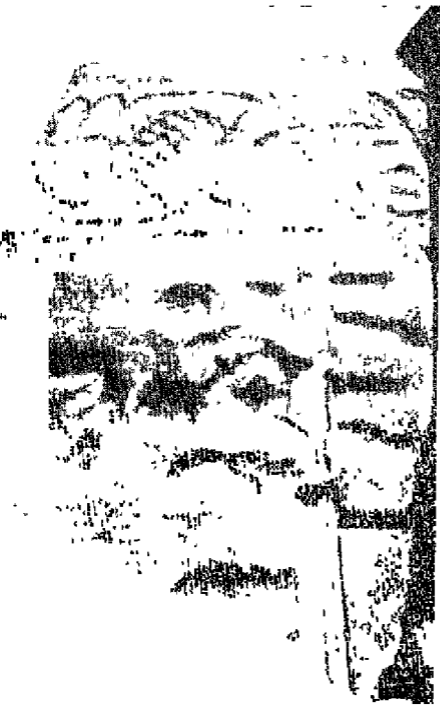
१४—दो कुषाण भक्तों द्वारा शिवलिंग की पूजा
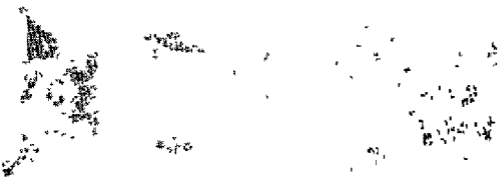
१५—शिवलिंग और पुरुष विग्रह में
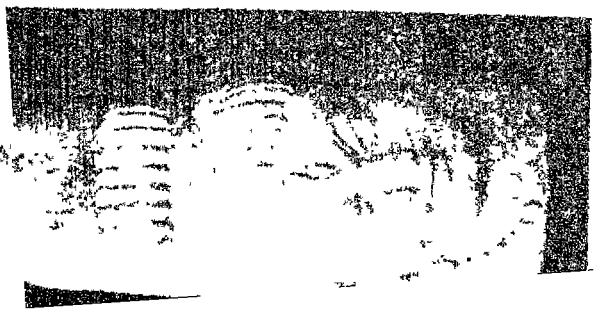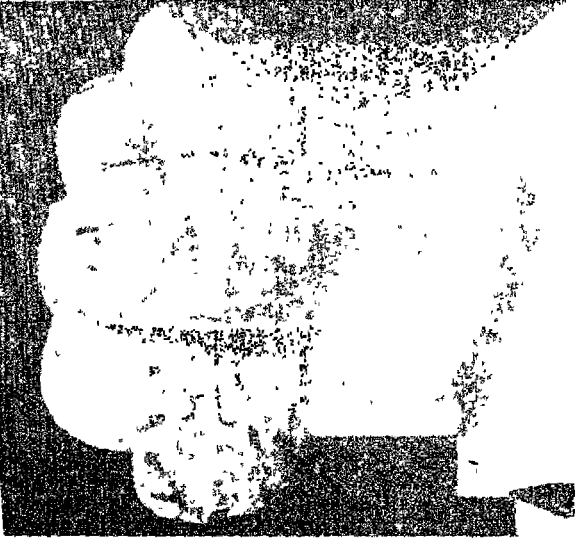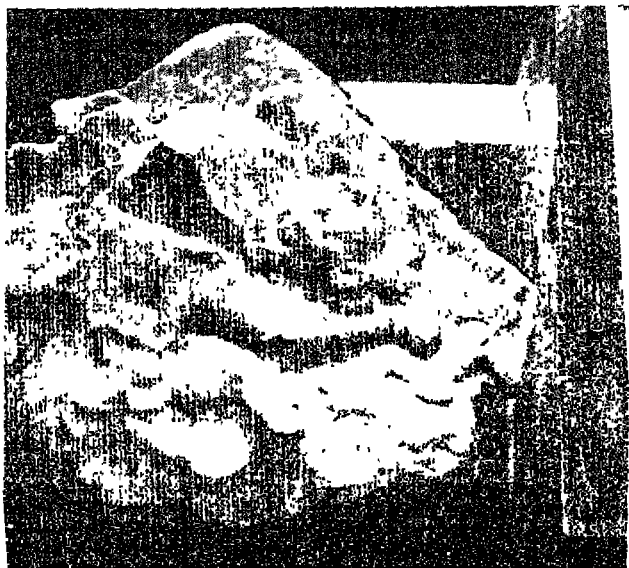
२०—मयूर-पृष्ठाश्रयी स्वामी कार्तिकेय का ब्रह्मा और शिव द्वारा अभिषेक
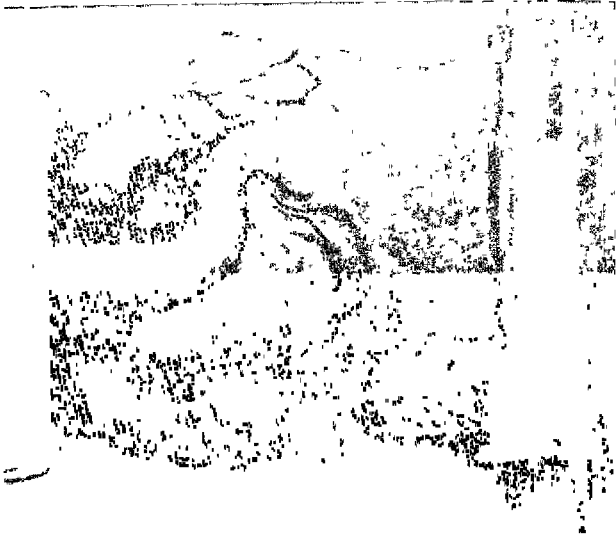
२१—गणपति
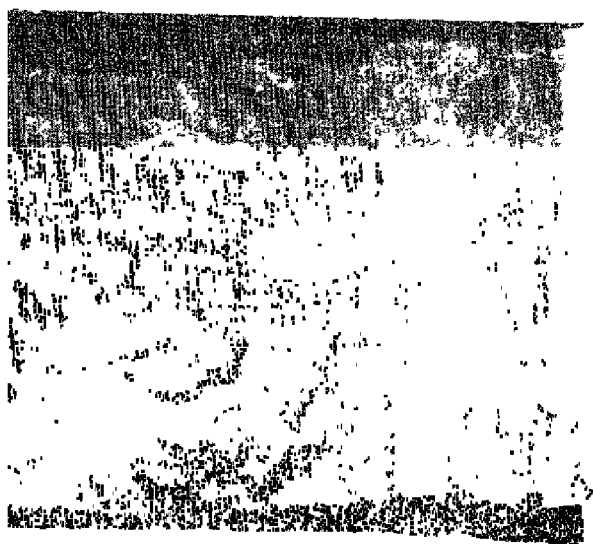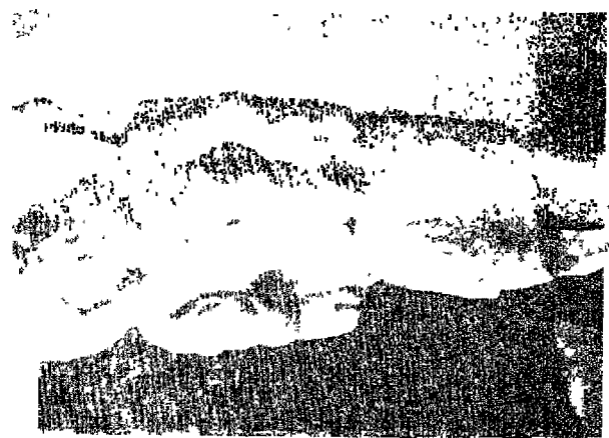
२६—गुप्तकालीन नवग्रह शिलापट्ट
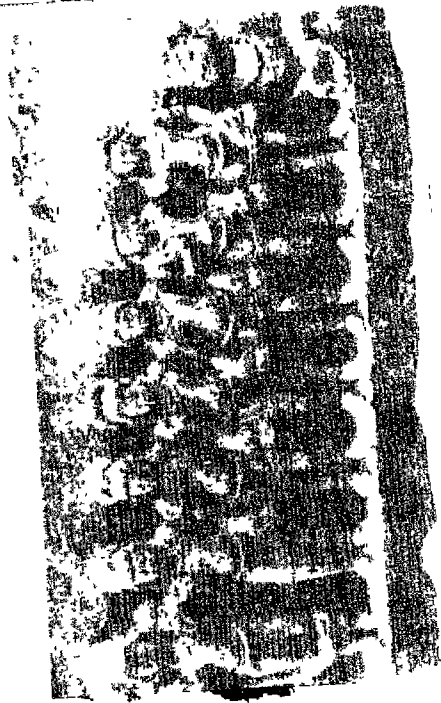
२७—राहु
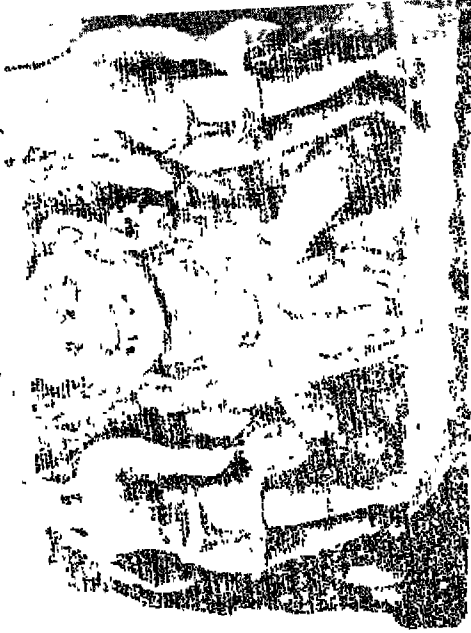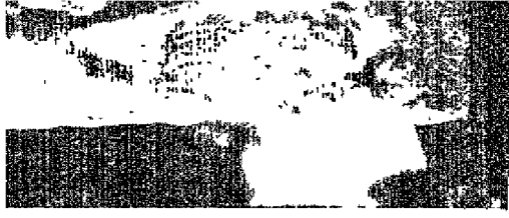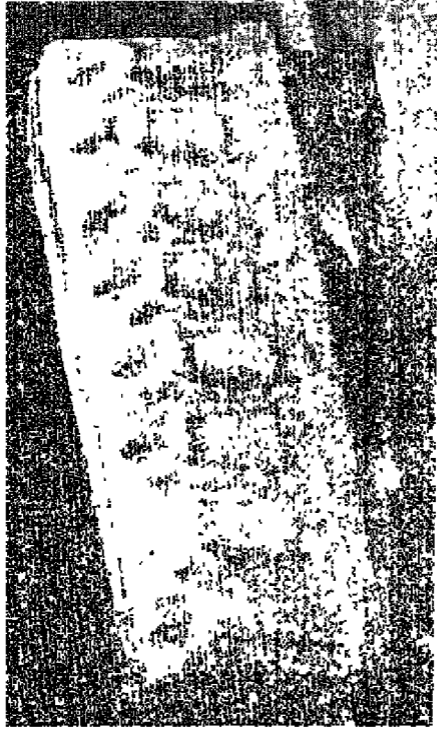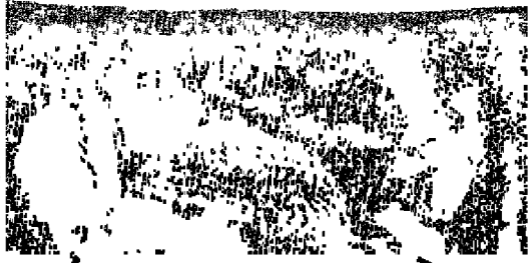
२९—कुषाणकालीन सप्तमातृका और आयुधपुरुष

३०—सिंहवाहिनी दुर्

३१—महिषासुरमर्दिनी दुर्गा

३२—गजलक्ष्मी

३४—स्कंद को गोद में लिए हुए पार्वती (गुप्तकाल)
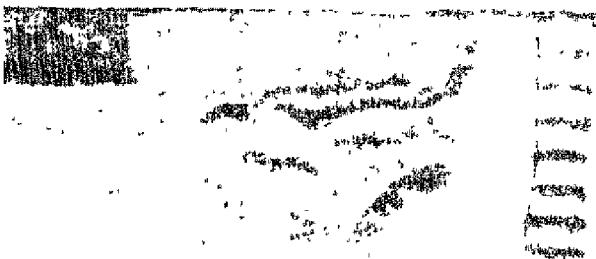
वैष्णवधर्म वा संप्रदाय का क्रमिक विकास

[लेखक—श्रीयुत परशुराम चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

(१)

वैष्णव-संप्रदाय हिंदू धार्मिक समाज का एक प्रमुख अंग है और वह किसी न किसी रूप में, आज भारतवर्ष के प्राय: प्रत्येक भाग में जीवित और प्रचलित है। सिद्धांतों की दृष्टि से वह विशिष्ट धार्मिक विचारों की एक प्राचीन परंपरा है, जिस के अनुयायियों में अब तक सैकड़ो प्रसिद्ध ईश्वरभक्त, प्रकांड विद्वान् एवं धर्मनिष्ठ व्यक्ति हो चुके हैं, जिस के समर्थन एवं प्रचार में अभी तक एक से एक उत्तम ग्रंथ की रचना होती आई है, और एक महत्वपूर्ण संस्था के रूप में, जिस ने, समय-समय पर, अनेक बड़े-बड़े राजाओं अथवा राजवंशो की छत्रछाया में सहायता भी पाई है। इस के भक्तिसंबंधी सर्वजनोपयोगी एवं सुगम सिद्धांत और उन का अधिकतर जनता की ही प्रचलित भाषा द्वारा प्रचार किया जाना, ऐहलौकिक जीवन के अंतर्गत परिचित चरित्रों में ही अपने भगवान् के आंशिक रूप की भावना जाग्रत कर, इस का सुंदर आदर्शों की सृष्टि के लिए प्रयत्न करना तथा, सब से बढ़ कर, अपने इष्टदेव की अपार दया एवं प्रसाद का समान अधिकारी प्राणीमात्र को समझते हुए, इस का प्रत्येक मनुष्य के लिए, प्रेम, प्रपत्ति, आदि सुलभ साधनों द्वारा अग्रसर होने का समान अवसर देना इस की उदारता और महानता के द्योतक हैं। यह संप्रदाय, वास्तव में, मानव-समाज की अनेक दृष्टियों से, एक बहुत उपयोगी धर्मपरंपरा है और यद्यपि इस के प्रारंभिक विकास का शृंखलाबद्ध इतिहास आज तक उपलब्ध नहीं, किंतु फुटकर सामग्रियो तथा आवश्यक प्रसंगों के आधार पर निर्मित की गई इस की अधूरी जीवन-कथा भी कम मनोरंजक न होगी।

इतिहास के से पता चलता है कि जिस भक्तिमार्ग के अचल

कर्मकांड का युग था जब कि हमारे आर्यगण प्रायः प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु वा घटना में किसी न किसी देवता की कल्पना कर उसे प्रसन्न रखने के निमित्त यज्ञादि कर्मो का अनुष्ठान करते थे और अपने दैनिक जीवन को आनंद के साथ व्यतीत करने की इच्छा से, उन से अनेक प्रकार की प्रार्थना वा विनय भी किया करते थे। उन का उद्देश्य विशेष कर ऐहिक सुखों की प्राप्ति तक ही सीमित था और अंतःकरण की साधनाओं की अपेक्षा उन का ध्यान अधिकतर बाह्यविधान की ही ओर आकृष्ट रहा करता था। वे उस समय अपने हृदय अथवा मस्तिष्क तक के योग को जितना महत्व नहीं देते थे उतना विशेष वैदिक मंत्रों को दुहराने तथा विशिष्ट विधियों के निर्वाह की ओर दत्तचित्त थे। हाँ, ध्यानपूर्वक देखने से यह भी प्रतीत होगा कि अपने उक्त कृत्यों के शुभ परिणाम वा सफलता में उन का दृढ़ विश्वास भी रहता था और इस दृष्टि से, यदि हम चाहें तो, कह सकते हैं कि उन के यज्ञों का मूलतत्व, वास्तव में, श्रद्धा में निहित था। कहते हैं कि "बिना श्रद्धा के यज्ञ का कोई अर्थ नहीं। श्रद्धा ही यज्ञ की अधिष्ठात्री देवी है और श्रद्धा एवं यज्ञ में वस्तुतः कोई अंतर ही नहीं।"[1] श्रद्धाहीन यजमान के सभी अनुष्ठान व्यर्थ और सारहीन हो जाते हैं।

इस श्रद्धा से ही, क्रमशः आगे चल कर, श्रद्धामूलक भक्ति वा श्रद्धाभक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और धीरे-धीरे आर्यों का प्रारंभिक बहुदेववाद एकदेववाद में परिणत होने लगा। कारण यह है कि भक्ति की कोई भी भावना स्वभावतः अनेक की अपेक्षा एक की ही ओर अधिक अग्रसर हुआ करती है, अथवा यों कहना चाहिए कि भक्ति-संबंधिनी किसी भी भावना द्वारा प्रभावित मनोवृत्ति वाले के लिए यह स्वाभाविक है कि वह साधारण विभिन्नताओं की उपेक्षा कर अपनी अध्यात्मिक दृष्टि को अधिक से अधिक विस्तृत करने का प्रयत्न करे एवं इतस्ततः बिखरी हुई शक्तियों में सामंजस्य स्थापित करता हुआ उन्हें एकरूप में निविष्ट करे, और उसे अपना उच्चतम आदर्श का सर्वस्व भी बनावे। अतएव जिन-जिन मुख्य देवताओं की कल्पना आर्यगण पहले अलग-अलग करते थे उन्हें आगे चल कर, वे एक के ही विविध रूपों में देखने लगे और अंत में उन के नामों तक का प्रयोग एक के ही लिए होने लगा। उदाहरण के लिए इस प्रकार कहा जाने लगा कि "हे अग्निदेव !

---

[1] डा० गोस्वामी 'दि भक्ति कल्ट इन ऐंशेंट इंडिया' पृ० ६

तुम्हीं वरुण हो, तुम्ही मित्र हो तथा तुम्ही इंद्र भी हो, और तुम्हीं अर्यमा हो कर स्वामिवत् भी कार्य किया करते हो"[१], इत्यादि और कभी-कभी तो यों भी कह दिया गया कि "विद्वान् लोग उसी (सत्) को इंद्र, मित्र, वरुण, अथवा अग्नि के नाम से पुकारते हैं और वही विशाल पंखों वाला दिव्य गरुड़ भी है। उसी एक (पदार्थ) का वे अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं अतएव वही एक सत् (सृष्टि को आविर्भाव प्रदान करने के कारण) अग्नि, (संसृति एवं परिवर्तन का मूलतत्व होने से) यम तथा (अखिलविश्व का आधार भूत होने से) मातरिश्वान् भी कहलाता है।"[२] इस दूसरे प्रकार की विचारधारा द्वारा ब्रह्मांड की मौलिक सत्ता की एकता प्रतिपादित हुई और वही परमात्मतत्व भी समझी गई।

अनुमान किया जाता है कि, अनुभववृद्धि के कारण अथवा, साथ ही, बहुधा मतभेद आदि होते रहने से भी, आर्यों ने विचार-विनिमय के निमित्त, उक्त समय के ही लगभग, अनेक परिषदें वा सभाएँ भी की जिन के द्वारा उपरोक्त विचारों के ही समान वैदिक धर्म के अन्य विविध मूलतत्वों पर भी दार्शनिक विवेचन हुआ और उस के परिणाम स्वरूप वेदों के ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् नामक भागों की रचना हुई। जो हो, इन रचानाओं के ही आधार पर क्रमशः वैदिक कृत्यों की विधि-परंपरा स्थिर की गई, मूल दार्शनिक तत्वों का अनुसंधान आरंभ हुआ तथा गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन वा स्पष्टीकरण भी किया गया। एकदेव अथवा परमात्मतत्व के साथ ही जीवात्मा एवं अव्यक्त प्रकृति की भावना तथा कर्म वा जन्मांतरवाद की कल्पना का सूत्रपात ऐसे ही समय में हुआ और उसी समय से आर्यगण के हृदयों में कर्मबंधन के अनवरत चक्कर से जीवात्मा को उन्मुक्त करने की उत्कंठा भी जागृत हुई। फिर तो, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, उन्होंने, सांसारिक कर्मजाल से अलग रह कर परमात्मचिंतन में संलग्न होने की, साधना भी आरंभ की और इस प्रकार के अभ्यासक्रम की ही दीर्घव्यापिनी क्रिया तप वा तपस्या के रूप में परिणत हुई। निरंतर ध्यान द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के सान्निध्य का उत्तरोत्तर बढ़ता

---

[१] ऋग्वेद, (मं० ५, सू० ३, मंत्र १ व २)

[२] इंद्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
ऋग्वेद (मंत्र १, सू० १६४, मंत्र ४६

जाना सिद्ध होता है अतएव दूसरे शब्दों में इसे 'वैदिक उपासना' वा 'ध्यानयोग' भी कहते हैं और भक्ति भावना की दृष्टि से, यदि हम इस पद्धति पर विचार करें तो कहेंगे कि वैदिक उपासना, वास्तव में, श्रद्धाभक्ति का ही, एक अन्य प्रकार से विकसित रूप थी।

जान पड़ता है उपरोक्त समय तक वैष्णवधर्म के कदाचित् किसी भी अंग के स्पष्ट-रूप की रचना नहीं हो पाई थी और स्वयं भक्ति शब्द भी तब श्रद्धात्मक प्रेम की अपेक्षा प्रेमपात्र के ही अर्थ में अधिक प्रयुक्त होता था।[1] भक्ति की वैष्णवानुमोदित भावना का आविर्भाव, आर्यों के आध्यात्मिक व दार्शनिक विचारों में अधिक गंभीरता आने पर, आगे चलकर हुआ और तभी वह प्रारंभिक श्रद्धा वा उपासना से क्रमशः विकसित हो कर स्वयं उपास्य भगवान् के ऐश्वर्य वा सारतत्व में भाग लेना (भज्=भाग लेना, बाँटना, आदि) व्यक्त करने वाले व्यापक भाव में परिणत हुई।[2] इसी प्रकार उपास्यदेव के व्यक्तित्व की कल्पना भी बहुत काल के अनंतर ही की जा सकी। संहिता-काल में विष्णु एक साधारण देवता के रूप में पहले-पहल दीख पड़ते हैं। ऋग्वेद में कई स्थलों पर वे केवल एक आदित्य मात्र ही समझे जाते हैं, और दिन भर की यात्रा को तीन पगों में ही तय करने के कारण आर्यगण उन्हें महत्व देते है, और उन का यशोगान भी करते हैं। उन की बड़ाई बड़े-बड़े डगों द्वारा आकाश-मंडल वा सारे ब्रह्मांड को माप देने पर ही अधिक निर्भर है। जैसे, "अविनश्वर गोपा विष्णु ने तीन पगों द्वारा ही नाँघ दिया"[3] तथा "विष्णु ने तीन पग किए और वह इसे (ब्रह्मांड को) नाँघ गए।"[4] इन तीन पगों वा पदों में से केवल पहले "दो अर्थात् पृथ्वी और अंतरिक्ष को ही मनुष्य देख वा प्राप्त कर सकते हैं। तीसरे तक कोई भी नहीं पहुँच पाता। वह चिड़ियों की उड़ान से भी ऊपर है।"[5] "तृतीय पद विष्णु का परम पद है। उसे विद्वान् मनुष्य ही आकाश की ओर ऊँची दृष्टि डालने पर

---

[1] डा० भांडारकर, 'वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ४१

[2] डा० कीथ, 'कल्याण-कल्पतरु' (गोरखपुर, अगस्त सन् १९३६), पृ० ५५४

[3] त्रीणि पदानिचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः—ऋग्वेद (मं० १, सू० २२, मंत्र १८)

[4] इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्—ऋग्वेद (मं० १, सू० २२, मंत्र १७)

[5] द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति।
तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः॥—ऋग्वेद (मं० १, सू० १५५, मंत्र ५)

सदा देखते है।"[1] "वहाँ विशाल उस विष्णु के परम-पद में मधुर आनंदरस का स्रोत विद्यमान है।"[2] इसी प्रकार विष्णु का नाम कहीं-कहीं "ऋतस्य गर्भम्" आदि प्रसगो में यज्ञ के बीजरूप देवता अथवा, ब्राह्मणो की रचना के समय तक, "यज्ञोहवै विष्णु" आदि द्वारा स्वयं यज्ञ के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है, और वे बहुधा यज्ञो की सफलता में सहायक भी समझे गए हैं।

परंतु इन दोनों प्रकार के उदाहरणों से महत्वपूर्ण वे है जहाँ विष्णु को इंद्र नामक अन्य वैदिक देवता का "योग्य सहायक"[3] माना गया है अथवा जहाँ-जहाँ इंद्र के साथ ही उन की भी वीरता वा पराक्रम की प्रशंसा समान रूप से की गई है[4] और उन्हें इंद्र से बडा तक भी स्वीकार कर लिया गया है।[5] फिर तो ब्राह्मणों की रचना के समय तक वे सचमुच सब से बडे समझे जाने लगते है और अग्निदेव तक की प्रतिष्ठा उन से कही कम हो जाती है[6] 'शतपथ ब्राह्मण'[7] मे एक कथा आती है जिस में वर्णन किया गया है कि विष्णु ने किस प्रकार यज्ञ के विषय में सब देवताओं से बढ़ कर कार्य किया जिस के कारण उन्हें सब से श्रेष्ठ समझा गया। फिर दूसरे स्थल पर उसी ब्राह्मण में[8] विष्णु के पहले वामनरूप में दिखलाई पडने और फिर लेट कर क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सारे भूमंडल में व्याप्त हो जाने का प्रसंग भी आया है जिस से उस देवता की महत्ता में चमत्कार वा अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव भी दीख पड़ता है। अनुमान किया जाता है कि वैदिक काल में ही सब देवताओं के राजा इंद्र विष्णु की प्रतियोगिता में नीचा देखने लगे और परमदेव अथवा देवेंद्र का पद, एक प्रकार से, क्रमशः छिना जाता हुआ इंद्र के हाथ से निकल कर विष्णु के यहाँ पहुँच गया। अंत मे

---

[1] तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यंति सूरयः। दिवीवचक्षुराततम्॥ वही, (मं० १, सू० २२, मं० २०)

[2] उरुक्रमस्य सहिबन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः॥ वही, (मं० १, सू० १५४, मं० ५)

[3] इंद्रस्य युज्यः सखा॥ वही, (मं० १, सूक्त २२, मं० १९)

[4] वही, (मं० ६, सू० ६९)

[5] वही, (मं० ७, सू० ९९)

[6] अग्निर्वैदेवानामवमो विष्णुः परमः॥—ऐतरेय ब्राह्मण, (१-१)

[7] शतपथ ब्राह्मण, (१४-१-१)

[8] वही (१ २ ५)

विजय यहाँ तक पूर्ण हो गई कि बहुत कुछ 'इंद्रसूक्त' के ही ढर्रे पर एक 'विष्णुसूक्त' की भी रचना हुई और इंद्र के लिए आए हुए, अनेक महत्तासूचक शब्द तक कालांतर में विष्णु के विषय मे, किसी न किसी प्रकार, प्रयुक्त होने लगे। उदाहरण के लिए यह भली प्रकार "सिद्ध किया जा सकता है कि विष्णु के हरि, वैकुंठ, वृषण, ऋषभ, वासुदेव, वृष्णीपति, केशव, बृहच्छ्रवस्, आदि नाम किसी न किसी रूप मे, इंद्र के अथवा इंद्र-संबंधी किसी वस्तु के नाम से लिए गए।"[1] इतना ही नहीं, विष्णु को, परमात्मदेव के पद पर पहुँचने के अनंतर अन्य अनेक देवताओं से भी बहुत से प्रतिष्ठासूचक शब्द मिले जिन में से 'चक्रपाणि'[2] तथा 'कृष्ण'[3] ऐसे शब्द तक भी वैदिक देवता सवितृदेव-संबंधी वर्णनो से, किसी न किसी भाँति, लिए गए कहे जाते हैं।

वैष्णवधर्म वा वैष्णव-संप्रदाय के उपास्यदेव का एक दूसरा प्रसिद्ध नाम नारायण है, जो वैदिक साहित्य मे अनेक स्थलों पर आया है। 'ऋग्वेद' में एक प्रसंग इस प्रकार मिलता है—"आकाश, पृथ्वी, वा देवताओं के भी प्रथम वह गर्भाड-रूपी वस्तु क्या थी, जो पहले-पहल जल पर ठहरी थी और जिस में सभी देवता वर्तमान थे? जल पर वही गर्भाड ठहरा हुआ था जिस में सभी देवता विद्यमान थे, और जो सब का आधार-स्वरूप है। वह विचित्र वस्तु अजन्मा की नाभि पर ठहरी हुई थी, जिस के भीतर सभी जीव थे।"[4] इस से पता चलता है कि सब से प्रथम जल की चर्चा है जिस पर गर्भांड का ठहरना बतलाया गया है और यह गर्भाड ही कदाचित् वह वस्तु है जिसे आगे चल कर जगत्स्रष्टा वा ब्रह्मदेव की पदवी दी गई और वह अजन्मा जिस की नाभि पर गर्भाड ठहरा था वही नारायण है। इस

---

[1] डा० गोस्वामी, 'दि भक्ति कल्ट इन ऐंशेंट इंडिया', पृ० १०१–१०२

[2] अवर्तयत्सूर्यो न चक्रम् ॥—ऋग्वेद, (मं० २, सू० ११, मं० २०)

[3] आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानः ॥—वही, (मं० १, सू० ३५, मं० २) तथा सविता.........कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ॥—वही, (मं० १, सू० ३५, मं० ९)

[4] परोदिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
कंस्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यंत विश्वे ॥५॥
तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छंत विश्वे।
अजस्य नाभा वध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥६॥

—ऋग्वेद मं० १० सू० ८२

गर्भांड में सभी देवों का वर्तमान रहना कहा गया है अतएव 'नरों' से अभिप्राय उन सभी देवताओं से, वा मानवों से भी है, जिन के 'अयन' अथवा अंतिम लक्ष्य वा आधार नारायण हैं। इस नारायण शब्द की, वैदिक देवतावाची विष्णु शब्द से, यह विशेषता है कि इस के द्वारा पुकारे जाने वाले देवता, एक प्रकार से, सृष्टि-विषयक भावना के भी केंद्र बन जाते हैं।[1] जो हो, 'शतपथ ब्राह्मण' में एक स्थल पर [2] कहा गया है कि पुरुष नारायण ने एक बार स्वयं यज्ञस्थान पर ठहर कर वसुओं, रुद्रों तथा आदित्यों को कहीं और भेज दिया और यज्ञ संपादित कर के सर्वाधार व सर्वव्यापी हो गए। यहाँ तथा 'तैत्तिरीय आरण्यक'[3] मे भी नारायण की विभूतियों का प्रायः वही वर्णन है जो 'ऋग्वेद' के उपरोक्त प्रसंग में दीख पड़ता है। 'शतपथ ब्राह्मण' के एक अन्य स्थल पर [4] भी पुरुषनारायण के, पंचरात्र सत्र कर के, सर्वश्रेष्ठ बन जाने की चर्चा की गई है। नारायण या पुरुषनारायण इस प्रकार परमदेव वा परमात्मा के ही समान सर्वोच्च हो जाते हैं और 'ऋग्वेद' के 'पुरुषसूक्त'[5] के प्रणेता नारायण ऋषि को यदि, अन्य कई स्थलों की रचना करने वालों की ही भाँति, उक्त सूक्त का विषय 'पुरुष' मान लिया जाय तो, कह सकते हैं कि, वास्तव में, 'पुरुष' और 'नारायण' शब्द वहाँ एक ही देवता के लिए प्रयुक्त हुए हैं जैसा कि 'शतपथ ब्राह्मण' के उपरोक्त पुरुषनारायण शब्द से भी सिद्ध होता है।[6] 'तैत्तिरीय आरण्यक'[7] में इसी परमात्मस्वरूप नारायण को हरि भी कहा गया है।

(२)

वैदिक काल में विष्णु व नारायण नामक देवता पहले भिन्न-भिन्न थे और, यद्यपि इन दोनो शब्दों का प्रयोग, किसी न किसी प्रकार, परमात्मा के लिए, हो जाता था फिर भी

---

[1] डा० भांडारकर, 'वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स'—पृ० ४३

[2] शतपथ ब्राह्मण, (१२–३–४)

[3] तैत्तिरीय आरण्यक, (१०–११)

[4] शतपथ ब्राह्मण, (१३–६–१)

[5] ऋग्वेद, (मं० १०, सू० ९)

[6] डा० भांडारकर, 'वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ४४

[7] तत्तिरीय , १२ ११ १

उन का अंतिम एकीकरण पहले-पहल कदाचित् 'तैत्तिरीय आरण्यक' की रचना के समय हुआ।[१] परंतु वैदिक काल में, अथवा उस के आगे तक भी इन दोनों में से किसी भी देवता को प्राचीन आर्यगण आधुनिक उपास्यदेव के रूप में कभी नहीं मानते थे। विष्णु का सबध अधिकतर यज्ञ से था और नारायण एक प्रकार से सृष्टि के मूलाधार मात्र समझे जाते थे। अतएव उस समय के आर्य लोग या तो अपने यज्ञादि कर्मों में सहायता के लिए वा ऐहिक सुखों की प्राप्ति के निमित्त उन से प्रार्थना किया करते थे या, उन के, परमात्मा की परमज्योति का स्वरूप, समझे जाने पर, उन्हें प्राप्त करने के प्रयत्न में बहुधा तपस्यादि मे लगते थे। उन देवताओं में दयालु भगवान् की भावना का अधिष्ठान अभी तक नही हो पाया था। इस अंश के प्रादुर्भाव का होना सर्वप्रथम उस समय कहा जाता है जब कि वैष्णवधर्म के विकसित रूप सात्वत वा भागवत धर्म-संबंधी विचारों का उदय वा प्रचार हुआ। सात्वतधर्म के मुख्य उपास्यदेव वासुदेव कृष्ण थे और वही उस के मूल प्रवर्त्तक भी समझे जाते हैं। परंतु वासुदेव और कृष्ण, ये दोनों नाम भी, पहले अलग-अलग ही प्रयुक्त होते थे और इन के सयुक्त प्रयोग का अवसर, जैसा आगे दिखाई पड़ेगा, कालांतर मे उपस्थित हुआ। फिर तो अत में ये दोनों इस प्रकार एक हो गए कि इन के द्वारा व्यक्त किए जाने वाले "वासुदेव और कृष्ण को दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानना न्यायतः असंभव हो गया।"[२] वासुदेव कृष्ण भी आगे चल कर, विष्णु तथा नारायण से मिल कर एक हो गए और उसी समय वैष्णवधर्म का पूर्ण संघटन हुआ।

वैदिक साहित्य में वासुदेव का नाम किसी संहिता, ब्राह्मण वा प्राचीन उपनिषद् मे नहीं आता। यह केवल एक स्थल पर,[३] 'तैत्तिरीय आरण्यक' के दसवें प्रपाठक मे, पाया जाता है, वहाँ पर भी यह विष्णु के एक नाम की भाँति ही व्यवहृत है। डाक्टर राजेंद्रलाल मित्र का कहना है कि इस आरण्यक की रचना बहुत पीछे हुई थी और इस मे भी उक्त स्थल, 'खिलरूप' वा 'परिशिष्टभाग' में, आया है।[४] डाक्टर कीथ ने इस आरण्यक

---

[१] प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अव् दि वैष्णव सेक्ट', पृ० १८–१९
[२] वही, पृष्ठ २२
[३] नारायणाय विद्महे, वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।
[४] डा० राजेंद्रलाल मित्र, तैत्तिरीय आरण्यक, भूमिका, पृ० ८

का समय ईसा के प्रथम तीसरी शताब्दी में निश्चित किया है,[१] जिस से उस समय तक वासुदेव तथा विष्णु व नारायण की एकता का संपन्न हो चुकना सिद्ध होता है। अस्तु महाभारत में कुछ स्थलों पर वासुदेव शब्द का अर्थ बतलाते हुए कहा गया है कि "वह वासुदेव इस लिए कहलाता है कि वह सभी प्राणियों को अपनी माया अथवा अलौकिक ज्योति द्वारा आच्छादित करता है, "[२] तथा "सूर्य के रूप में रह कर मैं अपनी किरणो से सारे संसार को ढँक लेता हूँ और सभी प्राणियों का अधिवास होने से भी मेरा नाम वासुदेव है।"[३] परंतु उसी ग्रंथ में वासुदेव को "वासुदेव का पुत्र" भी[४] बतलाया गया है और एक बनावटी वासुदेव की भी कथा आती है जो वास्तव में पौंड्रों का राजा था। उधर महाभारत के 'श्रीमद्भगवद्गीता' नामक प्रसिद्ध अंश में कृष्ण ने कहा है कि "मैं वृष्णियों मे वासुदेव हूँ"[५] जिस से वासुदेव का वृष्णिकुल में उत्पन्न होना विदित होता है इसी प्रकार बौद्धों के 'घट जातक' में वासुदेव को "मथुरा प्रदेश के उत्तरी भाग में रहने वाले किसी राजवंश की संतति [६]" कहा गया है और यह भी लिखा है कि उक्त राजवंश, कान्ह दीपायन की अवज्ञा करने के कारण, नष्ट हो गया। इसी बात का उल्लेख कौटिल्य के प्रसिद्ध 'अर्थशास्त्र' मे भी आता है,जहाँ वृष्णिकुल की जगह वृष्णियों के किसी 'संघ' की चर्चा है। उस में कहा गया है कि "अपनी इंद्रियों को संयत रूप में न रखने वाला शीघ्र नष्ट हो जाता है। वातापी, हर्ष के मारे फूल कर, अगस्त्य ऋषि पर आक्रमण करने के कारण और वृष्णिसंघ वाले द्वैपायन के विरुद्ध चेष्टा करने से ही विनष्ट हो गए।"[७]

महाभारत के भीष्मपर्व (६५वें अध्याय) में आता है कि ब्रह्मदेव ने पुरुष परमेश्वर की स्तुति की और उन से प्रार्थना भी की कि आप चल कर यादववंश की वृद्धि कीजिए

---

[१] प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अव् दि वैष्णव सेक्ट', पृ० ६३

[२] वसनात्सर्वभूतानां वसुत्वाद्देव योनितः। वासुदेवस्ततो वेद्यः—महाभारत, (५–७०–३)

[३] छादयामि जगद्विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः। सर्वभूताधिवासश्च वासुदेव—स्ततोह्यहम्—महाभारत, (१२–३४१–४१)

[४] महाभारत, (३–१४–८)

[५] वृष्णीनां वासुदेवोस्मि—श्रीमद्भगवद्गीता, (१०–७७)

[६] प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अव् दि वैष्णव सेक्ट', पृ० १९

[७] शामा शास्त्री, 'अर्थशास्त्र अव् कौटिल्य', पृ० १२–१३

और उन को वासुदेव नाम से संबोधित करते हुए यह भी कहा कि आप ने ही संकर्षण के रूप मे अवतीर्ण हो कर अपने पुत्र प्रद्युम्न को भी उत्पन्न किया और प्रद्युम्न से विष्णु-स्वरूप अनिरुद्ध की उत्पत्ति हुई जिस से मेरी रचना हुई थी। उसी के अनुसार एक बार फिर भी मनुष्य-योनि में जन्म धारण कीजिए। उक्त पर्व के ६६वें अध्याय के आरंभ में,आगे, यह भी कहा गया है कि प्रजापति ने परमेश्वर से विनय की थी कि आप चल कर मानवयोनि मे वासुदेव का अवतार लीजिए और परमेश्वर के स्थान पर फिर अध्याय भर में वासुदेव नाम का ही व्यवहार हुआ है। इस पर डाक्टर भांडारकर का अनुमान है कि "वासुदेव भक्ति-संप्रदाय के प्रवर्त्तक का ही नाम था और उक्त प्रसंग का अभिप्राय यही जान पड़ता है कि वह अन्य तीनों (अर्थात् संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध) के साथ किसी पहले युग मे भी वर्तमान रह चुका था।"[1] वासुदेव का किसी विशेष धर्म वा संप्रदाय का उपास्यदेव होना ईसा के प्रथम ७वीं शताब्दी के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि के भी एक सूत्र [2] से सिद्ध होता है, जहाँ उक्त संप्रदाय के अनुयायियों को 'वासुदेवक' नाम से निर्दिष्ट किया गया है। पतजलि ने इसे उसी अर्थ में समझा है और एक दूसरे सूत्र[3] पर भाष्य लिखते हुए यह भी कहा है कि वासुदेव और बालदेव, ये दोनों, वृष्णि नाम हैं और वासुदेव तथा बलदेव से, क्रमशः, बने हैं। बौद्धों के 'निर्देश' नामक एक पाली ग्रंथ से यह भी पता चलता है कि ईसा के प्रथम चौथी शताब्दी मे वासुदेव तथा बलदेव के संप्रदायिक अनुयायी वर्तमान थे।[4] और 'शतपथ ब्राह्मण' में एक स्थल पर [5]वार्ष्णेय शब्द का व्यवहार हुआ है जिस से वृष्णिवंश की प्राचीनता का भी अनुमान किया जा सकता है।

महाभारत के आदिपर्व में एक स्थल पर आया है कि वासुदेव ने एक बार वृष्णिकुल वालों को संबोधित करते हुए कहा था कि पार्थ वा अर्जुन सात्वतों को लालची नहीं समझते और स्वयं वासुदेव को भी उसी पर्व मे एक अन्य स्थल पर सात्त्वत कहा गया है। इस प्रकार

---

[1] डा० भांडारकर, 'वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० १३—१४

[2] 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्', (४—३—९८) पर पातंजल महाभाष्य।

[3] 'ऋष्यन्धक वृष्णि कुरुभ्यश्च,' (४—१—११४) पर पातंजल महाभाष्य।

[4] डा० भांडारकर, 'वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स, पृ० ३—४

[5] शतपथ ब्राह्मण, (३—१—१—४)

वार्ष्णेय और सात्वत एक ही जान पड़ते हैं। इस बात के प्रमाण में 'विष्णुपुराण' के चतुर्थ अंश के ग्यारहवें अध्याय के अंत में पराशर द्वारा दिया हुआ यदुकुल का वर्णन[१] तथा उसी अंश के बारहवें अध्याय के अंत में आया हुआ यदु के पुत्र क्रोष्टु के वंश का विवरण[२] भी तुलना के लिए सामने रक्खे जा सकते हैं। पहले प्रसंग में आया है कि यदु के पुत्र सहस्रजित् की वंशावली में मधुर के पुत्र वृष्णि हुए जिन से वृष्णि वंश की संज्ञा हुई और यदु के नामानुसार इसी वंश के लोग यादव भी कहलाए। फिर दूसरे प्रसंग में यदु के क्रोष्टु के कुल की चर्चा है और कहा गया है कि इस कुल में एक अंश-नामक पुरुष हुए जिन के पुत्र का नाम सत्त्वत था और सत्त्वत से ही ये लोग सात्वत कहे गए। इसी प्रकार 'भागवत'[३] से पता चलता है कि सात्त्वत लोग परमेश्वर को भगवान् वासुदेव कहा करते थे और उन की पूजा का ढंग एक विशेष रूप का था और वासुदेव को फिर उसी पुराण[४] में 'सात्त्वतर्षभ' भी कहा गया है। डाक्टर भाडारकर ने इसी प्रकार के कुछ अन्य प्रमाणों के भी आधार पर यह अनुमान किया है कि सात्वत शब्द भी वृष्णिवंशीय के एक दूसरे नाम की भाँति ही व्यवहृत होता था और उसी में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न व अनिरुद्ध उत्पन्न हुए थे तथा सात्त्वतों का एक अलग संप्रदाय था जिस के अनुसार वे वासुदेव की पूजा, उसे परमात्मा समझ कर, किया करते थे।[५] भीष्मपर्व के ६६वे अध्याय के अंत में भीष्म ने भी कहा है कि "अनंत और दयालु ईश्वर को हमें वासुदेव के ही रूप में जानना चाहिए तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन सभी को चाहिए कि उस की भक्तिभाव के साथ पूजा करे"। 'सात्त्वत' शब्द भी 'वार्ष्णेय' शब्द की ही भाँति 'शतपथ ब्राह्मण' के एक अन्य प्रसंग[६] मे आया है जिस से दोनों एक समान ही प्राचीन समझ पड़ते हैं।

---

[१] वृषस्य पुत्रो मधुरभवत् ॥२६॥ तस्यापि वृष्णिप्रमुखं पुत्रशतमासीत् ॥२७॥ यतो वृष्णिसंज्ञामैतद्गोत्रमवाप ॥२८॥ यादवश्च यदुनामोपलक्षणादिति ॥३०॥—विष्णुपुराण, (४–११)

[२] ततश्चांशुस्तस्माच्च सत्त्वतः ॥४३॥ सत्त्वतादेते सात्त्वताः ॥४४॥—विष्णु-पुराण, (४–१२)

[३] 'श्रीमद्भागवत', (९–९–४९)

[४] वही, (११–२७–५)

[५] डा० भांडारकर, 'वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० १२

[६] शतपथ ब्राह्मण (१३ ५ ४ २१)

'वासुदेव कृष्ण' का दूसरा अंश अर्थात् 'कृष्ण' शब्द पहले-पहल ऋग्वेद (मंडल ८) में सूक्त ८५ के ऋषि वा रचयिता के रूप में आया है और इस के तीसरे व चौथे मंत्रों में उक्त ऋषि अपने को स्वयं भी कृष्ण कहते हुए जान पड़ते है[१]। अनुक्रमणी के रचयिता ने उसी कृष्ण को आंगिरसगोत्रोत्पन्न भी बतलाया है और 'कौशीतकी ब्राह्मण'[२] में भी कदाचित् उसी कृष्ण आंगिरस का उल्लेख मिलता है। इधर 'छांदोग्यउपनिषद्'[३] के अनुसार देवकी-पुत्र कृष्ण घोर आंगिरस के शिष्य थे और 'कौशीतकी ब्राह्मण'[४], से विदित होता है कि ये ऋषि सूर्य के उपासक थे। परंतु क्या वैदिक सूक्त के रचयिता कृष्ण आंगिरस और घोर आंगिरस के शिष्य कृष्ण एक ही व्यक्ति थे? डाक्टर भांडारकर का कहना है कि, "यदि कृष्ण और घोर दोनों आंगिरस थे तो इस से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि कृष्ण के ऋषि होने की परंपरा 'ऋग्वेद' के मंत्रों के समय से ले कर 'छांदोग्य उपनिषद्' के रचना-काल तक चली आई और उस समय कार्ष्ण्यायन नाम का कोई गोत्र भी वर्तमान था जिस के मूलपुरुष कृष्ण थे। वासुदेव के आराध्यदेव बन जाने पर जब कृष्ण और वासुदेव दोनो मिल कर एक वासुदेव कृष्ण हो गए तो कालांतर मे उन्हे वृष्णिकुल के वंशवृक्ष मे भी स्थान मिल गया।"[५] 'वासुदेव' का व्यक्तिवाचक संज्ञा और 'कृष्ण' का गोत्रनाम होना बौद्धों के 'घट जातक' और "महा उम्मग्ग जातक" में दिए गए प्रसंगों से भी सिद्ध होता है,[६] और पतंजलि के महाभाष्य में आए हुए दो स्थलों[७] की तुलना करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उन के समय में वासुदेव और कृष्ण को लोग एक ही व्यक्ति समझा करते थे।

---

[१] अयं वां कृष्णो अश्विनाहवते वाजिनीवसू—ऋग्वेद (मं० ८, सू० ८५ मंत्र ३) तथा शृणुतं जरितुहवं कृष्णस्य स्तुवतो नरा—वही (मं० ८, सू० ८५, मंत्र ४)

[२] कौशीतकी ब्राह्मण, (३०–६)

[३] तद्धैतद्घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रायोक्त्वा, इत्यादि—छांदोग्य उपनिषद् (३–१७–६)

[४] कौशीतकी ब्राह्मण, (३०–६)

[५] डा० भांडारकर, 'वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स, पृ० १५–१६

[६] वही, पृ० १४–१५

[७] प्रहारा दृश्यंते कंसस्य च कृष्णस्य च; असाधुर्मातुले कृष्णः तथा जघान कंसं किल वासुदेव। — 'अर्ली हिस्ट्री अव् दि वैष्णव सेक्ट' पृ० २२

किंतु फिर भी प्राचीन वैदिक काल के कृष्ण आंगिरस एवं उपनिषद्-काल के देवकी-पुत्र कृष्ण के केवल अधूरे आधारों पर ही द्वापर के अंत में अवतीर्ण होने वाले वासुदेव कृष्ण के व्यक्तित्व व नामादि का रचा जाना तथा, आगे चल कर, महाभारत के उसी वासुदेव कृष्ण के साथ भागवतादि ग्रंथों के गोपालकृष्ण का भी एक ही व्यक्ति समझा जाना और इस परंपरा का इतने समय तक अक्षुण्ण रूप में निर्विवाद प्रचलित रहना बड़े आश्चर्य की बातें हैं। इस का समाधान केवल प्राचीन धार्मिक ग्रंथों के ही आधार पर करना कठिन है। वास्तव में अनेक प्रसिद्ध एवं धुरंधर आचार्यों द्वारा भागवत धर्म के संबंध में बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे जाते रहने पर भी, वासुदेव और कृष्ण को कौन कहे, इन दोनों के साथ, विष्णु और नारायण तक के एकीकरण के विषय में अभी तक कभी संदेह नहीं उत्पन्न हुआ था। यह प्रश्न ईसा की गत १९वीं शताब्दी में पहले-पहल उस समय उठा जब कि पाश्चात्य विद्वान्, अथवा उन्हीं के समान खोज व तर्क करने वाले कतिपय भारतीय पंडित भी, कुल बातों पर गवेषणापूर्ण आलोचना करते समय, सोचने लगे कि क्या उक्त चारों आदि से ही एक थे अथवा इन का एकीकरण आगे चल कर कभी हुआ। तब से कृष्ण के ऐतिहासिक व्यक्तित्व को स्पष्ट करने की चेष्टा निरंतर होती रही है और ढेरों सामग्री एकत्रित कर उन का अनेक बार विश्लेषण व वर्गीकरण भी हुआ है, किंतु कृष्ण की समस्या आज भी वैसी ही जटिल और विवादग्रस्त बनी हुई है जैसी आरंभ में थी।[1]

हाँ, इस विषय में एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है। 'छांदोग्य उपनिषद्' के उपरोक्त प्रसंग में घोर आंगिरस ने देवकीपुत्र कृष्ण को कुछ उपदेश दिए हैं और वहाँ जो बातें कही गई हैं वे वासुदेव कृष्ण की 'श्रीमद्भगवद्गीता' के कुछ अंशों से बहुत कुछ मिलती हैं। उक्त उपनिषद् (तृतीय प्रपाठक) के सोलहवें खंड के आरंभ में ऋषि ने पुरुष वा मनुष्य को यज्ञ-रूप माना है और आगे चल कर, (१७वें खंड में) उस के जीवन-संबंधी विविध कर्मों की, यज्ञ की दीक्षा, उपसद, स्तुतशस्त्र, असोष्ट एवं अवभृथ के साथ, समानता भी दिखलाई है। अंत में इस 'पुरुषयज्ञविद्या' को समझाकर वे देवकीपुत्र कृष्ण से फिर कहते हैं कि मनुष्य को अंत समय में इन तीन पदों का उच्चारण करना चाहिए अर्थात्, "हे परमात्मन् आप

---

[1] ताड़पत्रीकर, 'दि कृष्ण प्राब्लम'—बी० ओ० आर० इंस्टिट्यूट मैनुअल, भाग १० (३–४) पृ० २७०

अविनाशी है, आप सदा एकरस रहने वाले है, तथा आप सब के प्राणप्रद एवं अति सूक्ष्म है" और इस संबंध में वे ऋग्वेद व यजुर्वेद के दो आवश्यक मंत्र भी बतलाते हैं। तत्पश्चात् इस उपदेश को श्रवण कर कृष्ण की, किसी दूसरे ज्ञान को प्राप्त करने की पिपासा शांत हो जाती है।[1] इधर 'श्रीमद्भगवद्गीता' में हम देखते है कि अर्जुन को उपदेश देते समय श्रीकृष्ण ने भी मनुष्य के यज्ञार्थ किए गए कर्मों को ही अधिक महत्व दिया है और वे कहते है कि "हे कौंतेय, जो कुछ करते हो, खाते हो, हवन करते हो, अथवा देते हो तथा जो तप भी करते हो वह सब कुछ मुझे (अर्थात् भगवान् को) समर्पित कर दिया करो।"[2] इसी प्रकार उक्त दोनों ग्रंथों के कई अन्य अंशों की तुलना हम नीचे दिए गए ढंग से भी कर सकते हैं। जैसे,

छांदोग्य उपनिषद्	श्रीमद्भगवद्गीता
१—तपोदानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति, (३—१७—४)	१—दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्। अहिंसा सत्यम् (१६—१—२)
२—सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येत। अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति (३—१७—६)	२—अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् (८—५), तथा, प्रयाणकाले... यदक्षरं वेदविदो वदन्ति (८—१०—११)
३—उद्वयं तमसस्परिज्योति पश्यन्त उत्तरं स्वः पश्यंत उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यम् (३—१७—६ में उद्धृत यजुर्वेद २०—२१)	३—सर्वस्य धातारमचिंत्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् (८—९)

अतएव इन अवतरणों से पता चल जाता है कि एक के भाव तथा बहुत कुछ शब्द तक भी दूसरे के भाव एवं शब्दों से स्पष्ट रूप में मिलते है जिस से यह परिणाम स्वभावतः निकाला जा सकता है कि देवकीपुत्र कृष्ण ने जो उपदेश अपने गुरु घोर आंगिरस से ग्रहण किए थे उन्हीं के अनुसार वासुदेव कृष्ण ने भी गीता-द्वारा अपने मित्र अर्जुन को उपदेश दिया। उपरोक्त समानता केवल अकस्मात् वा संयोगवश ही नहीं आ गई है बल्कि इस कथन में

---

[1] छांदोग्य उपनिषद्, (३—१७—६)।

[2] यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौंतेय — — (९ २७

तथ्य अवश्य है कि देवकीपुत्र और वासुदेव कृष्ण, ब्राह्मण में, एक ही थे और उस महापुरुष ने अपने शिष्यत्व-काल में ग्रहण किए हुए सिद्धांतों के आधार पर ही अपने अर्जुनादि अनुयायी भागवतों को शिक्षा प्रदान की थी।[1] 'श्रीमद्भगवद्गीता' के ही "अनेक जन्मों के अनतर यह अनुभव हो जाने से कि जो कुछ है, वह सब वासुदेव ही है, ज्ञानवान् मुझे पा लेता है"[2] से यह धारणा और भी दृढ़ हो जाती है।

(२)

देवकीपुत्र कृष्ण और वासुदेव कृष्ण को यदि हम एक ही व्यक्ति मान भी लें तो भी उन के जीवन-काल एवं जीवनचरित्र-संबंधी ऐतिहासिक बातों का पता लगाना वैसा ही कठिन बना रहता है। कारण यह है कि इस विषय की जो कुछ सामग्री इस समय उपलब्ध है उस मे से अधिकाश अनुमान पर आश्रित है और अनेक बातें ऐसी भी हैं जिन्हें कल्पना के आधार पर ही निर्मित समझना चाहिए। कुछ विद्वानों ने पहले इसी लिए भारत के भक्तिमार्ग एवं कृष्ण के व्यक्तित्व को आधुनिक बतलाना आरंभ किया था और इस बात के लिए वे प्रमाण भी देते थे कि कृष्ण को केवल एक काल्पनिक पुरुष और भक्तिभाव को यहाँ पर ईसाई-धर्म के फैलने के उपरांत, प्रचलित होने वाली बात क्यों कहना चाहिए। परतु फिर भी ऐसे विचारों को निराधार सिद्ध करने तथा, साथ ही, कृष्ण की प्राचीनता दिखलाने के लिए ऐतिहासिक सामग्री हमें कम नही मिलती। ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी के वेसनगर (ग्वालियर राज्य) शिलालेख से ग्रीक राजा ऐंटियाल्किदस के राजदूत हेलियोडोरा का भागवत होना तथा उस के द्वारा 'देवदेव वासुदेव' के नाम पर गरुडध्वज का निर्माण किया जाना सिद्ध होता है और यह भी स्पष्ट है कि उक्त शिलालेख की बहुत कुछ बातें घोर आगिरस के उपदेश एवं गीता के सिद्धांतों से भी मिलती-जुलती हैं।[3] फिर उसी दूसरी शताब्दी के प्रसिद्ध वैयाकरण पतंजलि से, अन्य कई बातों के अतिरिक्त, यह भी पता चलता है कि उन के समय में कोई नाटक खेला जाता था जिस में कृष्ण द्वारा

---

[1] प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अव् दि वैष्णव सेक्ट', पृ० ५०

[2] बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥—श्रीमद्भगवद्गीता, (७-१९)

[3] प्रो० रायचौधुरी 'अर्ली हिस्ट्री अव् दि वैष्णव सेक्ट' पृ० ५९-६०

कंस का वध किया जाना दिखलाया जाता था। उस समय तक यह घटना बहुत प्राचीन हो गई थी। जैसा उन के 'चिरहते कंसे' कहने से विदित होता है।[1] इसी प्रकार ईसा के प्रथम, चौथी शताब्दी में चंद्रगुप्त मौर्य के दर्बार में आए हुए ग्रीक राजदूत मेगास्थिनीज़ तथा एक एरियन नामी दूसरे ग्रीक के लेखों से भी प्रकट होता है कि 'हेराक्लीज़' को शौर-सेन वंशवाले बड़ी प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते थे और उस में यह भी लिखा है कि उक्त वंशवालों के 'मेथोरा' और 'क्लेइसोबोरा' नामक दो बड़े बड़े नगर थे तथा इन के प्रदेश से हो कर 'जोबारे' नदी बहती थी।[2] डाक्टर भांडारकर ने उक्त नामों में से 'हेराक्लीज' को हरिकुल वा वासुदेव व शौरसेन को सात्त्वत समझा है और 'मेथोरा' को मथुरा 'क्लेइ-सोबोरा' को कृष्णपुर तथा 'जोबारे' को यमुना भी मान लिया गया है।[3] ईसा के पूर्व सातवीं शताब्दी के वैयाकरण पाणिनि के एक सूत्र से भी जान पड़ता है कि वासुदेव नाम का व्यक्ति क्षत्रिय-वंश का था और[4] यह बात महाभारत के प्राचीन अंशों से भी प्रमाणित की जा सकती है। अतएव संहिता-काल के वैदिक ऋषि कृष्ण का विचार यदि छोड़ भी दें तौभी देवकीपुत्र कृष्ण के लिए हमें, मेकडानेल के अनुसार, ईसा के पूर्व ६०० वें वर्ष से पहले का ही समय निश्चित करना पड़ेगा, क्योंकि 'छांदोग्य' आदि प्राचीनतम उपनिषदों की रचना ऐसे ही समय में हुई थी।[5] इसी प्रकार जैनधर्म वालों की परंपरा के अनु-सार कृष्ण, उन के २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि वा नेमिनाथ के समकालीन थे और यह नेमिनाथ उन के २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय अर्थात् ईसा के पूर्व ८१७वें वर्ष से भी पहले हो चुके थे। अतएव, इस दृष्टि से, कृष्ण का समय ईसा के पूर्व नवीं शताब्दी के इधर का नहीं हो सकता।[6] इस के सिवाय प्रसिद्ध विद्वान् चिंतामणि विनायक वैद्य का अनुमान है कि महाभारत, हरिवंश, मेगास्थिनीज़ के लेख अथवा प्रचलित परंपराओं के आधार पर भी श्री कृष्ण का जन्म-काल ईसा के पूर्व ३१८५वें वर्ष तथा मृत्यु-समय ३०७२वें वर्ष

---

[1] प्रो० रायचौधरी, 'अर्ली हिस्ट्री अव् दि वैष्णव सेक्ट' पृ० २२ व २९
[2] वही, पृ० ५५–५६
[3] वही, पृ० २३
[4] वही, पृ० ३२
[5] डा० मेकडानेल, 'हिस्ट्री अव् संस्कृत लिटरेचर', पृ० २२६
[6] प्रो० रायचौधुरी 'अर्ली हिस्ट्री अव दि वैष्णव सेक्ट', पृ० ३९

मे मानना चाहिए। इस हिसाब से उन की अवस्था राजसूय-यज्ञ के अवसर पर ७१ वर्ष की थी, महाभारत की लड़ाई के समय ८४ वर्ष की तथा मरने के समय ११३ वर्ष की ठहरती है, जो कुल बातों पर विचार करते हुए असंभव नहीं जान पड़ता।[१]

जो हो, उपरोक्त सभी सामग्रियों को ध्यान में लाते हुए यह स्वीकार कर लेना कि श्रीकृष्ण वा वासुदेव कृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति अवश्य थे असंगत नही कहा जा सकता। परिणाम यह निकलता है कि वे मथुरा प्रदेश के यादव-कुल में उत्पन्न एक क्षत्रिय महापुरुष थे, उन्हे घोर आंगिरस ऋषि के यहाँ शिक्षा-दीक्षा मिली थी, उन्हों ने कंस को मारा था और महाभारत के युद्ध में पांडवों की सहायता की थी। यह भी स्पष्ट है कि अपने गुरु से ग्रहण किए गए विचारों का सिद्धांत-रूप से उन्हों ने दूसरे लोगों में भी प्रचार किया और उन के व्यक्तित्व से प्रभावित हो कर सात्त्वतों ने उन्हे पूजनीय भगवान् तक माना। फिर उन के जीवनकाल से ले कर आगे भी उन के प्रति प्रदर्शित की गई भक्ति वा श्रद्धा मे बराबर वृद्धि होती गई, और अंत में वे पूर्णब्रह्म परमात्मा तक के स्थानापन्न समझे जाने लगे। 'महाभारत' ग्रंथ में श्रीकृष्ण दोनों रूपों में (अर्थात् मनुष्य एवं देवता-स्वरूप) दिखाई पड़ते हैं। सभापर्व में शिशुपाल कृष्ण को, ब्राह्मणों के रहते हुए, देवत्व की कोटि प्रदान करने मे, स्पष्ट रूप से, विरोध करता हुआ दिखलाई देता है[२] और भरी सभा में उन्हे वह बहुत कुछ बुरा-भला तक कह डालता है। भीष्म का कहना था कि कृष्ण को सब से अधिक सम्मानित करने में दो कारणों में से एक यह भी है कि वे वेदों तथा वेदांगों के जानकार हैं और उन्हों ने ऋत्विज हो कर यज्ञ भी कराया है।[३] फिर भी महाभारत के ही वनपर्व में दिए गए 'भीष्मस्तवराज' से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण का, उक्त ग्रंथ के समाप्त होते-होते, नारायण विष्णु के साथ, एकीकरण अवश्य हो चुका था।[४] 'महाभारत' की रचना का समय ईसा की सातवीं शताब्दी (पूर्व), अर्थात् पाणिनि के समय, से भी पहले से ले कर तीसरी शताब्दी (पूर्व) तक विद्वानों ने मान लिया है[५] अतएव, इस प्रकार, वासु-

---

[१] वैद्य, 'एपिक इंडिया', पृ० ४१८–४२०
[२] महाभारत, (सभापर्व ४२–६)
[३] वही, ३८वाँ अध्याय।
[४] महाभारत, (वनपर्व १८९–९३–४ तथा ९९–१००)
[५] हाप्किन्स 'दि ग्रेट एपिक अव इंडिया' तथा वैद्य 'एपिक इंडिया'

देव के प्रति की गई प्रतिष्ठा का विकास भी लक्षित होता है। आरंभ में श्रीकृष्ण ने अपने विचारों को अपने वर्ग वा कुल वाले लोगों में ही प्रकट किया था और उन के अनुयायी बन जाने पर, भागवतधर्म का प्रचार अन्य समाजों में होने लगा। जैसा ऊपर कहा गया है मेगास्थिनीज़ के समय तक कृष्ण एक प्रतिष्ठित व प्रभावशाली महापुरुष थे जिन के मत का प्रचार अभी तक मथुरा प्रदेश में ही हो पाया था, परंतु तक्षशिला के हेलियोदोरा के समय तक अर्थात् ईसा की दूसरी शताब्दी (पूर्व) में यह वर्तमान ग्वालियर तक फैल गया और उस के अनुयायियों में विदेशी लोग तक सम्मिलित होने लगे। इसी प्रकार दूसरी शताब्दी (पूर्व) के ही, राजपूताना में पाए गए, 'घसुंडी शिलालेख' एवं नासिक के निकट मिले हुए प्रथम शताब्दी (पूर्व) के 'नानाघाट शिलालेख' से भी यह प्रकट होता है कि ईसा के जन्म के पहले ही इस मत का विस्तार पश्चिम एवं दक्षिण भारत में कुछ दूर तक पहुँच गया था।[१] इस मत के प्रचार का पता तत्कालीन भारतवर्ष के पूर्वी भागों में नही मिलता अतएव यह भी अनुमान किया जाता है कि भागवतधर्म उक्त समय तक मथुरा प्रदेश के आसपास तथा कुछ दूर तक उत्तर, पश्चिम एवं दक्षिण ही दिशा की ओर फैल रहा था। पूर्व के लोग इस से अधिकतर अपरिचित थे और इसी कारण इस ओर, मगध प्रदेश में, गौतम बुद्ध और महावीर के मतों का प्रचार सुगमता के साथ हुआ।[२]

वासुदेव कृष्ण ने जिन-जिन बातों का उपदेश किया तथा जिन-जिन सिद्धांतों को उन के अनुयायी सात्त्वतों और भागवतों ने अपनाया था उन सब का सार 'श्रीमद्भगवद्गीता' में दिया गया है। पता नही श्रीकृष्ण ने अर्जुन से जो-जो शब्द कहे थे वे ठीक उसी रूप में उक्त ग्रंथ में वर्तमान है वा नही किंतु इतना तो निर्विवाद है कि उन के द्वारा प्रकट किए गए भावों का मूलरूप इस मे अवश्य सुरक्षित है और यह रचना, उन के मत को मानने वालों के लिए, अत्यंत उपयोगी व महत्वपूर्ण है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' के देखने से विदित होता है कि जिस समय उक्त उपदेश दिए गए थे उस समय यहाँ दार्शनिक व धार्मिक विचारों की दो मुख्य-मुख्य धाराएँ प्रचलित थीं जिन्हें सांख्य व योग नाम से पुकारा जाता था और, स्वीकृत पद्धतियों के अनुसार, जिन्हे, दूसरे शब्दों में, ज्ञानयोग व कर्मयोग भी कहा

---

[१] प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अव् दि वैष्णव सेक्ट', पृ० ६९--७०
[२] डा० भांडारकर. 'वैष्णविज़्म शैविज़्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स' पृ० १२

करते थे।[1] इन में से साख्य वा ज्ञानयोग का मुख्य सिद्धांत यह था कि आत्मा नित्य, शुद्ध, एव ज्ञानमय है और विकारों की भावना वा कर्मबंधन की अड़चनें उस में चेष्टामयी प्रकृति के संयोग से ही आती हैं, अतएव यह आवश्यक है कि, संसार के सभी बंधनों से अपना चित्त नितांत अलग रखने का अभ्यास डालते हुए, उसे स्वयं अपनी ओर उन्मुख किया जाय जिस से, अंत में, पूर्ण आत्मज्ञान हो कर, मुक्ति मिले। इस मार्ग की साधना वैदिक परमात्मोपासना की जगह आत्मोपासना वाली थी और इस का ज्ञानयोग कदाचित्, वैदिक ध्यानयोग का ही, एक प्रकार से, विकसित रूप था। इस के विपरीत योग या कर्मयोग का मुख्य सिद्धांत यह था कि आत्मा केवल सत् मात्र व सचेष्ट है और ज्ञान का आविर्भाव उस में प्रकृति के संसर्ग से ही संभव है; व्यक्तिगत चेष्टा द्वारा इच्छादि की शृंखला स्वभावतः बढ़ती रहती है और परिणाम दुःखमय होता है, अतएव अपने कर्म-संबधी व्यापारों का निर्वाह, उन्हें यज्ञ वा कर्तव्यरूप मान कर, करना चाहिए जिस से, अंत में चल कर, दुःखों की निवृत्ति एवं स्वर्ग वा अत्यंत सुख की प्राप्ति हो। इस मार्ग की विशेषता यह थी कि इस में प्रचलित साधना ज्ञानयोग की आत्मोपासना की जगह एक प्रकार से, कर्मोपासना थी और जिस प्रकार इस का अंतिम लक्ष्य अत्यंत सुख का शाश्वत आनंद था उसी भाँति इस के यज्ञादि अनुष्ठानों में भी 'प्रीति' के अंश का विद्यमान रहना, विशेषरूप से, आवश्यक समझा जाता था।[2] इन्ही दोनो मार्गों के दूसरे शब्दों में, क्रमशः निवृत्ति मार्ग व प्रवृत्ति मार्ग भी कहा जाता था।

उपरोक्त दोनों मार्गों के सिद्धांत, इस प्रकार परस्पर-विरुद्ध थे और दोनों की स्वीकृत पद्धतियाँ भी नितात भिन्न-भिन्न थीं अतएव दैनिक जीवन में समस्या उपस्थित होने पर दोनों में से किसी एक को शीघ्र अपना लेना सरल नहीं था। पांडव अर्जुन के सामने भी, कुरुक्षेत्र की लड़ाई के आरंभ में ऐसी ही कठिनाई आ पड़ी थी जब वह मैदान मे श्रेणीबद्ध सिपाहियो के बीच अपने संबंधी-जनों को देख कर तथा उन की भावी हत्या की आशंका से क्षुब्ध हो कर, कर्त्तव्यविमूढ़ हो गया और अपने मित्र सारथी कृष्ण से,

---

[1] लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥—श्रीमद्भगवद्गीता, (३-३)

[2] डा० गोस्वामी 'दि भक्ति कल्ट इन ऐंशेंट इंडिया' पृ० ४९

अपना श्रेयस्कर वा कल्याणमय कर्त्तव्य निश्चित करने के लिए, एक शिष्य की भाँति अनुरोध करने लगा।[१] श्रीकृष्ण ने, अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए, उसे समझाया कि "भावी सुख की प्राप्ति के लिए लड़ना अपना कर्त्तव्य समझ कर तुम समरक्षेत्र में आए थे और यहाँ कतिपय संबंधियों के मारे जाने की आशंका मात्र ने तुम्हे अपने लक्ष्य की ओर से उदासीन कर दिया, इस का कारण केवल यही है कि इस नैतिक स्थिति की ठीक आलोचना तुम ने नहीं की। तुम्हारा यह सोचना कि लड़ाई करने पर मेरे ऊपर कई प्रकार के उत्तरदायित्व आ जायँगे अतएव इसे, उचित होने पर, छोड़ दें निरी मूर्खता है। वास्तव मे कोई कार्य छोड़ने से नहीं छूट सकते और न केवल उन के करने मात्र से ही किसी प्रकार का बंधन आ सकता है। बंधन का मूल कारण कार्य के फल की आशा करने में निहित है, इस लिए आवश्यक है कि जो कुछ भी किया जाय वह यज्ञार्थ का कर्त्तव्य मात्र समझ कर ही किया जाय और उस के फल के परिणाम की बात, अपने अधीन न जान कर, भगवान् पर छोड़ दी जाय।" ऐसा करने से एक ओर अपने किसी कर्म को छोड़ने वा न छोड़ने का प्रश्न तक नहीं उठता और दूसरी ओर, फल की आशा वा धारणा से निवृत्ति पा जाने पर हमें किसी बंधन का भय भी नहीं रहता। सब कुछ एक सच्चा सीधा कर्त्तव्य मान कर ही करना और उस के परिणाम को भगवान् के हाथ की बात समझना हमें सभी प्रकार की चिंताओं से मुक्त कर देता है और हमारे हृदय में एक अपूर्व आत्मविश्वास और आनंद का भाव भी जागृत होता है। श्रीकृष्ण ने इन उपदेशों द्वारा दोनों प्रचलित मार्गों को एक प्रकार से, मर्यादित कर उन का समन्वय किया और भगवान् पर भरोसा करने की भावना ला कर इस ज्ञान-कर्म-समुच्चय को एक नवीन कर्मयोग में परिणत कर दिया, जो भागवतों के बीच 'एकांतिक धर्म' के नाम से भी प्रसिद्ध है।

कहना न होगा कि भागवतों की दृष्टि में यह "'एकांतिक धर्म' सब से श्रेष्ठ है क्यों कि यह स्वयं नारायण वा भगवान् को भी प्रिय है।"[२] इस का सिद्धांत, एक प्रकार से, यों भी प्रकट किया जा सकता है कि मनुष्य को प्रत्येक काम करते समय यह धारणा

---

[१] यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥
—श्रीमद्भगवद्गीता (२—७)

[२] नूनमेकांतधर्मोऽयम् श्रेष्ठो नारायणप्रियः।—महाभारत (१२—३४८—४)

बना लेनी चाहिए कि मैं इस के द्वारा भगवान् की इच्छापूर्ति में केवल एक साधन मात्र हूँ। ऐसी मनोवृत्ति के साथ निरंतर कार्य करते रहने पर मानसिक विकारों से छुटकारा मिल जाता है, ईश्वर की सर्वव्यापकता में विश्वास दृढ़तर होता जाता है और सभी वस्तुओं को एक भाव के साथ देखने का स्वभाव भी पड़ जाता है।[१] अतएव इस के द्वारा ईश्वर के प्रति विशुद्ध प्रेम का होना एवं उस का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उस में लीन हो जाना कोई असंभव बात नहीं। हाँ, निःस्वार्थ भाव के साथ विधिवत् कर्तव्य-पालन करते रहना सहज काम नहीं है क्यों कि इस पृथ्वी पर अथवा देवलोक में भी ऐसी कोई वस्तु नहीं जो प्रकृति के तीन गुणों से मुक्त हो।[२] ये सत्व, रज और तम देह में रहने वाले अव्यय अर्थात् निर्विकार आत्मा को भी देह में बाँध लेते हैं[३] और अज्ञानी बन कर वह अपने को वास्तव में, इन गुणों द्वारा होने वाले कर्मों का भी कर्ता मानने लगता है।[४] फिर तो अहंकारवश आसक्ति का होना स्वाभाविक है और इस से बचने का एकमात्र उपाय यह है कि, सभी प्राणियों के हृदय में रह कर अपनी माया से उन्हें "किसी यंत्र पर चढ़ाए गए की भाँति घुमाने वाले, भगवान्[५] में विश्वास कर 'सर्व भाव से' उन की शरण में जा गिरे और उस के अनुग्रह द्वारा परम शांति एवं नित्य स्थान पाने[६] का भागी बने। श्रीकृष्ण ने इस धर्म का उपदेश देते समय "मुझ से परे और कुछ नहीं है और, धागे में पिरोए हुए मणियों के समान, मुझ में यह सब गूँथा हुआ है"[७] ऐसे भाव भी अनेक स्थलों

---

[१] डा० भांडारकर, 'वैष्णविज़्म शैविज़्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ३७

[२] न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥—गीता, (१८–४०)

[३] सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥—वही, (१४–५)

[४] प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥—वही, (३–२७)

[५] ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥—वही, (१८–६१)

[६] तमेवशरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्पराः शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।—वही, (१८–६२)

[७] मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥—वही (७–७)

पर व्यक्त किए थे और अर्जुन का ध्यान बार-बार इसी ओर आकृष्ट किया था कि "जो कुछ है, वह सब वासुदेव ही है।"[१] ईश्वर वा भगवान् और वासुदेव कृष्ण, इस प्रकार, इस धर्म के अनुसार एक ही थे और उसी एक की 'अनन्य योग द्वारा उपासना' करने के लिए "मुझ में ही मन लगा, मुझ मे बुद्धि को स्थिर कर, इस से तू नि.संदेह मुझ मे ही निवास करेगा"[२] वा "मुझ मे अपना मन रख, मेरा भक्त हो, मेरा भजन कर और मेरी बंदना कर; मै तुझ से सच्ची प्रतिज्ञा कर के कहता हूँ कि इस के द्वारा तू मुझ मे ही आ मिलेगा"[३] कहा गया था। आत्म-समर्पण और एकांत-निष्ठा[४] इस मार्ग की मुख्य बातें थी और इसी कारण इस का 'एकांतिक धर्म' नाम भी सार्थक था।

(४)

भागवत, सात्वत वा एकांतिक धर्म के विषय मे 'महाभारत' के 'नारायणीय' नामक अंश मे कहा गया है कि स्वयं भगवान् ने पहले-पहल इसे अर्जुन को बतलाया था और फिर नारायण ने भी इस का उपदेश नारद को दिया।[५] नारद इस के लिए नारायण का दर्शन करने श्वेतद्वीप में गए थे, जहाँ पर नियम था कि बिना उन का 'एकांतिक' वा एकांतनिष्ठ भक्त हुए कोई उन्हें देख नही पाता था। नारद इस प्रकार के भक्त समझे गए थे और, इसी कारण, उन से इस 'वासुदेव धर्म' की व्याख्या भी की गई। वासुदेव को वहाँ आत्मा का आत्मा अथवा परमात्मा कहा गया है और उन्हे सब का स्रष्टा भी माना गया है। संकर्षण उन्हीं के एक दूसरे रूप हैं और वे सभी प्राणियों के प्रतिनिधि स्वरूप है। संकर्षण से प्रद्युम्न अथवा मन की उत्पत्ति होती है, और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध वा अहंकार की। ये चारों नारायण वा वासुदेव भगवान् की ही मूर्तियाँ हैं। देवता वा सारे प्राणि-

---

[१] वासुदेवः सर्वमिति।—गीता (७-१९)

[२] मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥—वही, (१२-८)

[३] मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
—वही, (१८-६५)

[४] मामेकं शरणं व्रज।—वही, (१८-६६)

[५] महाभारत, (१२-३४६-१०-११, तथा १२-३४८-६-८)

वर्ग नारायण से उत्पन्न हो कर नारायण में ही विलीन होते हैं।[1] नारायण को, इस प्रसग मे, बहुधा हरि भी कहा गया है। नारायण वा हरि की उपरोक्त चारों मूर्तियाँ वा विभूतियों के संबध में ही 'व्यूहवाद' का मत प्रचलित हुआ। व्यूहवाद का कोई उल्लेख 'श्रीमद्भगवद्गीता' में नहीं आता यद्यपि (अ० ७, श्लो० ४-५ में) वासुदेव कृष्ण की अष्टधा प्रकृति में पंचतत्त्वों के साथ-साथ मन, बुद्धि, जीव और अहंकार का भी स्पष्ट उल्लेख है। जान पड़ता है कि जीव, मन और अहकार को ही आगे चल कर संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध का व्यक्तित्व मिल गया।[2] पतंजलि ने कदाचित् "जनार्दनस्त्वात्मं चतुर्थ एव"[3] द्वारा इस व्यूहवाद की ओर ही संकेत किया है। जो हो, इस विषय की स्पष्ट चर्चा सर्वप्रथम 'महाभारत' (शांतिपर्व) के उपरोक्त 'नारायणीय' नामक अंश में ही की गई है। डाक्टर भांडारकर का अनुमान है[4] कि 'श्रीमद्भगवद्गीता' की रचना भागवत-धर्म के सुसंगठित रूप में तैयार होने के पहले ही हो चुकी थी और, वासुदेव के प्रद्युम्नादि कुटुंबीजनों के रूपों में, परमात्मा की प्रकृतियों का दिखलाया जाना, उस पिछले समय की घटना है। 'घसुडी' के शिलालेख तथा पतंजलि के एकाध उल्लेखों[5] द्वारा यह अवश्य प्रतीत होता है कि, वासुदेव के अतिरिक्त, संकर्षण वा बलदेव का भी उपास्यदेव होना, ईसा के पूर्व, दूसरी शताब्दी से ही, सिद्ध है, और यह बात 'निर्देश' के प्रसंग से भी सूचित होती है, किंतु चारों के व्यूह का पता नारायणीय से अन्यत्र उधर नहीं चलता। 'श्रीमद्भगवद्गीता' का समय उक्त डाक्टर साहब के अनुसार[6] ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी के आरंभ से भी पहले का है और 'नारायणीय' की रचना, संभवतः तीसरी शताब्दी (पूर्व) की है।

'नारायणीय' में उपरोक्त व्यूहवाद के प्रसंग के उपरांत ही अवतार ग्रहण करने की भी चर्चा है और भगवान् के वाराह, नृसिंह, वामन, भार्गव राम, दाशरथी राम

---

[1] डा० भांडारकर, 'वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ८
[2] वही, पृ० १७
[3] पाणिनि के सूत्र (६-३-६) पर भाष्य।
[4] डा० भांडारकर, 'वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० १७
[5] पाणिनि के सूत्र (२-२-३४) पर भाष्य।
[6] डा० भांडारकर, 'वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० १८

एव कृष्णावतार का उल्लेख किया गया है। ये छः अवतार दूसरे स्थल पर हंस, कूर्म, मत्स्य और कल्कि ले कर दस की संख्या में आते हैं और फिर आगे के पुराणों मे इस मे सुधार व वृद्धि बराबर होती रहती है।[१] अवतारवाद का सूत्रपात सब से पहले ब्राह्मण साहित्य में ही हो गया था क्यो कि 'शतपथ ब्राह्मण' में प्रजापति का कूर्म रूप धारण कर के सतानो की सृष्टि करने तथा वाराह बन कर समुद्र के भीतर से पृथ्वी को बाहर लाने के विषय में वर्णन किया गया है और विष्णु के वामन हो कर, देवताओ के लिए, तीन पगो द्वारा, असुरों मे पृथ्वी ले लेने की भी चर्चा ब्राह्मणो में आई है।[२] परतु इस विषय का अधिक प्रचार क्रमशः आगे होता गया। श्रीकृष्ण ने 'श्रीमद्भगवद्गीता' मे स्पष्ट कहा है कि "हे भारत, जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म की प्रबलता बढ जाती है तब-तब मैं स्वयं ही जन्म वा अवतार लिया करता हूँ।"[३] फिर भी 'नारायणीय' में उन्हे नारायण वा वासुदेव का अवतार बतलाया गया है और ईसा के अनंतर गुप्तकाल मे जब अवतारवाद का सब से अधिक प्राबल्य हुआ तब यह बात और भी निश्चित हो गई और भागवत वा सात्त्वतधर्म के, वैष्णवधर्म मे परिणत होने के कारण, उन की गणना, अन्य अवतारों में, प्रायः एक ही प्रकार से, होने लगी। भागवत वा सात्त्वतधर्म का अंतिम विकसित रूप 'पांचरात्र धर्म' था जो, लगभग तीसरी शताब्दी (ईसा के पूर्व) से, प्रचलित हुआ कहा जाता है।[४] इस रूप में भक्ति एवं वासुदेव भगवान् के व्यूह का महत्त्व अधिक रहा और इस के समर्थन में अनेक तन्त्रो वा सहिताओं की रचना हुई। पांचरात्र धर्म मे अवतारवाद का अधिक महत्त्व नही था।

सात्त्वत, भागवत, एकांतिक वा पांचरात्र धर्म, वैष्णव धर्म के रूप में, क्यों और किस प्रकार परिणत हुआ यह बतलाना कठिन है। सात्त्वत धर्म, जैसा कि अब तक दिखलाई गई उस की प्रगति से भी विदित हुआ होगा, अपनी प्रारंभिक दशा में, वैदिक कर्म-

---

[१] डा० भांडारकर, 'वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ५८-९

[२] शतपथ ब्राह्मण, (७-५-१-५; १४-१-२-११) तथा प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अव् दि वैष्णव सेक्ट', पृ० ९६-९७

[३] यदायदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥—श्रीमद्भगवद्गीता, (४-७)

[४] डा० , 'वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स' पृ० ५४

काड युग की कुछ रूढ़ियों का सुधार करने की ओर ही अग्रसर हुआ था। अतएव यज्ञादि अनुष्ठानों में बहुधा की जाने वाली हिंसा का उस ने अहिंसा के उपदेश द्वारा विरोध किया था और, ध्यानयोग द्वारा आत्म-चिंतन मात्र में अपना समय लगाने के लिए निवृत्ति-मार्ग अपनाने वालों को केवल कर्मफल के ही सच्चे त्याग की शिक्षा दी थी। इस का भक्ति-मार्ग भी, इसी प्रकार पहले समय की श्रद्धा एवं उपासना का कहीं सुधरा हुआ रूप था और इन जैसी बहुत कुछ अन्य नवीन बातों को भी ले कर अपने पांचरात्र धर्म की अवस्था तक यह बराबर प्रचलित व प्रचारित होता आया। देश में, समयानुसार, इन्हीं दिनो अन्य सुधार-प्रचारक संप्रदायों का भी प्रचार होने लगा था और जैन एवं बौद्ध धर्मो ने भी ऐसी ही भावनाएँ ले कर अपने-अपने झंडे उठाए थे। परंतु ये दोनों धर्म निरीश्वरवादी थे और सनातन वैदिक धर्म के, मूल क्या सुधरे हुए, रूपों पर भी इन का धक्का लगना स्वाभाविक था, इस लिए इन दोनों की प्रतियोगिता में अथवा उन का सामना करने के प्रयत्न में ही प्राय: सभी दूसरे दल प्रयत्नशील हो गए। ऐसी परिस्थिति में पड़ कर ही मूल वैदिक परंपराओं के विशिष्ट धार्मिक विचार सात्त्वतधर्म के सिद्धांतों के साथ समन्वित हो गए और परिणामस्वरूप नवीन वैष्णवधर्म की नींव पड़ी। इस विषय में एक उल्लेख-नीय बात यह भी है कि 'श्रीमद्भगवद्गीता' के कर्मयोग में, प्रकारांतर से, जिस ज्ञान-कर्म-समुच्चय की ओर संकेत था वह पीछे 'वेदांतदर्शन' द्वारा भी अपनाया गया और पिछले कर्मकांड के समर्थन में उसे स्मार्तधर्म ने पूरा महत्त्व प्रदान किया। इस ज्ञान-कर्म-समुच्चय के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करते हुए, मनुष्य को, अपना चित्त सदा उस परमात्मा की ओर लगाए रहना आवश्यक है जो सभी कर्तव्यों को निर्धारित कर उन के पालन के विषय में विधान निर्मित करता है और उन की पूर्ति हो लेने पर उन्हें अपने अधि-कार में ले भी लेता है। स्मार्त्तधर्म के दार्शनिक सिद्धांत से ज्ञाता और ज्ञेय दोनों ईश्वरा-धीन और, माया अथवा प्रकृति के दो भिन्न-भिन्न पक्षस्वरूप हैं और ईश्वर, माया, तथा मायातीत के बीच एक संयोजक वस्तु के समान है। यही ईश्वर नारायण वा ब्रह्मा है जिस में सब कुछ निहित है अतएव जो कुछ आत्मा के वास्तविक स्वार्थ की दृष्टि से किया जाय उस का परमात्मा के लिए भी होना समझा जा सकता है और वही सारी सृष्टि के निमित्त भी है। आत्मा, परमात्मा एवं प्रकृति, इस प्रकार, एक पूर्व के ही अंग मात्र हैं और एक के लिए जो भला-बुरा होगा वह सब के लिए हो सकता है उस एक की

भी, इसी लिए, सब की आराधना कही जायगी क्यों कि वह सब में ओत-प्रोत है और, इस विचारधारा के अनुसार, इसी कारण, परमात्मोपासना का, पहले बतलाया गया रूप, एक प्रकार की 'भावना-भक्ति' बन जाता है।[१] नवीन वैष्णवधर्म ने इस भावना भक्ति में कदाचित् अपनी 'गीता' द्वारा प्रतिपादित निष्ठा की ही एक झलक देखी और इसे अविलंब स्वीकार कर लिया।

वैष्णवधर्म को तत्कालीन अंतिम रूप में सहायता पहुँचाने वाली एक और घटना हुई, जिस का भी उल्लेख कर देना यहाँ पर अनुचित न होगा। डाक्टर भांडारकर का कहना है कि ईसा के पूर्व पहली शताब्दी तक किसी भी प्रामाणिक भागवत धर्म-संबंधी ग्रंथ में अथवा शिलालेख आदि में भी गोपाल कृष्ण की चर्चा नहीं पाई जाती। इस के विरुद्ध ईसा के अनंतर आने वाली शताब्दियों की ऐसी सामग्रियाँ इस कृष्ण की कथाओं से भरी पडी है जिस से अनुमान किया जा सकता है कि उक्त दोनों समयों के बीच इस संबंध मे कोई नवीन बात अवश्य हुई होगी। यह बात या घटना उक्त डाक्टर महोदय के अनुसार किसी आभीर नामक जाति का पश्चिम के देशों से घूमते हुए आ कर भारतवर्ष में, मथुरा प्रदेश के आस-पास से ले कर सौराष्ट्र तथा काठियावाड़ तक, बस जाना है। इस जाति की मुख्य जीविका गायों का रखना व चराना था और इस का देवता एक बालक था जिसे ईसा की दूसरी शताब्दी में वासुदेव कृष्ण के रूप में सम्मिलित कर लिया गया। क्राइस्ट के नाम-साम्य के कारण बालक कृष्ण की अनेक लीलाएँ भी ईसा मसीह की जन्म-कथाओ के ढर्रे पर ही रची गई और पीछे लिखे जाने वाले 'हरिवंश', 'विष्णुपुराण', 'भागवत', 'वैवर्त्तपुराण' आदि ने इन बातों को और भी बढ़ा दिया।[२] परंतु इस मत के स्वीकार करने में एक अड़चन यह पड़ती है कि तामिल प्रदेशो में आभीरों को 'अयर' कहते है जिन के नाम का अकार, गाय का अर्थ सूचित करने वाले शब्द 'आ' से बना होना सिद्ध करता है और जो अपनी प्राचीन जातीय परंपरानुसार प्रसिद्ध पाडवों के साथ, ईसा के कई शताब्दी पहले, यहाँ आए थे।[३] दूसरी बात इस संबंध मे यह भी कही जा सकती है कि गोपाल-

---

[१] डा० गोस्वामी, 'दि भक्ति कल्ट इन ऐंशेंट इंडिया', पृ० ८०–८२

[२] डा० भांडारकर, 'वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ४९–५० तथा ५२

[३] कनकसभाई, 'तामील्स एटीन हंड्रेड इयर्स एगो' पृ० ५७

कृष्ण की कल्पना तथा बहुत सी उन की बाललीला-संबंधी कथाओ के भी मूलस्रोत वैदिक साहित्य के अंतर्गत, विष्णु देवता के प्रसंगों में, वर्तमान हैं। 'ऋग्वेद' में विष्णु को 'गोपा' कहा गया है[1] और एक दूसरे स्थल पर उन के परमपद वा स्थान में उत्तम-उत्तम सींगो वाली गायों का रहना भी बतलाया गया[2] है। फिर उसी वेद में विष्णु को बाल्यावस्था पार कर युवा होता दिखलाया[3] है और उन के द्वारा शंबर तथा उस की नगरियों के नष्ट करने की प्रार्थना भी है।[4] इसी प्रकार 'बोधायन-धर्मसूत्र' में भी विष्णु को गोविंद और दामोदर कहा गया है।[5] यद्यपि वहाँ पर कृष्ण की कोई भी चर्चा नही है। अतएव गोपाल-कृष्ण की लीलाओं का क्राइस्ट वा ईसा की कथाओं के आधार पर बनाया जाना निर्विवाद नहीं समझा जा सकता। ईसा की जन्मकथा तथा आभीरों के बालक-देवता की लीलाओ से उस के मूल-रूप का कुछ प्रभावित हो जाना संभव है।

जो हो नवीन वैष्णवधर्म का संघटन, डाक्टर भांडारकर के अनुसार वास्तव में, चार धार्मिक विचारधाराओं के संगम का परिणाम था जिन में से पहली के मूलस्रोत वैदिक देवता विष्णु, दूसरी के दार्शनिक देवता नारायण, तीसरी के ऐतिहासिक देवता वासुदेव और चौथी के आभीर देवता बाल-गोपाल थे और उक्त चारों की कथाओं वा परंपराओ ने इस के निर्माण में कुछ न कुछ सहायता प्रदान की थी।[6] वैष्णव शब्द सांप्रदायिक दृष्टि से महाभारत के अठारहवें अर्थात् अंतिम पर्व में प्रयुक्त हुआ है जहाँ पर कहा गया है कि "इस में संदेह नहीं कि अठारहों पुराणों के श्रवण करने का जो फल होता है वह वैष्णव हो कर मनुष्य प्राप्त कर लेता है।"[7] यह श्लोक, वास्तव में, उस समय का लिखा

---

[1] विष्णुर्गोपा अदाभ्यः—ऋग्वेद, (१–२२–१८)

[2] यत्र गावो भूरिश्रृंगा अयासः—वही, (१–१५४–६)

[3] बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युवा कुमारः प्रत्येत्याहवम्—ऋग्वेद, (१–१५५–६)

[4] इंद्राविष्णू दृंहिताः शंबरस्य नवपुरो नवतिंचश्नथिष्टम्।
शतं वर्चिनः सहस्त्रं चसाकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान् ॥—वही, (७–९९–५)

[5] बोधायनधर्मसूत्र, (२–५–२४)

[6] डा० भांडारकर, 'वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड अदर माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ४९

[7] अष्टादश पुराणानां श्रवणाद्यत्फलं भवेत्।
तत्फलं समवाप्नोति वैष्णवो नात्र संशयः॥ महाभारत (१८ ६ ९७)

हुआ है जब कि ईसा की कुछ शताब्दियाँ बीत चुकने पर अठारह पुराणों की रचना समाप्त हो चुकी थी। महाभारत के युद्ध अथवा महाभारत ग्रंथ के प्रामाणिक प्राचीन अंशो की रचना के समय वैष्णवधर्म का वही रूप वर्त्तमान था जिसे भागवत वा सात्वतधर्म कहते है। विष्णु देवता उस समय आदित्यों में से एक समझे जाते थे और श्रीकृष्ण ने भी इसी कारण अपने को 'आदित्यों में विष्णु' बतलाया था।[१] महाभारत में एक दूसरे स्थल पर विष्णु को कदाचित् भगवान्, नारायण वा हरि का रूप समझ कर ही धाता, अज एव अमृत कहा है और उन्हें "सब के पिता-माता तथा सारे संसार के शाश्वत गुरु" की भी उपाधि दी है।[२] फिर भी उस काल के मुख्य उपास्यदेव विष्णु नहीं थे बल्कि वासुदेव थे और वही अंत में, इस धर्म के केंद्र-विंदु का काम कर के, वैष्णवधर्म के संघटन के समय, विष्णु के एक अवतार मात्र बन गए।

वैष्णवधर्म का संघटन, भक्तियोग अथवा भक्ति-भावना के विकसित हो कर अधिक व्यापक रूप ग्रहण करने में, विशेष रूप से सहायक हुआ। जैसा पहले कहा जा चुका है भक्ति की भावना वैदिक समय में श्रद्धा के रूप में ही उत्पन्न हुई थी और क्रमश उपासना की विविध क्रियाओं द्वारा निखरती हुई स्मार्त्त-धर्म के आरंभ वा प्रचार के समय तक भावना-भक्ति के, अधिकतर स्पष्ट भाव, वह अपना चुकी थी। उस के उपास्य-देव भी, इसी प्रकार वैदिक काल के अनेक काल्पनिक देवताओ की जगह पहले एक रूप मे मनोनीत हुए और फिर परमात्मा अथवा आत्मा की भी भावनाओं द्वारा व्यक्त किए जाते हुए, उक्त समय तक, एक पूर्ण रूप में सब को, अंगों की भाँति, समन्वित करने वाले समझे गए। इस वैदिक परंपरा के साथ ही, उधर वासुदेव कृष्ण के, सर्व-प्रथम जीवित, जागृत रूप से चल कर, उन्हे क्रमशः महापुरुषत्व व देवत्व तक प्रदान करने की भी प्रथा चल रही थी, अतएव जब इन दोनों का पारस्परिक मिलन हुआ और, जैन तथा बौद्ध सरीखे प्रचलित निरीश्वरवादी धर्मो के प्रतिगामित्व में, जब "साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना" की विशेष आवश्यकता पड़ी तो नवीन आराध्यदेव विष्णु को, स्वभावतः, विग्रहत्व प्रदान कर दिया गया। विष्णु को भी, इस के लिए सभी वैदिक वा अन्य देवताओं से, अधिक

---

[१] आदित्यानामहं विष्णुः।—श्रीमद्भगवद्गीता, (१०-२१)
[२] पिता माता च सर्वस्य जगत शाश्वतो गुरु ———, (१२ ३३४ २७)

उपयुक्त समझने का कारण यह था कि, पहले तो, उन का नाम ही (विष—व्यापना के कारण) सर्व-व्यापकत्व का द्योतक था दूसरे वैदिक काल के प्रारंभ से ही उन का काम दु खों से पीड़ित मानवों की रक्षा करना समझा जाता था[1] और वे असुरों के विरुद्ध देवताओ तक के सहायक[2] थे। इस के सिवाय ऊपर कही गई चार विचारधाराओ के संगम के आविर्भूत होने पर, आवश्यकतानुसार विष्णु-संबंधी अनेक नाम तथा प्रसंग तक नवीन भावनाओं के अधिक अनुकूल पड़ते थे। अतएव इस देवता को एक प्रकार का आध्यात्मिक और अलौकिक व्यक्तित्व प्रदान कर इस के अंशधारी भिन्न-भिन्न अवतारों की कल्पना की गई और भक्ति का उपरोक्त भावनात्मक अर्थ अधिक स्पष्टता पा कर अब अपने आराध्यदेव की शक्ति में सच्ची सहयोगिता व सहभोगिता (भज्=भाग लेना, बाँटना) प्राप्त करने का भाव व्यक्त करने लगा और, इस प्रकार, विकसित हो कर साधना 'शुद्ध-भक्ति' के रूप में परिणत हो गई।

शुद्धभक्ति के अनुसार आराध्यदेव विष्णु के मुख्य तीन गुण उन की संविद्, ह्लादिनी तथा संधिनी नामक शक्तियाँ है जो मानवों में भी, उसी भाँति ज्ञान, आनद एव कर्म-संबंधिनी प्रवृत्तियों के रूप में दिखलाई पड़ती हैं और जिन्हे वेदात के अनुसार, दूसरे शब्दों में, तथा भिन्न क्रम से भी, सत्, चित्, और आनंद भी कहा जाता है। भक्त का कर्त्तव्य भगवान् के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर उन के उपयुक्त गुणों की पूर्णता में भाग लेना है। वह ज्ञान की इच्छा किसी योगी से कम नहीं करता किंतु उस का उद्देश्य 'विदेहमुक्ति' नही है। वह, अपने भगवान् के साथ, पूर्णत्व के आनंद में भाग लेना चाहता है और उस का एकमात्र कर्त्तव्य इसी कारण, अपने भगवान् की शुद्ध और अबाधित आराधना है। उस की दृष्टि में, यज्ञादि अनुष्ठान भी केवल आत्म-समर्पण के ही प्रकारांतर है और उस की यह दृढ़ धारणा है कि कर्मयोग और संन्यासयोग का अंततोगत्वा भक्ति-योग में लीन हो जाना अवश्यंभावी है। आदर्श कर्म उस पूर्णता की प्राप्ति के लिए, मनो-योगपूर्वक कर्त्तव्यों का पालन करना है और उसी ढंग से, आदर्श ज्ञान उस पूर्णत्व को ही,

---

[1] **यो रजांसि विममे पार्थिवानि त्रिश्चिद्विष्णुर्मनवे बाधिताय ।—ऋग्वेद,** (६–४९–१३)

[2] **शतपथ ब्राह्मण** (१–२–२–५)

सच्ची अनुभूति के साथ जानना है। शुद्ध भक्त उस पूर्णत्व का ही अनुभव करेगा, उसी के लिए जिएगा और उसी के साथ अनंत समय तक रहना चाहेगा। कहना न होगा कि इस भक्तिमार्ग मे अंतिम पूर्णता ने भी अनुभवगम्य रूप धारण कर लिया और इस के द्वारा, वस्तुत: सभी मतों और मार्गो का समन्वय हो कर एक सच्चे और वास्तविक दिव्य जीवन का आदर्श निश्चित हो गया जिस के आलोक में, अपूर्व रूप धारण कर लेने के कारण, वैष्णवधर्म क्रमश: और भी लोकप्रिय होने लगा।

(५)

भक्तिमार्ग वैदिक युग के श्रद्धात्मक बीज से किस प्रकार क्रमश:, किंतु साथ ही स्वभावत:, विकसित हो कर ईस्वी शताब्दियों के प्रारंभ होते-होते वैष्णवधर्म के मुख्य रूप में परिणत हो गया इस का दिग्दर्शन, संक्षेप में, ऊपर कराया जा चुका है। ईसा के अनतर तीसरी वा चौथी शताब्दी तक वैष्णवधर्म की अवस्था का प्राय: कुछ भी पता नही चलता। वह इस के लिए, एक प्रकार से, अंधकार-पूर्ण युग है और इस का कारण यह जान पड़ता है कि इस धर्म की जन्मभूमि मथुरा प्रदेश तक में उन दिनों शक और कुशान-वंशी राजाओं का आधिपत्य था जो अधिकतर शैव, अथवा बौद्धधर्म के माननेवाले थे। तो भी मथुरा, नासिक तथा 'चाइनास्टोन' वाले, उक्त समय के, शिलालेखों से इस विषय पर कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। इन में से नासिक वाले शिलालेख से, विशेष कर, यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस काल तक 'संकर्षण' और 'वासुदेव' अपने वृष्णि-वंशी रूपों को बदल कर अब क्रमश: 'राम' और 'केशव' हो गए थे और दोनों को भागवत की जगह केवल पराक्रमी मात्र समझा जाने लगा था।[१] परंतु गुप्तकाल के आरंभ मे ही यह धर्म पंजाब, राजपूताना, मध्य और पश्चिमी भारत तथा मगध में प्रचलित होने लगा और उस के अंत तक इन में तथा अन्य कई स्थानों में इस का प्रचार अनुदिन बढता ही गया। कारण यह था कि गुप्तवंश के प्रसिद्ध महाराज चंद्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त एव स्कंदगुप्त ने भी (ईस्वी सन् ४०० से ४६४ तक) अपनी मुद्राओं पर अपने को 'परम-भागवत' अंकित कर इसे, राजधर्म की भाँति, अपना लिया और उन के समर्थन द्वारा

---

[१] **प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्टी अव दि वैष्णव सेक्ट', पृ० ९८–९९**

बल पा कर यह भारत के कोने-कोने तक फैल गया। गाजीपुर ज़िले के, स्कंदगुप्त-निर्मित, भीतरी नामक शिलालेख में सम्राट् द्वारा अपने पिता कुमारगुप्त प्रथम की पुण्यस्मृति में 'शार्ङ्गिन' की प्रतिमा स्थापित किए जाने का उल्लेख है और उसी प्रकार 'जूनागढ़' के एक दूसरे शिलालेख में 'लक्ष्मीनिवास' विष्णु की स्तुति भी की गई है।[१] महाकवि कालिदास की रचना 'मेघदूत' में एक स्थल पर इंद्रधनुष द्वारा सुशोभित काले मेघ के लिए मोरपंख धारण करने वाले गोपवेषधारी विष्णु (अर्थात् श्रीकृष्ण) की उपमा दी गई है,[२] अतएव चंद्रगुप्त द्वितीय को यदि हम उक्त कवि का आश्रयदाता विक्रमादित्य मान ले तो यह वर्णन पाँचवी शताब्दी के आरंभ का समझा जाना चाहिए। फिर भी, कदाचित् उसी समय के, प्रसिद्ध कोषकार अमरसिंह के 'अमरकोश' के उल्लेखों के आधार पर डाक्टर भांडारकर का अनुमान है कि उस समय वैष्णवधर्म का प्रचलित रूप भागवतधर्म ही रहा होगा क्यों कि उस में, संभवतः, व्यूहवाद की ओर भी संकेत है।[३]

गुप्तकालीन वैष्णवधर्म की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार है—प्रथम यह कि सात्त्वतो वा भागवतों ने अब विष्णु के साथ कृष्ण का एकीकरण, प्रकट रूप में, स्वीकार कर लिया था, विष्णु अब देवाधिदेव थे और कृष्ण उन के केवल पूर्ण अवतार मात्र थे और दूसरे शब्दों में, भागवतधर्म वैष्णवधर्म में मग्न हो गया था। दूसरी, यह कि अवतारों की पूजा अब अधिक होने लगी थी और उन के नाम तथा संख्या में भिन्न-भिन्न प्रकार के परिवर्तन होने लगे थे। तीसरी यह कि अवतार पूजा के महत्व के सामने व्यूहवाद गौण समझा जाने लगा था और उस की चर्चा अब बहुत कम होती थी। इस के सिवाय चौथी विषेश बात यह थी कि विष्णु वा नारायण के साथ-साथ अब लक्ष्मी की भी पूजा आरभ हो गई और लक्ष्मीनारायण की मूर्तियाँ उस समय की मुद्राओं तक पर अंकित

---

[१] प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अव् दि वैष्णव सेक्ट', पृ० १०२

[२] रत्नच्छाया व्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात् ।
वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुः खण्डमाखंडलस्य ।
येन श्यामं वपुरतितरां कांतिमापत्स्यते ते ।
बर्हेणेव स्फुरितरुचिता गोपवेषस्य विष्णोः ॥ मेघदूत, (पूर्वार्ध, श्लोक १५)

[३] डा० भांडारकर, 'वैष्णविज़्म, शैविज़्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ६२ ६३

होने लगी।[1] कहते हैं कि वैदिक युग में इंद्रदेव प्रार्थियों को अपनी वृष्टि द्वारा जल और अन्न दिया करते थे और इस लिए वही 'इरा' वा 'इला' (उन दोनों के लिए प्रयुक्त एक शब्द) के मालिक थे। समयानुसार 'इरा' वा 'इला' को धन या सपत्ति समझने लगे और क्रमश:, श्री अथवा लक्ष्मी मनुष्य के उन अमूल्य पदार्थों की प्रतिनिधि बन गईं। अतएव श्री वा लक्ष्मी इंद्र के ही अधिकार में रहीं, किंतु 'विष्णुपुराण' के अनुसार, दुर्वासा के शाप के कारण, इंद्र ने लक्ष्मी को खो दिया और समुद्र-मथन के उपरांत जब वे फिर प्रकट हुईं तो उन पर विष्णु का अधिकार हो गया।[2] विष्णुदेव तब तक सर्वश्रेष्ठ समझे जाने लगे थे, और वैष्णवधर्म के संगठन के समय तो वे ही सब कुछ थे। 'श्री मादेवता लक्ष्मी' की पूजा ईसा के पहले से ही ब्राह्मण और बौद्ध दोनों किसी न किसी रूप में, करते आ रहे थे और गुप्तकाल में जब "स्त्रियों के अधिकार का प्रबल आंदोलन उठा"[3] तो उन की प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई इस लिए साख्य-दर्शन द्वारा बहुत कुछ प्रभावित होने के कारण पुरुष-प्रकृति की जगह वैष्णवों ने 'लक्ष्मीनारायण' को अपना लिया।[4] अस्तु, वैष्णवधर्म इन विशेषताओं के साथ गुप्त-काल में भली-भाँति प्रचलित रहा। किंतु, गुप्तसाम्राज्य का ध्वंस होते ही, उत्तरी भारत मे इस का प्रभाव क्रमशः घटने लगा। इधर के मुख्य-मुख्य महाराज मिहिरगुल, यशो-धर्मन् तथा हर्षवर्धन ने भी, भागवत से भिन्न धर्म ग्रहण करने के कारण, इसे सहायता नही पहुँचाई और यह अन्य अनेक साधारण संप्रदायों की ही भाँति चलता रहा। 'हर्ष-चरित' नामक वाणभट्ट के प्रसिद्ध ग्रंथ में हर्ष का जैनों तथा बौद्धों के समान ही भागवतो से भी मिलना बतलाया गया है और उस में पांचरात्रों की भी चर्चा है। शंकराचार्य ने भी अपने 'शारीरकभाष्य' में भागवतों का खंडन उन्हे पांचरात्र कह कर किया है।[5]

वैष्णवधर्म उत्तरी भारत में किंचित् निर्बल दिखाई पड़ता हुआ भी इन दिनो

---

[1] प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अव् दि वैष्णव सेक्ट', पृ० १०४–१०६
[2] डा० गोस्वामी, 'दि भक्ति कल्ट इन ऐंशेंट इंडिया', पृ० १०४
[3] भगिनी निवेदिता, 'फुटफ़ाल्स अव् इंडियन हिस्ट्री', पृ० २०६
[4] प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अव् दि वैष्णव सेक्ट', पृ० १०६
[5] वही, पृ० १०७

दक्षिण भारत में विशेष उन्नति करता जा रहा था। जैसा ऊपर कहा जा चुका है भागवत-धर्म 'नानाघाट' शिलालेख के समय, अर्थात् ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी तक नासिक के आस-पास पर्यंत, दक्षिण दिशा की ओर बढ़ गया था और कृष्णा जिले के द्वितीय शताब्दी (पीछे) के, 'चाइना शिलालेख' से पता चलता है कि यह और भी दक्षिण फैलता जा रहा था तथा समुद्रगुप्त की प्रयाग वाली प्रशस्ति के लिखे जाने तक अर्थात् चौथी शताब्दी के मध्यभाग से पहले ही, उस ओर की सीमा तक पहुँच गया।[१] बात यह थी कि उस समय उन प्रदेशों में प्रसिद्ध आडवार नामक भक्तों का प्रादुर्भाव हो गया था जो अपने गीतो वा भजनों द्वारा भागवतधर्म का प्रचार विशेष रूप से कर रहे थे। ये आडवार, संख्या मे बारह थे और इन का समय ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों से ले कर आठवीं के अर्ध-भाग वा नवीं के आरंभ[२] तक बतलाया जाता है। इन्हें परंपरा के अनुसार, प्राचीन, मध्यवर्ती तथा अंतिम नाम की तीन श्रेणियों में विभक्त करते है और प्राचीन के अंतर्गत प्वायगाइ, भूतत्तार, पे तथा तिरुमल्लाइ के नाम लेते है। इन चारों के संस्कृत नाम सरो-योगिन्, भूतयोगिन्, महद्योगिन् तथा भक्तिसार हैं और इन में से पहले तीन के विषय मे कहा जाता है कि उन्हों ने, एक ही साथ ईश्वर का दर्शन कर के, अपने हर्षमय भाव तामिल भाषा के सौ-सौ गीतो द्वारा प्रकट किए थे। ये आडवार नारायण को सब से बड़ा देवता समझते हैं, विष्णु के पहले अवतारों और विशेषकर त्रिविक्रम के प्रसंग छेड़ते हैं और कृष्णावतार की प्रशंसा करते है। जान पड़ता है वे श्रीरंगम्, तिरुपति, आदि तीर्थों की मूर्तियों की पूजा करते थे और उन के ध्यान, नाम-स्मरण व आराधना में अपना समय व्यतीत करते थे। तिरुमल्लाइ अथवा भक्तिसार इन तीनों के कुछ समय बाद हुए और उन्हों ने भी उपरोक्त विषयों पर दो सौ पद्यों की रचना की।[३]

मध्यवर्ती आडवारों में नम्म अथवा शठकोप, मधुरकवि, कुलशेखर, पेरी वा विष्णुचित्त एवं आंडल वा गोदा के नाम लिए जाते हैं। इन में शठकोप सब से प्रसिद्ध एव श्रेष्ठ समझे जाते हैं और उन की रचना का नाम 'तिरुवाय मोली' अर्थात् 'मुख से निकले

---

[१] प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अव् दि वैष्णव सेक्ट,' पृ० १०८

[२] डा० कृष्णस्वामी ऐयंगर, 'अर्ली हिस्ट्री अव् वैष्णविज्म इन साउथ इंडिया', पृ० ८९

[३] प्रो० रायचौधुरी 'अर्ली हिस्ट्री अव दी वैष्णव सेक्ट' पृ० १०९

हुए शब्द' हैं। ये पांड्यों के राज्यकाल में तिनेवेली के निकट, कुरुकइ नगर में रहते थे और इन्हों ने बड़ी सुंदर तामिल भाषा में एक सहस्र से भी अधिक कविताओं की रचना की थी। इन का जन्म किसानों के बीच वेल्लाल बंश में हुआ था परंतु ये कदाचित् अविवाहित रहे और पैंतीस वर्ष की अवस्था में ही इन की मृत्यु हो गई।[1] इन की रचनाओ मे ईश्वर के प्रति प्रेम और भक्ति के गंभीर भाव भरे पड़े हैं और उन में यत्र-तत्र प्राकृतिक सौंदर्य के अनुपम दृश्य भी दिखलाई देते हैं। ये वास्तव में, एक बड़े अच्छे भक्तकवि है। मधुरकवि इन्ही के शिष्य थे और अपने गुरु के सच्चे उपासक थे। कुलशेखर प्राचीन त्रावंकोर राज्य के एक शासक थे और उन के मुख्य उपास्यदेव विष्णु के, दाशरथी राम नामी, अवतार थे। पेरी अथवा विष्णुचित्त एक परिया जाति के भक्त थे और उन के पद्य, बडी संख्या में, मिलते हैं। आंडल वा गोद स्त्रीभक्त थी और वे विष्णुचित्त की ही पुत्री थी। उन्हें ,उन की मधुर व भावमयी कविताओं के कारण, दक्षिण भारत की 'मीरॉबाई' भी कहा करते हैं। अंतिम आडवारों में से प्रथम दो, अर्थात् टोंडरडिप्पोडी वा भक्तांघ्रिरेणु तथा तिरुप्पन वा योगिवाहन के विषय मे बहुत कम ज्ञात है। बारहवे आडवार तिरूमंगई वा परकाल ने उपरोक्त सभी आडवारों से अधिक पद्य बनाए थे और इस प्रकार सब की रचनाएँ मिल कर 'प्रबंधम्' के अंतर्गत, चार सहस्र की संख्या में, आती हैं। परकाल आडवार के समय के विषय में अभी तक बहुत मतभेद है।[2]

'प्रबंधम्' आडवारों के भक्ति व प्रेम-संबंधी गीतों के साथ-साथ उन की धार्मिक उक्तियों का भी संग्रह है और उस के महत्व एवं पवित्रता के कारण, उसे 'वैष्णववेद' भी कहते हैं। आडवारों की मूर्तियाँ मंदिरों में विष्णु-नारायण के प्रतीकों के साथ ही रक्खी जाती हैं और उन की पूजा की जाती है। इन आडवारों के उपरांत वैष्णवधर्म का दक्षिण भारत में प्रचार करने वाले आचार्यगण हुए जो 'प्रबधम्' द्वारा बहुत कुछ प्रभावित थे। सर्वप्रथम आचार्य रघुनाथचार्य वा नाथ मुनि ईसा की नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध वा दसवी के आरंभ में त्रिचिनापल्ली के निकट श्रीरंगम् में वर्तमान थे। उन का मूल निवास-स्थान वीरनारायणपुर था और उन के पूर्वपुरुष कदाचित् उत्तरी भारत से आए हुए भागवत

[1] 'नम्मलवार', (जी० ए० नटेसन, मद्रास), पृ० २६–२७
[2] प्रो० रायचौधुरी 'अर्ली हिस्ट्री अव दि वैष्णव सेक्ट' पृ० ११० १११

धर्मावलंबियों में से ही एक थे। नाथ मुनि शठकोप आडवार की रचनाओं के बड़े प्रेमी थे और उन्हो ने इन के तथा अन्य आडवारों के भी प्रचलित पद्यों की खोज कर के सब को क्रमानुसार प्राय: एक-एक सहस्र की संख्या वाले चार भागों में संपादित किया। ये ही चार ग्रंथ 'प्रबंधम्' के नाम से विख्यात है। नाथमुनि ने 'न्यायतत्त्व' नामक एक संस्कृत पुस्तक भी लिखी और अपने पुत्र व पुत्रवधू के साथ उत्तरी भारत के प्रसिद्ध मथुरा आदि तीर्थ-स्थानों की यात्रा की तथा इसी यात्रा के उपलक्ष में अपने पौत्र का नाम यमुना नदी के नामानुसार 'यामुन' रक्खा। नाथ मुनि के उपरांत पुडरीकाक्ष तथा राममिश्र नामक क्रमश: द्वितीय और तृतीय आचार्य हुए, जिन्हों ने अपने प्रथम आचार्य के मूलसिद्धांतों का प्रचार किया। राममिश्र का नाम एक प्रकार से यों भी उल्लेखनीय है कि इन्हों ने नाथ मुनि के पौत्र यामुन को आध्यात्मिक विषयों की शिक्षा दी थी और यामुन यामुनाचार्य के नाम से परम प्रसिद्ध हो गए।[1]

यामुनाचार्य चौथे आचार्य हुए और उन का महत्व आगे प्रचलित होने वाले श्रीसंप्रदाय वा विशिष्टाद्वैत-संबंधी सिद्धांतों की बुनियाद डालने तथा उन्हें स्पष्ट करने के कारण है। इन का जन्म सन् ९१६ ईस्वी के लगभग वीरनारायणपुर में हुआ था और इन की मृत्यु प्राय: उसी सन् के १०४०वें वर्ष में हुई। यामुनाचार्य पहले अपनी विद्वत्ता व शास्त्रार्थ-पटुता के लिए प्रसिद्ध हुए और चोलवंशी महाराज के दर्बारी कवि को हरा कर तथा राज्य से पारितोषिक-स्वरूप भूमिखंड पा कर महारानी की ओर से 'आलबंदार' अथवा विजयी की उपाधि से विभूषित हुए और पूर्ण ऐश्वर्य के साथ जीवन व्यतीत करने लगे। परंतु एक दिन राममिश्र ने उन्हें, उन के पितामह नाथ मुनि का कोष दिखलाने के बहाने, श्रीरंगम् के मंदिर में भगवान् की मूर्ति का दर्शन कराया और तब से उन में आश्चर्य-जनक परिवर्तन हो गया। वे अब भी श्रीरंगम् में रह कर वास्तव में, प्राचीन "भागवत, पाचरात्र वा सात्वतधर्म के ही सुधरे व सुव्यवस्थित रूप" विशिष्टाद्वैत-संप्रदाय का विवेचन करने लगे। उन्हों ने वहीं रह कर अपने ग्रंथ 'सिद्धित्रय' की रचना की और उस के द्वारा शंकराचार्य के मायावाद का खंडन कर दूसरे ग्रंथ 'आगमप्रामाण्य' में अपने भागवतधर्म का प्रतिपादन किया। इसी प्रकार 'गीतार्थसंग्रह' में उन का दिया हुआ गीता का

---

[1] प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अव दि वैष्णव सेक्ट' पृ० ११२–११३

भक्तिपरक सारांश और 'स्त्रोत्ररत्न' मे उन की भावपूर्ण व सुंदर स्तुतियों का सग्रह बतलाया जाता है।[१] यामुनाचार्य की प्रबल इच्छा थी कि वे अपने सिद्धांतानुसार 'ब्रह्मसूत्रों' पर भी कोई भाष्य लिखे किंतु ऐसा न हो सका और इस कार्य को उन के अनतर और उन्ही के संकेतानुसार प्रसिद्ध रामानुजाचार्य ने अपने 'श्रीभाष्य' द्वारा सपन्न किया। यामुनाचार्य इस विषय में रामानुजाचार्य के मुख्य पथ-प्रदर्शक रहे।

रामानुजाचार्य का जन्म १०१६ वा १०१७ ईस्वी सन् में हुआ था, उन का बचपन काचीपुर वा कांजीवरम् में बीता और उन्हे किसी अद्वैतवादी यादवप्रकाश से पहले-पहल शिक्षा मिली। कुछ ही दिनों के अनंतर मतभेद होने के कारण वे अपने उक्त गुरु से अलग हो गए और आळवारों के 'प्रबंधम्' का उन्हों ने बड़े मनोयोग के साथ अध्ययन किया। अत में यामुनाचार्य के उत्तराधिकारी बन कर वे श्रीरंगम् मे रहने लगे और वहीं पर मुख्यत, उन्हों ने अपने सब कार्य किए। नाथ मुनि की भाँति उत्तरी भारत के तीर्थ-स्थानों की यात्रा इन्हों ने भी की थी। तत्कालीन चोल महाराज ने रामानुजाचार्य को वैष्णवधर्म का परित्याग कर के शैवधर्म ग्रहण करने के लिए विवश करना चाहा किंतु ये सन् १०९६ में भाग कर मैसूर के हयसाल यादववंशी राजाओं की राजधानी द्वारसमुद्र चले गए और वहाँ पर सन् १०९८ में राजपुरुष विट्ठलदेव को वैष्णव बना कर उन का नाम विष्णु-वर्धन प्रचलित किया। रामानुजाचार्य के 'वेदांतसार', 'वेदार्थसंग्रह', 'वेदांतदीप' और 'ब्रह्मसूत्र' एवं भगवद्गीता पर लिखे 'भाष्य', प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।[२] 'वेदांतसार' में उन्हो ने 'ब्रह्मसूत्रों' को सरल टिप्पणियों के साथ संपादित किया और 'वेदांतदीप' द्वारा उन्हें और भी विवृत एवं स्पष्ट कर दिया। परंतु इस विषय का पूर्ण विवेचन उन के 'श्रीभाष्य' में मिलता है। रामानुजाचार्य ने 'गीताभाष्य' बड़ी विद्वत्ता के साथ लिखा है, और उस पर श्रीवेदांत-देशिक नामक आचार्य ने 'तात्पर्यचंद्रिका' नाम की टीका भी पीछे बढ़ा दी है।[३] रामानुजाचार्य के पश्चात् श्रीसंप्रदाय के मुख्य आचार्यों में श्रीवेदांतदेशिक (१२६८–१३६९)

---

[१] प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अव् दि वैष्णव सेक्ट', पृ० ११४

[२] डा० भांडारकर, 'वैष्णविज़्म, शैविज़्म, ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ७२–७३

[३] टी० राजगोपालाचारियर, 'वैष्णवाइट रिफ़ार्मर्स अव् इंडिया', पृ० ५२

तथा मनबल महामुनि (१३७०–१४४३) हुए, जिन्हों ने वैष्णवधर्म के स्पष्टीकरण और प्रचार में बड़ी प्रयत्नशीलता दिखलाई। श्रीवेदांतदेशिक के अनेक ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है।

उपरोक्त आचार्यों का समय, जैन, बौद्ध, आदि धर्मों के प्रचलित हो जाने के कारण, उन के प्रमाणों एवं युक्तियों के खंडन-मंडन द्वारा वैदिक धर्मों के संगठित और नवीन ढग से प्रतिपादित करने का था। अतएव न्याय के आचार्य और मीमांसक लोग उन दिनों इसी कार्य मे लगे थे। परंतु मीमांसक, अपने कर्मकांड का महत्त्व प्रदर्शित करते समय, उपनिषदो के अनुसार सिद्धांत निर्धारित करने वाले, वेदांती संप्रदायों पर भी आक्षेप करने लगते थे जिस से इन के गौणमात्र बने रह जाने का भय था। गौड़पादाचार्य एवं उन के शिष्य के शिष्य शंकराचार्य ने इसी लिए, औपनिषदों की ओर से उक्त स्थिति को अपने मतानुसार, सँभालना चाहा। इन के सिद्धांतों का सारांश यह था कि परमात्मा वा ब्रह्म मात्र ही सत्य है और जीवात्मा एवं परमात्मा में कोई अंतर नहीं तथा जो कुछ भिन्नता व प्राकृतिक वस्तुओं की सत्ता हमारे अनुभव में आती है वह सभी मिथ्या है और उन का कारण माया अथवा अविद्या है। प्रत्यक्ष रूप में भक्ति वा प्रेम का यहाँ कोई स्थान नहीं।[1] एकता वा अद्वैतता का पूर्ण ज्ञान होने में ही मुक्ति हो जाती है। आचार्यो को ये बातें युक्तिसगत व शास्त्र-सम्मत नहीं जान पड़ीं। अतएव इन्हों ने अपने सिद्धांतो में यह प्रतिपादित किया कि जीवात्मा और जगत् ये दोनों वास्तव में परमात्मा के गुण विशेष है और अपनी अतरात्मा वा अंतर्यामी परमात्मा के साथ अद्वितीय ब्रह्म का विशिष्ट रूप बनाते है। मुमुक्षुओं में, शाश्वत सुख की अभिलाषा रखने वालों के लिए, विधिपूर्वक भक्ति का अभ्यास करना परमावश्यक है। केवल ज्ञानमात्र से यह महान कार्य संभव नही। रामानुजाचार्य ने इस भक्ति की आवश्यक विधियों का भी विस्तार के साथ वर्णन किया।

आड्वारो के 'प्रबंधम्' में हृदयपक्ष की प्रबलता है और वे कम शिक्षित, किंतु शुद्ध व निष्कपट भक्त जान पड़ते हैं। आचार्यो का इस के विपरीत, मस्तिष्कपक्ष भी कम प्रौढ़ नहीं था और वे, अपने शास्त्रीय ज्ञान के बल पर, मीमांसकों के कोरे कर्मकाड का अद्वैतवादियों के समान, खंडन करना भी जानते थे। हाँ, अद्वैतवादियों के ज्ञानकाड

---

[1] डा० भांडारकर- 'वैष्णविज्म- शैविज्म- ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स' पृ० ७२

की अपेक्षा भी उन्हें अपना भक्तियोग ही अधिक पसंद था और इसी मत के अनुसार वे वेदांत के ग्रंथों का तात्पर्य निर्धारित करते थे। स्मार्तों की इसी प्रकार एक से अधिक देवताओं की पूजा करने की प्रणाली छोड़ कर इन लोगों ने एकमात्र विष्णु की आराधना अंगीकार की और उस में भी तीनों वर्णों के अतिरिक्त शूद्रों वा अन्य जातियों के भी अधिकार मान लिए। शूद्रों वा अन्य योग्यता-हीन जातियों के लिए आचार्यों ने विशेष कर 'प्रपत्ति' की व्यवस्था दी थी जिस का मुख्य अभिप्राय अपने को भगवान् की शरण में समर्पित कर उन्हीं की दया पर भरोसा करना है। परंतु कालांतर में इस 'प्रपत्ति' का भी अर्थ दो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से लगाया जाने लगा। श्रीवेदांतदेशिक और उन के अनुयायियों की सम्मति में प्रपत्ति, अन्य साधनों की ही भाँति, एक मार्ग है जिस का अवलंबन, ज्ञान, कर्म, भक्ति, आदि के न हो सकने पर, करना चाहिए, परंतु मनवल महामुनि और उन के पक्ष वालों का कहना है कि 'प्रपत्ति' को एक मार्गमात्र न समझ कर उसे ही सब कुछ मानना चाहिए और उसी की भावना के अनुसार अपनी मनोवृत्ति तक बना लेनी चाहिए। पहले मत वाले वा 'वाड़कड़ाई', भक्त व भगवान् के संबंध को, बंदरी के पेट में चिपके हुए बच्चे व बंदरी के उदाहरण द्वारा व्यक्त करते हैं और दूसरे वा 'टेनकड़ाई' इसी बात को यों कहते हैं कि भक्त को भगवान् के भरोसे बिल्ली के बच्चे की भाँति पड़ा रहना चाहिए, उसे अपनी भलाई के लिए स्वयं थोड़ा सा भी प्रयास करने की आवश्यकता नहीं।[१]

(६)

विशिष्टाद्वैत का मार्ग वा श्रीसंप्रदाय, वास्तव में, पुराने भागवत वा पांचरात्र धर्म का ही एक, समयानुसार विकसित, रूपांतर था। उस ने अपनी वर्तमान परिस्थितियों का सामना करते हुए अपने पक्ष का सफलता-पूर्वक समर्थन किया और अपने तत्कालीन विपक्षी शांकराद्वैतवादियों का घोर विरोध भी किया। इस विरोध के कार्य में उन दिनों इस मत वालों की सहायता संयोगवश एक अन्य संप्रदाय द्वारा भी हुई जिसे द्वैतमार्ग वा माध्व-संप्रदाय कहते हैं। माध्व-संप्रदाय के प्रवर्तक मध्वाचार्य वा आनंदतीर्थ थे जिन का

---

[१] डा० भांडारकर, 'वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ७८-७९

जन्म दक्षिण भारत के उडीपी नगर के निकट सन् ११९७ ई० में हुआ था। उन के बचपन का नाम वासुदेव था और उन्हों ने वेद-वेदांगों की शिक्षा पा कर 'पूर्णप्रज्ञ' के नाम से संन्यास ग्रहण किया था। उन्हों ने सर्व-प्रथम दक्षिण भारत की और फिर उत्तरी भारत की भी यात्रा की और वे बदरिकाश्रम से दिग्विजयी राम तथा वेदव्यास की मूर्तियाँ भी प्राप्त कर लाए। कई ऐसी यात्राओं के अनंतर लौट कर उन्हों ने उडीपी में रहना निश्चित किया और अपने स्थिर किए हुए, सिद्धांतों के अनुसार ग्रंथ-रचना करने लगे। तत्कालीन प्रथानुसार उन्हों ने प्राचीन प्रामाणिक ग्रंथों पर भाष्य लिखे तथा कुल मिला कर सैंतीस ग्रथ रचे और सन् १२७६ ई० में ७९ वर्ष की अवस्था में इहलीला संवरण की। इन के द्वारा प्रवर्तित मार्ग का मूलाधार 'पंचभेद' अथवा परमात्मा, आत्मा एवं प्रकृति के पारस्परिक भेदों के पाँच प्रकार हैं, जिन पर आश्रित रह कर उन्हों ने विशिष्टाद्वैत के मार्ग को भी अपूर्ण ठहराया है। उन का कहना है कि परब्रह्म और जीव को, विशिष्टाद्वैतियों की भाँति, कुछ अंशों में एक और कुछ अंशों में भिन्न मानना परस्पर-विरुद्ध और असंबद्ध बात है, इस लिए दोनों को सदैव भिन्न मानना चाहिए क्यो कि इन दोनों में पूर्ण रीति, वा अपूर्ण ढग से भी एकता कभी हो ही नहीं सकती। मध्वाचार्य के अनुसार प्रस्थानत्रयी अथवा 'ब्रह्मसूत्र', 'भगवद्गीता' एवं मुख्य-मुख्य 'उपनिषदों' में भी इस द्वैत मत का ही प्रतिपादन हुआ है। वे हरि वा भगवान् की प्राप्ति को अपने प्रत्यक्ष ज्ञान वा अनुभव की बात मानते हैं, और इस के साधन-स्वरूप वैराग्य, शम, दम, शरणागति, आदि अष्टादश साधनाओ का वर्णन करते हैं। "उन के मत में व्यूह, वासुदेव आदि को स्थान नही और उन के उपास्यदेव विष्णु एवं उन के राम व कृष्ण नामक अवतार हैं। गोपाल कृष्ण व गोपियो का इस मत में भी, श्रीसंप्रदाय की भाँति अभाव सा है। इस ने भागवत वा पांचरात्र धर्म को बहुत कुछ महत्त्वहीन बना दिया।"[१]

श्रीसंप्रदाय के ही समान माध्व अथवा सत्संप्रदाय में भी अनेक आचार्य हुए और अब भी वर्तमान हैं और इन दोनों का प्रचार न्यूनाधिक उत्तरी भारत में भी होता रहा है। परंतु उत्तरी भारत पर इन दोनों मतों के प्रवर्त्तकों से भी अधिक प्रभाव डालने वाले एक तीसरे महापुरुष हुए जिन्हें निबार्क वा निंबार्काचार्य कहते हैं। निंबार्क का समय

---

[१] डा०   , 'वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स' पृ० ८७

रामानुज एवं मध्व के बीच बतलाया जाता है और उन की मृत्यु के विषय में डाक्टर भांडारकर ने लिखा है कि वह कदाचित् सन् ११६२ में हुई थी।[1] इन का जन्म संभवतः बेलारी ज़िले के निंबापुर में हुआ था और अपने अनुयायियों के अनुसार वे विष्णु के 'सुदर्शन-चक्र' के अवतार थे। वे अधिकतर मथुरा के निकट वृंदावन में रहते रहे और वहीं पर उन्हों ने ब्रह्मसूत्रों पर 'वेदांतपारिजातसौरभ' नामक भाष्य और 'दशश्लोकी' की रचना की। इन का मत "जीव, जगत् और ईश्वर के संबंध में यह है कि यद्यपि ये तीनों भिन्न हैं तथापि जीव और जगत् का व्यापार तथा अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर अवलंबित है—स्वतंत्र नहीं है—और परमेश्वर में ही जीव और जगत् के सूक्ष्म तत्त्व रहते हैं।"[2] श्रीसंप्रदाय के विशिष्टाद्वैत से भिन्नता दिखलाने के लिए इसे 'द्वैताद्वैती' कहा जाता है और साम्प्रदायिक दृष्टि से, इस का एक और नाम 'सनकसंप्रदाय' भी है। यह मत वास्तव में, श्रीसंप्रदाय से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इस में छः प्रकार की प्रपत्ति वा शरणागति को महत्व दिया जाता है, जिस से भगवान् की कृपा से भगवद्भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। इस की साधना-भक्ति भी श्रीसंप्रदाय के भक्तियोग के ही समान है। दोनों में भेद मुख्यतः यह है कि रामानुज-द्वारा प्रतिपादित भक्ति ध्यानयोग पर अधिक अवलंबित रहने के कारण, वस्तुतः औपनिषदिक उपासना में परिणत हो जाती है, परंतु निंबार्क की साधना अपने मूल भाव को नहीं छोड़ती। यह रामानुजियों के 'टेनकड़ाई' नामक संप्रदाय का एक रूपांतर मात्र कही जा सकती है, किंतु इन दोनों में भी उपास्यदेव की कल्पना के विषय में महान अंतर है। श्रीसंप्रदाय वाले नारायण और लक्ष्मी को मानते हैं, परंतु सनकसंप्रदाय वालों के सर्वस्व कृष्ण और राधा हैं। इस नवीन भावना द्वारा गोपी वा गोपाल-कृष्ण की कथा के संबंध में एक बार फिर प्रचार होने लगा और उत्तरी भारत में इस का प्रभाव बहुत बड़ा पड़ा।

निंबार्काचार्य की मृत्यु के अनंतर तीन सौ से भी अधिक वर्ष बीत जाने पर उत्तरी भारत के बंगाल प्रदेश में चैतन्य संप्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ जिस में 'सनकसंप्रदाय' के

---

[1] डा० भांडारकर 'वैष्णविज़्म, शैविज़्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ८८ (फ़ुटनोट)।

[2] तिलक ... अथवा ... (हिंदी ...) पृ० १७

मूलतत्त्व को बहुत अंशों में अपनाया गया। इस संप्रदाय के प्रवर्त्तक चैतन्यदेव थे जिन का जन्म नदिया नामक स्थान में सन् १४८५ ई० में हुआ था। ये अपने पिता के सब से छोटे पुत्र थे और इन का पहला नाम विश्वंभर था। ये अपने अनुयायियों द्वारा, पीछे स्वयं कृष्ण भगवान् के अवतार समझे जा कर, कृष्णचैतन्य भी कहलाए और बहुत गोरे होने के कारण इन्हें दूसरा नाम गौरांग महाप्रभु भी दिया गया। अठारह वर्ष की अवस्था में विवाह कर के ये पहले अपनी स्त्री लक्ष्मीदेवी के साथ गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत करते रहे और इन का मुख्य कार्य विद्यार्थियों को शास्त्रो की शिक्षा देना था। परंतु जब इन की स्त्री का देहांत हो गया और दूसरा विवाह कर के अपने पितरों की श्राद्ध-क्रिया करने ये गया धाम गए तो वहाँ से लौटते ही इन के विचारों में घोर परिवर्त्तन हो गया। क्रमश इन्हों ने कर्मकाड की कड़ी आलोचना आरंभ की और मोक्ष के लिए हरिनाम-स्मरण व कीर्त्तन को ही एकमात्र साधन बतला कर, वर्णव्यवस्था का भी ये खंडन करने लगे। इन बातों में इन के एक बहुत बड़े सहायक अपने सगे भाई नित्यानंद नामी थे, जिन्हें पीछे से बलराम का अवतार कहा गया। कुछ दिनों तक मकानों के भीतर अपने सहयोगियो के साथ चैतन्यदेव निरंतर कीर्त्तन करते रहे परंतु सन् १५१० ई० में किसी केशवभारती नामक संन्यासी से इन्हों ने संन्यास की दीक्षा ली और पुरी आदि प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थानो मे कई वर्षों तक भ्रमण करते हुए ये अपने सिद्धांतों का प्रचार करते रहे। इन की मृत्यु सन् १५३३ ई० में हुई। इन के वेदांत-संबंधी सिद्धांत प्रायः वही थे जो निंबार्काचार्य के थे। इन के अनुसार परमात्मा कृष्ण आश्रय हैं, और उन पर आश्रित जीवात्मा मधु के चाहने वाले भ्रमर की भाँति मँडराता रहता है। वह प्रेमरस का जी भर पान करने पर ही तृप्त होता है और तभी वह आनंद विभोर हो जाने के कारण अपने उपास्यदेव मे विलीन हो कर पूर्ण शांति पाता है। जीवात्मा के प्रेमोद्रेक के स्थिर होने पर इन्हों ने 'महाभाव' की संज्ञा दी है और बतलाया है कि प्रेम अपनी पूर्णावस्था को प्राप्त कर 'राधा' मे परिणत हो जाता है। इन का यह भी कहना है कि कृष्ण की शाश्वत लीला गोलोक मे निरंतर होती रहती है और वे अपने वैभव-विलास द्वारा चारों व्यूहों के रूप धारण करते हैं। इस व्यूह-कल्पना और प्राचीन व्यूहवाद में मुख्य अंतर यह है कि प्रद्युम्न को यहाँ पर मन की जगह प्रेम कहा जाता है और अनिरुद्ध को इसी प्रकार, अहंकार के स्थान पर लीला का प्रतिरूप समझा गया है कृष्णचैतन्य के दार्शनिक सिद्धात अचिंत्य

भेदाभेदवाद' नाम से प्रसिद्ध हैं।

चैतन्य पूर्ण प्रेम वा भक्ति के अवतार थे और वे कीर्त्तन करते-करते बहुधा आवेश की पराकाष्ठा के कारण, बेसुध हो कर मूर्छित भी हो जाते थे। उन के कीर्त्तन और उपदेश से प्रभावित हो कर उन के बहुत लोग अनुयायी बन गए और एक मुसल्मान तक उन्ही की भाँति कीर्त्तन करता-करता उन के साथ रह कर हरिदास नाम पा गया। इस मत का प्रचार गौड़ीय-सम्प्रदाय के नाम से बंगाल के बाहर भी कई अन्य प्रदेशों में हुआ और इस समय यह विदेशों तक में फैलने की चेष्टा कर रहा है। परंतु उत्तरी भारत के पश्चिमी भाग में इस से अधिक प्रभावशाली एक दूसरा संप्रदाय भी प्रायः चैतन्य के ही समय मे स्थापित हुआ जिसे प्रवर्त्तक के नामानुसार, 'वल्लभ-संप्रदाय' तथा भक्तियोग के प्रकारानुसार 'पुष्टिमार्ग' कहा जाता है। वल्लभस्वामी के पिता तैलंग ब्राह्मण थे और 'कांकरव' नामक किसी तैलंगदेश-स्थित नगर के ही निवासी थे। वल्लभ का जन्म सन् १४७९ ई० मे बनारस की यात्रा में निकले हुए, अपने पिता-माता के यहाँ मार्ग में हुआ था और ये अपना जीवनकाल कभी मथुरा और कभी वृंदावन में रह कर उत्तरी भारत में ही व्यतीत करते रहे। उन्ही दिनों गोवर्धन पहाड़ पर देवदमन अथवा श्रीनाथ जी के रूप में गोपाल-कृष्ण का आविर्भाव हुआ था और यह प्रसिद्ध है कि उक्त भगवान् ने स्वप्न द्वारा वल्लभ से कहा कि मैं अपने कृष्णावतार के साथियों के साथ फिर लीला करना चाहता हूँ और उन का पुनर्जन्म भी हो गया है, अतएव तुम यहाँ पर एक तीर्थस्थान स्थापित कर मेरे पूजन की विधियों का प्रचार करो। वल्लभ ने इन्ही संकेतों के अनुसार श्रीनाथद्वारा की स्थापना की और अपना 'पुष्टिमार्ग' भी प्रचलित किया। वल्लभ वा वल्लभाचार्य के वेदांत-सिद्धांत विष्णुस्वामी नामक एक पहले आचार्य के अनुसार हैं। ये विष्णुस्वामी कब हुए इस का ठीक-ठीक पता नही चलता। कुछ लोगों का अनुमान है कि ये बहुत पहले हुए थे और इन्हों ने ब्रह्मसूत्रों पर 'सर्वज्ञसूक्त' नामक एक भाष्य की रचना की थी। विष्णुस्वामी द्वारा कांची के भगवान् श्रीवरदराज तथा श्रीराजगोपालदेव का स्थापित किया जाना भी बतलाया जाता है और इन्ही के प्रशिष्यों में 'श्रीकृष्णकर्णामृत' के रचयिता श्रीविल्वमंगल की भी गणना की जाती है। इन्ही बिल्वमंगल को ८०९ ईस्वी के लगभग पराजित कर शंकराचार्य के किसी शिष्य ने अपने अद्वैत मत का प्रचार किया था। तब से कदाचित् विष्णुस्वामी के मत का प्रभाव दक्षिणी भारत मे बहुत कम हो गया। इन का

सिद्धांत संक्षेप में यह है कि परमात्मा ने अपने एकाकी रूप में पूर्णतः प्रसन्न न रह सकने के कारण अपने को ही प्रकृति, जीवात्मा एवं अंतर्यामी आत्मा में विभाजित किया और ये तीनों उन के वस्तुतः जलती हुई आग की चिनगारियों की भाँति निकले। परमात्मा की इच्छा से ही, प्रकृति में चित् और आनंद तथा जीवात्मा में आनंद मात्र, अनुभव मे नही आता और तीसरे में तीनों वर्तमान है। वल्लभाचार्य इसी सिद्धांत के आधार पर कहते हैं कि सच्चिदानंद की शक्ति का नाम माया है, जिस से रहित हो कर शुद्ध जीवात्मा और परब्रह्म एक वस्तुरूप है। बिना ईश्वर की कृपा वा अनुग्रह के मायाधीन जीवात्मा को मोक्षज्ञान नहीं हो सकता और उस अनुग्रह को वे 'पुष्टि' वा 'पोषण' की संज्ञा देते हैं। इस पुष्टि द्वारा मनुष्य की प्रेमभक्ति क्रमशः विकसित हो कर 'व्यसन' बन जाती है और उसी दशा में वह भगवान् हरि की नित्य-लीला में भाग लेने का अधिकारी होता है।

इस संप्रदाय के मुख्य आराध्यदेव श्रीनाथ जी हैं और आचार्य ने इन के पूजन की विधियों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। अपने दार्शनिक विचारों को उन्हो ने ब्रह्मसूत्रों पर लिखे गए अपने 'अणुभाष्य' तथा कुछ और ग्रंथों द्वारा भी प्रतिपादित किया है और उन का सिद्धांत 'शुद्धाद्वैतवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। वल्लभाचार्य की मृत्यु सन् १५३० ई० में हुई और उस के अनंतर उन के पुत्र विट्ठलनाथ और पौत्र गोकुलनाथ आदि, गोस्वामी कहे जाने वाले, बहुत से मठाधीश हुए। पुष्टिमार्ग से विष्णुस्वामी द्वारा मनोनीत निवृत्तिमार्ग की अपेक्षा, प्रवृत्तिमार्ग की ओर लोगों की अधिक प्रवृत्ति बढी और, इसे मानने वालों में से, अनेक भक्तों ने कला और साहित्य की उन्नति में भी हाथ बँटाया। हिंदी के महाकवि सूरदास तथा 'अष्टछाप' के अन्य कवि भी ऐसी ही श्रेणी के लोग थे। पुष्टिमार्ग में भी गौड़ीय संप्रदाय के समान ही गोकुल के गोपालकृष्ण पर मुख्य ध्यान दिया जाता था, किंतु दोनों के साधन, एक प्रकार से, नितांत भिन्न थे। पुष्टिमार्गी अपने आराध्य-देव का विधिवत् पूजन करते थे और यह उन के लिए परमावश्यक था, किंतु चैतन्य संप्रदाय वाले पूजा-अर्चना की प्रणाली को प्रायः उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे और उन का एकमात्र साधन हरिनाम का स्मरण तथा कीर्त्तन था। इस कीर्त्तन और भजन की प्रणाली नवीन नहीं थी और इस का प्रचार किसी न किसी रूप मे चैतन्यदेव के कई वर्ष पहले से सुदूर गुजरात प्रात में हो रहा था और प्रसिद्ध गुजराती कवि नरसी मेहता

(१४१५–१४८१ ई०) इस के मुख्य प्रचारक थे। नरसी जूनागढ़ के निवासी थे और कहा जाता है कि साधुओं के साथ भगवद्भक्ति में समय व्यतीत करने के कारण अपनी भावज के मुँह से 'कठिण वचन' सुन कर उन्हें पूर्ण वैराग्य हो गया और वे अंत में द्वारका मे जा कर भजनानंदी बन गए। द्वारका में स्थित रणछोर जी का मंदिर गुजराती भक्तो का मुख्य स्थान है और कहा जाता है कि उस में रक्खी हुई मूर्ति की भी स्थापना उपरोक्त विष्णुस्वामी द्वारा ही हुई थी। यदि यह बात प्रामाणिक है तो यह भी संभव है कि गुजरात मे प्रचलित भक्तिमार्ग भी पुष्टिमार्ग की भाँति विष्णुस्वामी के ही मूलस्रोत से निकला होगा। जो हो, नरसी मेहता की परपरा का पालन उन के कुछ दिनों अनंतर आने वाली राजपूताने की 'मेडतणी मीराँबाई' (१४९८–१५४६ ई०) ने भी किया और इन दोनो की कविताएँ अब तक प्रसिद्ध हैं।

विष्णुस्वामी के ही प्रभाव में आ कर पल्लवित, पुष्पित एवं परिवर्धित एक अन्य भक्तिमार्ग भी बतलाया जाता है जिस का मुख्य प्रचार-स्थान महाराष्ट्र है। कहते हैं कि इस के प्रथम प्रसिद्ध भक्त ज्ञानदेव, नामदेव व त्रिलोचन विष्णुस्वामी की परंपरा के ही अनुयायी थे।[१] परंतु अन्य कई प्रमाणों के आधार पर यह भी प्रसिद्ध है कि इस मार्ग के मूल प्रवर्त्तक कोई पुडरीक नामक महापुरुष थे जिन के जीवनकाल या चरित के विषय मे प्रायः कुछ भी ज्ञात नही है। सन् १२४९ ई० के एक ताम्रलेख से पता चलता है कि देवगिरि के यादव-वंशज कृष्ण के सेनापति ने वेलगॉव ज़िले के अंतर्गत पवित्र स्थान पौडरीक क्षेत्र को दान में दिया था।[२] इस क्षेत्र का भीमरथी नदी पर बसा जाना बतलाया गया है जिस से भीमा नदी पर, वर्त्तमान समय में, बसे हुए पंढरपुर का एकीकरण किया जाता है। पौंडरीक शब्द को पुंडरीक से बना हुआ मान कर उपरोक्त व्यक्ति का समय इसी लिए, तेरहवी शताब्दी के पूर्व का ही समझा जाना चाहिए। पुंडरीक के विषय में एक कथा इस प्रकार प्रचलित है कि पंढरपुर के आस-पास पहले डिडीर बन नामक एक जगल था जहाँ पुंडरीक रहते थे और ये बड़े ही मातृ-पितृभक्त थे। एक बार द्वारका-

---

[१] डा० भांडारकर, 'वैष्णविज़्म, शैविज़्म, ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० १०९

[२] वही, पृ० १२४

निवासी कृष्ण भगवान् से, राधा के अधिक सम्मानित होने पर रुष्ट हो कर रुक्मिणी डिंडीर बन चली गई और कृष्ण ने उन्हें वहीं जा कर मनाया था। पुंडरीक की पितृभक्ति का पता चलने पर कृष्णचंद्र उन के यहाँ भी पहुँचे और पुंडरीक ने उन्हें बैठने के लिए एक ईंट दे दी। भक्तो का विश्वास है कि पंढरपुर के उपास्यदेव बिट्ठलनाथ ही वह कृष्ण थे जो अब तक, अपनी प्रिया रुक्मिणी के साथ, ईंट पर खड़े हैं। अस्तु, पंढरपुर पुंडरीक के ही समय से पवित्र स्थान माना जा कर महाराष्ट्र का सब से प्रसिद्ध तीर्थ हो गया और उस के मंदिर के विट्ठलनाथ वहाँ के वैष्णवों के मुख्य उपास्यदेव बन गए।

ज्ञानदेव (१२७५–१२९६ ई०) के पिता विट्ठलनाथ के ही उपासक थे, परंतु ज्ञानदेव व उन के भाई-बहन का जन्म उन के वैराग्य ग्रहण करने पर हुआ था। अपनी जाति वालों ने, इसी कारण इन बालकों का बड़ा तिरस्कार किया और अंत में ज्ञानदेव की विद्वत्ता, दृढ़ता एवं प्रसिद्धि ने किसी प्रकार सब को जातिभ्रष्ट होने से बचाया। ज्ञानदेव ने 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर 'भावार्थदीपिका' नाम की एक टीका लिखी और 'अमृतानुभव' ग्रंथ एवं कुछ फुटकर पदों की भी रचना की। ज्ञानदेव की उक्त टीका 'ज्ञानेश्वरी' के नाम से भी प्रसिद्ध है जिस से ज्ञानदेव के व्यापक पांडित्य व प्रगाढ़ भक्ति का पूरा पता चल जाता है। ज्ञानदेव के समकालीन नामदेव (१२७०–१३५०) का जन्म पंढरपुर में ही हुआ था और वे जाति के छीपी थे। उन के गुरु विसोबाखेचर नामक संत थे और उन के मुख्य उपास्यदेव विट्ठलदेव थे। नामदेव के पदों से उन के हृदय की शुद्धता, दीनता, आत्म-समर्पण, क्षमा एवं ईश्वर-भक्ति लक्षित होती है और वे एक बहुत बड़े भक्त जान पड़ते हैं। चैतन्यदेव की भाँति नामदेव भी केवल अर्चना व पूजन-विधान को शुद्धभक्ति के लिए तुच्छ समझते हैं और भक्तों के लिए वर्ण वा जाति का महत्व नही मानते। महाराष्ट्र भक्तों की परंपरा में नामदेव के उपरांत मुख्य भक्त श्रीएकनाथ (१५२८–१५९९ ई०) हुए जिन के प्रपितामह भानुदास विट्ठलनाथ वा विठोबा के परम भक्त थे। ये पैठण के रहने वाले थे, किंतु वहाँ से दौलताबाद जा कर इन्हों ने जनार्दन स्वामी को अपना आध्यात्मिक गुरु बनाया था। श्रीएकनाथ ने 'भागवतपुराण' पर अपनी टीका लिखी जो 'एकनाथी-भागवत' के नाम से बहुत प्रसिद्ध है और इन्हों ने 'रुक्मिणी-स्वयंवर' नामक एक अन्य ग्रंथ की भी रचना की। 'एकनाथी-भागवत' भी

ज्ञानेश्वरी की ही भाँति अपने रचयिता की योग्यता और महत्ता को, स्पष्ट रूप में, सूचित करता है और वह भी भक्त-मंडली में उसी प्रकार लोकप्रिय है। भक्त लोग श्रीएकनाथ को ज्ञानदेव का अवतार भी समझते हैं। तुकाराम (१६०८–१६४९ ई०) को, इसी प्रकार महाराष्ट्र में नामदेव का अवतार मानने की परंपरा है, वास्तव में तुकाराम ने अपने अभगों को अधिकांश नामदेव के अभंगों के ही ढंग पर लिखा है और उन मे भी उसी भक्ति-स्रोत का प्रवाह दीख पड़ता है। तुकाराम का जन्म देहू-नामक ग्राम में हुआ था और इन के सात पूर्वपुरुष विठोवा के भक्त रह चुके थे। तुकाराम ने धनोपार्जन की कुछ भी चिंता नही की और वे बराबर आर्थिक कष्ट झेलते रहे। परतु ईश्वर के प्रति उन की एकात व शुद्ध निष्ठा कभी कम नही हुई। वे सदा विठोवा के प्रेम में अभंग बनाते व गाते रह गए। तुकाराम की प्रसिद्धि हो जाने पर उन्हें शिवाजी ने अपने यहाँ बुलाना चाहा था किंतु वे नही गए। शिवाजी को दर्शन व उपदेश दे कर कठिनाइयो मे सहायता प्रदान करने वाले तुकाराम के ही समकालीन स्वामी रामदास (१६०८–१६८१ ई०) थे जिन्हे मारुती का अवतार माना जाता है। वे शिवाजी के समर्थ गुरु रामदास नाम से भी प्रसिद्ध हैं। वे एक उच्च त्यागी महात्मा थे, किंतु उन का ध्यान, लोक-संग्रह की दृष्टि से, देश की अवस्था की ओर भी बहुत कुछ आकर्षित था। वे अधिकतर पर्यटन करते रहे और अपनी ईश्वरोपासना के अतिरिक्त दूसरों को उपदेश भी देते रहे। उन के उपदेशों का सग्रह 'दासबोध' तथा अन्य रचनाओं में किया गया है। 'दासबोध' भक्ति, अध्यात्म एवं नीतिमार्ग के आधार-स्वरूप उपदेशों का कोष है और इस का भी महाराष्ट्र में बहुत प्रचार है। उपरोक्त ज्ञानदेव, नामदेव, श्रीएकनाथ, तुकाराम व रामदास महाराष्ट्र के परमोज्ज्वल भक्तरत्न थे और इन सब का मुख्य उद्देश्य सच्चे हृदय से भगवान् की भक्ति करना तथा सादा जीवन व्यतीत करते हुए समाज का उपकार करना था। इन मे से प्राय: सभी, और विशेष कर, नामदेव तथा तुकाराम विठोवा के अनन्योपासक थे। महाराष्ट्र के इस भक्ति मार्ग को 'वारकरी-संप्रदाय' का नाम दिया गया है। इस की विशेषताओं में राधा की जगह रुक्मिणी को महत्व देना भी एक है।

राधा वा राधिका की भावना का विकास भी अपूर्व ढंग से हुआ था। ऋग्वेद के समय 'राधस्' वा 'राधा' शब्द ऊपर उल्लिखित 'इरा' व 'इला' का समानार्थक था अतएव इस का भी प्रयोग उसी शब्द की भाँति धन वा उपभोग की सामग्री के लिए हुआ

करता था और इस के भी मालिक इंद्र थे।[1] इंद्र को, इसी कारण, 'सत्यराधाः'[2] तथा 'राधानां पतिः'[3] भी कहा गया है और वे इसी अधिकार के कारण प्रार्थना करने वालों को ऐश्वर्य प्रदान भी करते हैं। परंतु 'श्री' शब्द की भाँति, 'राधस्' शब्द का अर्थ भी सुधरता हुआ, विष्णु की अर्धांगिनी के ढंग से कृष्ण की अर्धांगिनी का भाव व्यक्त करने लगा और समयानुसार निंबार्क, वल्लभ एवं चैतन्य के अनुयायियों द्वारा विशेष रूप से दर्शाए जाने के कारण राधा वा राधिका की प्रतिष्ठा अंत में कृष्ण के प्रति प्रदर्शित श्रद्धा के समान, तथा कभी-कभी बढ़ कर भी, दिखलाई देने लगी। पहले भक्तों की भक्ति केवल कृष्ण तक ही सीमित थी, किंतु जिस प्रकार गुप्तकालीन वैष्णवधर्म में विष्णु वा नारायण के साथ लक्ष्मी को स्थान मिला था उसी भाँति निंबार्काचार्य के सनक-संप्रदाय में भी राधा की आवश्यकता समझी जाने लगी। राधा का नाम 'हरिवंश', 'विष्णुपुराण' अथवा 'श्रीमद्भागवत' तक में भी इस प्रधानता के साथ नहीं आता। 'श्रीमद्भागवत' से केवल यही प्रकट होता है कि वृंदावन में श्रीकृष्ण के साथ शारदी चाँदनी में लीला करने वाली गोपियों में से एक ऐसी थी जिसे उन्हों ने दूसरों से छिप कर भी अपनाया था और जब वह अधिक मानिनी बनने लगी तो उसे भी छोड़ दिया। 'नारदपंचरात्रसंहिता' एवं 'ब्रह्म-वैवर्तपुराण' में इस गोपी को राधा नाम से विशेष महत्व दिया गया है।[4] श्रीकृष्ण की विवाहिता स्त्री रुक्मिणी का नाम बहुत साधारण ढंग से लिया जाता रहा है और, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, केवल वारकरी-संप्रदाय वाले विठ्ठलदेव के भक्तों ने ही उसे महत्त्व दिया है। राधा को कृष्ण के समान समझने तथा उसे विशेष प्रधानता देने के कारण वैष्णव-धर्म में क्रमशः अवांछनीय भावों का प्रवेश होने लगा और अंत में ऐसे संप्रदाय भी चलने लगे जिन के अनुयायी, राधा की सखियों का अनुकरण करने की चेष्टा में, साधारण स्त्रियों की भाँति श्रृंगार करना एवं रहना तक उचित मानने लगे।

---

[1] डा० गोस्वामी, 'भक्ति कल्ट इन ऐंशेंट इंडिया', पृ० १०५

[2] ऋग्वेद, (मं० ४, सू० २९, मंत्र १)

[3] स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते।
विभूतिरस्तु सूनृता ॥—ऋग्वेद, (मं० १, सू० ३०, मंत्र २८)

[4] डा० भांडारकर, 'वैष्णविज़्म, शैविज़्म, ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० १२३

(७)

श्रीकृष्ण तथा राधा वा रुक्मिणी को अपने संप्रदाय में प्रधानता देने वाले मूलत. वे वैष्णव थे जो विष्णु वा नारायण के श्रीकृष्णावतार की उपासना करते थे। इस अवतार का प्रभाव, संभवतः वैष्णवधर्म के पुनर्निर्माण से भी पहले से आती हुई सात्वतधर्म के वासुदेव कृष्ण की प्राचीन परंपरा के कारण, अधिक रहा और विष्णु के अन्य अवतार उतने महत्त्वपूर्ण नहीं समझे गए। अन्य मुख्य अवतारों में से आडवारों ने वामन व वाराह के भी नाम विशेष रूप से लिए थे और कुलशेखर आडवार की, रामावतार के प्रति भी, कम श्रद्धा नही थी। इन के विषय में तो यहाँ तक कहा जाता है कि 'रामायण' का पाठ सुनते समय एक बार, एकाकी रामचंद्र द्वारा खरदूषण आदि अनेक राक्षसों का सामना करने का प्रसंग आने पर, उन्हों ने अपनी त्रावकोर की सेना को उन की सहायता के लिए कूच करने का हुक्म दे दिया और मंत्रियों को यह स्थिति बड़ी कठिनाई के साथ सँभाल्नी पडी। एक दूसरी बार भी इसी प्रकार, लंका में गई हुई सीता को रावण से छीन लाने के लिए वे समुद्र की ओर दौड़ पड़े थे और तैर कर पार करने से वे किसी प्रकार रोके गए थे।[१] श्रीराम के अवतार को पीछे मध्वाचार्य ने भी कुछ महत्व दिया किंतु तो भी कृष्णावतार के सामने इन की प्रसिद्धि अधिक नही हो सकी। श्रीरामावतार को सब से अधिक महत्व आगे चल कर 'रामावत संप्रदाय' द्वारा मिला जिस के प्रथम प्रवर्त्तक रामानंद स्वामी थे। रामानंद का रामानुजाचार्य की पाँचवी पीढ़ी में होना बतलाया जाता है और कहा जाता है कि इन का जन्म प्रयाग के एक कान्यकुब्ज कुल में १२९९ ई० में हुआ था। लड़कपन में इन्हें पढ़ने के लिए काशी भेजा गया जहाँ, पठनपाठन समाप्त कर, वे विशिष्टाद्वैती राघवानंद के शिष्य हो गए। परंतु, कही बाहर से यात्रा कर के लौटने पर, खाने-पीने के संबंध मे कुछ मतभेद उत्पन्न होने के कारण, उन्हों ने अपने गुरु का साथ छोड कर एक स्वतंत्र मत की नीव डाल दी।

रामानंद के दार्शनिक सिद्धांत अधिकतर विशिष्टाद्वैतवाद के ही अनुसार थे किंतु श्रीसंप्रदाय के उपास्यदेव नारायण के स्थान पर उन्हों ने राम व सीता को स्वीकार किया

---

[१] हूपर, 'हिम्स अव दी आडवार्स' पृ० १२ १३

तथा उस के मूल भक्तियोग की उपासना एवं अर्चन-विधियों को अधिक महत्व न दे कर प्रधानतः भक्ति व भजन की ओर सब का ध्यान दिलाया, रामानंद ने, अपने सिद्धांतो के अधिक प्रचार के लिए, वैरागियों का संगठन किया और उन के दल में शूद्र वा अन्य श्रेणी वालो को भी, वैष्णव होने के नाते, सम्मिलित किए जाने की व्यवस्था कर दी। रामानंद के प्रधान शिष्यों में ब्राह्मण क्षत्रियों के अतिरिक्त सेना नाई, धन्ना जाट, रैदास चमार व कबीर जुलाहे के भी नाम लिए जाते है और सब के साथ, पद्मावती नाम की एक स्त्री की भी गणना की जाती है परंतु, ऐतिहासिक दृष्टि से इन सब का एक समय में वर्त्तमान रहना अभी तक सिद्ध नहीं किया जा सकता है और प्रमाणों के अभाव में, ऐसी अनेक बाते अभी विवादग्रस्त व संदिग्ध है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि, रामानंद द्वारा प्रचलित मुख्य विचारधाराओं के सीधे वा गौण प्रभाव में आ कर, अनेक प्रकार के उपयोगी आंदोलन चल निकले और भक्तिक्षेत्र मे, कम से कम, निर्गुण तथा सगुण-विशिष्ट, दो ऐसी भावनाओं की सृष्टि हुई जिन से अनुप्राणित हो कर कबीर साहब एवं गोस्वामी तुलसीदास ने सर्वसाधारण जनता तक को अपना लिया। कबीर साहब की मृत्यु कदाचित् सन् १४४८ ई० में हुई थी और गोस्वामी तुलसीदास का जीवन-काल सन् १५३२ ई० से ले कर सन् १६२३ ई० तक रहा। कबीर साहब का विशेष ध्यान सभी धर्मो के मूल की ओर ही रहा और उन्हों ने सब के लिए सहज भाव वा सहज स्थिति में रहना परमावश्यक बतलाया, परंतु गोस्वामी तुलसीदास ने स्मार्त्तधर्म द्वारा अधिक प्रभावित होने के कारण, हिंदू धर्म के ही अंदर पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया और एक ऐसे सामाजिक आदर्श की सृष्टि की जो सब किसी के मनोनुकूल होने में समर्थ है। कबीर साहब की कुल रचनाएँ फुटकर हैं, किंतु गोस्वामी तुलसीदास का मुख्य ग्रंथ 'मानस' एक प्रबंध-काव्य है।

उपरोक्त दोनों महापुरुषों के अनंतर आने वाली अनेक बातें परम प्रसिद्ध है और उन पर लिखने की आवश्यकता नहीं। वैष्णवधर्म वा वैष्णव-संप्रदाय मूल वैदिक भावनाओं को ले कर उत्पन्न हुआ था और क्रमशः एकांकित, शास्वत वा भागवत एवं पाचरात्र के रूपों में ढलता हुआ अंत में पुनः संगठित वैष्णव-रूप में परिणत हुआ था और उस के उपास्यदेव भी उसी प्रकार वासुदेव कृष्ण से विकसित हो कर, गोपाल होते हुए, विष्णु-नारायण बन गए थे। परंतु आगे चल कर विष्णु नारायण से अधिक फिर श्रीकृष्ण और राधा की हुई और साथ ही राम व सीता का भी महत्त्व बढ़ गया भक्ति

संबधिनी मनोवृत्ति में भी, आगे के प्रचलित उपसंप्रदायों में, आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न परिवर्तन हुए और अनेक प्रकार के पूजन प्रकारों की भी प्रधानता होने लगी। परतु फिर भी सभी वैष्णवों के प्रति न्यूनाधिक समानता का भाव रखना, भजन व प्रेम द्वारा अपने आराध्य को प्रसन्न करने की चेष्टा करना तथा इस प्रकार के अन्य अनेक भाव सभी वैष्णवो को सदा मान्य रहे और रहते आए। वैष्णवो के भिन्न-भिन्न उपसंप्रदायों मे भिन्न-भिन्न भेष धारण करने की भी परंपरा चली आती है और कभी-कभी साधारण मतभेदों के कारण उन में विवाद वा झगड़े तक के अवसर उपस्थित हो जाते हैं, किंतु उच्च श्रेणी के भक्त छोटी-छोटी बातों को सदा गौण समझते हैं और इन की ओर वे विशेष ध्यान नहीं देते। सच्ची बात तो यह है कि किसी धर्म वा संस्था की आलोचना करते समय उस की मुख्य व प्रधान बातो को ही महत्त्व देना उचित व न्यायसंगत होता है। वैष्णव-धर्म को हिंदू धर्म के भीतर एक विशेष व स्थायी पद प्राप्त हो चुका है और अन्य अनेक बातों की ही भाँति उस की 'श्रीमद्भगवद्गीता', 'प्रबंधम्', 'पदावली', 'अभंगों', 'भजनों' व 'रामचरितमानस' को भी हम कभी नही भुला सकते।

सत्यवती-कथा

['हिंदुस्तानी' के पिछले अंक में रायबहादुर लाला सीताराम जी का कवि ईश्वरदास के विषय में एक नोट प्रकाशित हुआ था। लाला जी इस कवि की रचना 'सत्यवती-कथा' का संपादन कर रहे थे पर उसे अधूरा छोड़ कर वे विगत २ जनवरी को स्वर्ग सिधार गए। उन के देहावसान से हिंदी साहित्य की भारी क्षति हुई है। इस वृद्धावस्था में भी जिस अदम्य उत्साह से वे हिंदी की सेवा कर रहे थे वह अन्यों का पथ प्रदर्शक हो सकता है।

'सत्यवती-कथा' की भाषा अवधी है। अवधी भाषा प्रेम और वीरगाथाएं लिखने के लिए क्यों चुनी गई यह दूसरा ही प्रश्न है। गोस्वामी तुलसीदास ने इस भाषा का रामायण में जो परिष्कृत रूप प्रदर्शित किया है वह शताब्दियों में बन पाया होगा। कवि ईश्वरदास की अवधी तुलसीदास जी की अवधी से ७४ वर्ष पूर्व की है। ईश्वरदास की गिनती श्रेष्ठ कवियों में नहीं की जा सकती। भावों और भाषा की हीनता की दृष्टि से उन की तुलना इंद्रावती के रचयिता नूरमुहम्मद से हो सकती है। इन की भाषा मे छद विठलाने के लिए असाधारण तोड़-मरोड़ करनी पड़ती है। भावों में कवित्व का अभाव है। कहानी का वर्णन भी कुछ रोचक नहीं है। साहित्य की दृष्टि से 'सत्यवती-कथा' नीची श्रेणी की कृति है। पर ग्रंथ का महत्व इस कारण है कि यह उस समय की अवधी भाषा का प्रायः जैसा का तैसा नमूना उपस्थित करती है। जहाँ-तहाँ दो एक प्रयोग ब्रजभाषा और भोजपुरी के हैं। पर इस प्रकार के प्रयोग जायसी और तुलसीदास में भी मिलते हैं।

हस्तलिखित प्रति आधुनिक है। रूऊदार कागज़ पर काली स्याही से लिखी हुई है। लेखक ने न अपना नाम दिया है न परिचय और न यह बताया है कि कब और किस प्रति से उस ने नकल की। लेखक का ज्ञान परिमित ही जान पड़ता है। स्थान-स्थान पर अशुद्धियाँ है। यथाशक्ति इन को शुद्ध करने का प्रयत्न किया गया

.ों की अन्य हस्तलिखित प्रतियों की भाँति इस में भी ह्रस्व और दीर्घ ऊपर पूरा अत्याचार किया गया है। शब्द में ह्रस्व स्वर है, छन्द है पर अंकित किया गया है दीर्घ। कई स्थानों पर यह निर्णय ग्रंथकार की है कि लेखक की, बड़ा कठिन हो गया है।

पाठकों से निवेदन है कि जहाँ छंद न बैठता हो वहाँ ह्रस्व स्वर ीर्घ को ह्रस्व करके पढ़ें तो बहुत स्थानों पर छद ठीक जान पड़ेगा। कई स्थानों पर अर्थ लगता ही नहीं। कोई दूसरी प्रति मिले तो ऐ शुद्ध किया जा सकता है। —संपादक]

श्रीगणेशाय नमः

श्रीरामाय नमः

प्रणवौं गणपति मन चित लाई। जेहि सुमिरत मै मति गति पाई।
दया करहु स्वामी शिव नंदा। तोहरे बल मै करउँ अनंदा॥
सारद कथा कहौ कर जोरी। मै न कहावौं जे मति भोरी॥
हिर्दये भइ सु ग्यान कइ जोती। अजर होइ जसि निर्मल मोती॥
नयन नरायन मुषहि मुरारी। कंठ सरस्वति कहइ सँवारी॥

दोहा—मनि मानिक लै के चले, चढ़े उदधि भौ नीर।
कह ईसर जग माता, बोहि तलाव बहु तीर॥१॥

तुह बिनु जालप कंठ निरासा। हिर्दये मोर लेहु निवासा॥
कालभंजनी आदि भवानी। प्रसन होहु कछु करौं बषानी॥
अलप बयस मइ मति कर भोरा। बल पौरुष सब जालप तोरा॥
ज्ञान अर्थ देहु आदि भवानी। दैत्य-दलनि कमलापति रानी॥
रुंड मुंड सब कियेहु निकंदा। मयामोह कर काटहु फंदा॥

दोहा—इसरदास कबि प्रनवौं, हर्षित चित्त हमार।
भौ सहाय तँ जालप, कथा कीन्ह अनुसार॥२॥

पहिले रामचंद्र कै दाया। तेहि पाछे जालप कै माया॥
तेहि प्रसाद होइ ग्रंथ रसारा अपनी मति को जोरइ पारा

कंठ बैठि जो कहइ भवानी। तौ कबि अच्छर जोड़ बखानी॥
कतो दुख कवि अंजर पावा। सोभविहीनउ छेदि लड़ावा॥
मूर्ख न जानै अंजर सुद्धी। पंडित जन कह निर्मल बुद्धी॥

दोहा—जस कोहार घट नापवै, फोरै राजकुमार।
तैसे मूर्ख न जानई, पंडित करहि बिचार॥३॥

जाहि देस ठाकुर मद होई। ताहि देस भल बसइ न कोई॥
जस अकलंकित चौथ क चंदा। तस विवेकि होइ ठाकुर मंदा॥
पहिले बोल बराह्मन देई। तब धन सर्ब आपु हर लेई॥
कंचन काँच बराबलि देखै। पापपुन्य जो सम कइ लेखै॥
सदा लोभ जो करइ मँवाई। जनम जनम सो नरकहि जाई॥

दोहा—जाहि देस अस बरतै, तजत सदा बुद्धिमान।
कह ईसर तह ना बसो, जो पर वेद न मान॥४॥

जोति एक पंडव के संगा। पाँच आत्मा आठौ अंगा॥
भादौं मास पाष उजियारा। तिथि नौमी सो मंगल बारा॥
नषत अस्वनी मेषक चंदा। पंच जना सो सदा अनंदा॥
जोगिनीपुर दिल्ली बड़ थाना। शाह सिकन्दर बड़ सुलताना॥

दोहा—कंठे बैठु सरस्वती, विद्या गणपति दीन्ह।
ता दिन कथा अरंभ यह, इसरदास कबि कीन्ह॥५॥

कह जन्मेजय दुइ कर जोरी। ब्यास रिषिय सुनु बिनती मोरी॥
कहाँ गयेउ दहु पाँचौ भाई। सो स्वामी मोहिं कहहु बुझाई॥
कवरौ पापी मंद भुआरा। तेइ नहिं कीन्हा छानि विचारा॥
देस नग्र छोड़ा परिवारा। कपट पास कै धर्म निकारा॥
बारह वर्ष दीन्ह बनवासा। ते पंडव कत लेहिं निवासा॥

दोहा—कहु रिषि इन्हके राजा, पूँछत हौं सो तोहिं।
कैसे बाढ़ेउ पाँडव, अर्थ सुनाओ मोहिं।६।

सुनु जन्मेजय कहेउ बुझाई । जैसे बाँटहि पाँचौ भाई ॥
कन्द मूल खनि करहिं अहारा । वर्ष एक गइ रहे केदारा ॥
दुसरे जमुना अगम गँभीरा । तिसरे कासी नर्मदा तीरा ॥
चौथे वर्ष गये जगन्नाथा । पँचयें केदलि सिन्धन साथा ॥
छठएँ वर्ष स्यारी का गयऊ । सतएँ सेतुबन्ध कहँ गयेऊ ॥
अठएँ झारखंड चलि आवा । मारकंड कर दर्सन पावा ॥

दोहा—तेहि देखेउ रीषेश्वर, समदि राउ बइसाउ ।
कहाँ चलेउ तुम पंडवा, कहहु आपन सतभाउ ॥७॥

बनोवास बिधि हमको दीन्हा । राज पाट पुर सो धन लीन्हा ॥
कीन्हा तीर्थ केशव मन लावा । अब स्वामी तुव दरसन पावा ॥
तुव देखे मन हर्ष हमारा । कहु स्वामी कछु ग्रंथ रसारा ॥
बाढ़ै धर्म मुक्ति गति पाई । जेहि सुनें सब पातक जाई ॥
मन चित चंचल जीव बैरागी । नारायण बिनु सदा अभागी ॥

दोहा—आज महानिधि पावों, गरू हमारे भाग ।
सो कछु कहहुँ गोसाईं, सुनहु ज्ञान जेहि जागु ॥८॥

सुनो धर्म गति राखहु राऊ । कहौ तोहिं आपन सत भाऊ ॥
दिव्य कथा किन्तु कहौं रिसारा । एक चिन्त सुनु ज्ञान सँभारा ॥
मथुरा नग्र जमुन के तीरा । बहु दिस सोभित मानिक हीरा ॥
घर घर सजा बाजना बाजा । चन्द्र उदय पुहुमीपति राजा ॥
गुरु ब्राह्मण पूजा पतियारा । दया धर्म से सदा अचारा ॥

दोहा—अस धर्माधी राजा, संतति हीन भुआर ।
कर्म जो लिखा बिधातै नहि, दीन्ह कन्धाबार ॥९॥

पुत्र लागि राजइ सब छाँड़ा । चन्द्रहास कर लीन्हा खाँडा ॥
देस नगर छाँड़ि परिवारा । गये जहाँ बन अगम पहारा ॥
भीतर पर्वत कन्दल आहा । तहवाँ भई कइ शंकर माहा ॥
चारि खम्भ रोपा तहँ जाई । दोको चरण बाँधि तेहि लाई ॥

पवन धूम सो करइ अहारा। ज्ञानी पुरुष धर्म अवतारा ।।
बर्षा साका पूज निआरा। तहवाँ तप सो करइ भुआरा ।।

दोहा—दुर्बल दुखी करंकरी, दहदिसि पवन डोलाव।
साँस नास भो राजा, सूझी बचन न आव ।।१०।।

जब राजा कछु बचन न बोला। तब महेस कर आसन डोला ।।
चले महेस तब ज्ञान सँभारा। डक डमरू षडंग आधारा ।।
चन्द्र लिलाट जटा महँ गंगा। धरे सीस फनि शोभित अंगा ।।
डमरू खड्ग बीभति बिभेसा। छाला सींगी सोह महेसा ।।
भैरों रीठी लिये जप माली। चले तहाँ जहँ तप कर भारी ।।

दोहा—निमिषि एक मह आये, ताहि तपाके पास।
बहुत कष्ट जब देखा, संकर उपजी त्रास ।।११।।

कहा महेस मोरे मन चीता। उठ राजा तइ तप सन जीता ।।
साधु पुरुष उत्तिम गति तोरी। मन इच्छा मैं पुरवउँ तोरी ।।
तो कहँ परसंन भये नरनाहा। सो देइ जो मन तोरेइ माँहा ।।
गरुअ कष्ट तइ तप तनु कीन्हा। तौ मैं आपन दर्सन दीन्हा ।।
तो सन राउ कहँउ का गोई। तोहि सम तुल पूजइ ना कोई ।।

दोहा—रथ तुरंग धनु कोटिन्ह, जौ मागिस मैं मंत।
जो मन इच्छा तोहिरे, सो मैं देब तुरंत ।।१२।।

सुनु स्वामी सिव संकर जोगी। पुत्र लागि मैं भयेउ बियोगी ।।
पुत्र लागि मैं तजा भँडारा। देस नगर छाड़ा परिवारा ।।
पुत्र लागि मैं तप तनु साधा। पुत्रइ लागि चरन अनुराधा ।।
देस देस मोरि चर्चा होई। पुत्रहीन भल बोल न कोई ।।
कौन पाप है पुर्बज केरा। संतति बिना सो धंक कुहेरा ।।

दोहा—पुत्र छाँड़ि नहिं मागौं, जात बाटै संसार।
नर्क उधारवु संकर कैसे छैहो सोच हमार ।।१३।।

महा पाप तैं पुर्बिल कीन्हा। सो महेस सब कहवे लीन्हा ॥
सुत तू ब्राह्मण मे दिल जारे। सदा बाट बन खंडहि पारे ॥
बिनु अपराध हते घर नारी। बिप्रन बृत्ति कटाए झारी ॥
बालक बाछा कपिला गाई। बिगर बिगर बधेहु तू जाई ॥
सदा अनेति कीन्हे तइ बानी। उर के सजन स्वामी गुर ज्ञानी ॥

दोहा——येहि पाप से राजा, होई नर्क निवार।
बर्त एकादसी केन्हहु, ताते भयेउ भुवार ॥१४॥

ऐसा जनि बिधि लिखा लिलारा। नास्ति पुत्र घर तोहरे बारा ॥
जोग जतन तप कछु ना होई। आपन कर्म भजं सब कोई ॥
सेवा जतन किये तैं मोरी। काहे न आस पुराऊँ तोरी ॥
अछत मंत्र ले सीख तै मोरा। कन्या एक ग्रह जन्मी तोरा ॥
नाव कहौ मैं हृदय बिचारी। सत्यवती सो अति सुकुमारी ॥
अति रूपवती होइहि राया। सत्यवती सदा चित दाया ॥

दोहा——जाहि राय घर आपने, चित जनि करहु निरास।
देउँ असीस मैं भाव सों, मैं गवनौं कैलास ॥१५॥

जो कुछ बाटे कर्म हमारा। सो सब भुंजब इहि संसारा ॥
वर्ष साठ भइ तुव मन लावा। अब स्वामी तुव दर्सन पावा ॥
अंतरजामी जानि न जाई। मो कहँ दया करहु चित लाई ॥
माँगन मोर देह कछु थोरा। नरक नेवारहु शंकर मोरा ॥
जोती कला जो जानैं धर्मा। सोउ न पावैं सिव कै मर्मा ॥

दोहा——सो महेस मैं देखा, बिनवौं दोउ करजोरि।
जनम जनम तू दाता, आस पुरावो मोरि ॥१६॥

सब तुहार मैं चितउब काजा। जन्म नेवारन जाइहि राजा ॥
अस कहि स्वर्गलोक सिव जाई। राजा नगर में पहुँचे आई ॥
हाट हाट मो सीहदुआरा। पाटम्ब परिगै बैठ सभारा ॥

सब रानी कीन्हा पत्रधारी। सब मिलि सिर आरती उतारी॥
सब भेरी पट बाजन बाजा। देस देस के आवहिं राजा॥

दोहा—आदर सो सब संपदा, लेइ वइसाए पाट।
प्रीति रीति कौतूहल, बोलहिं बाम्हन भाट॥१७॥

आदर सो तब विप्र बोलावा। होम करैं के कुण्ड बनावा॥
होम जाप कइ संकलप कीन्हा। अह निस दान बिप्रन कहँ दीन्हा॥
आनंद भए सोस्ती कहि जाई। तब राजहिं पुरान सुनाई॥
संध्या काल आइ संगताई। चला लोग घर बिदा कराई॥
गये स्त्रीपति जहँ आछैं रानी। ता कहँ गर्भध्यान देहु जानी॥
सो तब वर्ष एक चल जाई। जन्मी सत्यवती जग आई॥

दोहा—देव लोक नहिं कन्या, अते रूप अवतार।
हर्षत भा राजा तब, दिन दिन मंगलचार॥१८॥

वर्ष आठ कै भई कुमारी। धर्मपंथ करई समझारी॥
सुर्ज किरन किनु जीतइ चहई। ताकर रूप वर्न को कहई॥
दिन दिन भक्ति करी सो गाई। पूजै संकरही मन लाई॥
नाना फूल टोरि भरि हाँथे। फूल चढ़ावै सिव के माथे॥
ऐसे रंग रहै दिन राती। करइ मनोहर बहु विधि भाँती॥

दोहा—अस कन्या जग जनमी, करै धर्म चित लाइ।
सिवसंकर वह बिनु पूजे, कैसेहु अन्न न खाइ॥१९॥

जहवा कन्या कर असनाना। ताहि सरवर को करै बखाना॥
चारेउ घाट बँधाइ पाषाना। भीतर गहिर को अंतर जाना॥
पुरइन लागी बहुत सेवारा। ता मँह मच्छ कच्छ घरियारा॥
करहैं केलि तहँ चकवा हंसा। बहु विधि भँवरा करै विलासा॥
जल के जंतु जानि नहिं जाई। नाना पंछि रहै तेहिं ठाई॥

दोहा—चारिहु पास बहुत बन, कतहुँ न देखी भंग।
सखी चार संग तहवाँ होई ते अनबन रंग॥२०॥

कहइ युधिष्ठिर दोइ कर जोरी। मारकंडे सुनु बिनती मोरी ।।
कहत डेराउँ पास तुव बैसे। ता कर पुरुष भएउ दह कैसे ।।
सो चरित्र सुनुबे मन लागा। तुहरे कहत छूटि बैरागा ।।
अब स्वामी तुम कहा बुझाई। सुनतै मोर सो हृदय जुड़ाई ।।
कउन पुरुष सो भयेउ विवाहा। कह स्वामी रिष यहि के ताहा ।।

दोहा—गयउ कष्ट भाइन के, पूजी आस हमारि।
कस चरित्र है आगे, सो सब कहउ विचारि ।।२१।।

सुनउ धर्म गति कहौं विचारा। वेद विदित पति इन्द्र भुआरा ।।
तेहि के पुत्र वंस भे चारी। जल मल रितुवरन अहंकारी ।।
महाबली औ स्याम सरीरा। तेजवंत गुण ज्ञान गंभीरा ।।
लिषि सुमेरु जैसेन जग माहाँ। तैसेहि महिमा चारिहु पाहाँ ।।
मति सरूप चारौं बलवंता। नेम धर्म सो करहिं अनंता ।।

दोहा—एक दाता एक पंडित, गावत एक रसार।
रितुवरन भवबाधा, चारेहु महँ सुकुमार ।।२२।।

अहि निस करहिं सो विभवत रंगा। एक देव सब चलु व्याधिन्ह संगा ।।
चारों बरन लीन्ह संग लाई। चिता स्वानि लीन्ह डोरियाई ।।
जेहि बन दंती करहिं चिकारा। तहवाँ मौं सब करहिं पुकारा ।।
पर्वत स्रिंग चढ़े सब धाई। कहत पुकारत जंतु पराई ।।
छोड़ा सो नहा लीन्ह गोह नाई। मारा सावज अगनि न सिराई ।।

दोहा—सब केहु लीन्हा सावज, गये लोग गृह माहिं।
रितुवर्न बनबन झला, बैठि नींबि की छाहिं ।।२३।।

खन एक माह उठा अकुताई। कोस पाँच गो अधिक भुलाई ।।
तहवाँ देखा बन अँधियारा। अँधकाल बन अगम पहारा ।।
देखौं जंतु तहाँ लेहिं श्वासा। तेहि उर लागि न भूषि पियासा ।।
दह दिसि हेरत अकनव जाई। कल्पवृक्ष देखा तेहि ठाईं ।।
तीस कोस सेहि ता करि डारा। ऊपर ऊँच उए जहँ तारा

दोहा—ऐस बृक्ष महि मंडल, कबहुँ सुना नहिं कान।
रितुवर्न तहाँ चितवै, कर लीन्हे धनु बान॥२४॥

फोरि फोरि हेरै पेड़ के पासा। चढ़ा तुरति सो गयो अकासा॥
पलव डार भइ बइसा जाई। देस भूमि चितवै चित लाई॥
चितवै पूर्व दिसा बन माहाँ। सरवर एक देख अवगाहा॥
तहवाँ कन्या करहिं धमारी। एक चिन्त करि रहा निहारी॥
देखत मोह ताहि तब आई। परत डारि धरि रहा समाई॥

दोहा—करहिं मनोहर कन्या, ग्रीवर एक एक हार।
हाँथ फूल कर गेंडुवा, एकहि एक बोसारि॥२५॥

रितुवर्न मन कहै बिचारी। अते रूप नहिं देखा नारी॥
अते रूप हम सीता देखी। एकर भाव न जाइ बिलेखी॥
की तप करै कि नारी आई। की पंचारी रही छपाई॥
की देवन्ह की कन्या होई। की चंदावती राधा सोई॥
की मंदोदरी कुन्ती आही। अधिक रूप एकर सब चाही॥

दोहा—त्रिभुवन की नारी जत, सब कुरूप एहि पाय।
ऐसिन रानी जाहि घर, धन्य पुरुष जग माँहि॥२६॥

मन डोला तब कन्यहु केरा। छाँड़ि खेल तब बहु दिस हेरा॥
एक सखी देख पल्लव डारा। चकित ह्वै कै सबन्ह निहारा॥
एक सखी कह मोहिं अस भावा। रामचन्द्र जनु देखन आवा॥
की ब्रह्मा हरिहर की माया। की हनुमन्त भिभीषन आया॥
एइ हमारी देख सरीरा। चलहु सखिउ आगम गंभीरा॥

दोहा—एक चित हमें चितवै, जस जोगी चित जोग।
धर्म न जानेसि पापी, कहसि कौन तैं लोग॥२७॥

जस ब्राह्मण कै ब्रती कढ़ाए। जस पोथरी कर भाट जिताये॥
करइ विस्वास बो रहै छिपाई। जोबन बाठा देह लगाई

जो नर तौल नाप दे घाटी। फरत आम जो डारे काटी ॥
सरन काटि के जो नर देई। आन क सर्व(स) आपु हर लेई ॥
भाइ भाइ सो विग्र लरावै। पर तिरिया से रंग बढ़ावै ॥

दोहा—ऐसन पाप ताहि के, पर दारा नग्न निहार।
तैं कबहूँ नाहिन सुने, गुरु सों ज्ञान विचार ॥२८॥

पापी बात कहौं का तोहीं। आपन कष्ट कहेसि ना मोहीं ॥
बाघ सिंह डर चढेसि रूखा। तस आपन कहु सो सैं दूषा ॥
की तै भूलि परे सिव आनन्त माहीं। की बाउर चढ़ेसि बौराई ॥
जस पातक होइ म दिस जारे। जस पातक होइ गाइ के मारे ॥
ऐसिन पाप तो कहँ होयखें। कपट रूप परतिरिया देखे ॥

दोहा—उतरु चोख तैं पापी, अपने घर तै जाहि।
दारुन श्राप देउँ तोहिं, जो हो रिस हम पाहि ॥२९॥

अधिकउ हेरइ मन चित लाई। अंबर लेइगा पवन उड़ाई ॥
तब कन्या पहुँची जल धाई। श्राप एक दिहु सवन कोहाई ॥
कुष्टी होस महा तैं पापी। दुख जे जाल होहि संतापी ॥
एक निमिखि भोए बियानी। धनुही पसो नरन बहु पानी ॥
पाप कही जल मेदिनि माहाँ। सबै पाप पापी तोहिं पाहाँ ॥

दोहा—ऐसन फल सो पावै, कहे सखा मन लाइ।
नग्न नारि जो देखै, सो नर नर्कहिं जाइ ॥३०॥

ब्याधि अंग ब्यापित सब गाता। निमिषि एक मोपर अविघाता ॥
थेघल क्रमि हाँथ गो टूटी। सब ही अंग पीब बहे फूटी ॥
अत बड़ कष्ट कहा नहिं जाई। खन उठै खन परै मुरछाई ॥
समुझै सुख औ घर ही नारी। समुझै राज पाट सब झारी ॥
तन भो ताकर विकल बिसेषा। कहु कासों घर पठवौं संदेसा ॥

दोहा—गरू कष्ठ भौ ता के, रहे रहकि तहाँ सोई।
दगधि बरै तन भीतर धन धन उटठै रोई ॥३१

रोवै व्याधी बहुत पुकारी। छोहन्ह बिछरोवै सब झारी ॥
बाघ सिंह रोवत बन माहीं। रोवत पंषी बहुत अनाहीं ॥
जन्तु अनेक सब रोवैं आई। रोवत बानर ह्रिदय ठठाई ॥
रोवहिं मृगी बन बालक छोड़ी। सुन कन्या तहँ देखन दौड़ी ॥
कहा व्याधि तैं अवगुन कीन्हा। गरू श्राप तैं मोकहँ दीन्हा ॥

दोहा—बिषम बियापत काय आ, परा बिषम सर भार ॥
अब देउँ कह रे कन्या, कहिआ सीछ हमार ॥३२॥

चन्द्र उदय कै कन्या आही। जो तैं जाइ बिवाहस ताही ॥
तोहि आमोछ परम गति होई। अंतर नीक करै नहिं कोई ॥
कह व्याधी मोहिं चलै न जाई। अजगुत बात कहै चित लाई ॥
माथे लेइ बहुत कै भारा। अवर पारि को निभजै पारा ॥
लिखा होइहि तो मिलहै आई। बिधि परपंच जानि नहिं जाई ॥

दोहा—जाहु कन्या तुह सरवर, खेलहु जाइ धमार।
बिधि वियोग जेहि दीन्हा सो, मोरि करहि गोहार ॥३३॥

अस सुनि कन्या सरवर आई। व्याधी तहाँ परा मुरछाई ॥
बहुत गंध व्याधी तन होई। बाघ सिंह तेहिं खाइ न कोई ॥
चन्द उदै पुहमी पति राऊ। खेलत अहेर ताहि बन आऊ ॥
परी गंधि राजा की नाका। राजा सहित महथ मुँह ढाका ॥
व्याधी गंधि सकल बन बेधा। राजै कहा करिय असमेधा ॥

दोहा—चलहु महथ घर जाइये, दीजै दछिणा दान।
नेम धर्म करि गई चितउ, सुनिये बेद पुरान ॥३४॥

महिथ कहा भल बोलु गुसाईं। चलहु चोष घर घोर कुदाई ॥
सन्ध्या बरे भई नरनाहा। बाघ सिंह छोड़ा बन माहाँ ॥
तुरुक नाके रचित नाना। ठोकि तुरंग गये सनधाना ॥
नगर समीप जो मिला अहेरा। मरजादा देख सावज केरा ॥
बेकत राजा छर चलि जाई उतरि तुरंग वद्रस सुताई ।

दोहा—तेहि छन बिप्र बोलावा, कुण्ड खनाय सवार।
होम जाप करि राजा, दीन्ह दच्छिना झारि ॥३५॥

गंधि लागि देहि राजै दाना। गंधि लागि सुन बेद पुराना ॥
द्रव्य दान बिप्रन कहँ दीन्हा। आदर करि तब विदा कीन्हा ॥
नेम धर्म सब कीन्ह अचारा। ता पाछे वइसे जेवनारा ॥
चौका ऊपर गे बैठ भुआरा। कन्या बिना न करै अहारा ॥
दूत एक तब पठवा धाई। सत्यवती गै आन बुलाई ॥

दोहा—सुनि के दूत चौंक गा, कन्या भेंटी जाइ।
कहै दूत सुनु कन्या, राजा अन्न न खाइ ॥३६॥

सुनुसि दूत तोहि कहौं बुझाई। नाजहु पुजऊँ बाल कन्हाई ॥
नाजहु पुजऊँ देव गनेसा। नाजहु पुजऊँ सक्ति महेसा ॥
नाजहु ब्रह्म चरन लै धरऊँ। नाजहु ज्ञान ध्यान महं धरऊँ ॥
नाजहु पुजऊँ विट्ठल देवा। नाजहु करहूँ जोति कै सेवा ॥
नाजहु सरवर निम जो जाई। नाजहु अरघ देहु चित लाई ॥

दोहा—इतना देउ बिन पूजै, कैसे मैं घर जाऊँ।
बिनती कहब मोरि गै, राजा अन्न जे खाई ॥३७॥

अस सुनि बचन गये घर दूता। राजा आगे सब कहा निरूता ॥
नाजहु शंकर पूजा करऊ। नाजहु ज्ञान ध्यान चित धरऊ ॥
अस सुनि राउ मनहिं बिलखाना। अज्ञा भंग कहसि मतिमाना ॥
कहौं दूत तोहिं अरथ बखानी। का पूजै देहु सागर ग्यानी ॥
का पषान पूजत सब कोऊ। मात पिता जस हरि हर देऊ ॥

दोहा—जाहु दूत तू चोखे, जहँ वह कन्या आहि।
बनखंड है जो ब्याधी, कन्या सौंपहु ताहि ॥३८॥

गए दूत कन्या के पासा। बात कहैं चित उर धरि साँसा ॥
जो तुह कहा कहा मन लाई। तुह सों राजा बहुत रिसाई ॥

तुह तो बचन राय कइ बोली । अब आउह बनखंड अकेली ॥
तोसों कहौं एक निज मंता । सौपौं तोहिं जहाँ तोर कंता ॥
नाहीं नाक बिधाता कीन्हा । तुह अस सुन्दर बनखंड दीन्हा ॥

दोहा—आपन कर्म सब भजु, जो विध लिखा लिलार ।
जनु दुख छाँड़हु कन्या, सेवहु ब्याध भतार ॥३९॥

कन्या बचन दूत कर जोवा । सुनत संदेस नयन भरि रोवा ॥
ता पाछे कहु आन्वर भारी । कहेउ तात मातहिं एक बारी ॥
जत बाटै कुटुम्ब परिवारा । कहेउ असीस मोरि पति हारा ॥
बरजेहु पितहिं मरै जनि रोई । जनु बैरागी दुर्बल होई ॥
बालक बेदन माय पै जाना । सुख मोके दुख सहा अपाना ॥

दोहा—पंथ दुरंतर भेया, घर गवनब तू चोख ।
कंत पास जाती हो, कहत लागु जनि दोष ॥४०॥

नीबि डारि एक लीन्हा तोरी । ब्याधी पास चली कर जोरी ॥
झरै नीर तब दूनों आँखी । या सब रसिक रौहा कई माछी ॥
ब्याधी उलट देख तब नारी । गछ गछ तैं कन्या सुकुमारी ॥
मै ब्याधी ब्यापित मोर अंगा । तै निर्मल जस पटतर गंगा ॥
तोरी श्राप भयो अस हाला । कष्ट अनेकन दुख जंजाला ॥

दोहा—ऐसेन मैसे तापी, कहौ दुःख अब काहि ।
बाघ सिंह तोहि खाइहैं, कन्या तैं घर जाहि ॥४१॥

तोहि छाँड़ि अब मैं कित जाऊँ । माई बाप सौ पातु उठाऊँ ॥
मैं आज्ञा पर दास तोहारी । ....॥
जस ब्रह्मा हरि हर गुर देवा । आज्ञा मानि करौं तुव सेवा ॥
अहि निसि चंदन फूल चढ़ावौं । तो मैं बालसती कहँलावौं ॥
अंवत फल मैं आनि खिलाऊँ । सीतल जल तुव आनि पियाऊँ ॥

दोहा—चौदह वर्ष बृक्ष तर, रहते साग अधार ।
जीव की नाई सेवौ कन्या करइ सुसार । ४२

अह निसि कष्ट दुअहु के अंगा। मस माछी तन खाइ पतंगा॥
बाघ भालु तहँ देत चिकारा। चहुँ दिसि फेकरइ बहुत सियारा॥
बरखै जलधर बहै बतासा। चमकत बिजुली ठमकु अकासा॥
गरजै सघन रात अँधियारी। देखि भयावन तरसै नारी॥
कोटिन बूँद परै तनु गाता। बोठा डासन बन कर पाता॥

दोहा—बिनती मोर कंत सुनु, तजउ ठाउँ नरनाहु।
बहुत कष्ट भे तिन्ह को, कह ईसर मन माहु॥४३॥

सुनसि कंत तैं कहा हमारा। काल्हि गयउँ मैं पर्वत पारा॥
प्रभावति तीरथ देख अवगाहा। सबहि देवता आछहि ताहा॥
इन्द्र कन्या तहँ करहि धमारी। तहाँ अनेक रिषीश्वर झारी॥
होम जाप तहँ संकलप होई। गन गंधरब गावहि सब कोई॥
शंख ताल बाजै दिन राती। करैं मनोहर बहु विधि भाँती॥

दोहा—ब्रह्मा सहित किन्नर, सुनहि वेद पुरान।
चलहु कंत संग मोरे, करि आई अस्नान॥४४॥

कहा ब्याधि मैं चलैं न पारौं। कैसे तीरथ जाइ अवधारौं॥
पेट पीठ मोरि रहलि सुखाई। चरन खाँगि मोहि चलो न जाई॥
नैन हीन मैं पंथ न चीन्हा। भीतर अंग ब्याधि घर कीन्हा॥
भीतर मोर कलेज सुखाना। अब तब हंस जे करहि पयाना॥
परेउ भयावन ओ घट घाटा। बहुत कष्ट कन्या मोहि बाटा॥

दोहा—तैं लै तीरथ करावसि, करसि नर्क उद्धार।
सत्यबती सत्य देखाउ, कीर्ति रहै संसार॥४५॥

मनसि तीर्थ लै चली उठाई। काँधे ऊपर तब लीन्ह बैठाई॥
चित्र विचित्र कहा नहि जाई। बोखै का धरे कुरि की नाई॥
तीजे पहर लेहि गौवन माँझा। तीरथ पास परिगो साँझा॥
मडप रिषी सुरी चढ़ि बैसा। देउर ऊपर कलस सोभै जैसा॥

टिकुरी मारग सीकी सुहाई। तेहि ते राखा सुरिरी चढ़ाई ॥
ऐसन तप सो करै बिसेसा। चलत पंथ तिन्ह लागी ठेसा ॥

दोहा—कवन जाति तै पापी, तै मोरे बल ज्ञान।
बहुत क्रोध करि श्रापा, तोर निकसैं प्रान बिहान ॥४६॥

जो मैं सती ज्ञान गुनवंती। तीन भुवन होखै निजु राती ॥
सत्य सुकृत जो बाट सरीरा। होखौ रजनी अगम गंभीरा ॥
रजनी गत जो होइ बिहाना। संकर ऊपर तजौं मैं प्राना ॥
सत्तहु ते भयऊ अँधियारा। सूझै स्वर्ग न श्रीतु पताला ॥
परम जोति जहँ करै बसेरा। तहँ बहु परिगा धुन्ध कुहेरा ॥

दोहा—ऐसब सत तेइ उंटवा, रहेउ धर्म संसार।
तैंतिस कोटि देवता, सब के भा अँधियार ॥४७॥

स्वर्ग लोक ब्रह्मा कर थाना। बैसे देव और परधाना ॥
छन एक अनुमति कीन बिचारी। चले तहाँ जहँ सती कुमारी ॥
ब्रह्मा सहित चले त्रिपुरारी। गन गंधरब किन्नर चले झारी ॥
गिरजा सहित चले त्रिपुरारी। औरौ देव चले सब झारी ॥
नारद सहित बरह्मा आए। गन गंधरब हिमवंत सिधाए ॥

दोहा—चाँद सर्प तारा गन, और और सब झार।
अंधकाल कीन्ह कहु काहे, कन्या कहो विचार ॥४८॥

जहँ वारिष पर है तप साधी। ताहि पंथ लेइ आयहु ब्याधी ॥
अंग भीरि गा तिनहिं गुसाईं। मैं नहिं जानौं धर्म दोहाई ॥
पुरुष मरं रे दीन्हा श्रापा। सो सुनि मोरा हिरदय काँपा ॥
रिषि बोला दीन्ह होषौ माना। मैं बोला जिनि होउ बिहाना ॥
अब तौ पलटा भाग्य हमारा। जब देखा हरि चरन तिहारा ॥

दोहा—सब देवता बैठहु, सुयस एक अब लेहु।
कुष्टी कंत मोर है, सो सुन्दर करि देहु ४९।

कैलासन करवाल मुरारी। तो तैं सती सत्य बर नारी ॥
जाकर पुरुष नयन कर अन्धा। कुष्ठी कुबज औ दाउर बंधा ॥
बाट न सूझ चरन कर पंगा। भुअवर हीन रोग जेहि अंगा ॥
ऐसन कन्त जाहि कर होई। सेवा करै सती जग सोई ॥
नीक सुन्दर के नहि सेवै। अपना के जो सती कहावै ॥

दोहा—महा सती तो सीता, तेहि पटतर मति तोर।
फेरु अधार नीक करु, कहाँ राखु चित मोर ॥५०॥

जो मैं सती जाइ अँधियारा। होइ बिहान सकल संसारा ॥
हरषे ब्रह्मा संभु मुरारी। ईश्वर दास कबि सरन तिहारी ॥
तब व्याधहि कराइ अस्नाना। भा कुवाँर जस बारहु आना ॥
गो पातक जरि कै भौ छाया। अति स्वरूप निर्मल भो काया ॥
कुवँर देखि हरषी तब नारी। हरषित सबै देवता झारी ॥

दोहा—तैंतिस कोटि देवता, सब के भयेउ उछाह।
जे मुनि लगन निरूपा, भो दुलहुन का ब्याह ॥५१॥

ब्रह्म दण्ड तहँ खंभ गड़ावा। तरुबाधो तिन्ह माडव लावा ॥
बालू कर तहँ चौक पुरावा। श्रावन एक घरी वरिवावा ॥
कलस कमंडल भरि धर पानी। दिआ साज धरा लहँ आनी ॥
कुवर कुवरि के रोचन लगावा। पारबती उठ मंगल गावा ॥
कीन्ह नहावन वर औ नारी। पहिर पटंबर दीन्हा झारी ॥

दोहा—बर कन्या बैसवा लइ, चौक उपर तब आनि।
कैसो अस्तुति बजै मुनि, कर्म कीन्ह मन जानि ॥५२॥

सब देवता बैसे बरिआती। ब्रह्मा बिष्णु बइस बहु भाँती ॥
वर कन्या सों कलस पुजावा। देवन तहवाँ संख बजावा ॥
जे मुनि बैसल वेद मनावहिं। व्यास परासर वेद पढ़ावहिं ॥
रितुवर्न मन भयउ उछाहा। सेन्दुर बन्दन भो तब ब्याहा ॥
मंत्र बोलि कर गाँठि जोराई चिरंजीव कइ आशिष पाई

दोहा—ऐसो भाँति देवतन्ह, दुनहुन का कीन्हा ब्याह ।
नर्क जात हरि राखा, कहि ईश्वर मन माँह ।।५३।।

करि बिवाह प्रभु दाइज दीन्हा । लक्ष टका कर संकलप कीन्हा ।।
जंटी तीर्थ औ बहुत अनंता ।..................।।
लाख गायें अरु भइसि हजारा । दुइ सौ दीन्हा निकट दुओरा ।।
सोन रूप देइ अरसठ भारा । हीरा मोति गनइ को पारा ।।
वेदन गिरिन हुलाखेड गाँऊ । जैसन इन्द्र स्वर्ग कर राऊ ।।

दोहा—जाहु तुरत घर आपने, ई सब लेहु गिनाइ ।
बहुत दुःख तुम देखा, अब सुख भोगहु जाइ ।।५४।।

कह कन्या केसव से बाता । तुम हम कहँ दीन्हा अहिबाता ।।
चन्द्र उदय के जनिमउ बसा । तुम मोरी ईछा पुरई आसा ।।
जा कहँ परसन हों रघुराया । देव लोक ताके कर माया ।।
जाके कुमाया करहु गोसाईं । सो तो सदा नर्क महँ जाईं ।।
तब नारायन दिआ जै मारा । हरषित भो तब नारी कुमारा ।।

दोहा—तत षन बिदा कराइ सब, चौथे कीन पयान ।
तैंतिस कोटि देवता, गये स्वर्ग अस्थान ।।५५।।

बदे नगर दिन दुइ महँ आये । पैठत नगर सगुन भल पाये ।।
हाट हाट गोसींह दुआरा । पाटेउ परिगै बैस भुआरा ।।
जननी पिता भेंटु तब जाईं । दौरि दौरि ग्रिव लागे धाईं ।।
जन परिजन पाव तर पारा । हाँथ इष्ट गहि अंक मँह धारा ।।
समदि लोग घर कैसे जाईं । सत्यवती लेइ रानी भेंटाईं ।।

दोहा—उहवाँ गावहिं युवती, करहिं मनोहर बार ।
सभा पुरी तहाँ वैसे, भाइन सहित भुआर ।।५६।।

षन एक वैसा दिया आना । कर उठाइ सब ही देहु पाना ।।
कहें कबित जो भाट सुनावा । जो मनसा भो सो फल पावा ।।

सब कर बिदा कीन्ह अस्थाना। बिसरे जन कहँ दीहों दाना ।।
ता पाछे बइसे जेवनारा। भोजन करि तब उठा भुआरा ।।
पान लेइ तब मंदिर जाई। सत्यवती आछै जेहि ठाई ।।

दोहा—सत्यवती औ कुँवर दोउ, पाए सुख औ राज।
पुन्य कथा जे यह सुनै, ताकर हो सिद्धि काज ।।५७।।

सत्यवती कथा सुनै मन लाई। महा पाप ताकर खो जाई ।।
जेहि सुने चित उपजै ज्ञाना। जानहु सुना सो वेद पुराना ।।
द्रव्य दान बिप्रन कहँ दीन्हा। आदर करि तब बिदा कीन्हा ।।
नेम धर्म सब कीन्ह अचारा। जनु दर्सन भा देव गोपारा ।।
सबै तीर्थ कीन्हा अस्नाना। कीन्ह तीर्थ अरु दीन्हा दाना ।।

दोहा—सहस्त्र नाम जो सुनै, कहत कथा फल पाउ।
कोटि तीर्थ जनु कीन्हा, इसरदास कबि गाउ ।।५८।।

इति श्री सत्यवतीकथा समाप्त ।। लिखितं आधार

हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा है

[रावराजा रायबहादुर पंडित श्यामबिहारी मिश्र और रायबहादुर पंडित शुकदेव बिहारी मिश्र]

इस विषय पर विचार करने के पूर्व भारतीय प्रांतों की १९३१ वाली जनसंख्या जान लेना आवश्यक है। इन का विभाजन हिंदी-भाषी तथा इतर प्रांतों पर किया जाता है। भारत की पूरी जनसंख्या १९३१ की गणना में ३५,२९,८६,८७६ थी। इस में से देशी रियासतों की संख्या ८ करोड से कुछ अधिक है।

(१)

हिंदी-भाषी प्रांत

नाम प्रांत	१९३१ की जनसंख्या
युक्तप्रांत	४,८४,०८,७६३
बिहार-उड़ीसा	३,७६,७६,५७६
पंजाब	२,३५,८०,८५२
मध्यप्रांत-बरार	१,५५,०७,७२३
दिल्ली प्रात	६,३६,२४६
अजमेर-मरवारा	५,६०,२९२
हिंदी रियासतें (प्रायः)	५,००,००,०००
जोड़	१७,६३,७०,४५२

(२)

अहिंदी-भाषी प्रांत

नाम प्रांत	१९३१ की जनसंख्या
बंगाल	५,०१,२२,५५०
मदरास	४,६५,७५,६७०
बंबई-सिंध	२,१८,५४,८४१
कुर्ग	१,६३,३२७
पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत	२४,२५,०७६
बलूचिस्तान	४,६३,५०८
आसाम	८६,२२,२५१
बर्मा	१,४६,४५,९६९
अहिंदी-भाषी रियासतें (प्रायः)	३,००,००,०००
जोड़	१७,४८,७२,९९२

इन तालिकाओं से प्रकट है कि दोनों भागों की जन-संख्याएँ प्राय. समान हैं, किंतु एक मे एक भाषा है, और दूसरे मे प्रायः सात भाषाएँ हैं। दिल्ली, युक्तप्रांत, बिहार, और मध्य-प्रात एवं मध्यभारत के भाग हिंदी के केंद्र है, तथा पंजाब, राजपूताना, और काश्मीर इस के वहिरंग प्रांत हैं, जहाँ हिंदी का ही प्रचार है। अंतरंग और वहिरंग प्रांतों में बोली का थोड़ा-सा भेद अवश्य है, किंतु वहिरंग प्रांतों में भी हिंदी ऐसी दृढ है कि वहाँ के लोग अपने प्रांतों को हिंदी के लिए बाहरी कहा जाना पसंद न करेंगे। भाषा ग्राम-ग्राम प्रति कुछ-कुछ बदलती चलती है, और प्रांतों में यह भेद बहुत कुछ बढ़ा हुआ देख पड़ता है, किंतु हिंदीपन में कोई सदेह का नाम नहीं है। ग्राम्य और नागर भाषाओं में भी बहुत कुछ अंतर होता है, किंतु हिंदीपन सब कहीं वर्तमान है। सभी देशों की प्रांतिक आदि भाषाओं में ऐसे अंतर होते

भी हैं। जिला लखनऊ और हरदोई की ग्राम्य भाषाओं के दो उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं।

(१)

जिला लखनऊ में इटौंजा महोना की साधारणी भाषा:—

कालि्ह रामलीला क म्याला द्याखै गैन, तउ भाई ऐसि चकल्लस भइ कि तबेति फड़कि उठी। एकु घोड़ौना बिगरि क अइसी वइसी दौरह लाग, अउ सहिसऊ लाख लाख सँभारै क पछियान, मुल उ हाथे न आवा। जेत्ते मेलहरी रहइँ, सब अइसी वइसी भागति घूमे। कोई आधु घंटा में कौनिउ जतन ते पकरा ग।

(२)

जिला हरदोई में भगवंतनगर मल्लावाँ की भाषा:—

कलि्ह रामलीला को मेला देखिबे क गैनु, तउ भाई ऐसी चकल्लस भई कि तबियति फड़कि उठी। एकु घोड़ बिगरि उठो, अउ हियाँ हुवाँ दउरन लगो। वहि को सहीसु सँभरिबे क लाखु लाखु पछियानो, मुलउ हाथ न आवो। जितने मेलहरी हते, सब हियाँ हुवाँ भगति फिरे। कोई आधे घंटा में बड़ी जुगुति ते पकरो गओ।

साधारण लोग दूसरे-दूसरे ग्रामों की भाषाएँ बोल नहीं सकते, किंतु समझ सुगमता-पूर्वक लेते हैं। यह अंतर प्रांतों में अधिक बढ़ जाता है। यहाँ तक कि साधारण लोगों की बोली पूर्णतया समझने में कुछ कठिनता पड़ने लगती है। फिर भी भावार्थ सुगमता-पूर्वक ज्ञात हो ही जाता है।

(३)

बुंदेलखंड की भाषा:—

दीन बंद! अपुन से कैसी बिनती करौं, आजु कलि्ह मोरी कछू अइसी ग्रह दसा लगी है कि कछू कहत सुनत नहीं बन्त। यही सोचत आउँ कि अक्ताँ (भविष्य में) मोरो इतै कइसे गुजर भवो जात है। मइँ तउ अपुन कि किरपा ते बहुत साजो हउँ, सुलउ मोरे डोकर बहुत लरम परि गये हैं, बहुतै टूटि आये हैं। अथये खाट पर परति हइँ तउ अँधियारी लउँ उठिबे को मनु नाइँ कत्त। उतै गरीब परवर ते उजुर करन गओ, त कुछू सुनवाई न भई। मइँ तउ बिनती बानती कत्त रहो, उतै वइ चका मसकि भौनि अउ देखत देखत जात रहे।

यहाँ डोकरा बुड्ढे को कहते हैं और वहाँ पिता को डोकर बोलते हैं। चाहे बीस ही वर्ष

की अवस्था में किसी के पुत्र हो जावे, तो भी वह उस का डोकर है। 'आत रहे' यहाँ मर जाने को कहते हैं, और वहाँ चले जाने को। फिर भी थोड़े से ध्यान देने से भावार्थ समझ पड जाता है और कुछ ही अभ्यास से अक्षरार्थ भी। हाँ, जब असभ्य ग्रामीण शीघ्रता-पूर्वक कुछ कहने लगते हैं और कथनों के साथ अज्ञात कथा और रोना-गाना भी मिलाते जाते हैं, तब भावार्थ पकड़ पाने में भी कठिनाई पड़ जाती है। लखनऊ से जितना पूर्व की ओर चलते जाइए साधारण भाषा तक में उतना ही संस्कृत-पन मिलता जाता है, और इसी प्रकार पश्चिम की ओर जाने से उस में अरबी-फ़ारसीपन बढ़ता जाता है। पंजाब की भाषा में नू आदि शब्द तो मिले रहते हैं, किंतु समझने में अड़चन नही पड़ती। बिहार में प्रायः कुछ भी गड़बड़ी नहीं आती। पश्चिमी युक्तप्रांत में ब्रजभाषा का प्राधान्य है। यही दशा बुंदेलखंड तक चली गई है। उधर रीवाँ, छत्तीसगढ़ आदि में बैसवाडी-पन मिलता है। पूर्वी राजपूताना में युक्तप्रांतीय हिंदी का आभास है, तथा पश्चिमी मे गुजरातीपन का। वहाँ के ग्रामीणों की साधारणी भाषा समझना कठिन होता है। एक वार जैपुर में एक ग्रामीण नौकर ने मुझ से स्नान करने के विषय में पूछना चाहा कि पानी अभी लावें या कुछ ठहर कर। इस साधारण प्रयोजन को भी वह मुझे न समझा सका। कई प्रकार से उसने इशारों से भी बतलाया, किंतु असफल रहा। फिर भी मेरी बोली का भावार्थ वह जान लेता था। उड़ीसा में भाषा हिंदी और बँगला दोनों से मिलती समझ पडती है। जगन्नाथपुरी में मैं वहाँ के साधारण निवासियों तक की बोली सुगमता-पूर्वक समझ सका। उज्जैन, इंदौर, जब्बलपुर, हैदराबाद दखिन, अजंता, इलोरा आदि में कोई कठिनता न पड़ी। हिंदी और उर्दू में कोई वास्तविक अंतर नहीं है। साधारण जनता की हिंदी और उर्दू एक ही है। विद्वानों में कुछ हिंदू हिंदी में संस्कृतपन ठूँसने लगते हैं तथा कुछ उर्दू-दाँ अरबी और फ़ारसी। इन्ही कारणों से कुछ विद्वानों के हाथों में हिंदी और उर्दू पृथक् भाषाएँ सी देख पड़ने लगती हैं और साधारण जनता उन भाषाओं को समझ भी नहीं पाती। वास्तव में हैं दोनों एक ही।

अब जनता-संबंधी विचारों पर हम फिर से आते हैं। ऊपर देखा जा चुका है कि हिंदी और अहिंदी-भाषी भारतीय जन-संख्या प्रायः सत्रह-सत्रह करोड़ है। अहिंदी प्रांतो में वर्मा की भाषा भारतीय से पृथक् होने से उस प्रांत की प्रायः डेढ़ करोड़ जनता गणना से निकल जाती है सीमाप्रात में हिंदी कुछ पश्तो से सबद्ध ह किंतु समझ में

थोड़ी बहुत आ ही जाती है। यही दशा काश्मीर की है। एक बार वहाँ हम ने दक्खिन कहा, तो लोग समझ न सके और सोच साच कर जब जनूब कहा तो समझ कर बोले कि "सेठ! सीधा सीधा जनूब क्यों नहीं कहता? दक्खन दक्खन क्या बोलता है?" काश्मीर और पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत में भाषा-संबंधी कोई विशेष दिक्कत न पड़ी। बंबई-प्रात की जो प्राय: सवा दो करोड़ जनता है वह अर्द्ध हिंदी-भाषी है। वहाँ भी भाषा-संबंधी अडचन नही पड़ती। हमारे नौकर ने एक बार दूकानदार से आलू का भाव पूछा तो वह बोला कि आलू नहीं है। नौकर ने दूकान पर रक्खे आलू की ओर इशारा कर के बतलाया कि रक्खे तो हो, तो दूकानदार बोला, "अरे बटेटा क्यों नहीं कहता? आलू आलू क्या बोलता है?" अनार माँगने पर न समझा और दाड़िम समझ गया। हम ने एक बार अपने एक महाराष्ट्र मित्र से महाराष्ट्री भाषा का एक उपन्यास सुना, तो थोड़ा सा मतलब जान कर समझने में असंभवनीयता न पाई। मित्र बोले कि माहाराष्ट्री का थोड़ा ही सा अडाका है। कुछ ध्यान-पूर्वक सुनने और थोड़ा सा जान लेने से समझ में आ जाती है। बहुतेरे महाराष्ट्रीय सज्जन श्रेष्ट हिंदी-लेखक हैं। उन को हिंदी समझने में बहुत ही सुगमता पडती है। गुजराती का इस से भी सुगम हाल है। इन्हीं दिनों महाराष्ट्री के सम्मेलन में मुक्त कंठ से हिंदी राष्ट्रभाषा मानी गई है। भूषण कवि का सब से बड़ा मान छत्रपति शिवाजी के दरबार में हुआ। छत्रपति के पूज्य पिता साहजी के दरबार में ४० हिंदी के कवि थे। बीजापुर और गोलकुंडा के कई बादशाह हिंदी और उर्दू के कवि थे। इन बातो से प्रकट है कि महाराष्ट्र प्रांत में हिंदी सुगमता पूर्वक समझी जा सकती है। पोरा, पोरगा, बोवा, भामटे आदि थोड़े से शब्द जान लेने से महाराष्ट्री का भावार्थ मिलने लगता है।

अधिकतर कठिनता उच्चारण मात्र की है। यदि देवनागरी के अक्षरों में महाराष्ट्री, गुजराती, बँगला आदि लिखी जावें, जैसा कि प्रसिद्ध 'देवनागर' पत्र में होता था, तो कठिनता बहुत कम हो जावे। आसाम के एक सज्जन मुझ से जगन्नाथपुरी में मिले, तो मेरे कथन वे आधे-पर्धे समझ लेते थे, तथा कुछ वाक्यों और कुछ इशारों के सहारे मैं भी उन के साधारण भाव रुपए में चार पाँच आने जान लेता था। कलकत्ते मे एक बंगाली नाई बाल बनाते हुए बोला कि "ओखरै ना?" पहले तो समझ में न आया कि 'ओखरै' क्या वस्तु है? किंतु पीछे जान पड़ा कि 'अखरै' को गोल कर के 'ओखरै' कह रहा है। इस प्रकार यद्यपि बगला और महाराष्ट्री बोलने वाले आपस में एक दूसरे की बात बिल्कुल न समझ सकेंगे

तथापि हिंदी-भाषी उन दोनों की कुछ कुछ बातें समझ लेगा और वे उस के कथन और भी अधिक समझ लेंगे। अतएव हिंदी बर्मी और मदरासी छोड़ प्रायः सभी अन्य भारतीय भाषाओं का राजीनामा है। केवल मदरास की भाषाओं में बुद्धि काम नहीं देती। सब से बड़े भाई साहब एक बार स्वास्थ्यलाभ को कुछ मास वाल्टेर में रहे थे तो सौदा ख़रीदने आदि में पूरी अड़चन पड़ती थी। लोगों की बात समझ में बिलकुल ही नहीं आती थी। तरकारी बेचने वालों की थोड़ी सी तरकारी अलग कर के पैसे दिखलाए जा कर सौदा होता था। जब उन लोगों से बाहर जाने को कहना हो तो भी न समझते थे और जब नौकर उन्हें पकड़ कर बाहर ढकेल आता था तब जानते थे, अब बातें समाप्त हो गईं। मुसलमानों से वहाँ भी सुगमता पूर्वक बातें होती थीं, क्यों कि वे उर्दू में बातें कर सकते थे। मदरास प्रांत में एक छोड़ चार भाषाएँ हैं और उन के बोलने वाले भी एक दूसरे की बात नहीं समझते। वहाँ भाषा-संबंधी बड़ी ही गड़बड़ी है। इसे मेटने को हिंदी साहित्य-सम्मेलन के प्रोत्साहन से स्वयं मदरासी लोग वहाँ हिंदी भाषा का प्रचार कर रहे हैं। बहुत सी हिंदी की पाठशालाएँ स्थापित हो चुकी हैं अथवा हज़ारों लोग हिंदी भाषा सीख चुके हैं तथा सीखते जाते हैं। आसाम में भी हिंदी-प्रचार बढ़ रहा है। अतएव बर्मा को छोड़ देने से बंबई, गुजरात, हैदराबाद आदि अर्द्ध-हिंदीदाँ हैं, और बंगाल, माइसोर आदि चतुर्थांश। केवल मदरास के प्रायः साढ़े चार करोड़ लोग हिंदी नहीं समझते, किंतु इस का प्रयत्न वे स्वयं कर रहे हैं। इन कारणों से भारत में सर्व-सम्मति से हिंदी ही राष्ट्रभाषा है। आधे से अधिक भारतीयों की यह मातृभाषा है, तथा शेष जनता इसे आधी-पर्धी समझ लेती है, अथच स्वल्प परिश्रम से इस का प्रचार बढ़ सकता है। देवनागरी लिपि के विषय में यहाँ कुछ नहीं कहा गया है, क्योंकि हमारा वर्तमान विषय भाषा का है, न कि लिपि का। हिंदी-भाषी प्रांत भारत में प्रायः केंद्रस्थ हैं, सो हिंदी का इतर भाषाओं से थोड़ा बहुत संसर्ग रहता ही है। अहिंदी-भाषी प्रांत एक दूसरे से मिलित प्रायः नहीं हैं। इसी लिए उन की भाषाओं का एक दूसरी से संसर्ग बहुत कम है। ऐसी कोई भाषा भारत में नहीं है, जिस के भाषियों की संख्या हिंदी वालों की तिहाई संख्या तक भी पहुँचती हो।

स्वर्गीय लाला सीताराम

इस बात का हमें अत्यंत खेद है कि विगत २ जनवरी, १९३७ को रायबहादुर अवधवासी लाला सीताराम का परलोकवास हो गया। उन के निधन से हिंदी-संसार को भारी क्षति पहुँची है, परंतु उस का अनुभव हमें विशेष रूप से होना स्वाभाविक है। हिंदुस्तानी एकेडेमी के जन्मकाल से ही वह इस से संबद्ध रहे थे, और इस संस्था की उन्हों ने विविध प्रकार से सेवाएँ की हैं। यद्यपि वे कई भाषाओं के प्रगाढ़ विद्वान् थे किंतु उन्हो ने अपने अध्ययन-अनुशीलन तथा अपनी रचनाओं से अधिकांश हिंदी साहित्य की सेवा की है। वे अत्यंत परिश्रमी, अध्ययनशील तथा विद्याव्यसनी थे, और ७८ वर्ष की आयु में भी अपना बहुत-सा समय लिखने पढ़ने में लगाते थे। वे गद्य तथा पद्य दोनों ही के प्रसिद्ध लेखक थे और कविता में अपना नाम 'भूप' लिखा करते थे।

अपने नाम के साथ उन्हें अवधवासी जोड़ना बहुत प्रिय था। कारण यह कि अयोध्या उन की जन्मभूमि है। यहाँ सन् १८५८ में, प्रसिद्ध ग़दर के दूसरे साल, २० जनवरी को उन का जन्म हुआ था। अयोध्या तथा फ़ैजाबाद में उन्हों ने इन्ट्रेंस तक शिक्षा पाई, एफ़० ए० कैनिंग कालिज लखनऊ से पास किया और १८७९ में कलकत्ता यूनिवर्सिटी से बी० ए० की परीक्षा पास की। इसी वर्ष वह बनारस में अध्यापक नियुक्त हुए। फिर सीतापुर, फ़ैजाबाद, कानपुर तथा मेरठ में भी अध्यापन का कार्य करते रहे। कानपुर तथा मेरठ में वह हाई स्कूल के हेडमास्टर रहे थे। इलाहाबाद तथा आगरे में उन्हों ने कुछ काल तक असिस्टेंट इन्सपेक्टर के पद पर भी काम किया। १८९५ में वह डिप्टी कलक्टर हो गए और इस पद पर वह १६ वर्ष तक कार्य करते रहे। १९११ में ३२ साल तक नौकरी करने के पश्चात् अवकाश ग्रहण किया। अपने अंतिम दिनों तक साहित्य-संबंधी कुछ न कुछ कार्य करते रहे

का उन्हें अच्छा ज्ञान था। साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होने पर सर्व-प्रथम उन्हों ने उर्दू में ही लिखना प्रारंभ किया। उन की समस्त रचनाओं की सूची बहुत विस्तृत है। मुख्य कार्यों में कालिदास के काव्यों तथा शेक्सपियर के अनेक नाटकों का अनुवाद है। इस के अतिरिक्त सस्कृत के कई प्रसिद्ध नाटकों के अनुवाद भी आप ने किए है जो कि बहुत लोक-प्रिय सिद्ध हुए हैं। शोध में आप की विशेष अभिरुचि थी और इस संबंध में वाल्मीकि-रामायण में वर्णित भौगोलिक स्थलों पर तथा अयोध्या के इतिहास पर आप का कार्य विशेष रूप से प्रशसनीय है। 'अयोध्या का इतिहास' शीर्षक आप का प्रामाणिक ग्रंथ हिंदुस्तानी एकेडेमी से ही प्रकाशित हुआ है। अंग्रेजी में उन्हों ने सिरोही राज्य का इतिहास भी प्रकाशित कराया था।

लालाजी का एक उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण कार्य कलकत्ता यूनिवर्सिटी के लिए हिंदी के कोर्स का संकलन करना है। इस कार्य को उन्हो ने बड़े परिश्रम तथा लगन के साथ किया था। यह संग्रह अन्य कई यूनिवर्सिटियों की सर्वोच्च परीक्षा के लिए पाठ्यग्रंथों मे निर्धारित है। लालाजी ने गोस्वामी तुलसीदास-कृत अयोध्या कांड के राजापुर की प्रति के अनुसार शोध कर प्रकाशित कराया था।

लाला सीताराम अनेक सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाओं से संबद्ध थे और सरकार तथा जनता दोनों में ही उन का बड़ा मान था। उन का स्वभाव और रहन-सहन बड़ा सरल था। वे बड़े मिलनसार थे और वृद्धावस्था में भी बातचीत करते हुए कभी थकते न थे। वे वैष्णवधर्मावलंबी और सीताराम के अनन्य भक्त तथा रामायण के प्रेमी थे।

हम स्वर्गीय लाला जी के कुटुंब के प्रति हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं।

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ़ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्०। मूल्य १॥)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा। सचित्र। मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा। मूल्य १॥)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी। अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा। मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)। मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी०। सचित्र। मूल्य ६॥)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल। सचित्र। मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास। मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी०। मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य १॥)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्०। सचित्र। मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी। मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०। मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ। मूल्य ३॥) सजिल्द, ३) बिना जिल्द।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा। मूल्य सजिल्द १॥), बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक—मिर्ज़ा अबुल्फ़ज़्ल। मूल्य १।)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)। मूल्य सजिल्द ४), बिना जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना। मूल्य सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए०। मूल्य ४॥) सजिल्द, ४) बिना जिल्द।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जयचद्र विद्यालंकार। मूल्य प्रत्येक भाग का सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी० एस्०। सचित्र। मूल्य बिना जिल्द ६), सजिल्द ६॥)

(२४) प्रेम-दीपिका—महात्मा अक्षर अनन्यकृत। संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य ॥)

नोबेल पुरस्कार-प्राप्त

प्रसिद्ध नाट्यकार

जॉन गाल्सवर्दी

की

चार अमूल्य रचनाएँ

१—न्याय—'जस्टिस' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य २।)

२—हड़ताल—'स्ट्राइफ़' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य २)

३—धोखाधड़ी—'स्किन गेम' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत ललताप्रसाद शुक्ल, एम० ए०। मूल्य १॥)

४—चाँदी की डिबिया—'सिल्वर बॉक्स' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य १॥)

सभी पुस्तकों पर सुंदर सुनहरी कपड़े की मजबूत जिल्दें हैं।

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी

तिमाही पत्रिका

की पहले छ वर्षों की कुछ फ़ाइलें अभी प्राप्त हो सकती हैं। मूल्य पहले वर्ष का ८)
तथा अन्य वर्षों का ५)

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सौर-परिवार

[लेखक—डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०]

आधुनिक ज्योतिष पर अनोखी पुस्तक

७७६ पृष्ठ, ५८७ चित्र

(जिनमें ११ रंगीन हैं)

इस पुस्तक को काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से रेडिचे पदक तथा २००) का छन्नूलाल पारितोषिक मिला है।

"इस ग्रंथ को अपने सामने देख कर हमें जितनी प्रसन्नता हुई उसे हमीं जानते हैं। * * जटिलता आने ही नहीं दी, पर इसके साथ साथ महत्वपूर्ण अंगों को छोड़ा भी नहीं। * * पुस्तक बहुत ही सरल है। विषय रोचक बनाने में डाक्टर गोरखप्रसाद जी कितने सिद्धहस्त हैं, इसको वे तो खूब ही जानते हैं जिनसे आपका परिचय है।

पुस्तक इतनी अच्छी है कि आरंभ कर देने पर बिना समाप्त किए हुए छोड़ना कठिन है।"—सुधा।

"The explanations are lucid, but never, so far as I have seen, lacking in precision. * * I congratulate you on excellent work."

श्री० टी० पी० भास्करन, डाइरेक्टर, निजामिया वेधशाला

मूल्य १२)

प्रकाशक—हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी एकेडेमी के उद्देश

हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्देश हिंदी और उर्दू साहित्य की रक्षा, वृद्धि तथा उन्नति करना है। इस उद्देश की सिद्धि के लिए वह

(क) भिन्न भिन्न विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों पर पुरस्कार देगी।

(ख) पारिश्रमिक देकर या अन्यथा दूसरी भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित करेगी।

(ग) विश्व-विद्यालयों या अन्य साहित्यिक संस्थाओं को रुपए की सहायता देकर मौलिक साहित्य या अनुवादों को प्रकाशित करने के लिए उत्साहित करेगी।

(घ) प्रसिद्ध लेखकों और विद्वानों को एकेडेमी का फ़ेलो चुनेगी।

(ङ) एकेडेमी के उपकारकों को सम्मानित फ़ेलो चुनेगी।

(च) एक पुस्तकालय की स्थापना और उस का संचालन करेगी।

(छ) प्रतिष्ठित विद्वानों के व्याख्यानों का प्रबंध करेगी।

(ज) ऊपर कहे हुए उद्देश की सिद्धि के लिए और जो जो उपाय आवश्यक होंगे उन्हें व्यवहार में लाएगी

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

अप्रैल, १९३७

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी, अप्रैल, १६३७

संपादक—रामचंद्र टंडन

लेख-सूची

वार्षिक मूल्य ४) -सहित

९

के सिक्के

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ७ } अप्रैल, १९३७ { अंक २

इलाहाबाद के सिक्के

[लेखक—रायबहादुर बाबू प्रयाग दयाल]

इलाहाबाद के सिक्कों का कोई विवेचन तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक कि इस ज़िले के अंतर्गत प्राचीन स्थलों, मुख्यतया कौशांबी और गढ़वा के सिक्कों का वर्णन न किया जाय। पिछले कुछ वर्षों में कौशांबी तथा गढ़वा से कुछ अब तक अलभ्य सिक्के, विशेषतया राय बहादुर पंडित ब्रजमोहन व्यास जी के उद्योग से प्राप्त हुए हैं, जिन से अन्य बातों के साथ-साथ कौशांबी के स्थल-विषयक विवाद का निर्णय हो गया है। परंतु जो कुछ नई सामग्री प्राप्त हुई है उस को एकत्र कर के, उस का अध्ययन करने के लिए कुछ समय अपेक्षित है। इस बीच में जो सामग्री अधिकांश मुस्लिम-कालीन टकसाल इलाहाबाद के सिक्कों के रूप में उपलब्ध थी उस के आधार पर यह संक्षिप्त लेख प्रस्तुत कर रहा हूँ।

बहुत प्राचीन काल से इलाहाबाद या प्रयाग गंगा और यमुना नदियों के संगम के कारण एक अत्यंत पवित्र स्थल समझा जाता है, जहाँ लाखों की संख्या में प्रतिवर्ष यात्री आते-जाते रहते हैं। बड़े-बड़े महाराजे, जैसे महाराज अशोक, समुद्रगुप्त, हर्षवर्धन आदि यहाँ आए हैं, और अपनी स्मृति छोड़ गए हैं। संभवतः कौशांबी, गढ़वा आदि में जो सिक्के मिलते हैं उस समय वहाँ प्रचलित थे। बदायूनी के लिखे इतिहास से प्रकट है कि सन् ९८२ हिज्री में सफ़र मास की तेईसवीं तिथि को अकबर बादशाह ने "पयाग" में पड़ाव किया,

जिसे साधारणतः 'इलाहाबास' कहते थे। उन्हों ने वहाँ एक बड़ी भारी इमारत की नींव डाली और इस शहर का नाम इलाहाबाद रक्खा। परंतु पुराना नाम सन् १००३ हिज्री तक बना रहा जैसा कि अकबर के एक ताँबे के सिक्के से जिस पर 'सन् इलाही ४२' और 'ज़रब (टकसाल) इलाहाबास' अंकित है प्रकट है। कलकत्ता, लखनऊ, और लाहौर के अजायबघरों में अकबर के ताँबे के सिक्के जिन पर 'ज़रब इलाहाबास' पाया जाता है मौजूद हैं। उन पर सन् इलाही ३१–३२, व १२ स्पष्ट रूप से अंकित हैं। (देखिए प्लेट, सं० १) ऐसे सिक्कों में पहली तरफ़ दायरे में 'ज़रब इलाहाबास'[१] और दूसरी तरफ़ इसी प्रकार '३१ इलाही सन्'[२] लिखा है। सिक्कों की तोल लगभग ३१५ ग्रेन के है। चाँदी के सिक्को (देखिए प्लेट, सं० २) पर 'इलाहाबाद' और नीचे लिखा शेर अंकित है:—

हमेशा हमचू ज़र मेह्रमाह रायज बाद।
बग़रबो शर्क़े जहाँ सिक्कए इलाहाबाद॥[३]

अर्थात्, 'सदा सूर्य और चंद्र के स्वर्ण की भाँति, संसार भर मे पूर्व से पश्चिम तक इलाहाबाद का सिक्का चलता रहे'।

ऐसे सिक्के सन् ४२ और ४९ के बीच जारी किए गए। इन की तोल लगभग १७४ ग्रेन के है। इस प्रकार की अठन्नी भी प्रचलित थी और सौभाग्य से इस का एक नमूना लखनऊ के अजायबघर में मौजूद है। (देखिए प्लेट, सं० ३) उस पर कोई तारीख़ नही है और उस की तोल केवल ८८ ग्रेन है। इसी प्रकार की एक चवन्नी भी है, परंतु यह दुष्प्राप्य है, और केवल एक नमूना लंदन के अजायबघर में मौजूद है।

इस टकसाल के जहाँगीर बादशाह के कम से कम दो सिक्के लखनऊ अजायबघर में हैं। (देखिए प्लेट, सं० ४) उन दोनों पर निम्न-लिखित शेर अंकित है:—

हमेशा नूर ज़र सिक्कए इलाहाबाद।
ज़े नाम शाह जहाँगीर शाह अकबरबाद॥[४]

---

[१] ضرب الهاباس　　[२] ۳۱ الہی سنہ

[३] همیشه همچو زر مهر ماه رائج باد
بغرب و شرق جهان سکهٔ الهآباد

[४] همیشه نور زر سکهٔ الهآباد
ز نام شاه جهانگیر شاه اکبر باد

अर्थात्, 'इलाहाबाद के सिक्के के स्वर्ण का प्रकाश सदा अकबर शाह के पुत्र जहाँगीर शाह के नाम से होता रहे।'

शाहजहाँ ने भी यहाँ से चाँदी के सिक्के प्रचलित किए और गद्दी पर बैठने के प्रथम वर्ष से सोलह वर्ष तक समय-समय पर तैयार होते रहे। (देखिए प्लेट, सं० ५)

औरंगज़ेब शाह ने यहाँ से सोने और चाँदी दोनों ही प्रकार के सिक्के प्रचारित किए। सोने के सिक्के (देखिए प्लेट सं० ६) पर नीचे का शेर पाया जाता है—

सिक्का ज़द दर जहाँ चु मेह्र मुनीर।
शाह औरंगज़ेब आलमगीर॥[1]

अर्थात्, 'संसार में चमकते हुए सूर्य शाह औरंगज़ेब की भाँति सिक्का अंकित किया।'

इस के साधारण चाँदी के सिक्कों पर यही शेर है—केवल 'मेह्र' (सूर्य) की जगह 'बद्र' (पूर्ण चंद्र) लिखा है। लेकिन एक विशेष सिक्का चाँदी का जो उस ने चलाया, उस पर 'ज़रब बल्दा इलाहाबाद'[2] है। (देखिए प्लेट, सं० ७) और वही शेर जो कि सोने के सिक्कों पर अंकित हुआ है इस में भी मिलता है। मालूम होता है कि उस समय यह शहर बहुत उन्नति पर और शासन का एक पीठ था।

शाहआलम बहादुर ने अपने गद्दी पर बैठने के तीसरे और चौथे सन् में टकसाल इलाहाबाद से चाँदी के सिक्के चलाए। इन सिक्कों पर शेर के स्थान पर बादशाह का नाम 'शाहआलम बादशाह ग़ाज़ी' और हिज्री सन् ११२० व ११२२ अंकित हैं।

फ़र्रुख़सियर ने टकसाल इलाहाबाद से सोने व चाँदी के सिक्के चलाए। सोने का सिक्का बहुत ही दुष्प्राप्य है। केवल एक नमूना लाहौर के अजायबघर में पाया जाता है। उस के एक ओर नीचे का शेर अंकित है—

सिक्का ज़द अज फ़ज़्ल हक़ बर सीमो ज़र।
बादशाहे बह्‌रो बर फ़र्रुख़सियर॥[3]

---

[1] سکہ زد در جہاں چو مہر منیر
شاہ اورنگ‌زیب عالمگیر

[2] ضرب بلدۃ الہ‌آباد

[3] سکہ زد از فضل حق بر سیم و زر
بادشاہ بحر و بر فرخ سیر

अर्थात्, 'सोने और चाँदी का सिक्का सत्यशील और सागर तथा पृथ्वी के बादशाह फ़र्रुख़सियर ने अंकित किया।'

इस के दूसरी तरफ़ 'ज़रब इलाहाबाद सन् ७ जलूस मुबारक'[1] लिखा है। यह सिक्का गद्दी पर बैठने के सातवें वर्ष प्रचलित हुआ था लेकिन गद्दी पर बैठने के दूसरे-तीसरे वर्षों में भी चाँदी के सिक्के तैयार हुए थे, और उन के ऊपर वही शेर है जो कि सोने के सिक्कों पर है। (देखिए प्लेट, सं० ८)

मुहम्मदशाह बादशाह के राज्य-काल में इस टकसाल से बहुत अधिक सिक्के बनाए गए, अर्थात् गद्दी पर बैठने के नवें वर्ष से इकतीसवें वर्ष तक चाँदी के सिक्के प्राय हर साल तैयार होते रहे। इन सिक्कों पर शेर के स्थान पर 'सिक्का मुबारक मुहम्मद शाह बादशाह गाजी' अंकित है।

अहमदशाह बादशाह ने सोने और चाँदी के सिक्के इस टकसाल से अपने गद्दी पर बैठने के पहले, तीसरे और चौथे वर्षों में प्रचारित किए। सोने का सिक्का दुष्प्राप्य है, और उस का केवल एक नमूना कलकत्ता के अजायबघर में मौजूद है। उन सिक्कों पर कोई शेर नहीं है, केवल बादशाह का नाम पाया जाता है।

आलमगीर द्वितीय ने अपने गद्दी पर बैठने के दूसरे, पाँचवें और छठे वर्षों में चाँदी के सिक्के इस टकसाल से चलाए। उन पर भी केवल बादशाह का नाम लिखा हुआ है।

शाहआलम द्वितीय ने भी चाँदी के सिक्के इस टकसाल से अपने गद्दी पर बैठने के पहले, चौथे, अठारहवें, उन्नीसवें, और इक्कीसवें वर्षों में प्रचलित किए। (देखिए प्लेट, सं० ९) उन पर निम्न-लिखित शेर अंकित है:—

सिक्का ज़द बर हफ़्त किशवर सायए फ़ज़्ले इलाह।
हामीए दीने मुहम्मद शाह आलम बादशाह॥[2]

---

[1] سنہ ۷ جلوس مبارک
ضرب
الہ آباد

[2] سکہ زد بر ہفت کشور سایۂ فضل الٰہ
حامی دین محمد شاہ عالم بادشاہ

अर्थात्, 'ईश्वर की कृपा की छाया में सातों दिशाओं में मुहम्मद धर्म के रक्षक शाह आलम बादशाह ने सिक्का प्रचलित किया।'

इस के बाद कोई सिक्का इलाहाबाद से जारी नही हुआ। ईस्ट इंडिया कंपनी के सिक्के जिन का अवध में चलन था वह यहाँ भी काम में लाए गए। अतएव इस से स्पष्ट है कि मुग़ल-वंश के बादशाहों के समय में इलाहाबाद को प्रतिष्ठा प्राप्त थी, यद्यपि इस से पूर्व भी इलाहाबाद एक विशिष्ट स्थान माना जाता था और यहाँ पुरानी बस्ती थी, जहाँ से दफ़ीने अब तक निकलते आते हैं और यह पता चलता है कि किन-किन बादशाहों का यहाँ शासन था। पिछले ३६ वर्ष, अर्थात् सन् १८९९–१९०० ई० से सन् १९३५–३६ ई० तक पच्चीस दफ़ीने जिला इलाहाबाद में भिन्न-भिन्न स्थलों पर प्राप्त हुए हैं। इन में १३ सोने, १५१५ चाँदी और २०५६ ताँबे के सिक्के हैं। कुल संख्या ३५८४ हुई। इन में से १२७ चाँदी के 'पंच-मार्क्ड' सिक्के थे, अर्थात् इन सिक्कों पर भिन्न चिह्न हैं कोई लेख नहीं है। यह सिक्के लगभग ईसा से पूर्व छठी सदी के हैं। ७३९ ताँबे के सिक्के कुशान सम्राटों के हैं। इन में से अधिकांश राजा कनिष्क और हुविष्क के सिक्के हैं। कन्नौज के सम्राट् गोविंद-चद देव के सोने के सिक्के जो इस प्रांत में बहुतायत से मिलते हैं, जिला इलाहाबाद मे भी मिले हैं। महाराज भोजदेव और श्रीविग्रह आदि के ६९३ चाँदी के सिक्के मिल चुके हैं। ताँबे के सिक्के ९२८ दिल्ली के बादशाहों के और ३९९ जौनपूर के शाहों के मिले हैं। मुगल-वंश के ६९२ चाँदी के सिक्के और ईस्ट इंडिया कंपनी के तीन चाँदी के सिक्के इन्ही मे सम्मिलित हैं। सौभाग्यवश इस प्रांत में सिक्कों के दफ़ीने अभी तक बराबर निकलते आते हैं। उन की जाँच मेरे सुपुर्द है। जिन-जिन सिक्कों का परिचय मैंने लेख के साथ सम्मिलित प्लेट में दिया है वह सब इस प्रांत के लखनऊ अजायबघर में मौजूद हैं, और देखे जा सकते हैं।

सूरदास से पूर्व हिंदी

[लेखक—मिश्रबंधु रावराजा रायबहादुर पंडित श्यामबिहारी मिश्र और
रायबहादुर पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र]

उत्पत्ति (सातवीं शताब्दी ईसवी)

मोहंजोदड़ो और हड़प्पा का पंडितों ने ३२५० से २७५० ई० पू० के बीच कोई समय माना है। उस काल भारत में भाषा थी किंतु वह अब तक पढ़ी नहीं गई है। भारत मे आर्यागमन का समय २५ वीं या २६ वी शताब्दी ई० पू० के निकट समझा जाता है तथा ऋग्वेद-काल प्रायः १९ वीं से १० वीं शताब्दी ई० पू० तक। यही प्राचीनतम भारतीय भाषा हमारे पास है। उसी काल में जो प्राचीन देश-भाषा थी उसे अब पहली प्राकृत, मूल पाली या आदिम पाली कहते हैं। उस का साहित्य नही के बराबर मिलता है। वैदिक भाषा के संसर्ग से यह भाषा उन्नति करती हुई मध्यवर्तिनी प्राकृत हो गई जिस के भागों के नाम महाराष्ट्री, मागधी, अर्द्धमागधी और शौरसेनी थे। इन मे शौरसेनी अन्तरंगा कहलाती थी, अर्द्धमागधी मध्यवर्तिनी अथच पश्चिमी प्राच्या, और शेष दोनो बहिरंगा। इन में मागधी को पूर्वी प्राच्या भी कहते थे। शौरसेनी संस्कृत से मिलती थी और मागधी महाराष्ट्री से। महाराष्ट्री प्राकृत की मुख्यता थी। शौरसेनी का प्रचार मध्यदेश में था। इतने उतार-चढ़ाव दूसरी शताब्दी ई० पू० से पूर्व हो चुके थे। इस काल महर्षि पतंजलि का समय था और तीसरी प्राकृत का प्रचार पाया जाता है जिसे अपभ्रंश कहते हैं। एक ही एक शब्द के जो अनेक रूप उस काल प्रचलित थे उन का तिरस्कार करते हुए पतंजलि ने उन्हें अपभ्रंश, अपशब्द या म्लेच्छ-शब्द कहा। आप संस्कृत के अंतिम प्रसिद्ध व्याकरणकार तथा मुनित्रय में से एक थे। संसार ने वैयाकरणों द्वारा तिरस्कृत शब्दों को न छोड़ा वरन् उन्हीं के सहारे नई भाषा ही बना डाली जो अपभ्रंश प्राकृत या तीसरी प्राकृत कहलाने लगी। महर्षि कात्यायन ने संस्कृत के आदर्श पर पालि-व्याकरण रचा था

तथा बारहवीं शताब्दी ईसवी में हेमचंद्र ने अपभ्रंश का व्याकरण बनाया। उदाहरणार्थ उन्हों ने उस मे अनेक दोहे लिखे है जो हिंदी के दोहे हैं। अपभ्रंश में अच्छी मात्रा में साहित्य मिलता है। अब प्रश्न यह उठता है कि हिंदी का अस्तित्व कितना प्राचीन है। सातवीं शताब्दी वाले प्रसिद्ध सम्राट् हर्षवर्द्धन के राजकवि बाणभट्ट देश में प्राकृत के साथ एक अन्य भाषा का भी अस्तित्व बतलाते है। समझा जाता है कि इस 'भाषा' शब्द से उन का उसी भाषा से प्रयोजन था जो अब हिंदी कहलाती है। देश में इस का प्रचार अधिक था और साहित्य में अपभ्रंश का।

चंद-पूर्व की हिंदी (ई० बारहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध तक)

हिंदी के सर्व-प्रथम कवि का नाम सरोजकार ने पुंड लिखा है, किंतु उस की भाषा का न तो उदाहरण प्राप्त है न उस के अस्तित्व का ही निश्चित प्रमाण। निश्चित कवियों में से सरहपा (७४३ के लगभग), लूहिपाद, भूसुक, खुमान रासोकार (८१३–८३३), देवसेन, बुद्धिसेन, राजानंद, मसऊद, मुंज (१००३), रामानुजाचार्य (१०१६–११३६), निंबार्क स्वामी (११६२), महाराष्ट्रपति सोमेश्वर (११२७–११३९), साईं दान (११२४), चारण आदि ३६ कविगण हुए। इन में से रामानुजाचार्य तथा निंबार्क स्वामी हिंदी के लेखक या उपदेशक न थे किंतु पीछे के हिंदी लेखकों पर इन के भारी प्रभाव से इन के कथन कर दिए जाते हैं। मुंज राजा भोज के चचा थे। सोमेश्वर सर्वज्ञ भूपाल कहलाते थे। खुमान रासो में महाराजा खुमान के अरबी मुसलमानों से युद्ध कथित हैं। उन्हों ने सन् ७१२ से सिंध पर अधिकार जमा रक्खा था और उन के आगे बढ़ने पर खुमान से युद्ध हुए थे जिन में उन की पराजय इस में कथित है। सरहपा, लूहिपाद आदिनाथ संप्रदाय के शाक्त थे और इन के ग्रंथों से बाममार्ग का उपदेश मिलता था।

उदाहरण

(१) जिन वल्लभसूरि (१११० के पूर्व)—

इक्क वीह इण मन्त्र तमो गुण किता बखाणू

(२) देवसेन (८७६)—

जो जिय सासण भाषियउ सो मह कहियहु सार।

जो पाले सह भाउकरि सो तरि पावइ पार॥

(३) सरह (१०वी शताब्दी)—

जहि मन पवन न संचरइ रबि ससि नाहि पवेस।

तहि तट चित्त बिसाम कर, सरहे कहियहु बेस॥

रासो काल (१२वीं शताब्दी द्वितीयार्द्ध से १३वीं के अंतप्राय तक)

इस काल १८ कवियों के नाम मिले है, जिन में नरपति नाल्ह (११५५), **चंद बरदाई** (११२९–११९३), जल्हन (११९३), अकरम फ़ैज (११५०), ज्ञानेस्वर (१२२९), उमांबा (१२७२), मुक्ताबाई (१२८८) आदि कथनीय हैं। नरपति का 'बीसलदेवरासो' ११५ पृष्ठों का एक सुंदर गीति-काव्य है जो अभी हाल ही में प्रकाशित हो चुका है। चंद-कृत 'पृथ्वीराजरासो' प्रायः ढाई हजार पृष्ठों का ग्रंथ है जो काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है। इस में अनेकानेक प्रबंध हैं, विशेषतया युद्ध, मृगया और विवाहों के। श्रीमान् ओझा जी महोदय इस पूरे ग्रंथ को जाली वतला कर चंद का उस काल अस्तित्व ही नही मानते। आप के कथनो का मुख्य आधार तत्कालीन कवि-जयानक माना गया है किंतु स्वयं जयानक चंद का तत्कालीन अस्तित्व और सुकवि होना मानता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि चंद ने उसी काल कविता की किंतु उस के बिखर जाने से **१५७९** से **१५८५** तक किसी समय किसी ब्रह्मभट्ट कवि ने उन्हें ले कर तथा अपनी ओर से प्रचुर रचना मिला कर वर्तमान 'रासो' ग्रंथ रचा। यह बड़ा ही उत्कृष्ट ग्रंथ है और इसी के आधार पर हम ने चंद को हिंदी के नव सर्वोत्कृष्ट कवियों में माना है। स्वामी माधवाचार्य (११९७–१२७७) तथा विष्णुस्वामी भी इसी काल भारी धार्मिक आचार्य हो गए हैं। माधवाचार्य ने द्वैत मत चला कर वैष्णवता को पुष्ट किया तथा श्रीकृष्ण की भक्ति सिखलाते हुए भी वाममार्ग का पोषण न किया। विष्णुस्वामी दार्शनिक वैष्णव थे ये दोनो महाशय हिंदी के लेखक न थे किंतु इन का प्रभाव हिंदी लेखको पर पड़ा बहुत

है। इस काल अपभ्रंश छूट-सी गई और खड़ी बोली का भी कुछ-कुछ चलन हुआ। जैन कवियों के बहुतेरे धार्मिक रासो हैं, और धार्मिक शिक्षा की इस काल में भी प्रधानता है। हम पहले-पहल उत्कृष्ट स्थायी साहित्य इस काल हिंदी में पाते हैं। इसी समय मुसलमानों द्वारा भारतीय स्वतंत्रता नष्ट हुई। कुछ लोगों ने इसे ही वीरगाथा काल का अंग माना है। यह बात अग्राह्य है। प्राय: ३० ग्रंथों में वीरकाव्य अंशत: केवल 'पृथ्वीराजरासो' में है, जो पूरा ग्रंथ भी इस काल का नहीं है। भारत इस काल वीर न हो कर कायर था। प्राप्त साहित्य का एक बहुत छोटा अंश वीरकाव्य-पूर्ण है। इस काल माड़वार, अजमेर, दिल्ली, कन्नौज, मथुरा और महाराष्ट्र के कविगण मिलते हैं। मुसलमानी राजवंशों में इस काल गजनी (१००१–११७५), गोरी (११९३–१२०६), तथा गुलाम (१२०६–१२९०) पाए जाते हैं। शासकों में कुतबुद्दीन, अल्तमश और बल्बन प्रधान थे।

उदाहरण

नरपति नाल्ह—

जब लगि महियल उग्गइ सूर। जब लगि गंग बहै जलपूर।
जब लगि प्रायमी नै जगन्नाथ। जाणी राजा सिर दीधौ हाथ॥

चंद बरदाई—

सीतल बारि सुचंग तहाँ गय चल्लि निसाचर।
लगि पियास श्रम अंग बारि पिन्नो अँदोलि कर॥

ज्ञानेश्वर—

दुनिया तजकर खाक लगाई जा कर बैठा बन मों।
खेचरि मुद्रा व्रजासन सों ध्यान धरत है मन सों॥

भारतवर्ष में यह क्रांति का समय था। मुसल्मानों से पूर्व भी यहाँ गूर्जर, सीदियन, शक, कुशान, और हूण विजेता आए थे, किंतु उन्हों ने हमारी राजसत्ता मात्र को ध्वस्त कर के यहाँ की सामाजिक सत्ता पर कोई आक्रमण नहीं किया था, वरन् उसी में मिल कर अथच स्वयं हिंदू हो कर उसे पुष्ट किया था। इन्हीं तथा अन्य कारणों से हमारा भारतीय समाज राजसत्ता की पराजय से अपनी कोई विशेष हानि नहीं समझता था, जिस से हमारे सामरिक बल एवं समर-शास्त्र ने अच्छी उन्नति भी न कर पाई थी। जब मुसल्मान लोगों ने पहले-पहल समाज से भी धार्मिक युद्ध छेड़ा सो भी तर्क से नहीं वरन् खड्ग द्वारा तब हमारे

समाज में भारी खलबली मची। धार्मिक परिवर्तन मे यहाँ तर्कों का प्रयोग प्राचीन काल से ही सफल रीति से होता आया था, किंतु जब मुसल्मानों ने उस में बल प्रयोग किया, तब भारतीय समाज को अनहोनी का-सा मामला देख पड़ा। उधर मुसल्मान लोग अपने भाइयों पर भी धार्मिक वृद्धि के लिए बल-प्रयोग करते आए थे, सो भारत मे भी उन्हो ने यही रीति स्वभावश: चलाई। फल यह हुआ कि मुसल्मानागमन से भारत में पहले-पहल न केवल दो राजशक्तियों में युद्ध हुआ, वरन् उसके पीछे दो अनमिल सभ्यताओं का सामाजिक सघट्ट प्रारंभ हुआ, जो अकबर के पूर्व तक प्राय: साढ़े तीन शताब्दियों तक चलता रहा। मुसल्मानों से पूर्व आने वाली विजयिनी धाराओं से हम लोग अति शीघ्र रोटी-बेटी का सबध कर के घुल-मिल जाते थे, किंतु उधर मुसल्मानों ने हमारे धर्म को मुशरिकपन तथा बुत-परस्ती के कारण निद्य कहा और हम ने धर्म मे बल-प्रयोग के कारण स्वयं उन्हें निंद्य कह कर इतरों की भाँति उन से रोटी-बेटी का संबंध न खोला, वरन् उन के स्पर्श को भी पाप ठह-राया। पराजित लोगों के पास सिवा बहिष्कार (व्यायकाट) के और अस्त्र ही क्या होता है? सो हम उसी काल से मुसल्मानों के साथ आत्मबल से बहिष्कार द्वारा सामरिक नही वरन् सामाजिक युद्ध करने लगे। यही एक ऐसा मामला है जो मुसल्मानागमन काल को एक क्रांति-काल बनाता है। इस से पूर्व भारत में केवल दो और क्रांतियाँ हुई थी, अर्थात् आर्यागमन तथा बौद्ध सभ्यता का संस्थापन एवं समय पर निपात। यह तीसरी क्रांति दोनों ओर से अनुचित विचारों से हुई तथा हम दोनों के लिए बड़ी ही हानिकारिणी ठहरी, क्योंकि हम दोनों में उचित भ्रातृभाव स्थगित रहा।

उत्तर-प्रारंभिक समय (१२९०-१३८७)

इस काल में हमें प्राय: २० कविगण मिलते है जिन में जज्जल (१३००), शार्ङ्ग-धर (१३०३), गोरखनाथ (१३०० के लगभग), ज्योतिरीश्वर ठाकुर (१३००), अमीर खुसरो (१३२५) आदि की मुख्यता है। अलाउद्दीन से युद्ध करने वाले पृथ्वीराज के वंशधर हम्मीरदेव के जज्जल सेनापति एवं मंत्री थे। आप का वीरकाव्य श्रेष्ठ है। शार्ङ्गधर के ग्रंथ, 'हम्मीररासो', 'हम्मीरकाव्य' और 'शार्ङ्गधरपद्धति' प्रसिद्ध हैं। बाबा गोरखनाथ ने प्रसिद्ध गोरखपंथ चलाया अथच बौद्ध सहजिया पंथ अपने पंथ में मिला लिया। आप हमारे पहले गद्यलेखक भी है ... न शुद्ध मैथिल भाषा म उत्कृष्ट गद्य

लिखा। आप मैथिल-नरेश हरिहर देव की सभा में थे। अमीर ख़ुसरो चंद के पीछे अब तक के हमारे सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। आप का निम्न विचार पठनीय है—"अरबी तो श्रेष्ठ है, किंतु अच्छी तरह सोचने पर हिंदी भाषा फ़ारसी से कम नहीं ज्ञात हुई। रूई और रूस की प्रचलित भाषायें समझने पर हिंदी से कम मालूम हुई।"

इस काल भाषा में खासी उन्नति हुई और वह माध्यमिक भाषा के निकट पहुँच गई। नृप-यशोगान कुछ कमी से चलता रहा, धर्मग्रंथ बढ़े, खड़ी बोली ख़ुसरो के साथ खूब उन्नत हुई, तथा मुल्ला दाऊद द्वारा प्रेमपंथ का चलन चला। रचना की भाषा में अवधी, ब्रजभाषा, राजपूतानी, पंजाबी, खड़ी बोली आदि का प्रयोग हुआ। पंथ-प्रवर्त्तकों के प्रयत्नों से धार्मिक बल द्वारा समाज-संगठन हुआ तथा उस के अधोभाग का भी सहयोग उसे उमंग के साथ प्राप्त हुआ। मिथिला, मेवाड़, नेपाल, राजपूताना (के अन्य भाग), मध्य-भारत, दिल्ली, गोरखपूर, आदि के कवि उपलब्ध हुए। राजशक्ति निम्नानुसार थी:—

खिल्जी १२९०–१३२० }
तोग़लक़ १३२०–१३९८ } दिल्ली में।

कश्मीर १३२५ में, दिल्ली से स्वतंत्र मुसल्मानी शक्ति द्वारा जीता गया।

विजयनगर १३३६–१५६५ (मदरास प्रांत की ओर)।

बहमनी १३५३–१५२६ (महाराष्ट्र प्रांत की ओर)।

ख़िल्जियों मे अलाउद्दीन प्रधान था। उस ने महाराष्ट्र (१२९४–१३११), चित्तौर (१३०३) तथा रणथंभौर (१३०४) जीते। उस के पीछे अकबर के पूर्व तक दिल्ली साम्राज्य बलहीन रहा।

साहित्य के उदाहरण—

(१) जज्जल (१३००)—

कोह चलिय हम्मीर बीर गअ जूथ सँजुत्ते।

किअउ कट्ठ आकंद मुच्छि म्लेच्छह के पुत्ते॥

(२) शार्ङ्गधर (१३०३)—

ढोला मारिय ढिल्लि महँ मुच्छि उमेच्छ सरीर।

पुर मन्त्रि बर चलिय बीर हम्मीर

सिंह गमन सुपुरुष वचन कदलि फरै इक सार।

तिरिया तेल हमीर हठ चढ़ै न दूजी बार।।

(३) गोरखनाथ (१३००)—

स्वामी तुम्हे गुर गोसाई अम्हे जा सिष, सबद एक।

पुछिबा, दया करि कहिबा, मन न करिबा रोस।

(४) ज्योतिरीश्वर (१३००)—

काजर क भीति तेले सींचलि अइसनि रात्रि।

पाछे बाँका बेगे काजर क मोट फूजल अइसन मेघ विविड़

मांसल अंधकार देषू।

(५) अमीर खुसरो (१३२५)—

जे हाले मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल

दुराये नैना बनाये बतियाँ।।

कि ताबे हिजरत न दारमैजां

न लेहु काहे लगाय छतियाँ।।

शबाने हिजराँ दराज चूं जुल्फ़ो

रोजे वस्लत चु उम्र कोता।

सखी पिया को जो मै न देखूँ

तो कैसे काटूं अँधेरी रतियाँ।।

पूर्व-माध्यमिक हिंदी (१३८८-१५०३)

इस काल में प्राय: ५० कविगण प्राप्त है, जिन में विद्यापति ठाकुर (१३८८), महाराजा कुंभकर्ण चित्तौड़ (१३६२–१४१२), रामानंद स्वामी (१३९९), सेन नाई, पीपा महाराज, सदना, धना, भवानंद, रैदास, कबीरदास (१३९८—१५१८), नामदेव (१४२३), बाबा नानक (१४६९—१५३७), चैतन्य महाप्रभु (१४८५—१५३३), वल्लभाचार्य (१४७८—१५३०). कुतबन शेख (१५०१) और सेन (१५०३) प्रधान हैं इसी अंतिम समय से महात्मा सूरदास का कविता-काल प्रारंभ होता है विद्यापति

ठाकुर मैथिल कवि थे। आप ही ने हिंदी में वाममार्ग-पूर्ण शृंगारिक कविता का प्रचार किया। आप हिंदी के बहुत बड़े कवि माने जाते है। बंगाल और बिहार में इन का बड़ा मान है। काम-काज के समय भी गृहस्थों के यहाँ आप की कविता गाई जाती है।

उदाहरण

सरस वसन्त समय भल पाओल्हि, दछिन पवन बहु धीरे।
सजनेहु रूप बचन यह भाषिय, मुख से दूरि करु चीरे॥
कर जोरि बिनमों बिमल तरंगे,
पुन दरसन हो पुन मति गंगे।

महाराणा कुंभकर्ण की रचना अब अप्राप्य है। स्वामी रामानंद रामानुज के श्री-संप्रदाय के वैष्णव बाबा राघवानंद के शिष्य कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। आप का संप्रदाय रामानंदी परम प्रसिद्ध है और वैष्णवों में इस का बहुत बड़ा प्रचार रहा आया है। हिंदू समाज को संगठित करने के लिए आप ने वैष्णव-संप्रदाय में शूद्रों का भी द्विजो के समान मान किया, यद्यपि गृहस्थों मे प्रचलित समाज की प्रणाली में भेद डाल कर हलचल न डाला। आप ने हिंदी कविता भी की। उपर्युक्त सेन नाई से कबीरदास-पर्यंत महात्मा हिंदी के सुकवि तथा आप के शिष्य थे। महात्मा कबीरदास ने प्रसिद्ध कबीरपंथ चला कर गोरखपंथ की भाँति हिंदू समाज का संगठन किया। आप ने हिंदू मुसल्मानों के मेल में उद्दाम प्रयत्न किया। सगुण ब्रह्म को न छोड़ते हुए आप ने विशेषतया निर्गुणात्मक ईश्वर का वर्णन किया। आपका धार्मिक भाव उपनिषदों पर आधारित अथच हिंदी के महाकवियों में प्रायः सर्वोच्च था। आप की रचना सिक्खों के 'ग्रंथ साहब' में भी सम्मिलित है। साखी, बीजक आदि प्रायः पचास-साठ ग्रंथ कबीर के प्राप्त हैं। आप की उल्टबाँसी बहुत प्रसिद्ध है। तुलसी-दास के पीछे हमारे कवियों में उत्तरी भारत के आप सर्वोत्कृष्ट धर्म-प्रचारक हैं। और आप की रचना की लोक-स्वीकृति भी वैसी ही है। इन के कुछ न कुछ छंद सभी जानते है, सो यहाँ उदाहरण नहीं दिया जाता। नामदेव के भी छंद ग्रंथ साहब में उद्धृत हैं। आप-ने हिंदू-मुसल्मानी मेल में पूज्य प्रयत्न किया। आप भी प्रसिद्ध कवि और संत थे। बाबा नानक सिक्ख-मत के प्रचारक हिंदी के सर्वोत्कृष्ट राजनीतिक प्रभावयुक्त महात्मा थे। आप के अनुयायी नवों गुरुओं तथा आप के द्वारा सिक्खमत के प्रवर्तन से हिंदी का भारतीय इतिहास पर सब से बड़ा प्रभाव पड़ा है आप की रचना भी

एव सबल थी। चैतन्य महाप्रभु हिंदी के कवि न हो कर बंगाली महात्मा थे, किंतु आप का प्रभाव हिंदी कविता पर पड़ा बहुत अधिकता मे है। वल्लभाचार्य भी इन्ही के सहपाठी एव इन्हीं के समान महत्तायुक्त वैष्णव थे। आप के वल्लभीय संप्रदाय का भारी मान मथुरा, वृंदावन, माड़वार और गुजरात में हुआ। आप के वंशधरों की कई गद्दियाँ है जिन में वे देवभाव से पूजे तक जाते है। महात्मा सूरदास आप ही के शिष्य थे। आचार्य जी ने हिंदी कविता भी रची। कुतबन शेख़ ने पूज्य सूफ़ीमत-गर्भित 'मृगावती' नाम्नी प्रेमकहानी रची।

उदाहरण

साह हुसैन अहै बड़ राजा। छत्र सिंहासन उनके छाजा॥
पंडित औ बुधिवन्त सयाना। पढ़ै पुरान अरथ सब जाना॥
धरम दुदिस्टिल उन को छाजा। हम सिर छाँह जियो जग राजा॥
दान देइ औ गनत न आवै। बलि और करन न सरबरि पावै॥

सेन की रचना वर्तमान से बहुत कुछ मिल जाती है।

जबते गोपाल मधुवन को सिधारे आली, मधुवन भयो मधु दानव बिखम सों।
सेन कहै सारिका, सिखंडी, खंजरीट, सुक, मिलि के कलेस कीन्हों कालिंदी कदम सो॥

हमारा पूर्व-माध्यमिक काल गुरु के समान है। इसी के विचारों के अनुसार विशेषतया प्रौढ़-माध्यमिक समय (१५०३—१६२३) अथच सामान्यतया प्राय: ३०० वर्षो तक हिंदी साहित्य की प्रगति रही। इस में चैतन्य का गौडीय मत बंगाल में चला, अवध, शेष पूर्वीय प्रात तथा मध्यभारत में रामानंदी, अथच पश्चिमी युक्तप्रांत, राजपूताना और गुजरात मे वल्लभीय। पंथों में गोरखपंथ कुछ पहले से चल रहा था अथच कबीर और नानक-पंथ इसी काल से चले। युक्तप्रांत और बंगाल में सूफ़ीमत का भी चलन चला। इस प्रकार पंजाब में बंगाल-पर्यंत धार्मिक उन्नति का प्रभाव फैला। साहित्यिक गरिमा की भी अच्छी अंगपुष्टि हुई विशेषतया विद्यापति, कबीरदास तथा रामानंद के इतर शिष्यो द्वारा। इन उपदेशकों ने हिंदू-मुस्लिम ऐक्य का भी वहुत प्रशंसनीय प्रयत्न किया जिस से बहुत काल पर्यंत भारतीय समाज से यह फूट का रोग हटा रहा।

राजनीति की दशा भी कथनीय थी।

१३९८—तैमूर लग का धावा

१३९८–१४१४ दिल्ली में अराजकता।

१४१४–१४५० सैयद वंश (बलहीन)।

१४५०–१५२६ लोदी वंश।

निम्न नवीन राज्य स्थापित हुए :—

बीजापूर	आदिलशाही	.....	१३९०–१६८६	बहमनी से निकले। महाराष्ट्र में भी कुछ दबाव मुसल्मानी मत का प्रारंभ।
गोलकुंडा	क़ुतुब ,,	.....	१५१२–१६८७	
अहमदनगर	निज़ाम ,,	.....	१४९०–१६३७	
बीदर	बारीद ,,	.....	१४१२–१६०९	
बरार	इमाद ,,	.....	१४८४–१५७५	
खानदेश	फ़ारूक़ ,,	.....	१४८८–१५९९	
मालवा	ग़ोरी वंश	.....	१४०१–१५६४	
गुजरात	तुर्क ,,	.....	१४०१–१५७३	
बंगाल	पठान ,,	.....	१२४०–१५७६	
जौनपूर	तुर्क ,,	.....	१३९९–१४७६	
कश्मीर	स्वतंत्र ,,	.....	१३२५–१५८४	

भारत में मुसल्मानी मत स्थापन से इस काल पर्यंत कुछ लेखकों को निराशा दिखती है, और "सब देस से हारे, तो चले नानपारे" के अनुसार धार्मिक प्रयत्नों मात्र में उस का प्रभाव देख पड़ता है। हम को इस काल के भारतीय समाज में कोई निराशा नहीं दिखती वरन् हमारे समाज से मुसल्मानों के पूर्व किसी ने युद्ध किया ही न था और मुसल्मानी दबाव से वह आत्मबल से युद्ध में परमोत्साह के साथ प्रवृत्त था। इस काल हमारे समाज का हिंदूबल-गर्भित रूप न बदला, केवल मुसल्मानों ने बलपूर्वक या लालच दे कर उस से कुछ व्यक्ति छीन भर लिए। समाज की यह रक्षा ग्राम्य-संगठन, जातिभेद तथा संतों के उपदेश से हुई। पूर्व-मध्यकाल में महाराष्ट्र भी इस सामाजिक युद्ध में आ गया। इस युद्ध के केंद्र युक्तप्रांत और पंजाब थे तथा राजपूताना और बंगाल बहुत कर के इस से बाहर थे। बंगाल में संस्कृत-गर्भित भाषा का प्रचार उच्च समाज में विशेष था जिस से उस के अधोभाग उदासीन से थे। फल यह हुआ कि एक बहिरंग प्रांत हो कर भी बंगाल जातीय विचारों से प्रभावित न रह कर अपनी हिंदू संख्या का एक बृहदंश मुसल्मानों को दे

बैठा, अर्थात् अपनी प्राचीन सभ्यता और धर्म की समुचित रक्षा न कर सका। धार्मिक प्रेम से किसी का मुसल्मान होना प्रशंसनीय है, किंतु हिंदूमत के उपदेशकों की निर्बलता से इस महामत का बुरा समझा जाना शोक का विषय है। उधर पंजाब में सिक्खों द्वारा जाति का निरादर हुआ, तथा मुसल्मानी प्रभाव वहाँ था ही विशेष। इन कारणों से वहाँ भी हिंदू संख्या संकुचित हो गई। इधर युक्तप्रांत मुसल्मानी शक्ति का केंद्र भी हो कर पौराणिक बल की महत्ता, जातिभेद की प्रबलता तथा देशीय भाषा की सुगमता एवं साहित्यिक उपदेशों की प्रचुरता से अपना रूप पूर्णता के साथ रक्षित रख सका। बिहार ने भी ऐसा ही कर पाया। अतएव हम देखते हैं कि हिंदी के केंद्र ने भारतीय समाज की अच्छी रक्षा कर दिखलाई। इस में हिंदी भाषा की महत्ता सिद्ध है और हमारे कवियों एवं धार्मिक उपदेशकों की भी। जाति ने भी उस काल अच्छा काम किया, यद्यपि अब वह हानिकर मात्र है।
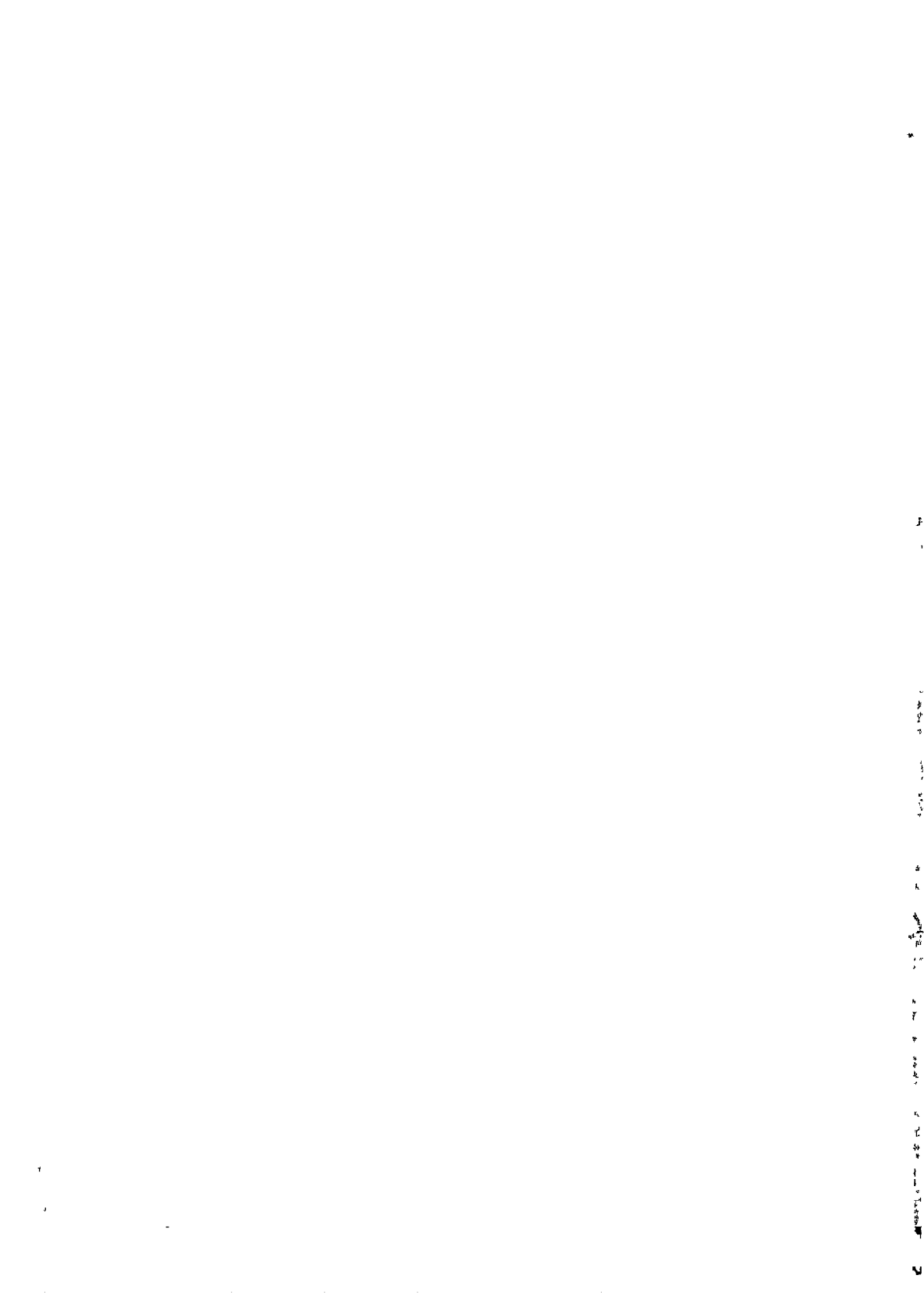
संयुक्त प्रांत में हिंदू पुरुषों के नाम

[लेखक—श्रीयुत डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)]

साहित्य, सामाजिक नियम, भाषा, राजनीतिक संगठन, धार्मिक विचारावली आदि संस्कृति के भिन्न-भिन्न अंगों के समान ही स्त्री-पुरुषों के नामों पर भी देश और काल की छाप रहती है। भारतवर्ष में ही विश्वामित्र, कुमारगुप्त, तथा रामप्रसाद क्रम से वैदिक पौराणिक तथा आधुनिक काल का सहसा स्मरण दिला देते हैं। इसी प्रकार अनंत केशव त्रिपल्लूनकर के साथ सुनहरी किनारेदार पगड़ी और लाल रंग का सामने मुड़ा हुआ जूता आँखों के सामने आ जाता है, गंडासिंह से सफ़ेद साफा, ऊँचा क़द और दाढ़ी-मूछ से भरा चेहरा अलग नहीं हो पाता, ज्ञानेंद्रनाथ बोस तेल से सँवारे हुए नंगे सिर और फुफनीदार धोती के साथ स्मरण आते हैं। अपने श्यामबिहारी या रामस्वरूप के सिर पर कम से कम टोपी जरूर ही रहती है। मुख तथा व्यवहार अत्यंत शिष्ट कुछ-कुछ बिगड़े हुए पुराने खानदानी लोगों का-सा, नीची झुकी हुई मूछ, और किसी भी तरह के कपड़ों में आप लोग दिखलाई पड़ते हैं। इस सब से कम से कम इतना तो सिद्ध ही होता है कि नामों में प्रत्येक देश-काल की संस्कृति का प्रतिबिंब रहता है, अतः इन के सूक्ष्म अध्ययन से संस्कृति के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है।

भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रदेशों के, प्रत्येक कालों के, समस्त धर्मानुयायी स्त्री तथा पुरुषों के नामों का संक्षिप्त अध्ययन भी एक निबंध में नहीं हो सकता। इसी कारण इस विषय की बानगी के स्वरूप हिंद-प्रदेश के मध्यम श्रेणी के हिंदू पुरुषों के आधुनिक-कालीन नामों को ले कर कुछ थोड़ी सी सामग्री प्रस्तुत निबंध में संकलित करने का प्रयास किया गया है। इस सीमित विषय का भी कहीं अधिक विस्तृत तथा पूर्ण अध्ययन संभव है।

इस प्रकार के नामों का अध्ययन करने से सब से पहली बात जिस की ओर ध्यान जाता है वह है अधिकांश नामों पर धार्मिकता की छाप। हिंदू संप्रदायों में से १५ वीं और १६ वीं शताब्दी के राम अथवा कृष्ण-संबंधी संप्रदायों का प्रभाव नामों पर आज भी पर्याप्त

मात्रा में चल रहा है, यद्यपि जिस तरह 'रामचरितमानस' अथवा 'सुखसागर' का पठन-पाठन मध्यम श्रेणी के हिंदुओं के घरों में धीरे-धीरे कम हो रहा है, उसी प्रकार नामों में भी परिवर्तन प्रारंभ हो गया है। तो भी अब तक विशेषतया अवध आदि पूर्वी प्रदेशों में नामों के अंदर किसी न किसी रूप में राम का नाम तथा ब्रज आदि पश्चिमी प्रदेशों में कृष्ण का नाम बहुत अधिक पाया जाता है। इस प्रकार के नामों के अनेक उदाहरण हमें तनिक भी स्मरण करने से मिल सकते हैं।

श्रीराम, रामकुमार, रामकिशोर, रामदुलारे, जयराम, रामनरेश, रामनरायन, रामस्वरूप, रामेश्वर तथा कौशलकिशोर, कौशलकुमार, रघुवंश नरायन, अवधेश नरायन, अवधविहारी जैसे नामों में केवल श्रीरामचंद्र के स्मरण की भावना सन्निहित है। किंतु रामनाथ, रामदास, रघुनाथदास, रामसरन, रामदयाल, रामकृपाल, रघुवरदयाल, रामाश्रय, जैसे नामो के साथ, रामानंदी संप्रदाय की स्वामी और दास की भक्ति-भावना के चिह्न मिलते हैं। स्वयं रामानंद नाम कदाचित् संप्रदाय प्रवर्तक के नाम का अनुकरण मात्र है। क्षत्रियों में श्रीरामचंद्र जी को रामसिंह के रूप में प्रायः देखा जाता है।

काशी तथा बिहार प्रदेश की ओर राम-संबंधी नामों के विशेष रूप प्रचलित हैं, जैसे रामराज राय, रामसनेही लाल, रामलगन, रामसुमेर, रामनिहोर, रामप्रताप, रामदयाल, रामजीवन, रामनिवास, रामअवध, रामनिधि, अवधेशप्रसाद, राघवप्रसाद इत्यादि। रामचंद्र जी के साथ-साथ अनेक नामों में रामचद्र जी के परिवार को भी स्मरण कर लिया जाता है तथा कुछ में रामचंद्र जी के नाते केवल उन के भाइयों आदि के नामो पर ही नाम रख लिए गए हैं, जैसे सीताराम, अथवा सियाराम, रामलखन, भरतराम, अथवा लछमनप्रसाद, शत्रुघ्नसिंह। रामचंद्र जी के अनन्य सेवक को महाबीरप्रसाद अथवा हनुमानप्रसाद जैसे नामो मे अमर कर दिया गया है। राम-संबंधी नामों में बाबूपन की छाप बाबूराम या रामबाबू में पाई जाती है। अपने देश में सांप्रदायिकता के भाव के साथ ही साथ उदारता का भाव भी सदा से मौजूद रहा है—रामभक्त भी अन्य देवताओं को आदर के साथ देखते थे। इस दृष्टिकोण का प्रभाव रामकिशन, कृष्णराम, तथा शिवराम जैसे नामों में स्पष्ट पाया जाता है।

धार्मिक नामों में कदाचित् राम-संबंधी नामों से अधिक श्रीकृष्ण जी से सबध रखने वाले नाम अपने प्रदेश में प्रचलित हैं नाम बचपन में रक्खे जाते हैं अत राम की

अपेक्षा बालकृष्ण का भाव माता-पिता को प्राय: अधिक आकर्षक लगता है। कृष्ण-संबधी नामों की बहुत लंबी सूची बनाई जा सकती है---जैसे श्रीकृष्ण, या श्रीकृष्णलाल या किशन लाल या कन्हैयालाल, कृष्णकुमार, कुँवरकृष्ण, कृष्णानंद, श्यामसुंदर, जगतकृष्ण, कृष्णनरायन, या नरायनकृष्ण, कृष्णमोहन, गिरधारीलाल, मोहनलाल, बिहारीलाल, श्यामबिहारी, छैलबिहारी, मुकुटबिहारी, कुंजबिहारी, ब्रजनरायन, ब्रजराज, यदुनंदन, यादवेंद्र, घनश्यामदास, जनार्दनप्रसाद, मुरलीमनोहर, मुरलीधर, बंसीधर, बंसीलाल, बृंदावनलाल, गोकुलचंद, मथुरालाल, श्री कृष्ण जी के नाते ही गोविंदराम, बलदेवप्रसाद, बलभद्रप्रसाद, बलराम तथा अनिरुद्धकुमार जैसे नाम मिलते हैं। कृष्ण-सम्प्रदायों में बाद को विकसित होने वाले राधावल्लभ आदि संप्रदायों की छाप निम्न-लिखित प्रकार के नामोंपर मिलती है, जैसे राधाकृष्ण, राधेश्याम, किशोरीलाल, अथवा श्यामाचरन, गोपीनाथ, गोपीचंद्र, ललिताप्रसाद। कृष्ण-संबंधी नामों में बिहारी ढग के नाम ब्रजपतेश, नंदनलाल, राधारमन या राधिकारमन, कंसदमन के ढंग के होते हैं। काशी तथा बिहार की ओर कृष्ण-संबंधी नामों की अपेक्षा राम-संबंधी नामो का अधिक प्रचार है। यह स्वाभाविक ही है।

यद्यपि नामों में राम और कृष्ण से प्रभावित नाम बहुत अधिक पाए जाते हैं किंतु अब भी त्रयी के मुख्य देवता भगवान् विष्णु की भक्ति का प्रभाव नामों में कम नही हुआ है। इस का तात्पर्य यह है कि बाद के संप्रदायों के साथ-साथ प्राचीन वैष्णव या भागवत-धर्म का प्रभाव आज भी नामों में काफ़ी चल रहा है। इस प्रकार के नामों की बहुत लंबी सूची बन सकती है। कुछ मे केवल भगवान् का स्मरण स्पष्ट शब्दों में किया जाता है, कुछ में विष्णु का रूप स्पष्ट दिखलाई पड़ता है और कुछ में विष्णु के साथ लक्ष्मी जी को भी शामिल कर लिया गया है। इस प्रकार के नामो के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं। जैसे प्रभु-दयाल, प्रभुनाथ, जगदीशप्रसाद, जगदीशनरायन, जगदीशचंद्र, जगन्नाथ, त्रिलोकी नाथ, विशभरनाथ, ईश्वरसहाय, दीनानाथ, नरायनदत्त, नरोत्तमदत्त, नरोत्तमप्रसाद, पुरुषोत्तमदास, लीलाधर, हरिबंस, केशवप्रसाद, बालमुकुंद तथा उदयनरायन, अभय नरायन, मुकुंदलाल, श्रीनाथ, श्रीनरायन, श्रीनिवास, लक्ष्मीबिहारी, लक्ष्मीनरायन लक्ष्मीप्रसाद- कमलाप्रसाद- रमेशकुमार रमेशचंद्र रमाकांत कमलापति। भगवान् के नाते ही सालिग्राम तुलसीराम अनन्तलाल शेषनाथ

वैकुंठनाथ, जैसे नाम चलते हैं। काशी प्रदेश की ओर श्रीपतिनरायन, छबिनरायन जैसे नाम, राजस्थान की ओर रनछोरदास तथा विट्ठलदास जैसे नाम तथा पहाड़ पर नरायनदत्त जैसे नाम प्रचलित है।

अपने प्रांत मे वैष्णवधर्म के साथ-साथ शैवधर्म भी बराबर चल रहा है, अतः बहुत से नामों पर शिवभक्ति की छाप मिलती है। इन की लंबी सूची बनाई जा सकती है। इन नामों में से कुछ में शिव को परमेश्वर के रूप में स्मरण किया गया है, कुछ में त्रयी के शिव जी के रूप में तथा कुछ के साथ पार्वतीजी को भी शामिल कर लिया जाता है, जैसे, विश्वनाथ, महादेवप्रसाद, महेशप्रसाद, महेशचंद्र, रुद्रप्रसाद, शिवदत्त, शिवचरन, शिवप्रसाद, कृपाशंकर, शिवशंकर, प्रेमशंकर, शंकरदयाल, शंभुनाथ, भोलानाथ, काशीनाथ, अमरनाथ, कैलाशचंद्र, चंद्रभूषन, चंद्रशेखर, गौरीशंकर, उमाशंकर, देवीशंकर, रमाशंकर। शिव जी के नाते ही हरनंदन, हरकिशोर, गनेशप्रसाद, गनपत आदि नाम चलते है। वैष्णव और शैवभक्ति का सामंजस्य हरिशंकर, हरनरायन, हरगोविंद जैसे नामों में मिलता है। काशी तथा विहार की ओर शिवप्रसन्न, शिवनरेश, शिवध्यान, पशुपतिनाथ, भुवनेश्वरप्रसाद, हरिहरप्रसाद, जैसे नाम चलते है। परमात्माप्रसाद, दीनदयाल, ब्रह्मानंद, ब्रह्मेश्वर साधारण धार्मिक नाम है।

शैवधर्म में शक्ति की उपासना बहुत प्राचीन काल से उपस्थित मिलती है, अत इस की छाप भी अनेक नामों में चल रही है, जैसे माताप्रसाद, ईश्वरीप्रसाद, देवीप्रसाद, भगवतीप्रसाद, शीतलाप्रसाद, शारदाप्रसाद, दुर्गाप्रसाद, कालिकाप्रसाद, ज्वालाप्रसाद, कालीचरन, भगवतीचरन, मातासरन।

यहाँ यह स्मरण दिलाना अनुचित न होगा कि त्रयी के तीसरे प्रमुख देवता ब्रह्मा नामों से भी प्रायः लुप्त हो गए हैं।

धार्मिक तीर्थस्थानों तथा नदियो आदि से संबंध रखने वाले नाम भी प्रायः मिलते है, भावुक लोग तीर्थों आदि पर पुत्र-कामना प्रकट कर आते हैं और पुत्र होने पर उसी तीर्थ या नदी के नाम पर पुत्र का नाम रख लेते है। कभी-कभी इन स्थलों पर जन्म होने के कारण भी बच्चों के ऐसे नाम पड़ जाते है। जैसे काशीप्रसाद, अयोध्याप्रसाद, गोकुलप्रसाद, द्वारिकाप्रसाद. मथुराप्रसाद. रामेश्वरप्रसाद, बद्रीप्रसाद, मथुरादत्त, प्रयागदत्त, तथा

सरजूप्रसाद, गोमतीप्रसाद, नर्बदाप्रसाद, जमुनाप्रसाद, जमुनादत्त। काशी-बिहार की ओर विंध्याचलप्रसाद, मिथिलाप्रसाद जैसे नाम भी चलते हैं यद्यपि चित्रकूटप्रसाद अभी मुझे नही मिले है। भक्ति-संप्रदायों की गुरु-भक्ति की छाप गुरुदयाल, गुरुप्रसाद, जैसे नामो मे मिलती है।

पश्चिमी संयुक्त प्रांत मे वैश्यों के बीच जैनधर्म का प्रभाव अभी थोड़ा बहुत चला जाता है। अतः उधर ऋषभदास, अथवा, सिद्धनाथ, जैसे नाम अक्सर मिल जाते है। सुखपाल तथा सूरजमल , जैसे नाम भी जैनों में ही प्रायः मिलते हैं। साधारण पौराणिक नाम रखने की प्रवृत्ति बहुत कम हो गई है तब भी हरिश्चंद्र, अथवा मार्कंडेयसिंह कभी-कभी मिल ही जाते है।

अपने प्रदेश के नामों में धार्मिक नाम ६०, ७० प्रतिशत से भी अधिक इस अधार्मिक युग मे भी चल रहे है। किंतु कुछ लौकिक सार्थक नामो का भी चलन है। यह प्रवृत्ति क्षत्रियो और ठाकुरों में विशेष मिलती है। प्रायः इस प्रकार के नामों के पीछे बल, तेज, आदि का भाव प्रधान रहता है, जैसे त्रिलोकसिंह, प्रतापसिंह, विक्रमाजीतसिंह, महीपालसिंह, दिग्विजयसिंह, वीरेश्वरसिंह। पूरब मे सभाजीतसिंह, सर्वजीतसिंह, तिलकधारीसिंह, अथवा राजदेवप्रसाद, जैसे नाम अधिक चलते हैं। विजयचंद्र, राजनाथ, पृथ्वीनाथ, जयपाल, तेजप्रताप, प्रतापनरायन, बलवंतप्रसाद, राजदेव, जैसे नाम क्षत्रियो के अतिरिक्त अन्य जातियों में भी मिल जाते हैं। निम्न प्रकार के नामों में वैदिक या पौराणिक इद्र देवता का उतना स्मरण नहीं किया गया है जितना ऐश्वर्य की भावना को लाने का यत्न किया गया है, जैसे इंद्रदेवनरायन, राजेंद्रप्रताप, सुरेंद्रप्रताप, इंद्रपाल। गजराज अपने ढंग का निराला नाम है। ज्योतिप्रकाश, सूरजनरायन, सूरजभान, दिवाकरसिंह, आदित्यकिशोर, आदित्यप्रसाद, आदित्यप्रकाश, भानुप्रताप, चंद्रनरायन, पूरनचंद्र, फूलचंद, शरच्चंद, ताराचंद, श्रीकर, सूर्य तथा चंद्र संबंधी नामों में तेज अथवा कांति के साथ धार्मिक भावना भी रहती है। अक्सर लोग अपने बच्चे को कुल का प्रकाशक या धन, सौदर्य का अवतार, ऐश्वर्य तथा सुख की खान अथवा स्नेह की मूर्ति तथा असाधारण आत्मा समझते हैं। इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण निम्न प्रकार के नाम सर्वसाधारण में काफ़ी प्रचलित हैं—कुलदीपनरायन, हीरालाल, जवाहरलाल मोतीलाल जगतभूषन निधिपाल सुदरलाल मनोहरलाल

गुलाबचंद, मदनमोहन, मनमोहन, सुखदेव, देवनंदन, महानंद, लालजी, परमानंदलाल, छोटेलाल, परमहंस, हंसस्वरूप, इत्यादि।

हर्षोत्पादक ऋतुओं का भाव लेते हुए निम्न प्रकार के नाम रक्खे जाते हैं, जैसे बसतलाल, होरीलाल। कभी-कभी इन अवसरों पर पैदा होने के कारण भी ऐसे नाम पड जाते है। जिन के बच्चे ज़िंदा नही रहते हैं वे उपेक्षा दिखलाने के लिए शिशु को ज़मीन पर ज़रा घसीट देते है, इसी कारण कभी-कभी फेंकूमल, कूड़ामल, घसीटेराम जैसे नाम सुनने को मिल जाते हैं। छः उंगलियों के बच्चे का नाम अक्सर छंगामल या छंगालाल रख दिया जाता है। दुखीलाल नाम का कारण मैं अभी तक ठीक नही समझ पाया हूँ।

मुस्लिम-कालीन प्रभाव अथवा विदेशी शब्दावली बहुत कम नामों में मिलती है, किंतु कुछ नाम इस प्रकार के अवश्य चल रहे हैं, जैसे साहबजादे सिंह, राजेंद्र बहादुर, फतेह बहादुर,जंग बहादुर, तेज बहादुर, विजय बहादुर,इक़बाल नरायन, इक़बाल बहादुर, फतेहचंद, भगवानबख्श सिंह, रोशनलाल, शादीलाल इत्यादि।

नामों के संबंध में बिहार तथा काशी प्रदेशों की विशेषता ऊपर बतलाई जा चुकी है। प्रादेशिकता की दृष्टि से अपने प्रांत के पहाड़ों पर प्रायः दत्त या आनंद अंत वाले नाम बहुत प्रचलित है, जैसे रामदत्त, गोपालदत्त, विशंभरदत्त, धर्मानंद, केवलानंद, घनानद, सत्यानद, देवानंद, सर्वानंद। क्षत्रियों में पहाड़ पर भी सिंह अंत वाले नामों का विशेष चलन है।

इधर बीसवीं शताब्दी में नामों पर कुछ नए प्रभाव पड़ रहे है। आर्यसमाज के प्रभाव के कारण सार्थक तथा वैदिक धर्म के विचारों को लेते हुए नाम रखने का चलन फैला, इस के फलस्वरूप ओम्प्रकाश, ब्रह्मेश्वर, ब्रह्मानंद, सत्यदेव, सत्यव्रत, धर्मव्रत, धर्मदेव, दयानंद जैसे नाम सुनाई पड़ने लगे हैं। नामों में शर्मा, वर्मा तथा गुप्त लगाने की प्रवृत्ति भी आर्यसमाज के प्रभाव के ही फलस्वरूप है। दास तो वैष्णव प्रभाव से ही काफी संख्या मे मिलता था।

अपने यहाँ बंगाली नामों का प्रभाव भी इधर काफ़ी पड़ा है। इंद्र अंत वाले नाम प्रायः बंगाली नामो के अनुकरण में रक्खे गए हैं। कुछ अन्य नाम भी इस श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं। ऐसे नामों की काफ़ी लंबी सूची बन सकती है जैसे भूपेंद्र वीरेंद्र नरेंद्र सुरेंद्र नगेंद्र रवींद्र देवेंद्र राजेंद्र नृपेंद्र धीरेंद्र कवींद्र तथा अरविंद अविनश दिनश इत्यादि

पश्चिमी प्रभाव नामों के रखने में अभी दृष्टिगोचर नही होता जार्ज जीराव नाम अपवाद स्वरूप है—किंतु नामों के गठन पर इस का विशेष प्रभाव पड़ा है। पश्चिमी प्रभाव के पहले नाम प्राय: दो शब्दों से बने होते थे। किंतु यह पश्चिमी प्रभाव का ही फल है कि एक तीसरा शब्द भी नामों में जुड़ने लगा है। यह तीसरा शब्द प्राय: जातिवाचक होता है, जैसे मिश्र, चतुर्वेदी, तिवारी, दुबे, अवस्थी, पांडे, मालवीय, पाठक, शुक्ल, जोशी, वाजपेयी, दीक्षित, नागर, सिनहा, सक्सेना, माथुर, श्रीवास्तव, अग्रवाल, जैसवाल, माहेश्वरी, अरोरा, सेठ, साह, नेगी, यादव, चौहान, भार्गव, पालीवाल, खत्री, टंडन, कभी कभी गोत्र, आस्पद या अल्ल सूचक शब्द भी लगाए जाने लगे हैं, जैसे भारद्वाज, चौधरी, जौहरी, अदावाल, खरे, गोइल, गोस्वामी, सप्रू, नेहरू, काक इत्यादि। किंतु यह तो अध्ययन का एक स्वतंत्र ही विषय है। पश्चिमी प्रभाव सब से अधिक नामों के संक्षिप्त रूप देने में मिलता है, जैसे रामप्रसाद त्रिपाठी अब पूर्णरूप में हम लोगों को बहुत कम दिखलाई पड़ते हैं। एस० सी० जेम्स के वजन पर ये अब प्राय: आर० पी० त्रिपाठी हो गए हैं। मेरे एक मित्र पंडित रघुनाथ प्रसाद त्रिवेदी अपने को र० प्र० त्रिवेदी लिखा करते थे। किंतु अंग्रेजी प्रभाव के रहते हुए भी स्वदेशीपन की इस तरह की छाप अभी अत्यंत असाधारण है।

इस छोटे से निबंध में संयुक्त प्रांत के हिंदू पुरुषों के नामों के संबंध में कुछ मुख्य प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है। नामों के इस संक्षिप्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुँचते हैं कि अपने देश पर धार्मिकता, विशेषतया पौराणिक और भक्ति-संप्रदायों की छाप इस बीसवीं शताब्दी में भी विशेष कम नही हुई है। इस्लाम का प्रभाव नामों पर विशेष नही पड़ा, नवीनता के लक्षण भी जहाँ-तहाँ दिखलाई पड़ने लगे हैं, विशेषतया सार्थक नामों में। लेकिन वे अभी तो दाल में नमक के ही बराबर है। पश्चिमी नक़ल में रामप्रसाद त्रिपाठी का आर० पी० त्रिपाठी हो जाना तो केवल इतना ही जतलाता है कि त्रिपाठी जी ने धोती-चादर छोड़ कर समय की आवश्यकता के अनुरूप कोट-पतलून पहिन लिया है। उन का हाड़-मांस नहीं बदला है। वही पुराना चला जा रहा है।

महाराष्ट्र संत तुकाराम और उन की हिंदी कविता

[लेखक---श्रीयुत भोलानाथ शर्मा, एम्० ए०]

प्राचीन काल में, जब कि भारतवर्ष में अंतर्प्रांतीय व्यवहार मे तथा उच्च कोटि के साहित्य में संस्कृत भाषा का प्रयोग होता था, भारत की आत्मा की अखंडता अक्षुण्ण बनी रही। भारतवर्ष इतना विशाल देश होते हुए भी सांस्कृतिक ऐक्य के सूत्र में बँधा रहा। मध्ययुग की परिस्थिति बहुत कुछ प्रतिकूल रही, पर उस प्रतिकूलता मे भी आशा का एक-दम अभाव हो गया हो, ऐसी बात नही थी। अध्यापक क्षितिमोहन सेन की शोधों ने उस अंधकार के युग में भारत की अखंडता के दीप की ज्योति का पता लगाने का अत्यंत स्तुत्य कार्य किया है। यह ज्योति थी साधु-संतों की ज्योति। यह लोग मध्ययुग में प्रांतीयता का मोह त्याग कर संपूर्ण देश में पर्यटन करके अनेक सांस्कृतिक केंद्रों से मधुमक्षिका के सदृश मधु एकत्रित कर यत्र-तत्र उस का वितरण करते थे। यह लोग सभी प्रांतों में उत्पन्न हुए तथा भारत की ऊँची-नीची सभी जातियों को इन महात्माओं को जन्म देने का गौरव प्राप्त है। यह लोग विश्वव्यापी प्रेम एवं अध्यात्म-तत्त्व के उपासक थे। तुकाराम महाराष्ट्र के साधुओं में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, पर वह मध्यकालीन भारत की भी विभूति हैं। उन की महत्ता को प्रांत-विशेष में सीमित कर देना अनुचित है। उन की हिंदी-कविता की उपलब्धि भी उन की प्रतिभा की सार्वदेशिकता की साक्षी है। आज, जब कि प्रांतीयता की लहर भारतीय अखंडता को डुबोने के लिए उमड़ रही है, इस बात की भारी आवश्यकता है कि ऐसे सार्वदेशिक महात्माओं के चरित्र का हम अध्ययन करें।

साधु तुकाराम महाराष्ट्र संत-मणि-माला के सुमेरु हैं। महाराष्ट्र-प्रदेश के आधुनिक विद्वानों ने ऐतिहासिक शोध का कार्य जितनी लगन और अध्यवसाय के साथ किया है वह सर्वथा स्तुत्य एवं अनुकरणीय है। उन के प्रयत्नों से तुकाराम के जीवन-चरित्र के विषय मे जो कुछ जाना जा सकता था जान लिया गया है। प्रस्तुत जीवन चरित्र जो कि अत्यंत संक्षिप्त है सर के शविज्म आदि प्रकर पंक्ति

की तुकाराम की कविता-संग्रह की भूमिका, जगद्धितेच्छु प्रेस की 'श्री तुकारामाची गाथा' की भूमिका, श्री लक्ष्मण रामचंद्र पांगारकर के सुप्रसिद्ध तुकाराम के जीवन-चरित्र एवं प्रो० रानडे के 'मिस्टीसिज़्म इन महाराष्ट्र' के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

पूना से आठ कोस दूर वायव्य-कोण में देहू नामक एक ग्राम है। यहीं साधु तुकाराम का जन्म हुआ। इसी कारण यह गाँव महाराष्ट्र का एक तीर्थ बन गया है। कई पीढ़ियों से तुकाराम के पूर्वपुरुष यहाँ निवास करते थे। वह जाति के कुणब वाणी (कुनबी बनिये) शूद्र थे, उन का कुल-नाम मोरे एवं उपनाम आंबिले, आंबले अथवा अंब्ले था। वाणिज्य-व्यवसाय तथा पंढरपुर के बिठोवा की भक्ति तुकाराम को अपने पूर्वपुरुषों से विरासत में मिली वृत्तियाँ थी। तुकाराम के आठवें पूर्व-पुरुष विश्वंभर थे; उन्हों ने स्वयं देहू में ही श्री-विट्ठल एवं रखुमाई का मंदिर निर्माण कराया जो आज भी विद्यमान है। तुकाराम के पिता का नाम बोल्होबा तथा माता का नाम कनकाबाई था। उन के जन्मसंवत् के विषय में बहुत मतभेद है पर संभवतया तुकाराम का जन्म शक संवत् १५३० अथवा विक्रम-संवत् १६६५ में तुलसी के शरीर त्याग से १५ वर्ष पूर्व हुआ था। उन के दो भाई और थे, बड़े भाई का नाम सावजी था तथा छोटे का नाम कान्होबा। भक्तों का विचार है कि तुकाराम के रूप में पुन. नामदेव का ही अवतार हुआ था।

उन का बाल्यकाल तो प्राय: सुख से व्यतीत हुआ। पिता ने छोटी अवस्था में विवाह कर दिया था पर प्रथम पत्नी को दमा रोग होने के कारण तुकाराम के पिता ने उन का दूसरा विवाह एक धनवान् की कन्या के साथ कर दिया। पर यह देवी उग्र स्वभाव वाली थी। सावजी अत्यंत विरक्त स्वभाव के थे वह व्यापार इत्यादि की देख भाल भी नहीं करते थे अतएव पिता के जीवन-काल ही में तुकाराम को कुलक्रमागत वाणिज्य का कार्य सीख लेना पड़ा। १३ वर्ष की अवस्था में वह अपने व्यवसाय का संपूर्ण कार्य-भार स्वयं उठाने लगे।

सत्रह वर्ष की अवस्था में तुकाराम को माता-पिता से वंचित होना पड़ा। इसी समय से उन को एक के उपरांत दूसरी विपत्ति सहनी पड़ी। परिणाम यह हुआ कि शनै: शनै: इस असार एवं अनित्य जगत् से उन को वैराग्य होता गया और भगवान् में भक्ति दृढ़ होती गई। अभी पितृ-वियोग का दु:ख नहीं घटा था कि बड़े भाई की पत्नी भी चल बसी। सावजी पहले से ही विरक्त थे पत्नी-स्वरूप पाश के छिन्न हो जाने पर वह घर

छोड़ कर निकल गए और फिर कभी न लौटे। इस समय तुकाराम की अवस्था केवल अठारह वर्ष की थी। दुःखों से घिर जाने के कारण व्यवसाय पर पूर्ण ध्यान न दिया जा सका, परिणामतः व्यवसाय बैठ गया। तदनंतर धन-प्राप्ति के जितने उपाय किए कोई सफल न हुए। इस पर पड़ गया घोर अकाल जिस में उन की प्रथम पत्नी अन्नाभाव के कारण मृत्यु को प्राप्त हुई। कुछ समय उपरांत संतु नाम का पुत्र भी अनंत पथ का पथिक हो गया। ढोर-डंगरों के मर जाने पर तुकाराम अकिंचन एवं दिवालिया हो गए। उन को जन-साधारण के सामने लज्जा लगने लगी। भक्ति और विरक्ति की जड़ें हृदय में सुदृढ़ रूप से जम गई। इस प्रकार तुकाराम के जीवन का पूर्वार्द्ध समाप्त हो गया, उस समय उन की अवस्था २१ वर्ष की थी। उन्हो ने एक स्थान पर लिखा है कि जिस पर भगवान् कृपा करते हैं उस को सांसारिक सफलता प्राप्त नही होने देते। उपरोक्त संपूर्ण घटनाओ को तुकाराम ने स्वयं एक अभंग में वर्णित किया है, जिस की प्रथम पंक्ति 'याती शूद्र वश केला व्यवसाय' है।

तुकाराम की विरक्ति इतनी बढ़ गई कि इष्टमित्र एवं स्त्री के समझाने पर भी उन्हों ने एकांत में भगवद्-चिंतन को छोड़ कर संसार सँभालने की ओर कोई प्रयास नही किया। एक बार तो वह गृहत्याग कर देहू से दो कोस पर स्थित भाँवनाथ अथवा भामनाथ पर्वत पर भगवद्भजन करने चले गए। 'भक्तलीलामृत' ग्रंथ के रचयिता महीपति के अनुसार तुकाराम को यही ईश्वर का साक्षात्कार हुआ। उन का छोटा भाई कान्होबा उन की खोज करता हुआ सात दिन में वहाँ उन से मिला। जिस स्थान पर तुकाराम को भगवद्-साक्षात्कार हुआ था उस स्थान पर पादुका आज तक स्थापित हैं। कान्होबा तुकाराम को घर लौटा लाया। उन्हों ने घर के सारे कागज-पत्र निकाल कर कहा कि यह सब कागज के घोडे हैं जिन के रहने से केवल दुराशामात्र बढ़ती है अतएव मैं इन सब को इंद्रायणी में बहा दूँगा। कान्होबा ने कहा कि मुझे तो गृहस्थी चलाने के लिए इन की आवश्यकता है। इस पर तुकाराम ने उन के दो भाग करके एक भाग कान्होबा को दिया और दूसरे भाग को इद्रायणी के जल में बहा कर छुट्टी पाई। उन्हों ने प्रण किया कि मैं भगवद्भक्ति को छोड अन्य व्यवसाय नहीं करूँगा। देहू से तीन कोस पश्चिम की ओर भांडारा नामक पर्वत पर दिन भर भजन कर वह रात्रि को घर लौटते थे और रात्रि में देवालय में भजन करते थे। जहा कहीं अथवा होती वहा जा कर अत्यंत ध्यान से कथाओं को

सुनते और एकात में उन का मनन करते। नामदेव के समस्त अभंग तथा कबीर की कविता का उन्होंने पाठ किया। 'ज्ञानेश्वरी', 'एकनाथी भागवत', 'भावार्थरामायण,' 'योगवासिष्ठ', 'अमृतानुभव' इत्यादि ग्रंथों को पढ़ कर उन पर तुकाराम ने गहरा मनन किया। एकादशी व्रत का भी वह अत्यंत श्रद्धा से पालन करते थे।

इस प्रकार माघ शुक्ल १० गुरुवार को उन को स्वप्न में गुरु के दर्शन हुए। उन्हों ने देखा कि प्रभात काल गंगास्नान को जाते हुए, एक ब्राह्मण उन को मिला जिस ने उन को 'राम कृष्ण हरी' इस गुरुमंत्र का उपदेश दिया और गुरुपरंपरा इस प्रकार बतलाई कि मूल गुरु राघवचैतन्य, उन के शिष्य केशवचैतन्य और उन का शिष्य मैं बाबा चैतन्य हूँ। तदुपरांत तुकाराम अपने गुरु को भोजन कराने के लिए घर लाए पर उन की पत्नी जिजाबाई ने वह फटकार बतलाई कि सारा स्वप्न दूर हो गया और गुरुदेव लौट कर चले गए। गुरुदीक्षा के अनंतर तुकाराम के हृदय मे कविता का अजस्र श्रोत फूट पड़ा। कहते हैं काव्य-रचना का आदेश उन को स्वप्न में ही हुआ था ओर आदेश पा कर ही उन्हों ने काव्य-रचना आरंभ की। यह आदेश उन को पांडुरंग एवं नामदेव की ओर से मिला था।

तुकाराम ने जब काव्यरचना, कीर्तन एवं कथा प्रारंभ की तो उन की प्रसिद्धि का प्रसार होने लगा और श्रोताओं की संख्या बढ़ने लगी। उन की सरल-सुबोध अभंगवाणी प्रत्यक्षानुभव के आधार पर ऐसी प्रभावोत्पादक थी कि सर्वसाधारण का चित्त अनायास उस की ओर आकृष्ट हो जाता था। पर आज तक किसी शूद्र ने इस प्रकार कथा-कीर्तन से जनता को उपदेश देने का साहस नहीं किया था, अतएव तुकाराम की इस धृष्टता पर धर्म के ठेकेदारों का रुष्ट होना स्वाभाविक ही था। इधर तुकाराम थे साक्षात् विनय के अवतार। जब मंबाजी नामक ब्राह्मणदेवता ने उन को बहुत सताया तो उन्हों ने सब कष्टों को आनंद-पूर्वक शांति से सहन किया तथा अपनी साधुता से मंबाजी को पानी-पानी कर दिया। उन की साधुता से आकृष्ट हो कर अनेक मनुष्य उन के शिष्य बनने लगे। इन में सभी जाति के लोग थे। गंगाधर मवाल तथा संताजी जगनाडे तो छाया की तरह तुकाराम के साथ रहते थे तथा उन की कविता को लिखते जाते थे। पर इस सब स्थिति से देवी जिजाबाई नितांत असंतुष्ट थीं और एक बार यह दांपत्य-कलह यहाँ तक बढ़ा कि तुकाराम को घर छोड़ कर वन को निकल जाना पड़ा। वहाँ यदि कोई गाँव से उन को भोजन दे जाता तो खा लेते अन्यथा निश्चित भाव से भगवान् का भजन करते देवी जी को अंत में हार माननी पड़ी

और आज्ञानुसरण की प्रतिज्ञा कर के वे तुकाराम को मना कर घर लाने मे सफल हुईं। उन्हों ने अपनी पत्नी को भी सर्वस्व-त्याग का उपदेश दिया पर उन पर वैराग्य का रंग स्थिर रूप से न चढ़ सका।

संसार के अन्य प्रथम कोटि के भक्तों के सदृश तुकाराम के जीवन के विषय में भी अनेक चमत्कारमय कृत्यों का कथन मिलता है। विट्ठल और गणपति को भोजन कराना, इंद्रायणी के जल में उन की कविता की पोथियों का तर जाना, रामेश्वर भट्ट के शरीरदाह का तुकाराम के अभंग बाँचने पर शांत हो जाना, तुकाराम की अभंग-पत्रिका बाँच कर विट्ठल का स्वयं उन के घर पधार कर भोजन करना, आलंदी के पक्षियों का तुकाराम की साधना से प्रभावित होना, और अंत में सदेह स्वर्ग-प्रस्थान इत्यादि चामत्कारिक घटनाओं का उल्लेख तुकाराम के जीवन-चरित्रों में मिलता है। उपर्युक्त घटनाओं में से कुछ के विषय में तुकाराम ने स्वयं अभंग लिखे है, तथा भक्तों का उपर्युक्त सभी घटनाओं की सत्यता के संबंध में विशेष आग्रह है। कुछ कथाएँ तुकाराम की चारित्रिक उच्चता के विषय मे भी कही जाती हैं; जिन में एक दुरभिलाषावती स्त्री का दुरभिसंधि से एकांत में उन के पास जाने पर उन का उस को मातृवत् मानना तथा सच्चा मार्ग दिखलाना, एवं शिवाजी द्वारा भेजे हुए प्रभूत धनैश्वर्य को बिना छुए लौटा देना प्रमुख हैं।

तुकाराम तथा शिवाजी के संबंध की ऐतिहासिकता में प्रायः विद्वानों को संदेह नहीं है। शिवाजी लोहागाँव में तुकाराम का कीर्तन सुनने आया करते थे, तथा उन की आस्था तुकाराम में यहाँ तक बढ़ी कि वे राजकार्य से उदासीन होने लगे। इस पर शिवाजी की माता ने स्वयं लोहागाँव आ कर तुकाराम से शिवाजी को वैराग्य से उपरत कर राजकाज की ओर प्रवृत्त होने का उपदेश देने की प्रार्थना की। तुकाराम ने उस दिन अपने कीर्त्तन में प्रवृत्ति-मार्ग का इतना अच्छा प्रतिपादन किया कि शिवाजी का बढ़ता हुआ वैराग्य जाता रहा और वह अपने राज्य का भार वहन करने को कटिबद्ध हो गए। तुकाराम के कुछ अभंग भी शिवाजी को लक्ष्य कर रचे गए प्रतीत होते हैं। शंकर पाडुरंग पंडित, केलुसकर, रानडे, तथा पांगारकर इत्यादि महाराष्ट्रीय विद्वान् तुकाराम एवं शिवाजी के संबंध को ऐतिहासिक मानते हैं।

मिताहार सर्वदा तथा अन्य ऐहिक वार्त्ता से

औदासीन्य, परोपकार में तत्परता, द्रव्य, मान इत्यादि विषयों के प्रति निस्पृहता, निरभिमानित्व, स्थिरचित्तता, एकांतवास के प्रति आग्रह, कथा तथा कीर्तन की प्रीति, उपदेश करने में सिद्धता, निर्गुण के प्रति द्वेष न रखते हुए सगुणरूपावतार में दृढ़ आस्था, तथा स्पष्टवादिता तुकाराम के चरित्र के विशेष अंग थे। विनय के तो वह मानो साक्षात् अवतार ही थे। इसी अमोघास्त्र के सहारे उन्हों ने विरोधियों पर विजय पाई और उन के अनेक विरोधी अंत में उन के शिष्य बन गए।

महाराष्ट्र के साधु-संतों ने जो भक्ति का मंदिर खड़ा किया है, उस के विषय मे यह कहा जाता है कि श्री ज्ञानेश्वर महाराज ने उस की नींव डाली थी, श्री नामदेव ने उस का अबारा निर्माण किया है, श्री एकनाथ ने उस के ध्वज को उठाया है तथा तुकाराम ने उस मंदिर के शिखर पर मानों कलश आरोपित किया है। किसी कवि ने तो यहाँ तक कह डाला है कि—

तुकाराम तुक राम से दोनों सेतु अभंग।
उन्का सेतु भंग गया इन्का सेतु अभंग॥

तुकाराम की रचना में न केवल उन के अपने अनुभव का निचोड़ है, बल्कि अनेक धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रंथों का सार विद्यमान है। पागारकर महोदय ने तुकाराम के अध्ययन का विवेचन करते हुए बतलाया है कि उन्होंने, गीता, भागवत, विष्णुसहस्रनाम, अनेक पुराण, तथा संस्कृत ग्रंथों का अभ्यास किया था। देश-भाषाओं में उन्हों ने ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, कबीर इत्यादि संतों की रचनाओं का अध्ययन अत्यंत मनोनिवेश के साथ किया था। इतना होने पर भी उन को कोरे शाब्दिकज्ञान का मोह नाम को न था। केवल शास्त्र-ज्ञान की तो उन्हों ने अनेक स्थानों पर निंदा ही की है। संत-वचनों में कथित तथ्य को जब तक उन्हों ने साधना के द्वारा प्रत्यक्षानुभव से आत्मसात् न कर लिया, तब तक वह मौन रहे। जब उन का कंठ कविता के लिए खुला तो उपरोक्त संपूर्ण अध्ययन का सार उन के अपने व्यक्तिगत अनुभव से अनुरंजित हो कर प्रकट हुआ। यही कारण है कि उन की रचनाओं में शब्दाडंबर का अभाव होते हुए भी, हृदय को स्पर्श करने की शक्ति प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। सरलता और खरापन उन की रचना की विशेषता है।

(२)

तुकाराम की हिंदी कविता भी होती है यह हिंदी के लिए अत्यंत गौरव की बात है एसा प्रतीत होता है कि अत्यंत प्राचीन काल से महाराष्ट्र में हिंदी भाषा का

प्रचार रहा है। नागरी-प्रचारिणी सभा के कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह में भास्कर रामचद्र भालेराव ने महाराष्ट्र प्रांत के आधुनिक साहित्य के प्रारंभ से ही वहाँ हिंदी काव्य-रचना का होना सिद्ध किया है। उक्त महाशय ने महाराष्ट्र में हिंदी-प्रचार के कारणों का भी उल्लेख किया है, जिन में गोरखपंथ का महाराष्ट्र से प्रचार, अयोध्या, काशी तथा व्रज की यात्राएँ, मुस्लिम युग में शासन का केंद्र हिंदी-भाषा प्रांत में होना, राजपूत एवं मराठो का संबंध इत्यादि कारण प्रमुख हैं। इसी प्रकार हिंदी का प्रचार गुजरात में भी रहा है। इस से स्पष्ट ही है कि हिंदी बहुत पुराने समय से अंतर्प्रांतीय भाषा रही है।

तुकाराम ने हिंदी किस प्रकार सीखी यह एक समस्या है। पांगारकर महोदय ने 'श्रीतुकारामचरित्र' में [1] बतलाया है कि तुकाराम ने एक अभंग मे बाराणसी, गया, एव द्वारिका देखने की बात कही है। पांगारकर ने अनुमान किया है कि वैराग्यप्राप्ति के एक दो वर्ष के भीतर ही वह उक्त तीर्थस्थानों में हो आए होंगे। इस के अतिरिक्त तुकाराम-चरित्र में मंगलाचरण के २५ पृष्ठ पर पांगारकर ने एक अभंग उद्धृत किया है, जिस में तुकाराम ने अपने आध्यात्मिक संबंधियों की तालिका दी है। इस अभंग में उन्हों ने रैदास और कबीर को अपना सगा बतलाया है एवं सूरदास तथा मीराबाई के नाम का अत्यत आदर-पूर्वक उल्लेख किया है। अध्यापक रानडे तथा डाक्टर बेल्वल्कर ने अपने 'मिस्टि-सिज्म इन महाराष्ट्र' [2] नामक ग्रंथ में तुकाराम का एक अभंग उद्धृत किया है जिस में यह बतलाया गया है कि उच्च कुल का अभिमान व्यर्थ है। भगवद्भक्त किसी कुल में उत्पन्न क्यो न हो वह अपने कुल को पवित्र कर देता है। इस अभंग मे यह भी बतलाया गया है कि रैदास चमार तथा कबीर मुसल्मान होते हुए भी भगवान् को प्राप्त कर सके थे। यह सब भक्ति के प्रभाव से न कि कुलगौरव से। शंकर पांडुरंग पंडित ने सुप्रसिद्ध 'इंदुप्रकाश' वाले सस्करण की भूमिका में लिखा है कि तुकाराम ने नामदेव के पुष्कल अभंग तथा कबीर की कविता का अध्ययन किया। [3] पांगारकर ने [4] लिखा है कि "उत्तर भारत के संत कवियो मे कबीर साहब की साखियों का तुकाराम जी को विशेष परिचय था। तुकाराम जी ने स्वय

---

[1] गीता प्रेस संस्करण, पृष्ठ १००

[2] पृ० ३२६

[3] तुकाराम तात्या के का परिशिष्ट, पृ० ५९२

[4] गीता प्रस गोरखपूर , पृ० २४८

भी उन के ढंग पर दोहे रचे हैं, तथा कुछ अंतः प्रमाणों से भी यह बात स्पष्ट है।" उक्त महाशय ने यह भी लिखा है कि "तुकाराम जी के डंडों के खेल पर सात अभंग हैं। इन में से एक अभंग है 'खेळ खेळोनियां निराळे' (खेल खेल कर अलग)। इस में खेल खेल कर भी अलग रहे हुए—प्रपंच के दाव में न आए हुए चार खेलाड़ियों का उन्हों ने वर्णन किया है। ये चार खेलाड़ी हैं, नामदेव, ज्ञानदेव (उन के भाई बहिन) कबीर और एकनाथ। तुकाराम इन्ही चार संतों को सब से अधिक यानी गुरुस्थानीय मानते थे। ये ही इन के प्यारे चार खिलाडी है"।[1] इस अभंग में कहा गया है कि "कबीर खेलाड़ी ने राम को मीर बनाया और यह जोड़ी खूब मिली। (राम बसवंत कबीर खेलिया। जोड़ा बरवा मिलाला रे)।" तुकाराम ने अपने श्रोताओं को भी उक्त संतों के प्रदर्शित मार्ग पर चलने का उपदेश दिया है। "ऐसा प्रेम और आदर होने से ही तुकाराम जी ने इन के ग्रंथों का बड़ी बारीकी के साथ अध्ययन किया।" संभव है कि तुकाराम की विपुल अभंग-राशि का अवगाहन करने से उस में कबीर तथा अन्य हिंदी कवियों का उल्लेख और भी मिल सके। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि तीर्थयात्रा एवं संतों के ग्रंथों के अध्ययन से तुकाराम हिंदी भाषा एवं साहित्य से परिचित हुए। पर उन्हो ने हिंदी भाषा मे रचना क्यों की ? यह प्रश्न भी विचारणीय है। इस के तीन कारण संभव हैं—

(१) ज्ञानेश्वर, नामदेव तथा एकनाथ, जिन को तुकाराम ने जीवन का आदर्श माना था, सभी की हिंदी कविता प्रस्तुत थीं, तब उन के पदचिन्हों का अनुसरण करने वाले तुकाराम भला हिंदी में रचना क्यो न करते ?

(२) जिन कबीर, रैदास, सूरदास तथा मीराबाई के गुणों से वह मुग्ध थे उन के प्रति कृतज्ञता-प्रदर्शन का एक प्रकार उन की भाषा में रचना करना भी हो सकता है।

(३) तुकाराम की बढ़ती हुई भक्तमंडली में संभव है कभी कुछ हिंदी भाषा प्रांत के मनुष्य अथवा मुसलमान भी पहुँच जाते हों, अतएव ऐसे व्यक्तियों को निराश लौटाने की अपेक्षा उन को उन की भाषा ही में उपदेश देना उचित समझा गया हो।

तुकाराम की हिंदी कविता की प्रामाणिकता के विषय में भी दो शब्द कहना अनुचित न होगा। मेरे पास तुकाराम के तीन छपे हुए अभंग-संग्रह हैं—

---

[1] गीता प्रेस, गोरखपुर) पृ० २५०

(१) शंकर पांडुरंग पंडित तथा विष्णु शास्त्री पंडित द्वारा संपादित तथा 'इंदुप्रकाश' द्वारा प्रकाशित संस्करण दूसरा भाग;

(२) तुकाराम तात्या द्वारा प्रकाशित संस्करण; और

(३) जगद्धितेच्छु प्रेस का गुटका-संस्करण।

शंकर पांडुरंग पंडित के संस्करण की प्रामाणिकता पांगारकर, रानडे तथा बेलवल्कर जैसे विद्वानों को मान्य है। पर दुर्भाग्यवश उस का प्रथम भाग, जिस में हिंदी कविता है, प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं हो सका। पर दूसरे भाग के अंत में संपूर्ण पद्यों की प्रथम पंक्तियाँ दी हुई है। मैं ने वर्तमान हिंदी कविता का पाठ जगद्धितेच्छु छापेखाने के गुटका-संस्करण से लिया है। इस के विषय में पांगारकर की सम्मति इस प्रकार है कि यह संस्करण मालियों की हस्तलिखित प्रति के आधार पर किया हुआ है, संप्रदाय मान्य है और वारकरियों के भजनों में इस से काम लिया जाता है।[1] इस संग्रह को आदि से अंत तक देख कर मैं ने तुकाराम की हिंदी कविता का संग्रह किया, और तदुपरांत शंकर पांडुरंग पंडित के द्वितीय भाग के अंत में दी हुई प्रथम पंक्तियों की तालिका में इस की प्रथम पंक्तियों का मिलान कर के देखा तो जगद्धितेच्छु छापेखाने वाले संस्करण की सभी हिंदी रचनाएँ उस में मिल गई। इस के उपरांत तुकाराम तात्या का संस्करण मिला (१८९६)। इस को टटोलने पर 'उत्तराधि पदें' नामक प्रकरण में दो हिंदी पद्य और उपलब्ध हुए। इन की प्रथम पंक्तियाँ भी शंकर पांडुरंग पंडित की तालिका में उपलब्ध हो गई। शंकर पांडुरंग पंडित के द्वितीय भाग तथा तुकाराम तात्या के संस्करण की तुलना करने पर यह भी विदित हुआ कि तुकाराम तात्या के पाठ एवं पंडित-द्वय के पाठ में कोई विशेष अंतर नहीं है तथा अभंगों की क्रम-संख्या में भी विशेष परिवर्तन नहीं है, इस से स्पष्ट ही यह अनुमान किया जा सकता है कि पंडितद्वय के प्रथम भाग और तात्या महोदय के पूर्वार्द्ध में भी विशेष अंतर नहीं होगा। यदि यह अनुमान ठीक हो तो प्रस्तुत हिंदी कविता का पाठ तीन अभंगों के संस्करणों से अनुमोदित ठहरता है जिन में से दो अत्यंत प्रामाणिक संग्रह हैं। अतएव प्रस्तुत कविता के तुकाराम की मूल रचना होने में

---

[1] पृ० ८

संदेह करने के लिए लगभग नहीं के बराबर अवकाश रह जाता है। हाँ, यह संभव हो सकता है कि अन्य संस्करणों में शब्दों के पाठ में कुछ भेद हो। कोषोत्सव-स्मारक-संग्रह में श्री भास्कर रामचंद्र भालेराव ने "हिंदी साहित्य के इतिहास के अप्रकाशित परिच्छेद" नामक जो निबंध लिखा है उस में तुकाराम के दो दोहे उद्धृत किए हैं जिन का पाठ निम्नलिखित है--

तुका बड़ो वह ना तुले , जाहि पास बहु दाम।
बलिहारी वा बदन की , जेहि ते निकसे राम॥
तुका कहे जग भ्रम परा , कहो न मानत कोय।
हाथ परेगो काल के , मार फोरिहै डोय॥

प्रस्तुत संग्रह में इन दोहों का पाठ इस प्रकार है:--

तुका प्रभु बड़ो न मनूं न मानूं बड़ो। जिस पास बहुदाम।
बलिहारी उस मुख की । जिसती निकसे राम॥
कहे तुका जग भुलारे । कह्या न मानत कोय।
हात परे जब काल के । मारत फोरत डोय॥

इसी प्रकार पांगारकर महाशय ने 'श्रीतुकारामचरित्र'[1] में तुकाराम का एक दोहा उद्धृत किया है--

लोभी के चित धन रहे , कामिनी चित में काम।
माता के चित पूत बसे , तूका के मन राम॥

वर्तमान संग्रह में इस का पाठ एस प्रकार है--

लोभी के चित्त धन बैठे । कामिनी चित्त काम।
माता के चित पूत बैठे । तुका के मन राम॥

इस तुलना से यद्यपि पाठभेद की संभावना शब्दों के विषय में निश्चित ठहरती है तथापि भाव-साम्य में कोई संदेह नहीं रहता। यह बात केवल तुकाराम की ही रचना के विषय में नहीं, उन सभी संत-कवियों के विषय में ऐसी ही है, जिन की रचनाएँ भक्तों की

---

[1] पृ० २४९

जिह्वा पर नाचती रही है। आप चाहे इस जनप्रियता को सौभाग्य मानें चाहे अभिशाप, पर इस के फल-स्वरूप पाठ-भेदों की समस्या से बचने का उपाय शायद नहीं है।

तुकाराम की हिंदी रचना मे यदि आप छंद-रचना में निपुणता, अलंकारो का चमत्कार तथा शैली की चारुता खोजेंगे तो संभव है आप को निराश होना पड़े। अध्यापक क्षितिमोहन सेन द्वारा संपादित 'दादू' की भूमिका में श्री रवींद्रनाथ ठाकुर ने लिखा है— "कवि जिस समय सत्य की उपलब्धि करते हैं, तो जान पाते हैं कि सत्य का स्वरूप सहज सुदर है। इसी लिए उस समय वह सत्य के रूप को ही स्वीकार करते हैं, अलंकार के आडबर मे मन नही लगाते। वैष्णव-पद मे पढ़ा है कि राधा जिस समय कृष्ण से मिलना चाहती थी, उस समय गले के हार की भी आड़ उन को सह्य नही थी। उन की धारणा में कृष्ण ही उन के लिए एकांत सत्य थे; उस सत्य को खोजने में अलंकार-बाहुल्य ठीक नही; वह बाधा है।" कबीर, नामदेव, दादू तुकाराम जैसे संत-कवियों के काव्य के प्रति हम को कविवर द्वारा निर्दिष्ट दृष्टि रखनी चाहिए। तुकाराम ने तो सर्वस्व खो कर ही सत्य की उपलब्धि की थी, यहाँ तक कि उन को अपनी कविता तक को धारा में प्रवाहित कर देना पड़ा था। यदि ऐसे कवि को बाह्याडंबर से मोह न हो तो आश्चर्य ही क्या? फिर हिंदी तो उन के लिए विदेशी भाषा थी। अतएव आडंबर-शून्यता, सरलता तथा निर्मम खरापन जो उन की मराठी कविता की विशेषताएँ हैं, वही हिंदी कविता में भी वर्तमान हैं।

अध्यापक रानडे तथा डाक्टर बेल्वल्कर ने अपने ग्रंथ 'मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र' मे तुकाराम की साधना को 'पर्सनलिस्टिक मिस्टिसिज्म' कहा है। हिंदी में हम इस को साकारोपासना कह सकते हैं। पर एक स्थल पर उक्त विद्वानों ने यह भी बतलाया है कि, तुकाराम की दृष्टि मे साकार तथा निराकार का भेदभाव लुप्त हो चुका था। हिंदी मे तुकाराम की जितनी कविता उपलब्ध है वह प्रायः उपदेशात्मक है। गौलणी (ग्वालिनी) शीर्षक पदों को छोड़ कर शेष कविता भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता, भाग्य की क्षणभंगुरता, सत्सग की महिमा, सच्चे शूर के लक्षण, प्रभु की दयालुता इत्यादि विषयों पर है। अनेक स्थलों पर भगवान् की सर्वव्यापकता का भी वर्णन मिलता है और कुछ स्थलों पर तुकाराम ने अपनी दीनता का भी निवेदन किया है। कुछ पदों को पढ़ कर यह धारणा दृढ़ होती है कि वह पद मुसलमानों को ही संबोधन कर के रचे गए है। गौलणी शीर्षक के अंतर्गत जो पद है वह गोपियो के विरह के वर्णन म हैं पढरपुर के विट्ठल की महिमा पर हिंदी में तुकाराम

की विशेष रचना नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि तुकाराम ने अपने जीवन के जिस काल में हिंदी कविता की रचना की उस समय वह कबीर के प्रभाव से बहुत अधिक प्रभावित थे।

अब तुकाराम की विविध प्रकार की हिंदी रचनाओं का एक-एक उदाहरण देना अनुचित न होगा।

(१) गौलणी—

मैं भुली घर जानी बाट । गोरस बेचन आये हाट ॥१॥
कान्हा रे मनमोहन लाल । सबहीं बिसरूं देखे गोपाल ॥२॥
काहां पग डारूं देख आनेरा । देखे तो सब वोहिन घेरा ॥३॥
हुँ तो चकित भैर तुका । भागा रे सब मन का धोका ॥४॥

(२) दरवेस—

अल्ला करे सो होय बाबा करतार का सिरताज।
गाऊ बछरे तिस चलावे यारी बाचो न सात ॥१॥
ख्याल मेरा साहेब का बाबा हुआ करतार।
ह्वार्टे आघे चढे पीठ आपे हुआ असवार ॥२॥
जिकिर करो अल्ला की बाबा सबत्यां अंदर भेस।
कहे तुका जो वर सुझे सोहि भया दरवेस ॥४॥

(३) दोहरे—

कहे तुका मैं सबदा बेचूं । लेवे के तन हार।
मिठा साधु संत जन रे । मुरख के सिर भार ॥१॥
कहे तुका भला भया । हुवा संतन का दास।
क्या जानूं केते मरता । न मिटती तन की आस ॥२॥

(४) उत्तराधि पदें—

राम कहो जीवना फल सोही । हरि भजन सुं विलंब न पाई ॥१॥
कवन का मंदिर कवन की झोपरी । एक राम बिन सब ही फुफरी ॥२॥
कवन की काया कवन की माया । एक राम बिन सब ही जाया ॥३॥
कहे तुका सबहि चलणार । एक राम बिन नहि बा सार ॥४॥

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि गौलणी नामक शीर्षक के पदों को छोड़ कर शेष हिंदी कविता में तुकाराम भगवद्भक्ति तथा के उपदेशक के ही रूप में हमारे

सामने अधिक आते हैं और उन की इस रचना पर कबीर की रचना की—विशेष कर साखियों की गहरी छाप है।

तुकाराम की हिंदी भाषा के विषय में कुछ कहना अनुचित न होगा। पर इस दिशा मे ही पाठभेदों की संभावना सब से बड़ी रुकावट है। उस संभावना को दृष्टि मे रखते हुए यह निवेदन कर देना आवश्यक है कि भाषा के संबंध में जो कुछ कहा जायगा वह अधिकांश अटकल के सहारे पर स्थित होगा। तुकाराम की हिंदी भाषा में तीन स्तर मिलते हैं:—(१) ब्रजभाषा स्तर; (२) खड़ी बोली स्तर; (३) फ़ारसी शब्दो से युक्त खड़ी बोली का स्तर।

उदाहरण

(१) 'हरि बिन रहिया न जाय जियरा'। 'कोई सखी हरि जावे बुलावन।'

(२) 'गिरिधर लाल तो भाव का भुका। राग कला नहि जानत तुका।'

'तुका इच्छा मीट नहीं तो। काहा करे जट खाक।'

(३) 'अल्ला देवे अल्ला दिलावे। अल्ला दारु अल्ला खिलावे।'

'अपने दिलकूं करना सुखी। तीन दाम की क्या खुमासी।'

इत्यादि उदाहरण उपर्युक्त तीन भाषा-स्तरों के दिए जा सकते हैं। पर यह ध्यान मे रखना चाहिए कि इन तीनों स्तरो में से कोई भी अपने विशुद्ध रूप में दृष्टि-गोचर नही होता। बीच-बीच में मराठी भाषा के शब्दों अथा मराठी शब्दो से समानता रखने वाले रूपो का प्रयोग किया गया है जो स्वाभाविक है, एवं लेखकों के प्रमाद के कारण भी हो सकता है। गौलणी (=ग्वालिणी) डोइफोड़ा (=सिर फोड़ने वाला) चलणार (=जाने वाला) हवांते, डिकरो, उडे कुडे (=जहाँ तहाँ) इत्यादि शब्द मराठी भाषा के है। कई शब्दों के साथ में—'त्या,' 'थी' अथवा 'थे' मराठी भाषा की विभक्तियों का भी प्रयोग मिलता है एवं 'इ' और 'उ' के ह्रस्व और दीर्घ का असावधानी के साथ प्रयोग का तो कुछ कहना ही नहीं है।

तुकाराम ने हिंदी कविता में प्राय: मात्रिक छंदों का प्रयोग किया है। दोहे और चौपाइयों से मिलते-जुलते छंद उन्हों ने अधिक लिखे हैं। पर छंदशास्त्र के नियमों का पूर्ण पालन इन छंदों में नहीं हुआ है। दो-एक अभंग के ढंग के हिंदी पद भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए पद द्रष्टव्य हैं

देखत अज्ञों झुठा कोरा । तो काहे छोरा घरबार ॥१॥
मान सुं किया चाहिए पाख । उपर खाक पसारा ॥२॥
काम क्रोध सो संसार । वो सिर भार चलावे ॥३॥
कहे तुका वह संन्यास । छोडे आस तन की ही ॥४॥

इस निबंध को समाप्त करने से पूर्व एक प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक प्रतीत होता है, और वह प्रश्न यह है कि तुकाराम की हिंदी कविता का क्या महत्व है ? मैं निवेदन करूँगा कि तुकाराम भारतवर्ष की वह महान् बिभूति है जिन की कोई भी कृति उपेक्षणीय नही है। तुकाराम की काव्य-रचना का काल १६९१ और १७०६ वि० स० के बीच का काल है। इस समय हिंदी के प्रति महाराष्ट्र प्रांत में स्निग्ध-भाव वर्तमान था और उस युग के सर्व-श्रेष्ठ साधु ने हिंदी में अपनी रचना छोड़ी है, क्या यह हम हिंदी-भाषा प्रांत के मनुष्यों के लिए कम हर्ष और सौभाग्य की बात है ? अध्यापक राधाकृष्णन् ने अपने 'ईस्ट ऐंड वेस्ट इन रेलिजन' नामक ग्रंथ में एक स्थान पर कहा है कि बिलगानेवाली वस्तुओ की अपेक्षा संयोग कराने वाली वस्तुएँ अधिक महत्वपूर्ण होती है। अन्य प्रांतों में जहाँ भी और जब भी हिंदी-भाषा के अस्तित्व का पता लगे, उस को जनता के सामने रखना अत्यंत आवश्यक है, क्यों कि जब हम हिंदी को अंतर्प्रांतीय व्यवहार की भाषा के रूप में देखना चाहते हैं, तो क्या हमारा पक्ष इन हिंदी के पुरानी अंतर्प्रांतीयता के प्रमाणों से और अधिक सबल नहीं बनेगा। अन्य प्रांतों का तो कहना ही क्या हिंदी-प्रचार के पुराने प्रमाण दक्षिण-भारत तक में मिले है। अन्य महाराष्ट्र कवियों की कृतियों मे हिंदी कविताएँ प्राप्त होती हैं और उन के संग्रह की आवश्यकता है। वर्तमान लेखक ने 'परिशिष्ट' में संत तुकाराम की उन हिंदी कविताओं को एकत्र कर दिया है जो उसे प्राप्त हो सकी हैं।

परिशिष्ट

पौराण अभंग

गौलणी

१०९ मैं भूली घर जानी बाट । गोरस बेचन आयें हाट ॥१॥

कान्हारे मनमोहन लाल । सबही बिसरू देखें गोपाल ॥२॥

काहां पगडारूं देख आनेरा । देखे तो सब वोहिन घेरा ॥३॥
हुं तो थकित भैर तुका । भागा रे सब मन का धोका ॥४॥

११० हरि बिन रहियां न जाये जिहिरा। कबकी थाड़ी देखें राहा ॥१॥
क्या मेरे लाल कवन चुकी भई। क्या मोहिपासिती बेर लगाई ॥२॥
कोई सखी हरि जावे बुलावन। बारहि डारूं उस पर तन ॥३॥
तुका प्रभु कब देखें पाऊं। पासीं आऊं फेर न जाऊं ॥४॥

१११ भलो नंदजी को डिकरो। लाज राखी लीन हमारो ॥१॥
आगल आवो देवजी कान्हा। मैं घर छोड़ी आहे ह्माना ॥२॥
उन सुं कळना न ह्वे तो भला। खसम अहंकार बाबुला ॥३॥
तुका प्रभु परबल हरी। छपी आहे हुं जगाथी न्यारी ॥४॥

दरवेस

३२९ अल्ला करे सो होय बाबा करतार का सिरताज।
गाऊ बछरे तिस चलावे यारी बाघो न सात ॥१॥
ख्याल मेरा साहेब का बाबा हुआ करतार।
ह्वांटें आघे चढे पीट आपे हुआ असवार ॥२॥
जिकिर करो अल्ला की बाबा सबल्यां अंदर भेस।
कहे तुका जो नर बुझे सोहि भया दरवेस ॥३॥

मलंग

३३० नजर करे सो हि जिके बाबा दुरथी तमासा देख।
लकड़ी फांसा लेकर बैठा आगले ठकण भेख ॥१॥
काहे भूल एक देखत। आंखो मार तडांगो बाजार ॥२॥
दमरी चमरी जो नर भुला। सोत आघो ही लत खाय ॥३॥
नहि बुलावत किसे बाबा । आप हि मत जाय।
कहे तुक उस आस के संग। फिर फिर गोते खाय ॥४॥

डोईफोडा

३३१ तम भज्याय ते बुरा जिकीर ते करे।
सीर काट ऊर कुट ताहां क्षद करे १

ताहां एक तु ही नाहां एक तु ही।
ताहां एक तु ही रे बाबा हम तुम्ह नहीं ।।२।।
दिदार देखो भुले नहीं किसे पछाने कोये।
सचा नहीं पकड सके झुटा झूटे रोये ।।३।।
जिसे कहे मेरा किन्हो संत लिया भास।
नहीं मेला मिले जीवना झूटा किया नास ।।४।।
सुनो भाई कैसा तोहि होय तैसा होय।
बाट खाना अल्ला कहना एक बार तो ही ।।५।।
भला लिया भेख मुंढे आपना नफा देख।
कहे तुका सो ही सखा हाक अल्ला एक ।।६।।

वैद्यगोळी

३३२ अल्ला देवे अल्ला दिलावे। अल्ला दारू अल्ला खिलावे।
अल्ला बिगर नहीं कोय। अल्ला करे सो हि होय ।।१।।
मर्द होय वो खड़ा फीर। नामर्दकूं नहीं धीर।
आपने दिलकूं करना सुखी। तीन दाम की क्या खुमासी ।।२।।
सब रसों का किया मार। भजन गोली एकहि सार।
इमान तो सब ही सखा। थोड़ी तो भी लेकर ज्या ।।३।।
जिन्हों पास नीत सोय। वोहि बसकरी तिरावे।
सांतो पांचो मार चलावे। उतार सो पीछे खावे ।।४।।
सब ज्वाली निकल जावे। पीछे गधडा मट्टी खावे।
गांवढाल सो क्या लेवे। हगवनी भरी नहीं धोवे ।।५।।
मेरी दारू जिन्हे खाया। दिलदार दरगा सो ही पाया।
तल्हे मुंढी घाल जावे। बिगारी सोवे क्या लेवे ।।६।।
बजार का बुझे भाव। वोहि पुसता आवे ठाव।
फुकट बाट् कहे तुका लेवे सो हि ले हि सखा ७

मुंढा

३३३ संवाल यारा उपर तलें दोन्हो मार की चोट।
नजर करे सोही राखे पश्वा जावे लूट ॥१॥
प्यार खुदाई, प्यार खुदाई, प्यार खुदाई।
प्यार खुदाई रे बाबा जिकिर खुदाई ॥२॥
उडे कुडे ढुंग नचावे आगल भूल न प्यार।
लडबड खडबड कांहे कांकू चलावत भार ॥३॥
कहे तुका सुनो लोका हम जिन्हों के सात।
मिलावे तो उसे देना तो ही चढ़ावे हात ॥४॥

३३४ सब संबाल म्याने लौंढे खडा केऊं गुंग।
मदिरथी मता हुवा भुली पाड़ी भंग ॥१॥
आपसकुं संवाल। आपसकुं संबाल।
मुंढे खूब राख ताल। मुथि बोहि बोल नहीं तो करूंगा हाल ॥२॥
अबलका तो पीछे नहीं मुदल विसर जाय।
फिरते नहीं लाज रंडी गधे गोते खाय ॥३॥
जिन्हो खातिर इतना होता सो नहीं तुज बेफाम।
उचा जोरो लिया तुंबा तुंबा बुरा काम ॥४॥
निकाल जावे चिकल जोरा मुंढे दिलदारी।
जबानी की छोड़ दे बात फीर एक तारी ॥५॥
कहे तुका फिसल रुका मेरे को तो दान देख।
पकडधका गांडगुडधी मार चलाऊं आलेख ॥६॥

३३५ आबल नाम अल्ला बड़ा लेते भूल न जाये।
इलाम त्याकाल जमुपरताहीं तुंब बजाये ॥१॥
अल्ला एक तूं नबी नक तूं।
काटतें जिस पावों हात नहीं जीव डराये ॥२॥
आगले बेलों मिछ बुझो। आप हुजूर आय ३।

सब सब री नचाव स्याने। खडा आपनी सात।
हात पावों रखते जबाब। नहीं आगली बात ॥४॥
सुनो भाई बजार नहीं। सबहि नर चलावे।
नन्हा बड़ा नहीं कोय एक ठोर मिलावे ॥५॥
एक तार नहीं प्यार। जीवन की आस।
कहे तुका सोहि मुंढा। राख लिये पाये न पास ॥६॥

दोहरे

४८० तुका बस्तर बिचारा क्या करे रे। अंतर भगवान् होय
भीतर मैला कब मिटे रे। मरे ऊपर धोय ॥१॥
रामराम कहे मन। औरसुं नहि काज।
बहुत उतारे पार। आघे राख तुका की लाज ॥२॥
लोभी के चित्त धन बैठे। कामिनी चित्त काम।
माता के चित्त पूत बैठे। तुका के मन राम ॥३॥
तुका पंखि बहिरन मानुं। कोई जनावर बाग।
असंतन कुं संतन मानूं। जे वर्मकुं दाग ॥४॥
तुका राम बहुत मिठा रे। भर राखूं शरीर।
तन की करूं नावरि। उतारूं पैल तीर ॥५॥
संतत पन्ह्यां ले खडा। राहूं ठाकुरद्वार।
चलत पाछे हूं फिरों। रज उडत लेऊं सीर ॥६॥
तुका प्रभु बडो न मनूं न मानूं बडो। जिस पास बहु दाम।
बलिहारी उस मुख की। जिसती निकसे राम ॥७॥
राम कहे सो मुख भला रे। बिन राम से बीख।
आब न जानूं रमते बेरों। जब काल लगावे सीख ॥८॥
राम कहे सो मुख भला रे। खाये खीर खांड।
हरि बिन मुख मो धूल परीरे। क्या जनी उस रांड ॥९॥
कहे तुका मै सवदा बेचूं। लेवे के तन हार।
मिठा साधु सत जन रे मूरख के सिर भार १०

तुका दास तिन का रे। रामभजन निरास।
क्या बिचारे पंडित करो रे। हात पसारे आस ॥११॥
तुका प्रीत राम सुं। तैसी मिठी राख।
पतंग जाय दीप पर रे। करे तन की खाक ॥१२॥
कहे तुका जग भुलारे। कह्या न मानत कोय।
हात परे जब काल के। मारत फोरत डोय ॥१३॥
तुका सुरा नहिं सबद कारे। जब कमाई न होय।
चोट साहे घन की रे। हिरा नीबरे तोय ॥१४॥
तुका सुरा बहुत कहावे। लडन बिरला कोय।
एक पावे ऊंच पदवी। एक खौंसां जोय ॥१५॥
तुका माग्या पेट का। और न जाने कोय।
जपता कछु रामनाम। हरिभगत की सोय ॥१६॥
तुका सज्जन तिन सूं कहिए। जिन थी प्रेम दुनाये।
दुर्जन तेरा मुख काला। थीता प्रेम घटाये ॥१७॥
काफर सोही आपन बूझे। आला दुनियां भर।
कहा तुका तुझे सुनो रे भाई। हिरदा जिनका कठोर ॥१८॥
भीस्त नई पावे मालथी। पढिया लौक रिझाय।
निचा जयें कमतरिण। सो ही सो फल खाय ॥१९॥
फल पाया तो सुख भया। किन्हेसुं न करे बेवाद।
बान न देखे मिरगा। चित मिलाया नाद ॥२०॥
तुका दास राम का। मन में एकहि भाव।
तो न पालटु आव। ये हि तन जाय ॥२१॥
तुका राम सुं चित बांध राखूं। तैसा आपनी हात।
धेनु बछरा छोड़ जावे। प्रेम न छुटे सात ॥२२॥
चित्त सुं चित मिले। तब मन थंडा होय।
तुका मिलना जिन्हींसु ऐसा बिरला कोय २३।

चितमिले तो सब मिले। नहिं तो फुकट संग।
पानी पाथर येकही ठोर। कोर न भिजे अंग।।२४।।
तुका संगत तिन से कहिए। जिनसे सुख दुनाये।
दुर्जन तेरा मू काला। थीतो प्रेम घटाये।।२५।।
तुका मिलना तो भला। मनसूं मन मिल जाय।
उपर उपर माटि घसनी। उनकी कोन बराय।।२६।।
तुका कुटुंब छोरे रे। लर के जोरो सिर मुंडाय।
जब ये इच्छा नहिं मुई। तब तू किया काय।।२७।।
तुका इच्छा मीट नई तो। काहा करे जट खाक।
मथीया गोला डार दिया तो। नहिं मिले फेरन ताक।।२८
बीद मेरे साइंया को। तुका चलावे पास।
सुरा सो हि लरे हमसें। छोरे तन की आस।।२९।।
कहे तुका भला भया। हुवा संतन का दास।
क्या जानूं केते मरता। न मिटती मन की आस।।३०
तुका और मिठाई क्या करूं रे। पाले विकारपिंड।
राम कहावे सो भली रूखी। माखन खीर खांड।।३१।।

उत्तराधि पदें

९ क्या गाऊं कोई सुनने वाला। देखे तो सब जग ही भुला
खेलों अपने रामहि सात। जैसी वैसी करहो मात।।२।।
काहां से लाऊं मधुरा बानी। रीझे ऐसी लोक बिरानी।।३
गिरिधर लाल तो भाव का भुका। राग कला नहिं जानता
० छोडे धन मंदिर बन बसाया। मांगत टुका घरघर खाया।।१
तीन सो हम करवों सलाम। ज्या मुख बैठा राजा राम
तुलसी माला बसुत चन्हावे। हरजी के गुण निर्मल गावे।।३
कहे तुका जो साईं हमारा। हिरनकश्यप जिन्हें मारहि डा
१ मत्र तत्र नहीं मानस साखी प्रेम भाव नहिं अन्तर राखी

राम कहे त्याके पगहूं लागूं। देखत कपट अभिमान दूर भागूं ॥२॥
अधिक याती कुलहीन नहिं जानूं। जानें नारायण सो प्रानी मानूं ॥३॥
कहे तुका जीव तन डारू डारी। राम उपासिहूं बलियारी ॥४॥
हरिसुं मिल दे एकहि बेर। पाछें तूं फिर नावे घेर ॥१॥
मात सुनीं दुति आवे मनावन। जाया करति भर जोवन ॥२॥
हरिसुख मोहि कहिया न जाये। तब तूं बुझे आगो पाये ॥३॥
देखहि भाव कछु पकरी हात। मिलाई तुका प्रभू साल ॥४॥
क्या कहूं नहिं बुझत लोका। लिजावे जम मारत धका ॥१॥
क्या जीवने की पकड़ी आस। हातों लिया नहिं तेरा घांस ॥२॥
किसे दिवाने कहता मेरा। कछु जावे तन तूं सब त्या न्यारा ॥३॥
कहे तुका तूं भया दिवाना। अपना विचार कर ले जाना ॥४॥
कब मरूं पाऊं चरण तुम्हारे। ठाकुर मेरे जीवन प्यारे ॥१॥
जग रडे ज्यांकूं सो मोहि मीठा। मीठा दर आनंद सोहि पैठा ॥२॥
भला पाऊं जनम इन्हे बेर। बस माया के असंग फेर ॥३॥
कहे तुका धन मानहि दारा। वोहि लिये गुंडलिया पसारा ॥४॥
दासों पाछे दौरे राम। सोवे खडा आपें मुकाम ॥१॥
प्रेम रसडी बांधी गले। खैच चले उधर चेले ॥२॥
आपने जनसुं भूल न देवे। कर हि धर आगें बाट बतावे ॥३॥
तुका प्रभु दीनदयाला। वारि रे तुझ पर हुं गोपाला ॥४॥
ऐसा कर घर आवे राम। और धंदा सब छोर हि काम ॥१॥
इतने गोते काहे खाता। जब तूं अपना भूल न होता ॥२॥
अंतरजामी जानत साचा। मनका एक उपर बाचा ॥३॥
तुका प्रभु देस दिवेस। भरिया खाली नहिं लेस ॥४॥
मेरे राम को नाम जो लेवे बारोंबार। त्यारे पाऊं मेरे तन की पैंजार ॥१॥
हांसत खेलत चालत बाट। खाना खाते सोरे खाट ॥२॥
जातनसुं मुजे कछु नहिं प्यार। असतेके हिंदु धेड चमार ॥३॥
ज्याका चित लागा मेरे राम के नाम कहे तुका मेरा चित लगा त्याके पाव।

८२८ आपे तरे त्याकी कोण बराई। औरनकुं भलो नाम धराई ॥१॥
काहे भूमि इतना भार राखे। दुभत धेनु नहिं दूध चाखे ॥२॥
बरसते मेघ फलते ही बिरखा। कोन काम अपनी उन्होति रखा।
काहे चंदा सुरज खावे फेरा। खिन एक बैठत पावत घेरा ॥४॥
काहे परिस कंचन करे धातु। नहि मोल लुटत पावत घातु ॥५॥
कहे तुका उपहार हि काज। सब कर रहिया रघुराज ॥६॥

८२९ जग चले उस घाट कौन जाय। नहीं समजत फिर फिर गोते खा
नहिं एक दो सकल संसार। जो बुझे सो आगला स्वार ॥२॥
उपर स्वार बैठे कृष्णा पीठ। नहिं बाचे कोई जावे लूट ॥३॥
देख हि डर फेर बैठा तुका। जोबत मारग राम हि एका ॥४॥

८३० भले रे भाई जिन्हें किया चीज। अछा नहिं मिलत बीज ॥१॥
फिरत फिरत पाया सारा। मीलत लोले धन किनारा ॥२॥
तीरथ बरत फिर पाया जोग। नहिं तलमल तुटत भव रोग ॥३॥
कहे तुका मैं तोकों दास। नहिं सिर भार चलावे पास ॥४॥

८३१ लाल कमली ओढे पेनाये। मोसु हरिये कैसें बनाये ॥१॥
कहे सखि तुझे करति सोर। हिरदा हरि का कठिण कठोर ॥२॥
नहिं क्रिया सरम कछु लाज। और सुनाऊं बहुत हे भाज ॥३॥
और नामरूप नहिं गोवलिया। तुका प्रभु माखन खाया ॥४॥

८३२ राम कहो जीवना फल सो ही। हरिभजनसुं विलंब न पाई ॥१॥
कवन का मंदिर कवन की झोपरी। एक राम बिन सबही फुफरी।
कवन की काया कवन की माया। एक राम बिन सब ही जाया ॥
कहे तुका सबहि चलणार। एक राम बिन नहि बा सार ॥४॥

८३३ काहे भुला धनसंपत्ती घोर। रामनाम सुन गाउ हो बाप रे ॥१॥
राजे लोग सब कहे तू अपना। जब काल नहिं पाया ठाना ॥२॥
माया मिथ्या मन का सब धंधा। तजो अभिमान भजो गोविंदा
राना रंक डोंगर की राई। कहे तुका करे इलाहि ॥४॥

८३४ काहे रोवे आगले मरना गव्हार तू मूला अपना १

केते मालूम नहिं पडे। नव्हे बडे गये सो ॥२॥
बाप भाई लेखा नहिं। पाछे तूंहि चलणार ॥३॥
काले बाल सिपत भये। खबर पकडो तुका कहे ॥४॥

क्या मेरे राम कवन सुख सारा। कह कर दे पुछुं दास तुम्हारा ॥१॥
तन जोबन की कौन बराई। व्याधपीडादि सकटहि खाई ॥२॥
कीर्त बधाऊं तो नाम न मेरा। काहे झुठा पछतऊं घेरा ॥३॥
कहे तुका नहिं समजत मात। तुम्हारे शरन हे जोडत हात ॥४॥

देखत अखों झुटा कोरा। तो काहे छोरा घर बार ॥१॥
मानसुं किया चाहिए पाख। उपर खाक पसारा ॥२॥
काम क्रोध सो संसार। वो सिरभार चलावे ॥३॥
कहे तुका वो संन्यास। छोड़े आस तन की ही ॥४॥

रामभजन सबसार मिठाई। हरि संताप जनम दुख राई ॥१॥
दूध भात घृत सकरपारे। हरते भुक नहिं अंततारे ॥२॥
खावते जुग सब चलिजावे। खटा मिठा फिर पचतावे ॥३॥
कहे तुका राम रस जो पीवे। बहुरीही फेरा वो कबहु न खावे ॥४॥

बारबार काहे मरत अभागी। बहुरी मरने से क्या तोरे भागी ॥१॥
ये हि तन करते क्या न होय। भजन भगति करे वैकुंठे जाय ॥२॥
रामनाम मोल नहिं बेचे कबरी। वोहि सब माया छुरावत सगरी ॥३॥
कहे तुका मनसुं मिल राखो। रामरस जिव्हा नित चाखो ॥४॥

तत्त्वविवेचक के दो अतिरिक्त पद

चुरा चुरा कर माखन खाया। गोलनी का नन्दकुमर कन्हया ॥१॥
काहे बराई दिखावत मोहि। जानत हूं प्रभुपना तेरा सबही ॥२॥
और बात सुन उखल सुं गला। बांध लिया आपना तूं गोपाला ॥३॥
फेरत बन बन गाऊ धरावत। कहे तुकया बंधु लकरी लेले हात ॥४॥

_म उदास तीन्हके सुनाहो लोकां। रावण मार के बिभीषण दिई लंका ॥१
गोबरधन नख पर गोकुल राखा। वसन लागा जब मेंहु फत्तर का २

बैकुंठ नायक काल कौंसासुरका। दैत डुबाय सब मंगाय गोपिका ॥३॥

स्तंभ फोड पेट चिरीया कश्यपका। प्रह्लाद के लियें कहे भाई तुकया का ॥४॥

राजस्थान के लोकगीत

[लेखक—श्रीयुत सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०]

एक समय था जब संसार के सब देशों में मनुष्य प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता था। उस का रहन-सहन, अनुभव, आचार-विचार सरल और स्वाभाविक होते थे। कृत्रिमता, झूठा दिखावा, और आत्म-प्रवंचन मानव-विचारों को कम छूता था। उस युग मे भी कविता होती थी और आज भी होती है। पर उस कविता में और आज की कविता मे जमीन-आसमान का अंतर है। शास्त्रीय बधनों में जकड़ी हुई, छंद की नपी-तुली हुई नालियों में ढली हुई कविता बनाना मानव बहुत पीछे से सीखा है। कविता पीछे के काल मे परिश्रम-साध्य कल्पना, अथवा ऊहा का व्यवसाय मात्र रह गई। इस पीछे की कविता को हम कलात्मक कविता कह सकते है। इस के पहले कविता का जो नैसर्गिक प्रवाह बहता था, उस का अवशिष्ट रूप आज हमें लोक-गीत अथवा लोक-काव्य[1] के रूप में मिलता है। दोनों में अंतर यह है कि एक में भावों की कृत्रिमता, रूढिबंधन, प्रथाभुक्तता और वैयक्तिक रुचिभिन्नता ही सब कुछ है, तो दूसरी में नैसर्गिक वृत्ति, सरलता, स्वच्छंदता और अव्यक्तिता प्रधान है।

साहित्यिक कविता की कल्पना के चमत्कारों से मुग्ध हो कर हम ने लोक-गीतों को अब तक भुलाए रक्खा था। उन में हमें गँवारूपन की बू आती थी और सभ्य समाज मे जिस प्रकार गाँव के एक गँवार के आ जाने से विषमता पैदा हो जाती है, उसी प्रकार का

---

[1] कुछ लोगों ने "लोकगीतों" को "ग्रामगीत" भी कहा है। परंतु हमारे ख़याल से लोक-गीतों को ग्राम की संकुचित सीमा में बाँधना उन के व्यापकत्व को कम करना है। ग्राम और नगरों के भेद अर्वाचीन काल में बढ़े हैं। गीतों की रचना में ग्राम और नगर का इतना हाथ नहीं है जितना जनता का 'लोक' का।

'ग्रामगीत' से वास्तव में आज कल के नगर-ग्राम भेद के अनुसार गाँव के—देहात

वैषम्य हम को लोक-गीतों में मालूम होता था। पर हमारे सौभाग्य से अब नई लहर उठ चुकी है। जिस प्रकार और और बातों की ओर, वर्तमान काल में, हमारा ध्यान पश्चिम का अनुकरण कर के गया है, उसी प्रकार लोक-साहित्य की ओर भी उन की देखादेखी अब हम अभिमुख होने लगे हैं। यह समय के परिवर्तन का लक्षण है।

इंगलैंड में लोकगीतों की ओर पहले-पहल ध्यान तब गया, जब बिशप परसी ने सत्रहवी शताब्दी के मध्य में (सन् १६५० ई०) गीतों के एक प्राचीन संग्रह की खोज की। उस के बाद वहाँ प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक सर वाल्टर स्कॉट ने लोकगीतों के सौंदर्य की ओर जनता के हृदय का आकर्षण किया और उन का उपयोग यत्र-तत्र अपनी रचनाओं में किया। इस के उपरांत लोक-साहित्य के पक्ष में एक प्रबल लहर उठी, जिस ने बहुत से साहित्यिक महापुरुषों और कवियो को प्रतिभान्वित किया। परंतु इस ओर सब से अधिक सचेष्ट और सयत प्रयास आधुनिक काल मे अमेरिका के कुछ अध्यवसायी विद्वानों ने किया, जिन मे प्रोफेसर एफ़० जे० चाइल्ड का नाम विशेष प्रख्यात है, जिन्हो ने स्काटलैंड और इंगलैंड के एक-एक लोकगीत को खूब छानबीन के साथ खोजा, यूरोप के अन्य देशों में प्रचलित और प्राप्त उन गीतों के रूपांतरों का मिलान किया और उस अद्भुत ग्रंथ का निर्माण किया जिस पर अंग्रेजी साहित्य आज गर्व करता है और कहता है कि 'किसी देश के लोक-गीत इतने अच्छे नही हैं जितने इंगलैंड और स्काटलैंड के'। इस गर्वोक्ति का जवाब तब तक नही दिया जा सकता जब तक हमारे देश में प्रो० चाइल्ड जैसे उद्भट विद्वान् और परिश्रमी अन्वेषक पैदा न हों।

हमारी ऐसी धारणा है कि लोक-साहित्य की उपज के लिए भारतवर्ष से बढ़ कर उर्वर दूसरा देश पृथ्वीतल पर शायद ही कोई रहा हो। इस देश के हरेक प्रांत में, हमारी प्रादेशिक बोलियों में हजारों गीत अब भी प्रचलित मिलते है। परंतु हमारी यह अमर संपत्ति दिनोंदिन क्षीण होती जा रही है, इस में संदेह नही है, और आश्चर्य नहीं, यदि वह एक दिन लुप्त हो जाय। पर फिर भी इस जमाने में परिश्रमी अन्वेषकों को हजारों की तादाद में उत्तम गीत मिल सकते हैं। गुजराती, मराठी, बँगला आदि भाषाओं में इस ओर पर्याप्त ध्यान रहा है, और उन भाषाओं की गीत-संपत्ति अच्छी है। देशभाषा हिंदी में भी इस मार्ग मे पडित रामनरेश त्रिपाठी ने स्तुत्य प्रयास किया था और उन का वह उत्साह स्थायी गति से बना रहता तो गीतों का अच्छा उद्धार हो जाता कुछ ऐसे महानुभाव भी इस क्षेत्र में

अवतीर्ण हुए जिन्हो ने न केवल हिंदी के वरन् देश के भिन्न-भिन्न प्रांतों के लोकगीतो का सकलन अपना उद्देश्य बनाया है। श्री देवेंद्र सत्यार्थी ऐसे ही कर्मठ विद्वानों में से है।

राजस्थान प्रदेश लोकसाहित्य की संपत्ति में अन्य किसी प्रांत से कम नही उतरेगा, ऐसा हमारा अनुमान है। परंतु राजस्थानी गीतो के संबंध में एक अखरने वाली बात हमे दिखाई पड़ती है, जिस पर विचार करना यहाँ अनुचित न होगा। इधर पिछले कुछ वर्षो मे राजस्थानी गीतों के कई एक सस्ते, बाजारू, कुरुचि-संपन्न संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिन का प्रकाशन न तो प्रकाशकों को ही शोभा देता है, और न उन के संपादकों को। यह एक संकोच-जनक बात है। इन संग्रहों में अधिकांश में वर्तमान काल के गंदे गीत ही प्रकाशित हुए है, पुराने सुरुचि-संपन्न गीत बहुत थोड़े हैं। इन को पढ़ कर अन्य प्रांतो के गीत-प्रेमी भाइयों को यह विचार हुए बिना नही रहता कि राजस्थान की गीत-संपत्ति हीन कोटि की है। परंतु मै विश्वास और अनुभव के साथ कहूँगा कि यह राजस्थान के लोकगीतो का अपराध नहीं है, यह तो संपादन की कुरुचि और अयोग्यता का द्योतक है,[१] स्वेच्छाचारी युवकों और विषयी लोगों की वासना को उत्तेजित कर के धन कमा लेने की इच्छा रखने वाले साहित्य-व्यापारियों का अपराध है। इन लोकगीतों से राजस्थान की काफी बदनामी हो चुकी है; साथ ही यह कहने में मुझे किसी प्रकार की हिचकिचाहट नही है कि राजस्थनी का लोकगीत-भांडार खूब भरा-पूरा है, संस्कार-युक्त है, आदर्श-मय है और अपनी उत्तमता, विशुद्धता और मनोरमता के बल पर वह किसी भी प्रात, देश अथवा भाषा के लोक-साहित्य से टक्कर ले सकता है। राजस्थान के साहित्यिक काव्य और इतर रचनाओं से किसी को सहानुभूति न हो तो न हो, परंतु एक बार इन लोक-गीतों का अध्ययन कर लेने वाले सहृदय को इन पर मुग्ध होना ही पड़ेगा। यह मिथ्या-गर्वोक्ति नहीं, सत्य है। परंतु यह ध्यान में रखना होगा कि राजस्थानी के प्राचीन लोक-गीत ही उत्तम हैं, सुरुचि-संपन्न हैं, सत्साहित्य हैं और वही राजस्थान के लोकगीत कहलाने के अधिकारी है। उन्हीं को लक्ष्य कर के हम ने यह कथन किया है। पिछले

---

[१] ऐसा नहीं है कि गीतों के अच्छे संग्रह राजस्थानी में प्रकाशित हुए ही नही। खेद इस बात का है कि अच्छे संग्रहों की अपेक्षा बुरों की संख्या और प्रचलन अधिक है। अब तक प्रकाशित संग्रहों में कुँवर जगदीशसिंह गहलोत का 'मारवाड़ के ग्रामगीत' अच्छा सग्रह है परतु उस मे बहुत थोड़े गीत हैं।

पचास-सौ वर्षों में बनने वाले अधिकांश गंदे, बाजारू, सीठनों से भरे, गीतों के साथ हमारी बिल्कुल सहानुभूति नहीं है।

लोक-गीत साहित्य के क्षेत्र में राजस्थान को भारत के अन्य प्रांतों से भिन्न समझना भी भूल ही है। साहित्य के अन्यान्य विभागों में राजस्थान भारत के इतर प्रांतों से चाहे कितना ही भिन्न हो, पर भाषा और लोक-गीतों के क्षेत्र में हमें स्पष्टतः एक ऐसा व्यापक ऐक्य-सूत्र फैला हुआ मालूम होता है, जो उत्तर भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक समरूप से प्रसारित है। गुजराती, राजस्थानी, मध्यप्रांतीय, बिहारी गीतों में विलक्षण साम्य है। ऐसा मालूम होता है मानो गीत की दुनिया में लोकहृदय की सरस तरंगें उत्तर भारत के सभी प्रदेशों में समरूप से तरंगित हुई हैं। उन का आकार-प्रकार, संस्कार, अभिरुचि, कल्पना और रूढ़ियाँ प्रायः एक-सी हैं। एक विशाल समुद्र के वक्ष पर जिस प्रकार क्रीडा करती हुई स्वच्छंद तरंगें दूर से देखने पर भिन्न रूप और रंग की मालूम होती है—कही नीली, कहीं सफेद और कहीं-कही हरी झलकती हैं, पर वास्तव में वे सब एकरंगी होती हैं—उसी प्रकार भाषा और शब्दों के ऊपरी भेदों को हटाने के बाद, वही संस्कार, वही कल्पनाएँ, वही रूढ़ियाँ और वही कोमल भावनाएँ, हम को भिन्न-भिन्न प्रादेशिक गीतों मे मिलते हैं। इस का प्रमाण तुलनात्मक दृष्टि से इन भाषाओं के गीत-भांडार को पढने से मिल सकता है। संक्षेप में कुछ तुलनात्मक उदाहरण नीचे जुटाए जाते हैं।

पहले गुजराती-राजस्थानी गीत-साम्य के उदाहरण ही लीजिए—

गुजराती	राजस्थानी
१—"कान कुंवर नी झूलड़ी" गीत नं० २४, रढीयाळी रात, भाग २, पृ० ३५—जिस की टेक इस प्रकार है: "कोई नें जड़ी होय तो देजो, मारा कान कुंवर नी झूलडी।"	१—इस का राजस्थानी प्रतिरूप प्रचलित है—"कोई नें लाधी होय तो दीजो रे म्हारा कान्हकँवर री झूमरी"।
२—"तनें वा'लुँ कोण ?" गीत नं० ५०, र० रा०, भाग २, पृ० ६९। इस गीत की टेक है—"राती रे रंग चूडी ल्यो	२—टेक में नही परंतु भावों में ठीक मिलता-जुलता हुआ राजस्थानी गीत है—"ढोला-मारूणी" जिस की टेक है—बामू जी पाक्या नीबू पाकण लाग्या'

गुजराती

३—"कुंजड़ली रे" गीत नं० ५३, र० रा०, भाग २, पृ० ७४। इस गीत की पहली चार पंक्तियाँ राजस्थानी गीत में थोड़ी शाब्दिक भिन्नता के साथ मिलती हैं। गीतः—

कुंझड़ली रे संदेसो अमारो।
जाइ वालम ने के जो जी रे।
माणस होय तो मुखोमुख बोले।
लखो अमारी पाँखड़ली॥

४—"रंग भीलड़ी" गीत नं०, ९२, र० रा०, भाग २। यह जसमा दे ओ-डणी के सतीत्व का गीत है।

५—'तेजमल'। गीत र०, रा०, भाग ३, पृष्ठ, २४।

राजस्थानी

३—इसी भाव का गीत राजस्थानी के 'संदेसा' के गीतों में है। पहली दो पंक्तियाँ "कुरझाँ" गीत में मिलती हैं:—"उडती कुँझड़ियाँ संदेसो म्हारो पिव ने दे जो रे। उडती०॥

यही चारों पंक्तियाँ और गुजराती गीत का अधिकांश भाव एक दूसरे गीत में मिलता है—पीछे की दो पंक्तियों का राजस्थानी रूप यों है:—

माणस हवाँ तो मुप कैवाँ,
म्हाँ सूँ कह्यो प न जाय॥
लिख म्हारी सोवन चाँचली,
ए गोरी अरे रतनाळी पाँख॥

४—राजस्थानी में भी 'जसमा ओडणी' और 'सुरता भीलणी' नाम के प्रसिद्ध नारी-सतीत्व के गीत हैं, जो बहुत कुछ मिलते हैं।

५—यही गीत थोड़े हेर-फेर के साथ राजस्थान में 'सजना' के नाम से प्रसिद्ध है। बूढ़े ठाकुर के कोई लड़का नहीं था, जो बुढ़ापे में उस के एवज में राजा की चाकरी बजा सकता। राजा का पर-वाना आया। ठाकुर न जा सका। बड़ा चिंतातुर हुआ। इकलौती कन्या सजना ने पिता की चिंता को ताड़

गुजराती	राजस्थानी
	लिया और नारी होते हुए भी बेष बदल कर इस पितृभक्त कन्या ने १२ वर्ष तक पिता के एवज़ में राजा की सेवा की।

इसी प्रकार बहुत से गीत हैं, जिन का गुजरात में गुजराती रूप प्रचलित है और राजस्थान में राजस्थानी रूप। भाव प्रायः एक से हैं। अनुमानतः उद्‌गम भी एक ही प्रतीत होता है।

अब हिंदी-राजस्थानी गीत-साम्य के कुछ उदाहरण भी नीचे दिए जाते हैं—

हिंदी	राज स्थानी
१—गीत नं० ५४, कविता-कौमुदी, भाग ५। गीत का आरंभिक भाग यों है:—"राहइ पर एक कुँइया सँवरि एक पानी भरै"।	१—यह गीत राजस्थानी के प्रसिद्ध गीत "पणिहारी" के भावों से मिलता है। 'पणिहारी' का गीत आगे इसी निबंध में उद्धृत किया गया है।
२—गीत नं० ५८, क० कौमुदी, भाग, ५। सोहर के गीत। आरंभिक पंक्तियाँ—"बदरी जाइ बरसहु उही देस जहाँ पिया कोड़ करै"।	२—इसी से मिलता-जुलता भाव राजस्थानी गीत 'बदळी' में है—"मेरे पिया के देस बरस बदली"।
३—गीत नं० ७, विवाह के गीत क० कौमुदी, भाग ५, पृ० १४५। पुरुब पछिम मोरे बाबा क सगरवा पुरइनि हालर देइ। तेहि घाटे दुलहे धोतिया पखारैं पूच्छै दुलहिन देई बात॥	३—यही भाव राजस्थानी वैवाहिक गीतों के अंतर्गत 'जँवाई' के गीतों में है:— हाँ रे वाला इण सरवरिया री पाळ, जँवाई धोवे धोतिया जी म्हारा राज।
४—गीत नं० १८, विवाह के गीत, क० कौ० भाग ५ पृष्ठ १६१	४—पुत्री के पिता के घर के पुत्र के पिता के घर के लोगो से सदा हलके रहते

हिंदी

गिरि नवै पर्वत नवै,
हम तो ना नइओं।
वेटी तोहरे कारन,
हम जग में माथ नवाये ॥

राजस्थानी

हैं—यह वैवाहिक प्रथा है। पुत्री अपने बाप, भाई, दादा, काका, ताऊ सब को समझा कर पूछती है—मेरे कारण सब क्यों नीचा देखें? पुत्री सब के घर पैदा होती है। इस पर वे लोग सब यही उत्तर देते हैं—

कोट नवै परबत नवै,
और नवैय न कोई।
बाई को दादोसा यूँ नवै,
जिण घर पोती जायी ॥

५—गीत नं० २८, विवाह के गीत, क० कौ०, भाग ५।
बेटी की बिदाई का गीत—"ऐसन वपैया घर छोड़ि क बेटी, कहँवा चली"।

५—राजस्थानी में बेटी की बिदाई के समय पीहर वालियों के गाने के गीत को "ओळ्यूं" कहते हैं। 'ओळयूँ' बहुत है—उन में से यह बहु-प्रचलित है "थारो इतरो बाबो सा'रो राड, कोयलड़ी सिध चाली ॥"

६—गीत नं० ४६ और ४९, क० कौ०, भाग ५। विवाह के गीतों में अपनी संतान के विवाह में बहिन भाई को निमंत्रित करती है। बहिन का भाई के लिए प्रेम वर्णित है। आरंभ इस प्रकार है—

अरे अरे काला भँवरवा
आँगन मोरे आवो।
भँवरा आजु मोरे काज.
बियाह् नवत द आवो

६—भाई-बहन का प्रेम राजस्थानी 'भात' के गीतों मे बहुत सुंदरता के साथ व्यक्त हुआ है। यह गीत आगे के उदाहरणोंमें संपूर्ण उद्धृत किया गया है। भाव हिंदी गीत से ज्यों का त्यों मिलता है। आरंभ इस प्रकार है—

उड वायसड़ा म्हारे पीयर जा,
नूँ त पीयररा भातवीजे ॥

हिंदी	राजस्थानी
७—गीत नं० ३४, जाँत के गीत, क० कौमुदी भाग ५, पृष्ठ ३३९ सात सखिन के झूमटे, सुंदरि पनियाँ के जायँ ॥	७—पनिहारिन का ठीक इसी प्रकार का दृश्य प्रसिद्ध राज० गीत 'पणिहारी' में है। पूरा गीत आगे उद्धृत किया गया है। उसी गीत में यह पंक्ति भी है— सात सहेल्याँ रे झूलरै। पणिहारी ए लो। पाणीड़े नें गई रे तळावा। वा'ला जो ॥
८—गीत नं० ६, हिंडोले के गीत, क० कौमुदी, भाग ५, पृ० ४०९। ठाढ़ी झरोखवा मै चितवउँ, नैहरे से केउ नाहीं आइ ॥ .... चुनरी ले आवइँ बिरन मोरा, जेकरि बहिन दुलारि ॥	८—यही भाव भात के कई गीतों में आया है, जहाँ बहिन उत्सुकता पूर्वक भाई के आने की बाट जोह रही है। आयो छः मा को जायो वीर, हीराँ जड़ ल्यायो चूनड़ी। . . . . , ओढ़ाई घणदेवा चूनड़ी ॥
९—गीत नं० २९, हिंडोले के गीत, क० कौमुदी, पृष्ठ ४३७। एक करैली हम बोवा, अरे करैली पसरी बबैया जिउ के देस॥ पसरत पसरत पसरि गई, पसरी है रन बन देस ॥	९—यही भाव है–'आम्बो मोरियो' गीत में—आरंभ यों होता है— दोय डूँगराँ बिच बेल पसरी, बीरै के आँगन आँबो मौरियो ॥
१०—गीत नं० ३, कोल्हू के गीत, क० कौ० भाग ५. पृ० ४५०। बनजारे का गीत है बनजारी पति के साथ	१०—इसी आशय का राजस्थानी गीत "बिणजारा" है— बिणजारी कहती है

हिंदी	राजस्थानी
चलने का प्रस्ताव करती है--	विण जारा रे लोभी,
मोर कौड़ी क लोभी,	चालूँगी बाळद के साथ।
फिरौ घर को।	गोडो तो देय लदाय चूँ।
बेरिया की बेर तुम्हे बरजौ, हो	विणजारा रे।
नैका कि हम का गोहन ले लियाय।	

ऊपर कुछेक विशेप समता वाले स्थलों की तुलना की गई है। यह समता विशेषत शाब्दिक है। संस्कृति और कल्पना के विस्तृत क्षेत्र में इन भापाओं के लोक-गीतों में कितना अधिक साम्य है, यह तो इन भाषाओं के लोक-गीतों का अध्ययन करने वाले सहृदयों को मालूम हो सकता है।

गीतों की दुनिया ही निराली है। उस के उपमान और विशेष रूढ़ियाँ और परिस्थितियाँ भी प्रादेशिक सीमाओं का उल्लंघन कर के समरूप से प्राय: सभी प्रांतों में प्राप्त होती हैं। यहाँ पर कुछ साधारण भावनाओं को एकत्रित किया गया है:—

(१) चंदन, नींबू, नारंगी, नीम आदि वृक्षों को पारिवारिक और कौटुंबिक जीवन का प्रतीक मान कर उन की समृद्धि द्वारा जीवन की समृद्धि और उन के ह्रास द्वारा जीवन का ह्रास लक्षित करना—गीतों में—हिंदी-राजस्थानी और गुजराती, इसी प्रकार अन्य प्रादेशिक भाषाओं में भी माना गया है। राजस्थानी गीतों में इन के अतिरिक्त, आम, इमली, बबूल, पीपल, बड़, कंमूब, के वृक्षों का भी इस लाक्षणिक अर्थ मे प्रयोग हुआ है।

(२) चील, तोता, कुरझ (कुंजपक्षी), कौआ, आदि पक्षियों का प्रेमियों के बीच प्रेम का संदेश वाहक हो कर आना गीतों मे सर्वत्र मिलता है। हिंदी में चील और कौए की प्रधानता है तो राजस्थानी में कुरझ और कौए की।

(३) वहू का ससुराल में अस्वतंत्र और संतापयुक्त जीवन और उस का सास, जेठानी, ननद के व्यंग्य,त्राणों से विद्ध हो कर रहना, तथा घर के कार्यभार से लदे रहना—गीतों में साधारणत: सर्वत्र मिलता है। ससुराल मे उस का पति ही उस का एक आश्रय है और इस यातनामय जगत में वह उसी के प्रेमामृत की आशा से जीती है।

४ इस के विपरीत वहू के सुख-स्वप्नो का केंद्र उस का पीहर ह और वह उसी की

ओर टकटकी लगाए निहारती है। भाई और पिता के लिवा ले जाने की आशा उस की जीवनलता को हरी-भरी रखती है और इस आशा के साथ उस की अनेक सुखद कल्पनाओ का योग गीतों को करुण और कोमल भावों से भर देता है।

(५) चरखा, चक्की, सरोवर, कुँआ, खेत आदि संस्थाएँ गीतों की दुनिया में सुरम्य स्तंभ हैं, जिन के इर्द-गिर्द लोक-काव्य की सुंदरतम कल्पनाएँ केंद्रीभूत हुई हैं। ऋतु, मेले, त्यौहार और पर्वों ने भी हजारों गीतों को जन्म दिया है।

(६) सम्मिलित-कुटुंब-प्रथा ने हिंदू गृहस्थ में यद्यपि अनेक कोमल और सुख-प्रद भावनाओं का उत्पादन और निर्वाह किया है, तथापि बहू के जीवन-विकास के लिए वह यत्रतत्र घातक ही सिद्ध हुई है। यह धारणा गीतों में सर्वत्र मिलती है।

गीत-साहित्य के उद्धार और अध्ययन से वर्तमान युग में क्या लाभ हो सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। विकास के इस युग में जब हमारी आगे को बढ़ी हुई आकांक्षाएँ नया ज्ञान, नई भावनाएँ और नए मार्गों की ओर झुकी हुई हैं, तब प्राचीन काल के इन मुर्दा चित्रों और बासी संस्कृतियों को ग्रहण करने से क्या प्रयोजन ? पर विचार कर देखा देखा जाय तो बात ऐसी नहीं है। व्यतीत काल के उन सरल, स्वाभाविक और निश्छल मनोभावों में हमें सत्यं, शिवं, सुंदरं की अपार निधि मिलती है, जो समय की सीमा का उल्लंघन करती हुई स्थायी रूप में सत्य की शिला पर प्रतिष्ठित है; जिस को सर्वथा त्याज्य समझ कर ठुकरा देना अथवा भुला देना मूर्खता ही नहीं जातीय आत्मघात होगा।

लोक-गीतों मे व्यक्त जीवन कितना स्वस्थ, कितना स्वाभाविक, कितना सुंदर, कितना निर्मल, पुष्ट और सजीव है, यह कहने की आवश्यकता नही है। जिस काल के परिचायक ये गीत हैं, वह वास्तव मे कितना मधुर और पूर्ण रहा होगा, यह कल्पना ही हमारे वर्तमान सामाजिक जीवन की अनेक विषम जटिलताओं और संतापो का शमन कर सकती है। जिस काल में प्रत्येक समाज और व्यक्ति के दैनिक कार्यों में मधुर संगीत का आलाप ध्वनित होता था, वह काल वास्तव में स्वर्गीय काल था। गाँव में हमारी माताएँ और बहिने आज भी ब्राह्म मुहूर्त में उठ कर झाड़ू देती हुई, दूध दुहती और दही बिलोती हुई, गाय-भैसों की सेवा करती हुई—गाती हैं। वे चक्की पीसती हुई गाती हैं, जलाशय अथवा कुएँ से जल लाती हुई गाती हैं। उन के गीतों में घरेलू जीवन के आदर्श प्रेम की भावनाएँ तरंगित होती है स्त्रियाँ ही क्यो हमारे गाव के भाई भी किसी दनिक काय को सगीत की लय

के सहारे विना नहीं करते। कुँए से जल खीचते, हल चलाते, कपड़ा बुनते, मजदूरी करते, खेत निराते, धान कटाते, और खेत को जाते-आते गीत की टेर लगाते सुनाई देते हैं। गीतों का इतना घना सामंजस्य उन की दिनचर्या में हुआ है। फिर पुत्रोत्पत्ति, षोडश सस्कार, उपनयन, विवाह, त्यौहार, देवपूजा, ऋतुओं और पर्वो पर तो सुमधुर सगीत की सरिताएँ किनारों तक उतरा कर बहती हैं। भारतीय जीवन संस्कृति के संगीत के विना कल्पना करना ही असंभव है। यह कहने से हमारा आशय यह नहीं है कि हमारा प्राचीन जीवन सब अंगों में सर्वोत्कृष्ट था और उस में किसी प्रकार की कोई कमी नही थी। वह जैसी भी दशा में रहा हो, गीत उस के साथ छाया की तरह लगा था।

राजस्थानी गीतों के क्षेत्र-विस्तार की कल्पना निम्नलिखित तालिका से की जा सकती है, जो हमने प्राचीन गीतों के प्रचलित रूप को ध्यान में रख कर बनाई है। यह सूची अपूर्ण है। वहुत से विपय और क्षेत्र इस तालिका से छूट गए होंगे। इस ओर खोज की कमी है। हमारा अनुमान है कि खोज करने पर हजारों की तादाद में नए गीत मिल सकते है—मौखिक-परंपरा, व्यवहार अथवा पुरानी हस्तलिखित पोथियों में।

(१) **देवी-देवताओं और पितरों के गीत**—यथा—भगवान्, गणेश, विनायक, महादेव जी, सूरज जी, माता जी, भैरूं जी, मावल्याँ जी, हनुमान जी, वायाँ जी, पितर-पितराँणी (स्वर्गीया सौत), भोमियो, पंचपीर, सेढल, सीतळा, जळदेवता, सतीरांणी, झालर (देवताओं का सामूहिक स्मरण उपासन)।

ये गीत राती-जगा (रात्रि-जागरण) के समय विशेषतः गाए जाते है। पृथक्-पृथक् मांगलिक अवसरों पर भी गाए जाते हैं।

(२) **ऋतुओं के गीत**—यथा—सावण, जाडो, चोमासो, वारहमासो आदि।

(३) **तीर्थों के गीत**—यथा—चार धामों के पृथक्-पृथक् गीत। इसी प्रकार ौर तीर्थों के भी गीत हैं।

(४) **व्रत-उपवास, त्यौहारों के गीत**—सावण के गीत (जिन में भाई-बहिन का प्रेम और लड़की का पीहर-प्रेम विशेषतः प्रदर्शित है), तीज, गणगौर, चौथ, तुळछी, लछमी जी, घुड़ले के गीत, दिवाली-होली के गीत, भैया दूज, राखी पूनम, सीळ सात्यो के गीत आदि

(५) **संस्कारों के गीत**—गर्भाधान, साध अथवा आस पुरावणों, जन्म संबंधी (हालरो), नामकरण, धाभ, दाई, पालणो, लोरी, जनेऊ के गीत। चीणोटियो, पीळो, जच्चा-पीपळी।

(६) **विवाह के गीत**—सगाई के गीत। विनायक, धवळ, मंगल, हळदी, पीठी, तेल चढ़ाते समय के। मेंहदी, बरात के चढ़ते और लौटते समय के। शकुन। बनड़ा, बनड़ी, घोड़ी, बनोरो के गीत। वैवाहिक प्रथा-विशेष के गीत—यथा:—सोमेळो (सम्मेलन) कांमण, कँवर-कलेवो, तोरण, जुवा, कांकण-डोरड़ो, भाँवर (फेरा), सेवरा। बधावा, जात (देव-यात्रा)। बरात (जान) के भोज के समय के, यथा, भात बाँधना। भात (माहेरो)—वहिन की संतति के विवाह में भाई की ओर से बहन को दातव्य। जँवाई के गीत। जीजा जी। पहरावणी, समठूणी (दहेज) के गीत। लड़की की विदाई के समय के गीत—ओळ्यूँ विदाई के समय के बधावे। मुकलावा (गौना), जलो, हरियाळो, ढाढ़ियों के वैवाहिक गीत। वैवाहिक राती-जगा के गीत।

(७) **भाई-बहन के प्रेम के गीत**—भात (माहेरो) और तीज के गीतों मे अधिकांश यही है। सूवटो, संदेशा।

(८) **साळी-साळेल्यां (सरहज) रा गीत**—यथा—भाँग, गादी आदि छुडखणा। जरद रूमाल, ढोलियो आदि।

(९) **पति-पत्नी के प्रेम के गीत (संयोग में)**—प्रेम-प्रतीक वृक्षों के गीत, यथा—आँबो, अमली, नींबू, नीमड़लो, बड़लो, वाँवळ्यो, नारंगी, पीपळी, कसूबो, मरवो आदि। जलाल, पनजी, भूमल, हिंडोला, नीदडली, जलो (संयोग का), मिरगानैणी, लहर्‍यो, चूंळी चीणोटियो, ढोलो-मारूणी, कांकरड़ी आदि।

पति-पत्नी के प्रेम के गीत (वियोग में)—ओळ्यूँ, निहालदे, संदेश (पक्षियो द्वारा), कुरझाँ, आक्षेपोक्तियाँ, अेकथंभियो महल, पीपळी, नागजी, पपैयो, सूवटो, सपनो, नीमड़ी, पना-मारू, उमराव, मिरगी, बदळी, सावणियो।

(१०) **पणिहारियों के गीत**—पणिहारी, पाणीड़ो, सरवर।

(११) **प्रेम के गीत**—चारणी, सुरता, भीलणी, ऊमादे-भारमली आभल-खीवरो।

१२ **चक्की पीसते समय के गीत** ६

(१३) **बालिकाओं के गीत**—चाँद चढ्यो गिगनार, बादळी, कुळिया काचर, फूलाँरी सोळी-होळी, घुडले और गौर के गीत, कान्ह कँवर री सूमरी, मोरियो, काळी कोयलड़ी, अटूल्यो, चार चिरम्याँ,। इन में कुछ गीत, तीज गौर, होळी और सावण के भी शामिल हैं।

(१४) **चरखे के गीत।**

(१५) **प्रभाती गीत**—इन में हरजस (हरियश) अधिक होते हैं। यथा—धूजी, राधाकृष्ण के प्रेम के गीत, कृष्ण की बाललीला के गीत, रामायण-संबंधी गीत, शांतरस के नीति-संबंधी गीत आदि।

(१६) **हरजस**—राधा-कृष्ण प्रेम के गीत—इन में बहुत से भजनों में मीरा, चंद्रसखी, का नाम पाया जाता है। रामायण-संबंधी। इतर पौराणिक कथा-संबंधी। भागवत-संबंधी और शांतरस के नीति, उपदेश, विनय-संबंधी गीत।

(१७) **धमालें**—जिन्हें विशेषतः होली के अवसर पर पुरुष गाते हैं। प्रायः हर-जस और उपदेशप्रद भजनों के ढंग के गीत होते हैं। गाँवों में बहुत प्रचलित हैं।

(१८) **देश-प्रेम के गीत**—यथा—वालो देस।

(१९) **राजकीय गीत**—यथा—धूँसो।

(२०) **राजदरबार, मजलिस, शिकार, दारू के गीत**—यथा—सूवरियो, दारूड़ी, अमलियो तमाखू।

(२१) **जम्मे के गीत**—वीरों और सिद्ध पुरुषों, महात्माओं की स्मृति में रक्खे हुए जागरण को 'जम्मा' कहते हैं। यथा—रामदेव जी, पाबू जी के जम्मे। परड़, पर-वाड़ों के गीत।

(२२) **सिद्ध पुरुषों के गीत**—गूगो, रामदेजी, पाबूजी, हड़बूजी, तेजोजी, भमतो सिध, केसरोजी, माल्देजी, स्यांमजी, करणीजी, इत्यादि।

(२३ क) **वीरों के गीत**—जोरसिंघ, जगदे पँवार (दानवीर), डूँग जी जवार जी, लोटियो जाए जगदेव को छोड़ कर बाकी आधुनिक काल के वीर हैं।

(२३ ख) **ऐतिहासिक गीत**—राणो रतन. जेतल. अचलदास भटियाणी- जसमा-ओडणी बध्यो मीणा परतू मगळदास आधुनिक

(२४ क) **गवालों के गीत**—विणजारों के गीत, रेवारियो (ऊँट के चरवाहों) के गीत, खेड़ चराने वालों के गीत। कृषकों के गीत। यथा—'बनवारी हो लाल' प्रसिद्ध गीत आगे उद्धृत है।

(२४ ख) **हास्यरस के गीत**—खटमल, मोडियो जती, माखी, बाँभीड़ो, बिछूड़ो, रेजो, जुवारमल।

(२५) **पशु-पक्षी-संबंधी**—कबूतर, कमेड़ी, सूवो, गऊ माता, मिरगी, खोड़ो मिरगलो।

(२६) **शांतरस के गीत**—उपदेश और नीतिप्रद गीत, भजन और हरजस के ढंग के।

(२७) **गाँवों के गीत (ग्राम-गीत)**—खेती-संबंधी। फूली रे ळॉकी, बनवारी हो लाल, सावण, मेहूड़ो, करला गाजणा, चरखलो, झूँपड़ी, खीचड़ो, हाळी, ऊँट लादिबो, कूवो, झूँटणिया, बिणजारो, बारहमासियो, जँवाईड़ा (हास्यप्रद), ग्रामीणों की ओळ्यूँ।

(२८) **नाट्य-गीत**—यथा—हरियाळो।

(२९) **विविध**—मीठो खरबूजो, गाजर झबराळी, सजना। और भी बहुत से गीत।

गीतों की दुनिया

लोक-गीतों में प्राचीन काल के संस्कारो और मानव-मनोविज्ञान का अच्छा दिग्दर्शन मिलता है। ये संस्कार जीवन के प्रत्येक कक्ष में घुले हुए मिलते हैं। हजारों की संख्या में गीत हैं। किसी गीत को उठाइए उपमानों, रूढ़ियों, प्राकृतिक परिस्थितियों, मानव-हृदय की प्रेरणाओं और जीवन की जटिल स्थितियों में ये संस्कार मिलेंगे। इन सब में उस विशुद्ध पुष्ट एवं प्रेममय स्वाभाविक जीवन की व्यापकता का पता लगता है जो गीतों में वर्णित है और आजकल के कृत्रिम जीवन से जो बहुत अंशों मे भिन्न है। विस्तृत अवतरणों सहित उदाहरण देना असंभव जान कर गीतो की दुनिया के कुछ सांस्कृतिक **पारिवारिक जीवन-संबंधी** उपमानों अथवा कल्पनाओं का विश्लेषण नीचे कर दिया गया है

(क) पति के उपमान बिलालो सॉवळियो मोटयार झिलवी

जोड़ी रो भरतार, आँटीलो-हठीलो-वादीलो-मिजाजीडो। ऊगंतो सूरज। लाल नणद रो बीर। रंगभीनो। अंधियारे घर रो चांनणो। चुड़ले रो सिणगार। रंगरसियो। मारू-ढोलो। लसकरियो। केसरियो भरतार। हिवड़े रो जिवड़ो। नटवरियो। सांवळियो सिरदार। नणदल बाई रो बीर बॉकड़ली मूछ्याँ रो जलाल। मरद मूँछाळो। गाढा-मारू जी। भर जोड़ी भरतार। मद छकिया मन भरियो।

(ख) **बीर-पति और उस की वेष-भूषा—**

लीली घोड़ी हाँसली, अलबेलो असवार।
कडयाँ कटारी बाँकड़ी, सोरठड़ी तरवार ॥

ढाल-गीडेरी। लाल-कमांग। वीर के कपड़े—पाँचू। शेजाँ रो माँझी। खँवे बंदूक।

पुरुष के श्रृंगार की वस्तुएँ—वागो केसरी। माथै म्होर गज पाग। सिर सवालाष को पेचो। लाखीणी मोजड़ी (जूती)। पिचरंग पेचो।

(ग) **पत्नी के उपमान**—मिरगानैणी। पूगळ री पदमणी। मिजाजण-तनक मिजाजण। गजगहणी। सदा सुरंगी नार। केसर वरणी गोरी। चीतालंकी। वाळकधण। माणेतण। कुळवहू। सूरज जिसो उजास। चाँद जिसी ऊजळी। ऊजळ-दंती। नाजुकड़ी-नाजो।

(घ) **कुटुंब के संबंधी**—नखराळी भावज। सासू सावकी। देवरियो नखराळो छिणगारो। समरथ पांवणा (ननदोई-पाहुना)। भूवा चोरटी। अंबर सरीसो मुसरो। धरती सरीसी सास। सुसरोजी इंदरगढ़ रा राजवी। सासूजी पूंगळ गढ़ री पदमणी। जेठजी पून्यूँ केरो चाँद। जळहर जामी वाप। रातादेयी माय। कान्ह कँवर सो वीरो। राही (राधा)सी भोजाई। साँवळियो-वहनोई। झाड़ू देवण-भूवा। हाँडाधोवण फूफो। भायाँ केरी बैनड़, चिड़कली आज उडै परभात। जेठाणी नाराढूती नार, लडोकड़ी, कळहगारी। देराणी नानकड़ी वाळी भोलीनार। बहन सावणिये री तीजणी। नणदल आभा बीजळी—ऊन्हाळे री बळतीलाय। सास सपूती। स्त्री को कोख—रतनाँरी खाँण। जच्चा—
पीपळी बहन काकी बढ़िया रो झूलरो सहेल्याँरो झूमरवो

(ङ) **स्त्री के शृंगार की वस्तुएँ**—झबरख झूँटणा। घरेघुमाळो घाघरो। जच्चा रांणी से पीळो। चुड़लो हाथी दांत रो। पाळ चढंती रा घूघरा बाजणा। रुण झुण रमझोळ। गजरो घूंघट—झीणो घूँघट। सोनें रो कळसो। मोतीड़ाँ री ईंढी। चो भणेरा मोजड़ा (जूती)। साळू—साँगानेर को। पडळो पूरब देस को। काळे कम के (कमखाब) री कांचळी। हरे किसब रो घाघरो। ओढनी—अल्ले पल्ले मोर पपैया, बिच में चाँदो चितरायो। चँदवाई चूड़ो। सुरगी चूनड़ी। दिखणी चीर। कड्याँ पटोळो। माथे महमंद-राखड़ी। कानों में-पत्ता, कुंडळ। पूँचे चुड़लो। हाथाँ गजरा। पैरों में—पायल, बिछिया। चीणो-टियो (चीनांशुक) चीर। गजमोतियाँ रो हार। कूँकूँ की कूँकावटी। काजळ रो कूँपलो।

(च) **दांपत्य-सौख्य की सामग्री**—झबरक दिवलो—चौमख दिवलो—अगर चनण रो दिवलो। रेसम री बाट। चँपला रो तेल। सोवन थाळ। चानण चौक। तातो पांणी तेल उबटणो। माथो न्हाण मेंट सूँ। चँपला री डाळ हींडो। सुवावरणी सेज—बादळवरणी सेज। चंदण रो ढोलियो। पागा रतन जड़ाव रा। दावण मखतूल री। सुवा वरणी—सोड़। कुरला—दूधरा। दाँतण—काची केळ रा। भोजन—लिचपिच लापसी, जिंदवा रा भात, गुदळी खीर, घेवर काटमाँ-छाँटमाँ। मोछण लपभर राल ची बिडलेरा चौसठ पांन। लोटइए गंगाजल नीर। डेरा हरिये बाग में। मरदन तेल चंपेल रा। भँवर पटाँ में तेल। पोढण हिंगळू ढोलियो। ऊंची मेड़ी पोढणा। लाल किंवाडी। बनखंड को हिंडोळो। रेशम पट डोर।

(छ) **वाहन, पशु और तत्संबंधी वस्तुएँ**—रुणझुण बैल (रथ)। करह्या-रळकता-गाजणा-बोलणा। हस्ती कजळी देसरा। करला मारू देस रा। घुड़ला पारस देस रा खुरसांणी देस रा। दाढी वाळो बोक (बकरा)। काळियो साँड दडूकणो। गल्लेवाळो टोड। मैयो टोडड़ो। लीली घोडी। घोडी नवलखी। वनाती जीण। पीतळियो पिलांण। घोड़ी मगेजण। धोळी (गाय) दूझणी। भैसा-आरणा।

घ **की आवर्स सामग्री**—सोनो देस रो। पातर जपर सहर

की। तायफो (नर्तकी) जेसळमेर को। रूपो (चाँदी) ऊजळदेस रो। हीरा वैरागढ़ देस रा। मोती समदर पार रा। मिसरी बीकानेर री। राय रसोई—रतनर-सोवड़ो। मगरे रा मूँग। पाघ (पगड़ी) राठोड़ी। छींट मुलताणी। स्त्री भटि-याणी। सहर—जोधाणी। राजा—राठोड़ी। देस—जेसाणो। बीज—उदियापुर रा। कांमणी—उदियापुर री। रुपियो गजसाही। पुरुष—राठोड़ी। दोवड—तेवड दात (दहेज)। सठवा सूँठ। हळदी माळवे री। ईदर गढ़ री चाकरी। जाझी जाटणी। सुपनो ढळती रैंण रो। देस—नगीनो। आदर्श भौतिक सुख की कल्पना—दूधे वूठा मेह। स्त्री का आदर्श सुख—गोद झडूलो पूत। जात (देवयात्रा) गठ जोड़े री।

स्त्री सौंदर्य के उपमान—देखिए—'गैवरल', 'भूमल,' 'मिरगानैणी' नाम के गीत।

अवयव संबंधी—हाथ—कँवळ केरो फूल। रूड़ो नजारो तीखे नैणाँ रो। सीस—नारेळाँ सारिखो। बेणी—वासक नाग। भँवारा—भँवरो। निलवट (ललाट)—आँगळ च्यार। आँखडियाँ—रतने जड़ी। नाक—सुवा केरी चूँच। नाक—खाडे री धार। मिसरायाँ (मसूड़े)—चूनी (लाल) जड़ी। काजळ की रेखा—काळी कांठळ में चमकी बीजळी। होठ—रेसमिये रा तार। दाँत—दाड़म केरा बीज। हिवड़ो—संचे ढाळियो। छाती—बजर किंवाड। पसवाड़े (पार्श्व)—बीजळ ख्रिवै। पेट—पींपळ केरो पांन। आँगळी—मूँगफळी सी। बाँह—चपा केरी डाळ। पींडी—पातळी। पींडळियाँ—रूँवाळिया रतनाळिपर। जाँघ—देवळ केरो थाँभ। एडी आरसी सी—सुरंग पुपारियाँ। पाँव—पींपळ को पात। पजो (पैर का)—सठवा सूंठ। नैणं—नीबू की फाँक। वेलण बेली—बाँहडी। मगर (पीठ)—सखतूल।—पेट—गवाँ केरी लोथ। सूँडी—रतन कचोळियाँ। केसडा—कड्याँ राळ्या।

सौंदर्य-संबंधी—सूरज जिसो उजास। चाँद जिसी निरमळी, दूधाँ जिसो उफाँण (यौवन के उमंग की)। दही सरीखी कठकठी (मांसल-सुपुष्ट)। मिसरी जिसो मिठास। लूँग सरीखी चरचरी (तीखापन)। जीमड़ल्याँ अमरत बसै।

पारिवारिक जीवन के प्रतीक वृक्ष—कसूंबो नीमडलो नींबू आंबो अमली बडलो वांवळयो पींपळ आदि

प्रतीक वृक्ष-संबधी प्राय: सभी गीतों में नवविवाहिता वधू गमनोत्सुक पति से घर रहने का आग्रह करती है और अपने एवज में ससुर-जेट-देवर-नणदोई-पड़ोसी को प्रवास में भेज देने का प्रस्ताव करती है, जिसे कर्तव्यनिष्ट पति युक्ति-पूर्वक टाल देता है। ये वृक्ष कैसे हैं? दांपत्य प्रेम के बंधन से बँधाई हुई इन वृक्षों की पाल (थाँवला) है और दूध-घी से सींच कर इन को पाला जाता है। इस की--"डालाँ तो पानाँ जोबन झुक रह्यो"--डाल-डाल, पत्ते-पत्ते से यौवन झुक रहा है। हृदय के रस से सींच कर बढ़ाए हुए इस जीवन-वृक्ष के पत्तों और डालियों को यदि कोई निर्दयता-पूर्वक तोड़े तो उस को कैसे क्षमा किया जा सकता है? "मत कोई तोड़ो वड़ रा जी पांन, मत कोई संतावो हरिये रूंख नें" कैसी करुण अभ्यर्थना है? परंतु इसे कौन मानता है? विचारी बहू का ससुर के घर में क्या अधिकार? "नणदल बाई तोड्या वड़ रा पांन, देवरिये छिणगारे तोड़ी साट-की।" इस निर्ममता के बदले--"नणदल बाई नें सासरिये खिदाय, देवरिये नें खिनावो राजा जी री चाकरी"--कैसा उचित न्याय है। नणद बाई को ससुराल जाने पर ही वहाँ के सुख-दुख का ज्ञान होगा। उस की, आँख खुलेगी और वह भाई-भौजाई के दांपत्य-सुख में विघ्न पैदा करने--वड़ले का पांन तोड़ने--का उचित फल पा जायगी। उत्पाती देवर को भी प्रवास में रह कर नानी याद आवेगी।

(ठ) **बनडो (दूलहा)**--गायड़ मल, फूटरमल, सरद पून्यों रो चाँद। ऊगते सूरज रो तेज। हाटाँ मॉयलो हीर। गोप्याँ माँयलो कान्ह। हरियाळो।

(ड) **बनडी (दुलहिन)**--अकन कँवारी। 'थारे घूँघटिये मे सोळै सूरज ऊग्या।'

(ढ) **आदर्श संबंध की कल्पना**--बासुदेव--ससुर। रुकमण--बहू। केसरिया किसन--पति। भीपम की धीय--कुळवहू। ईसर जी--पुत्र। विरमादत जी--वाप। सहोदरा--बहन। साँवतदे--बहू। सागर--बाप। जळबळजामी--बाप।

आदर्श दंपति--सूरज जी--रैणाँदे। चंदरमाजी--रोहण दे। बिरमा जी--साँवत दे। ईसर जी--गवरा दे। रामचंदर जी--सीता जी। रुकमण--किसन जी।

आदर्श संतति **मींव सरीखी**

ण रगों की --केस राता--नण पीळा--वीर

अभिवादन की रीति—नणदोइ को—लटक जुहार। पति को–लुळ लुळ लागूँ पाँय। देवता के प्रति—दूध पखाळूँ पाँय। किसी प्यारे को स्वागत करने की रीति—मोतीडाँ वधावणो (थाल भरे मोतियों से उस का अभिवादन करना)।

पत्नीका पति को पत्र लिखने का ढंग—एवड़ छेवड़ लाख ओलभा, विच में सात सलाम। अर्थात् पत्र के किनारों-किनारों पर प्रेम भरे उपालंभ-वचन और पत्र के बीच में अनेक विनय भरे मधुर कोमल हृदय के भाव। शृंगारिक मान का पत्र खासा अच्छा नमूना है। ऊपर से रूठना, हृदय में प्रेम।

आशीर्वाद-शुभकामना—(बहिन की भाई के लिए)—वधियो रे वीरा वेल्याँ ज्यूँ वेल, नारेळाँ ज्यूँ लड लूमज्यो। अर्थात् तेरा वंश बेल की तरह बढ़े और नारियल के वृक्ष की तरह गुच्छों में फले।

आक्षेपोक्तियाँ—देखो प्रसिद्ध गीत, 'कसूंबो' अथवा 'अेक थंभियो महल'। पत्नी कहती है, हे प्यारे, वर्षा का आगम है, तुमने चलने की ठानी। रुक जावो। इस बार राजा जी की चाकरी में समुर जी को भेज दो। पति कहता है—'समुर जी बला से जावें, उन के मेरे जैसा पुरुषार्थी पुत्र है। फिर कहती है—जेठ जी को भेज दो। उत्तर देता है—'नहीं, उन की स्त्री कैसे जाने देगी, जो नाराहूती—लडोकड़ी–कलहगारी—प्रचंड स्वभाव वाली है'। फिर कहती है,—'तो देवर को ही भेज दो'। उत्तर—'देवर की स्त्री नवीना है—नानकडी नार, बाळक वण है, भोली भाली है। उस को छोड़ कर वह कैसे जायगा ?' 'अच्छा, तो ननदोई जी को इस बार भेज दो। उत्तर—'परंतु हमारी बहिन सावण की तीजनी है, वह दुख पावेगी'। 'और कोई नही, तो पड़ोसी को ही भेज दो, पर तुम इस बार मत जावो' लाचार स्त्री ने कहा। उत्तर मिला—'नहीं; पड़ोसिन नित उठ कर तुझ से झगड़ा ठानेगी।' जब सारी युक्तियाँ न चलीं तो लाचार हो कर स्त्री ने कहा, तो जाने से पहले इस पावस की बिजली का चमकना बद कर जावो, बादल का गरजना और हवा का सनसनाना रोक जावो, पपीहे का बोलना और कोयल का कुहकना बंद कर जावो। और यदि कुछ भी न हो सके तो मुझे ही मार कर चले जावो।

चरखे के विषय में चरखा में जीवन का अभिन्न साथी था

ऐसा हो नहीं सकता था कि लोक-काव्य के राग में यह यंत्र रँगा न जाता।

चरखो भँवर जी लेल्यूँ राँगलो जी। हाँ जी ढोला पीळो लाल गुलाल।
तकवो तो ले ल्यूँ बीजळ सार रो जी। ओ जी म्हारी जोड़ी रा भरतार।
पूँणी मँगाल्यूँ जी भँवर जी बीकानेर की जी। मोहर मोहर री कातूँ भँवर जी कूकड़ी जी
हाँजी ढोला रोक रुपैये रो तार। मैं कातूँ थे बैठा विणज ल्योजी॥

ससुराल-पीहर के संबंध में लड़की की तुलनात्मक भावनाएँ—

(१) सासरिये रा धोरा, मनें चढती नें लागै दोरा।
पीवरिये रा धोरा, मनें चढती नें लागै सोरा। राय राती झंबो॥

(२) आक तळे म्हारो सासरियो, ए लूं ब्याँरी डोरी।
नीम तळे म्हारो पीर, वारी ए लूं ब्याँरी डोरी।
आक बकरिया चर गया, ए लूं ब्याँरी डोरी।
नीम हिलोळा खाय, वारी ए लूं ब्याँरी डोरी॥

ससुराल का मार्ग लड़की को दुखमय और कंटकाकीर्ण लगता है, पीहर का मार्ग उस को स्वर्गीय लगता है। इसी लिए आकड़े की छाया मे ससुराल को बसाया है, और नीम की गहरी छाँह में पीहर को। आक को बकरी चर जाती है, पर नीम की छाया सदा हरी-भरी रहती है। इन कल्पनाओं में लड़की के हृदय का चित्र है।

प्रेमी दंपति के संदेश-वाहक पक्षी—कुरझ, कौआ, तोता अदि। हिंदी में चील और कौआ अधिक आते हैं। कुरझ राजस्थान का विशेष पक्षी है, और वह भी वर्षा ऋतु का, जो राजस्थान की प्रधान और सर्वोत्तम ऋतु है। ताल के किनारे बैठी कुरझ से वियोगिनी प्रार्थना करती है—'कुरझ बहिन, तू मेरी सखी है, एक सदेशा परदेशी पति तक ले जा।' कुरझ को दया आती है, परंतु वह विरहिनी की सहायता कैसे करे?—"माणस हवाँ तो मुख कहवाँ म्हे छां कुझरियाँ"। पखो पर संदेशा लिख दिया जाता है और कुरझ उड कर प्रियतम के पास जाती है प्रेमी सदेश पढ कर व्याकुल हो जाता है अत म चाकरी छोड कर प्रिया से आ

मिलता है। मेघदूत से बहुत पहले प्रेमियों ने पक्षियों द्वारा संदेश पहुँचाने की रीति निकाल ली थी!

जीवन के विविध व्यापार जिस प्रकार अनेक और संख्यातीत है, उसी प्रकार उन के साथ लगे हुए गीत भी। यह विषय एक अगम्य समुद्र की तरह अपार है, जिस की लहरियों को गिनना अथवा क्रमबद्ध करना असंभव है। हम यहाँ पर जीवन की कुछेक विशेष प्रगतियों से संबंध रखने वाले प्रचलित राजस्थानी लोक-गीतों का उल्लेख करेंगे, जिस से हिंदी समाज को राजस्थानी लोकगीतों का महत्व, और उन के काव्य-सौंदर्य के साथ उन की सामाजिक उपयोगिता का अंदाज़ा हो जाय, और इस विषय में ऊपर कहे हुए हमारे वक्तव्य का भी प्रमाण मिल जाय।

देवी-देवताओं के गीत

(१) विवाहादि मांगलिक अवसरों पर गृहस्थ की स्त्रियाँ गणपति का इस प्रकार स्मरण करती है—

अेक कोथलड़ी द्रब देइयो विनायक, लाडले के बाप नें।
वै तो खाय खरचै सो धन विलसै, जस रहवे परवार मे।
अेक जीभड़ली जस देइयो विनायक, लाडले की माय नें।
वा तो मीठी सी बोलै निवँकर चालै, जस रहवे परवार में।
अेक बाँहड़ली बळ देइयो विनायक, लाडले के वीर नें।
अेक भात में जस देइयो विनायक, लाडले के नाना-मामा नें।
अेक आरतड़े जस देइयो विनायक, लाडले की भूवा-भैंण नें।
अेक गाजत घूमत आवो विनायक, साँवरिया के मेह ज्यूँ।
अेक भर्‌यो ए वतूळो आवो विनायक, बिणजारा के बैल ज्यूँ।
अेक माँड्यो-चुँड्यो आवो विनायक, सरब सुहागण के सीस ज्यूँ।
अेक तीन बसत निभाइयो विनायक, पवन, पाँणी, वसुन्धरा।
तूँ तो अळी-गली मत जाइयो विनायक, सीधो ही आइयो सामी साळ में।
अेक आवे गूगळ की बास सुगंधी कूण सवागण गणपत पूजियो।
गणपत पूज री माय ज्याँ घर विरद उतावळी।

हे गणपति, लाडले वर के पिता की थैली में द्रव्य भरो, जिस से वह खूब खावे, खरचे और ऐसा विलास करे जिस से परिवार की यशवृद्धि हो।

हे विनायक, लाडले की माता की जीभ को यश देना; वह विनम्र हो कर चले, मीठी बोले, जिस से परिवार का यश बढ़े।

हे विनायक, लाडले के भाई की भुजा में बल देना, उस के नाना-मामा को भात मे यश (सफलता) देना और उस की बूआ-बहिन को आरती में यश देना।

हे विनायक, सावन के जल भरे मेघ की तरह गरजते-घूमते आओ, बनजारे के सामग्री से लदे बैल की तरह ऋद्धि-सिद्धि से भरे-भराए आओ; सर्वसुहागिन स्त्री के सँवारे हुए शीश की तरह सजधज कर आओ।

हे गणपति, तुम्हारी कृपा से तीन वस्तुओं की (इस गृहस्थ में) कभी कमी न हो— स्वास्थ्यप्रद पवन, जीवनप्रद जल और अन्नधन देने वाली वसुंधरा की।

हे विनायक, तुम टेढ़े-मेढ़े अली-गली में मत चले जाना; सीधे हमारे घर आना। गूगळ-धूप की सुगंधित वास आ रही है; कहो तो किस सुहागिन ने गणपति की पूजा की है।

यह पूजा लाडले की सौभाग्यवती माता ने की है, जिस के घर में उन की कृपा से खूब वृद्धि और मंगल हो रहा है।

गणपति से प्रकृति के तीन पदार्थ जल, पवन और पृथ्वी को माँगना, लोकगीतों के प्राकृतिक जीवन का आभास देता है।

(२) हालरे (सौहर) के गीतों में एक गीत "'भैरूँजी" है, जिस में एक अपुत्र-वती स्त्री पुत्र के लिए भैरव की प्रार्थना करती है—

भैरूँजी काठे रे गँवाँ री चोढूँ लापसी, माँय तो गायाँ रो देसी घीव।

कासी रा बासी एक तौ अरज म्हारी हेलो साँभळो॥

भैरूँजी देराण्याँ-जेठाण्याँ मने मोसो बोलियो, देराण्याँ जेठाण्याॅ रे हींडे पालणे।

भैरूँजी हूँ एक पुतर बिन कुळ में बाँझड़ी॥ कासी रा बासी०॥

भैरूँजी फळेय न मीजी म्हारी कूर्पा काँचळी

भैरूँजी सास सपूती, बीं रे देवरियो लाडलो।
भैरूँजी नणदल ऊँनाळे री बळती एलाय ॥ कासी रा बासी० ॥
भैरूँजी कासी में बाजै थाँरे घूघरा। कोडाणे में बाजै नगर-निसाँण।
तोळाणे रा भैरूँ, एक अरज तो म्हारी हेलो साँभळो॥
भैरूँजी पीवरिये रे मांय थरयूँ देवळो।
आवती-जाँवती ने हूँ थाँने धोकस्यूँ।
भैरूँजी एक अेक तो अरज म्हारी हेलो साँभळो॥

हे भैरव, मैं काठे (मरुभूमि में पैदा हुए) गेहुओं की लपसी चढ़ाऊँगी। उस में गाय का घी डालूँगी। हे काशी के वासी, एक अरज मेरी सुनो। देवरानी-जेठानी ने मुझे ताना मारा है। उन के तो पलने में पुत्र झूल रहे हैं; मैं अभागिनी कुल भर में एक ही बिना-पुत्र की बाँझ हूँ।

हे भैरव, स्तन के दूध से मेरी काँचली कभी नही भीगी, न मेरा कंधा भीगा प्यारे पुत्र के मुख से टपकी हुई लारों से। काशी के वासी, मै अभागिनी कुल भर में अकेली निपूत बाँझ हूँ।

मेरी सास सुपुत्रवती है, उस के लाडला देवर पुत्र है और ग्रीष्म की तीव्र आग की तरह जलती-भुनती मेरी ननद उस की पुत्री है। ये दोनों मुझे व्यंग्य कहते हैं।

हे देव, काशी में आपके नाचते समय के घूँघरू बजते हैं और कोड़मदेसर में आप के निसान घहराते हैं। हे तोलियासर के भैरव, मेरी विनम्र प्रार्थना सुनो।

मैं पीहर में आप का मंदिर स्थापित करूँगी और आती-जाती आप का वदन करूँगी। केवल एक प्रार्थना मेरी सुनो।

जब तक पुत्र नहीं होता तब तक स्त्री अपने जीवन को सफल नहीं समझती। वह दिन रात चिंतित रहती है। एक व्याकुलता उस के चित्त में घुन की तरह लगी रहती है। इसी इच्छा से वह देवी-देवता मनाती है, मंत्रसिद्ध करती है, जप-तप-उपासना-व्रत-उपवास करती है। माता का हृदय इस गीत में उफन पड़ा है। इस एकनिष्ठ साधना और कारुणिक विनय को भैरव अवश्य सुनेंगे

त्यौहार और उत्सवों के गीत

(३) चैत के महीने में राजस्थान में स्त्रियाँ गौरी की पूजा करती हैं और
रखती हैं। बालिकाएँ पार्वती के आदर्श को सामने रख कर, जिस प्रकार पार्वती ने प्रे
साधना और तपस्या कर के शिवजी जैसा प्रतापी वर पाया, आदर्श पति की प्राप्ति
लिए कामना करती है, और इस उद्देश्य से गौरी अथवा गणगौर की पूजा करती है
गणगौर राजस्थान में एक बहुत बडा उत्सव और त्यौहार माना जाता है। उसी क
एक प्रसिद्ध गीत है—

हे गवरल, रूड़ो हे न जारो तीखे नैणाँ रो।

गढाँ हे कोटाँ सूँ गवरल, ऊतरी। हो जी बीँ रे हाथ कँवळ केरो फूल॥ हे गवरल ०॥
सीस हे नारेळाँ गवरल, सारिखो। हो जी बीँ री बेणी छे बासग नाग॥ हे गवरल ०॥
भँवारे हो भँवरो गवरल, हे फिरै। हो जी बीँ रे तिलवट आँगळ च्यार॥ हे गवरल ०॥
आखड़ियाँ रतने जड़ी। हो जी बीँ रीं नाक सूवा केरी चूँच॥ हे गवरल ०॥
मिसरायाँ चूनी-जड़ी। हो जी बीँ रा दाँत दाड़म केरा बीज॥ हे गवरल ०॥
हिवड़ो सं चे ढाळियो। हो जी बीँ री छाती बजर-किँवाड़॥ हे गवरल ०॥
पसवाड़े बीजळ खिँवै। हो जी बीँ रो पेट पीपल केरो पान॥ हे गवरल ०॥
मूँगफली सी गवरल आँगळी। हो जी बीँ री बाँह चंपा केरी डाळ॥ हे गवरल ०॥
पीँडेळियाँ रूँवाळियाँ। हो जी बीँ री जाँघ देवळ केरो थाँम॥ हे गवरल ०॥
एडी चमकै गवरल आरसी। हो जी बीँ रो पंजो सठवा-सूँठ॥ हे गवरल ०॥
घेर घुमाळो गवरल घाघरो। हो जी बीँ रे ओढण दिखणी रो चीर॥ हे गवरल ०॥
हे पाळ चढंती रा बाजै गवरल घूघरा। हो जी बीँ री ऊतरती री रिमझोळ॥ हे गवरल ०
ऊँचले सिंघासण, गवरल, बैसणो। हो जी बीँ रा दूध पखाळूँ पाँय॥ हे गवरल ०॥
हेमाचळजी री गवरल डीकरी। हो जी वा तो पातळिये ईसर घर नार॥ हे गवरल ०॥
किण तनैं घड़ी रे सिलावटे। हो जी बीँ ने क्या तो लाल लुहार॥ हे गवरल ०॥
जलम दियो म्हारी मायड़ी। हो जी बीँ ने रूप दियो करतार॥ हे गवरल ०॥
महाराजा हे देसी गवरल वाम को हो जी बीँ रे सौय घोड़ा हे गवरल ०
हाथ जोड़ करूँ वीनती हो जी बीँ रे लागूँ पाँय हे गवरल ०

गौरी के तीखे नेत्रो का नजारा बहुत सुंदर है। ऊँचे गढ़ और कोट (हिमालय) से गौरी उतर आई हैं। उस का हाथ कमल के फूल जैसा, शील नारियल सरीखा, वेणी वासुकि नाग जैसी, भौंहें भौंरे सी और ललाट चार अगुल चौड़ा है। आँखे मानो रत्न-जटी सी, नाक तोते की चोंच की तरह, मसूड़े लाल (रत्न) से जड़े और दांत अनार के बीज जैसे हैं। हृदयस्थल साँचे में ढला हुआ सा, वक्षस्थल वज्र किवाड़ की तरह है। उस के पार्श्व इतने चचल हैं जैसे बिजली चमकती हो। पेट पीपल के पत्ते की तरह, उँगली (हाथ की) मूँग की फलियों जैसी और बाँहें चंपा की शाखा जैसी हैं। पिंडलियाँ आभायुक्त हैं, जघा देवालय के स्तंभ की तरह, एडी आरसी की तरह चमकीली और पैर का पंजा सठवा-सोठ की तरह है। गौरी के घेर-घुमेर घाघरा पहनने को और दक्षिणी चीर ओढ़ने को है। सरोवर की पाल चढ़ती हुई गौरी के घुँघरू बजते है और उतरती हुई की रमझोळ (पैरो का गहना) बजती है। गौरी ऊँचे सिहासन पर विराजमान है; मैं उस के चरण दूध से पखारूँगी। हिमाचल की गौरी लाडली पुत्री है और प्रतापी ईश (महादेव) की गृहिणी।।

हे गौरी तुझे किस कुशल मूर्तिकार ने गढा है? और ईश को किस लाल लुहार ने बनाया है। (गौरी की पुजारिनें अपने आप को गौरी की सखियाँ मानती है। इस नाते वह अवधूत-वेष वाले शिवजी से हल्का मज़ाक़ करती है?)। गौरी उत्तर देती है---मुझे मेरी माता ने जन्म दिया है और उन्हे यह रूप करतार ने दिया है। पुजारिनें फिर कहती हैं---हे गौरी, हमारे देश के राजा तुझे दहेज देंगे और सौ घुड़सवार तेरे साथ रखेंगे। हम हाथ जोड़ कर पार्वती की बिनती करती है और नँव-नँव कर उस के पैरों पड़ती हैं।

इस गीत में गौरी का रूप-वर्णन विशेषता के साथ किया गया है। युवा पुजारिनो को रूप का आकर्षण अधिक होता है और वे गौरी के रूप-सौंदर्य में अपना ही आदर्श सौंदर्य देखती है।

(४) सावन की तीज राजस्थान में एक बड़े आनंद का त्यौहार माना जाता है। इस समय देश की छटा निराली होती है। स्त्री-पुरुषों के हृदय में उल्लास रहता है। विशेषत ससुराल में रहने वाली स्त्रियाँ अपने-अपने पीहर को बुला ली जाती हैं। जिस के पीहर में कोई नहीं होता अथवा जो कारणवश पीहर नहीं भेजी जाती वह अपने आप को अभागिन समझती है उस के लिए 'तीज' रोने का अवसर होता है इस त्यौहार के अनक गीत है जिन में वर्षा ऋतु के सौख्य और आनद के साथ-साथ भाई-बहिन का पावन

विशेप रूप से वर्णित मिलता है। साथ ही ससुराल में अटकी हुई स्त्रियो के
बखान और पीहर में आई हुई बहनों का आनंद-उल्लास बड़ी भावुकता और स
ता के साथ चित्रित मिलता है।

आई आई मा सावणिया री तीज। माय सा', पहले नें सावण मत राखे धिया नें स
मेल्यो मेल्यो ए मा, बडोड़ो वीर। बिच में बीरे रो सासरो।
रह गया रह गया ए मा, दिनड़ा दो च्यार। जोड़े ए मा, सावण ढळ गयो।
बीजोड़ी बीजोड़ी ए मा, झूलण नें जाय। बाई नें दीनो सासू धानड़ सोवणो
सोयो सोयो मा, डाळ दो डाळ। अधमण सोयो बाजरो।
बीजोड़ी बीजोड़ी ए मा, मगरिये जाय। बाई नें दीनो सासू पोवणो।
पोयी पोयी ए मा, जेट दो जेट। पछलो पोयो बाळूरो बाटियो।
निमट्या निमट्या ए मा, देवर-जेठ। निमट्या नणदाँ रा झूलणा।
परस्या परस्या ए मा, मोटोड़ा थाळ। परस्या नणदाँ रा बाटका।
बीजोड़ाँ ने ए मा, परस्या गवाँ रा रोट। बाई नें परस्यो बाजर बाटियो।
बीजोड़ाँ नें ए मा, धोबाँ धोबाँ खाँड। बाई नें दीनी सासू चिमठी लूँण रो।
बीजोड़ाँ ने ए मा, चरी चरी घीव। बाई नें दीनो ए सासू डोरो तेल रो।
ओरिये ओरिये देवर नें जेठ। पडवै पोढ्यो नणदाँ रो झूलरो।
बरसै बरसै ए मा मोरी, मेह। भीजै भायाँ री बहनड़ एकली।
माँज्या माँज्या ए मा, मोटोड़ा थाळ। माँज्या नणदाँ रा वाटका।
सोवतड़ी ए मा मोरी, बाजर बाटियो। आण नें मिनड़ी ले गई।
मरज्यो मरज्यो ए मिनड़ी थारोड़ा पूत। म्हारोड़ो बाटियो तूँ ले गई।
मरज्यो मरज्यो ए मिनड़ी थारोड़ा पूत। रातों रही निरणी बीराँ री बेनड़ी

ए मा, पहले सावन (विवाह के बाद) की तीज आ गई। इस समय मुझे सस
रहने दे। मा ने बड़े भाई को लिवा लाने को भेजा। उस का बीच में ससुराल
वह वहाँ रुक गया। अब तो मा, दो चार दिन ही रह गए। सारा सावन बीत चल

इधर ससुराल में यह हाल है कि बाई-बेटियाँ तो सब झूला झूलने को जाती हैं,
धान साफ़ करने को देती है। घडी दो घडी साफ़ किया और आधा मन बाजरा
ा और सब रमन-खल्न को आती हैं मुझ सास रसोई पकाने को बिठाती

क्या कहूँ, मा, रोटियों का ढेर का ढेर पकाया और अंत में बालू (भूभर) पर सेंकी एक वाटी। देवर-जेठ भोजन कर गए; ननदो की कतार की कतार भी खा गई। देवर जेठों को बड़े-बड़े थालों में परसा और ननदो को परसा कटोरों में। औरों को तो गेहूँ की रोटियाँ मिलीं और मुझे मिला बाजरे का टिक्कड़। उन को मुट्ठी-मुट्ठी भर चीनी मिली, मुझे मिली चुटकी नमक की। उन को भरपूर घी परसा गया और मुझे थोड़ी सी तेल की लार।

देवर-जेठ सोते हैं ढके महलों में और ननदों की कतार सोती है 'पड़वे' मे। वे सब आराम में हैं। मेह बरसता है तब, मा मेरी, भाइयों की लाडली बहन मैं भीगती हूँ।

सब के खा चुकने पर उन बड़े थालों और कटोरों को मला। सोने के वक़्त (जब मेरी खाने की बारी आई) क्या देखती हूँ कि बाजरे का टिक्कड़, जो अपने लिए रक्खा था, बिल्ली ले गई। पूत मरे तेरा, बिल्ली, तू मेरा टिक्कड़ ले गई। मैं भाइयों की लाडली बहन रात भर भूखों मरी।

बालिकाओं के गीत

(५) बालक-बालिकाओं के बचपन के निष्पाप और खिलवाड़ के रंग में रँगे भाव किस सहृदय के हृदय को लुभा नही लेते! उन मे एक अनुपम सरलता, स्वर्गीय मिठास, और शुद्धतम सद्‌भाव रहता है। यदि ईश्वरीय प्रेम की झलक संसार में कही मिल सकती है तो बचपन की लीला मे।

छोटी बहन घर पर है, बड़ी ससुराल में। उसे याद कर छोटी भोली बालिका मोर से कहती है:—

मोरिया, तनें किसड़े गढ रो मारग वालो लागे रे। धन मोरिया॥
मनें जोधाणे रो मारग वालो लागे रे। धन मोरिया॥
मोरिया, तूँ तो बाई सा रे बागां गहरो बोली रे। धन मोरिया॥
बाई सा तनें ठंडो पाँणी पासे रे। धन मोरिया॥
मोरिया, तूँ बाई सारी मेड्याँ मधरो बोली रे। धन मोरिया॥
बाई सा तनें चूरमियो जीमासी रे। धन मोरिया॥

मोर तुझ कौन से देश का माग अच्छा लगता है?

'बहिन, मुझे जोधपुर का मार्ग भला लगता है।'

'प्यारे मोर, वहाँ तू मेरी बहिन के बाग में जा कर गंभीर स्वर में बोलना। बहिन तुझे शीतल जल पिलावेगी।

'मोर, तू बहिन के महल के पास जा कर मधुर स्वर में बोलना। बहिन तुझे मीठा चूरमा खिलावेगी। धन्य, प्यारे मोर!'

(६) पीहर में लड़की के जीवन का इतिहास इस गीत मे लिखा है। छोटी बालिका निःशंक हो कर घर के बाहर सहेलियों के साथ खेल मे मगन है। रात पड़ गई पर घर के अदर न गई। इस पर माता-पिता नाराज़ हुए और उसे कड़े वचन कहने लगे। भाई ने आकर माता-पिता को रोका और बहिन का पक्षपात किया—"बाई को गाली न दो। यह कितने दिन रहने वाली है। आज यहाँ है, कल यह भोली चिड़िया उड़ कर परदेस चली जायगी। इस लिए इसे कोई कुछ न कहो।" सचमुच पीहर, लड़की के लिए स्वतंत्रता का स्वर्ग और सुख का अखूट भंडार है। गीत इस प्रकार है—

चाँद चढ्यो गिगनार, किरत्याँ ढल रहियाँ जी ढल रहियाँ।

अब बाई घरे पधार, माऊ जी मारेला जी मारेला।

बाबो सा देला गाळ, बडोड़ा वीरा बरजेला जी बरजेला।

मत दो म्हाँरी बाई ने गाळ, म्हाँरी बाई परदेसण जी परदेसण।

आ आज उडे परभात, तड़कै उड जासी जी उड जासी।

सावणिये रा दिनड़ा चार, जँवाईड़ो ले ज्यासी जी ले ज्यासी॥

चाँद आसमान में चढ़ आया है और कृत्तिकाएँ ढलने लगी है। रात बहुत हो गई। बहिन, अब घर में चल, नहीं तो माता जी मारेगी और पिता जी कड़े शब्द कहेंगे।

नहीं, परंतु बड़ा भाई उन को रोकेगा और कहेगा—मेरी बाई को कड़े शब्द न कहो, यह परदेसिन है, आज अथवा कल तक चली जायगी। सावन के चार दिन है—(अर्थात् पीहर का निवास थोड़े ही दिन का है) आखिर जँवाई आवेगा और वह इसे ले जायगा।

(७) गणगौर के समय का गीत है। कुमारिकाएँ माता गौरी से बीर-वर याचती हैं

मेरा वर वीर पुरुष हो। जो महलों में बैठ कर मद (प्रेम-मद) पीवे और बाहर नीली घोड़ी पर सवार हो कर निकले। उस की पगड़ी टेढ़ी बँधी हो और वह (मस्तानी) धीमी चाल से चले। घोड़े पर चढ़ कर वह अकड़ कर शान से जाय। हे माता गौरी, मैं तुझे पूजने आई हूँ, तू मुझे ऐसा वर दे।

साथ ही यह भी प्रार्थना करती है कि इस प्रकार का वर न मिले—जो चूल्हे का चाँद हो और हाँडी का अमीर हो, नौ थालियाँ भर कर राबड़ी खा जाय, तो भी जिस का पेट न भरे, सोलह रोटियाँ खाने पर भी जो न अवाय—ऐसे वर से बचाना।

मेड़ी बैठो मद पीवै ए, लीली केरो असवार।
खाँची बाँधे पाघड़ी, मधरी चाले चाल।
कड़ मोड़ घोड़े चढ़ै, चाल निरखतो जाय।
ओ वर देई माता गवरल ए, म्हे थाँने पूजण आय।
चूलै केरो चाँदणो ए, हाँडी केरो हमीर।
नौ थाळाँ पीवै राबड़ो ए, सोळा, रोटी खाय।
बो वर टाळी माता गोरल ए, म्हे थाँने पूजण आय।।

कहीं-कहीं इस गीत में ये पंक्तियाँ भी जुड़ी मिलती हैं—

लीली घोड़ी हाँसली, अलबेलो असवार।
कड़्याँ कटारी बाँकड़ी, सोरठड़ी तरवार।।

ऋतु-संबंधी गीत

(८) ऋतु-संबंधी गीत वैसे तो सभी ऋतुओं के मिलते हैं, परंतु राजस्थान की सर्वोपयोगी और सर्व-सुंदर ऋतु वर्षा होने के कारण, वर्षा-ऋतु के गीत बहुत हैं और वे हैं भी बहुत सुंदर और मनोहारी। अन्य ऋतुओं के गीत बहुत थोड़े हैं। वर्षा-ऋतु का आनंद गाँवों में अधिक अनुभव किया जा सकता है। वर्षा होते ही गाँव के बच्चे-बच्चे की हृदयकली खिल उठती है और उन का हृदय स्वतः गा उठता है। इधर उमड़ी हुई बदली, उधर उमड़ा हुआ हृदय—फिर गीतों की क्या कमी!

वर्षा हो चुकी है। बालिकाओं का झुंड घरों से बाहर निकल कर चौगान में गाता है

मोटी मोटी छाँट्याँ ओसर्‌यो ए बदळी ओसर्‌यो ए बदळी।
(कोई) जोड़ा ठेलमठेल। सुरंगी रुत आई म्हारे देस। भली रुत आई म्हारे देस
ओ कुण बीजे बाजरो ए बदळी। बाजरो ए बदळी।
ओ कुण बीजे मोठ मेवा मिसरी। सुरंगी रुत आई म्हारे देस। भली रुत आई म्हारे देस
ईसर बीजे बाजरो ए बदळी। बाजरो ए बदळी।
कानू बीजे मोठ मेवा मिसरी। सुरंगी रुत आई म्हारे देस। भली रुत आई म्हारे देस
ढहराँ ढहराँ काकड़ी ए बदळी। (कोई) धोराँ गुड़स मतीर मेवा मिसरी।
सुरंगी रुत आई म्हारे देस, भली रुत आई म्हारे देस॥

मोटी-मोटी बूँदों वाला मेघ उमड़-घुमड़ कर बरसना शुरू हुआ है। ताल-तलैयाँ ठेल भर कर उतरा रहे हैं।

हमारे देश में कैसी भली, कैसी मनोहर ऋतु आई है! इस ऋतु में मेवा और मिश्री मान मीठे बाजरे और मौठ को यह कौन बीज रहा है?

अहा क्या ही सुंदर ऋतु आई है। भैया ईसर बाजरा बीज रहा है और भाई कानू -मिश्री के समान मीठे मौठ।

नीची भूमि पर ककड़ी बोई जा रही है और टीबों पर गुड़ जैसे मीठे मतीरे।

बलिहारी जाऊँ कैसी मनोरम ऋतु आई है मेरे देश में!

ग्राम-जीवन के सादे और सरल वातावरण के पृष्ठपट पर भाई-बहिन के प्यार ावचित्र और ज्यादा खूबी और स्वाभाविकता से खिलता है।

गार्हस्थ्य-जीवन के गीत

(९) वृक्षों को पारिवारिक जीवन का प्रतीक मान कर कुछ गीतों में गृहस्थी के र का वर्णन हुआ है। कुछ प्रतीक वृक्षों के नाम इस प्रकार है—आंबो, अमली, लो, नींबू, वड़लो, कसूँब, बाँवळ, पीपळी। प्राय: ऐसे गीतों में स्त्री-हृदय के भाव ही है। गीतों की रचना में स्त्री का हृदय प्रधानता के साथ चित्रित है। वही अधिकांश की रचने वाली है

एक सद्गृहस्थ की स्त्री अपने परिवार के जनों को किस दृष्टि से देखती है

मधुबन रो ए आम्बो मोरियो।

ओ तो पसरयो है सारी मारवाड़। सहेल्याँ ए आम्बो मोरियो।

बहु रिमझिम महलाँ सूँ ऊतरी। आतो कर सोळा सिणगार॥ सहेल्याँ० ॥

सासू जी पूछ्यो ए बहू। थारो गहणो म्हाँ नें पहर दिखाव॥ सहेल्याँ० ॥

सासू गहणे नें काँई पूछो। गहणो ओ म्हारो सो परिवार॥ सहेल्याँ० ॥

म्हारा सुसराजी गढाँ रा राजवी। सासू जी म्हारा रतन भंडार॥ सहेल्याँ० ॥

म्हारा जेठ जी बाजूबंद बाँकड़ा। जेठानी म्हारी बाजूबंद री लूंब॥ सहेल्याँ० ॥

म्हारो देवर चुड़लो दाँत रो। देराणी म्हारे चुड़ले री मजीठ॥ सहेल्याँ० ॥

म्हारो कँवर जी घर रो चाँदणो।, कुळबहू ए दिवले री जोत॥ सहेल्याँ० ॥

म्हारी धीय ज हाथ री मूँदड़ी। जँवाई ए म्हारो चँपले रो फूल॥ सहेल्याँ० ॥

म्हारी नणद कसूमल काँच ळी। नणदोई म्हारे गजमोत्याँ रो हार॥ सहेल्याँ० ॥

म्हारो सायब सिर रो सेवरो। सायबाणी ए म्हे तो सेजाँरा सिणगार॥ सहेल्याँ० ॥

म्हे तो वार्‌या ए बहू जी थारा बोल नें। लडायो म्हारो सो परवार॥ सहेल्याँ० ॥

म्हे तो वार्‌या ओ सासूजी थाँरी कोख नै। थे तो जाया अरजण-भींव॥सहेल्याँ०॥

परिवार-रूपी मधुवन के आम में बौर आया है। यह आम फैल कर सारे मारवा-
ड़ गया है। सखियो, आम में बौर आया है।

इस प्रकार कहती हुई सोलह श्रृंगार सज कर वहू रुनझुन करती महलों से उतरी।

सास ने पूछा—'बहू, बलि जाऊँ तेरे सौंदर्य पर, मुझे अपना गहना दिखा
नहीं।'

कुलीन बहू उत्तर देती है—सास जी, मेरे गहने को क्या देखोगी, मेरा सारा परि-
ही मेरा गहना है। मेरे ससुर जी गढ़पति हैं, सास जी रत्नों की भंडार हैं। जेठ जी मेरे
बाजूबंद हैं और जेठाणी है बाजूबंद के फुँदने। देवर मेरे हाथ का हाथी दाँत का चूडा है
देवरानी उस चुड़ले पर चित्रित चित्रावली। मेरा कुँवर घर का उजियाला दीपक है
कुँवरानी उस दीपक की ज्योति हैं। मेरी प्यारी पुत्री मेरी हाथ की अँगूठी है और
चंपक का फूल। ननद मेरी कुसुंबी काँचली है और ननदोई गजमुक्ता का हार।
स्वामी मेरे सिर का सेहरा है और मैं उन की धर्मपत्नी हूँ, उन के दांपत्य-सुख
शृंगार

इस शील-वचन पर सास मुग्ध हो कर कहती है—'धन्य बहू, तुम्हारे व
मेरे सारे परिवार को गौरवान्वित किया।'

बदले में विनय-पूर्वक बहू कहती है—'सास जी, धन्य है आप की को
भीम जैसी सुयोग्य संतान पैदा की।'

गृहस्थ के सुख की आदर्श कल्पना

(१०) यह गीत विवाह के मांगलिक 'बधावों' में गाया जाता है। इस
सुख, समृद्धि और कल्याण की कल्पना की गई है। विवाह के बाद वर
र इस गीत (रळी-बधामणा) से उन का स्वागत किया जाता है—

म्हारे आँगण आम, पिछोकड़ मरवो। यो घर सदा ए सुहामणो।
तूँ तो चाल लिछमी जे घर चालाँ। जैं घर रळी ए बधामणा।
जठे वडाँ नैं बड़ाई देसी। दूणो सो मान सवासण्याँ।
जठे कुळ बहुवाँ नें आदर देसी। सासू नणद गुण मानसी।
म्हारे गाय गवाड़े भैंस बाडे। सोवण-थाम विलोवणो।
विलोवणो म्हारे घहर घमकै। आँगण झमकै कुळबहू।
संसार को सुख आज देख्यो। म्हारो पूत परण घर आवियो।
म्हारे पूत कारण बहू ए प्यारी। पूत कुळ को दीवलो।
म्हारी सास सपूती सें रे सर भर रहस्याँ। जीभ के गुण आगलाँ।
म्हारी देराण्याँ जेठाण्याँ बरोबर रहस्याँ। काम के गुण आगलाँ।
म्हारे सुगणे सायब सँ म्हे मन चाया रहस्याँ। कूख के गुण आगलाँ।
म्हारी सही ए सहेल्याँ बरोबर रहस्याँ। रूप के गुण आगलाँ।
इसड़ो बधावो, सायब, जाण न देस्याँ। घणा ए दिनाँ सें आयो पाव
इसड़ो बधावो म्हारे पीहर भेजाँ। भाभी मेडतणी रे जायो गीगलो।
चितरे से आँगण म्हारी नणदल ऊभी। द्यो म्हारी बाई जी असीसड़ी
बीरा, फूलज्यो रे फळज्यो आम की डाळी ज्यूँ, वधज्यो वागाँ माँयली
सात ए भाभी पूत जणज्यो। एक जणज्यो डीकरी।
थारी धीमड़ नें परदेस दीज्यो ज्यूँ चित आवे रळी नणदली

मेरे आँगन में आम और पिछवाड़े में मरवे के वृक्ष खड़े है; अतएव मेरा घर सुहावना (सुख-संपत्ति-युक्त) लगता है।

हे लक्ष्मी, (नववधू को लक्ष्य कर के) चल, उस घर को चल जिस घर में वैवाहिक बधाइयाँ और मंगल हो रहे हैं। वहाँ बड़ों को बड़ाई देना, और बहिन-बेटियों का दुगुना मान बढ़ाना।

उस घर में कुलवधू का आदर होता है और वह सास-ननद का गुण मानती है—सम्मान करती है। सास कहती है—मेरे घर में गाय और भैंसों से बाड़ा भरा है और सोने के थाँभ से मथानी बँधी है।

मेरी मथानी गंभीर ध्वनि से धमकती है और मेरी बहू आँगन में काम करती हुई झमकती है।

आज मैंने संसार का पूर्ण सुख देखा है कि मेरा पुत्र ब्याह कर घर आया है। मेरे पूत से भी मेरी पुत्रवधू अधिक प्यारी है और पुत्र तो कुल का दीपक है।

नववधू कहती है—मेरी सुपुत्रवती सास से मिल-जुल कर रहूँगी और अपने जीभ के (मिठास) के गुण से उस की प्यारी बनी रहूँगी। काम-काज के गुणों में मैं अपनी देवरानी-जेठानी के बराबर रहूँगी। और (पुत्रवती) कोख के गुणों से मै अपने सुगुणी पति के चित्त में बसूँगी और रूप-सौंदर्य के गुण से मैं अपनी सखी-सहेलियों के बराबर रहूँगी।

नववधू अपने पति से कहती है—स्वामी, इस बधाई को मैं व्यर्थ ही न जाने दूँगी, यह सुअवसर मुझे बहुत समय बाद मिला है। मैं इस बधावे,(बधाई की भावनाओं को) को अपने पीहर भेजूँगी, जहाँ मेरी भावज, मेड़तणी, के पुत्र जन्मा है।

चितेरे हुए आँगन में ननद वरवधू का स्वागत करने खड़ी है। उसे कहती है—ननद बाई मुझे आशीर्वाद दो।

ननद कहती है—हे भाई आम की डाली की तरह फूलो-फलो और इस प्रकार बढ़ो—समृद्धि पावो—जिस प्रकार दूब बाग में बढ़ती है। और हे भावज, तू सात पुत्रों की मा बने और एक पुत्री भी जने। उस पुत्री को परदेस में ब्याहना ताकि परदेस-वासिन उस प्रिय पुत्री के मिस से म तेरी ननद तुझे याद आती रहूँ

भाई का बहिन के प्रति प्रेम

(११) ननद-भावज का कलह हिंदू-गृहस्थ का सर्वव्यापी कलंक है। भावज ननद के लिए विष फूँकती है, तो ननद भावज के लिए आग उगलती है। इस गीत की भावज ने अपने पति को समझाना चाहा कि वह ननद को घर से निकाल दे क्यों कि वह जो चीज़ देखती है उसी के लिए हाथ बढ़ाती है और इसी तरह साँझ-सवेरे कलह करती है। पति समझदार था। उस ने स्त्री की ओछी बुद्धि को हटका। स्त्री तो बार-बार मिल सकती है पर मा की जायी बहिन बार-बार नहीं मिलती। अब तो भाई ने बहिन का और भी मान बढाया और बहिन-भानजों के लिए क्या नहीं किया ? बहिन भाई के इस असीम प्रेम से तृप्त हो कर आशीष देती है---हे भाई, तेरा वंश बढ़े---बेल की तरह और उस में फल लगे नारियल के गुच्छों की तरह। गीत इस प्रकार है---

दोय डूँगरॉ बिच बेल पसरी। वीरे के आँगण आम्बो मोरियो।
थे तो सुण सुण ओ सुगणी रा ओ सायबा। नणद पाड़ोसण ना राखिये॥
वीरे के आँगण०॥
जो धन देखे वा तो सो धन माँगे। ऊठ सवारे कळह करै॥
वीरे के आँगण०॥
थे तो चुप रहो ए ओछे घर की जायी। ओछा सा वचन न बोलिये॥
वीरे के आँगण०॥
सागर साटै दोय धण ल्यावाँ। मा को ए पेट दुहेलड़ो॥
वीरे के आँगण०॥
अेवड़ छेवड़ म्हारा महल माळिया। बीच चिणास्याँ बाई को ओबरो॥
वीरे के आँगण०॥
अेवड़ छेवड़ म्हारा भात रँधेगा। बीच रँधेगो बाई को खीचड़ो॥
वीरे के आँगण०॥
अेवड़ छेवड़ म्हारा कँवर रमैगा। बीच में रमैगा रूड़ा भाणजा॥
वीरे के आँगण०॥
अेवड़ छेवड़ म्हारा कँवर जीमैगा। बीच में जीमैगा रूडा भाणजा॥
वीरे के आँगण०

ऊँचे तो चढ़ कै हेलो जी मार्‌यो। बाई दी वीराँ ने आसीस जे॥
वीरे के आँगण

वधियो रे वीरा वेल्याँ ज्यूँ वेल। नारेलाँ ज्यूँ लड़लूमज्यो॥
वीरे के आँगण

अर्थ ऊपर प्राक्कथन में स्पष्ट कर दिया गया है।

(१२) वधावे का गीत है। इस गीत में हिंदू गृहस्थ में नारी के समस्त जी
और संस्कारयुक्त दिग्दर्शन कराया गया है। गीत इस प्रकार है—

पोळीड़ा पोळ उघाड़ जी। म्हाँ ने घर भीतर जाँण द्यो जी।
जठे सुसराजी रो राज जी। म्हारे सुगणे सायब री सायबी।
हसतीड़ा घूमै छै बार जी। म्हाँरे बँध्या बैल्या जी चरै।
बामण को करै ए रसोई जी। म्हारे दूध कढै घी आवटै।
अन धन भर्‌या ए बखार जी। म्हारे चौरस लिछमी ओ घणी।
सोनो घड़ै ए सोनार जी। म्हाँरे गहणाँ का डब्बा भर्‌या।
मनाँ ए बधावो म्हाँरे चिताँ ए बधावो जी॥
उठ के जणाँगा म्हे पूत जी। म्हे कराँगा साजनिया सँ गोठड़ी।
मळकै चढ़ेगी बरात जी। म्हारे पगाँ ए पड़ंती आवै कुळबहू।
इबकै जणाँगा म्हे धीय जी। म्हे तो कराँगा साजनिया सँ वीनती।
मुळकत आवेगी बरात जी। म्हारे बरसत आवै रुड़ा भात जी।
सरब सुख भयो ए अनंत जी। म्हाँरी धीय जँवाई लेगया जी॥
मनाँ ए बधावो म्हाँरे चिताँ ए बधावो

नववधू की कल्पना है। वह ससुराल आ कर कहती है—ए दरबान
ने घर में जाने दे, जहाँ मेरे ससुर जी का राज है और मेरे गुणवान
मित्व है। हाथी दरवाजे पर घूम रहे है, रथ के बैल बँधे हुए जो चर र
रसोई बना रहा है। दूध निकल रहा है, घी औंट रहा है। अन्न-धन से
सब प्रकार से लक्ष्मी की कृपा है। सोनार सोना गढ रहा है गहनो
है मेरे मन में चित्त में उमग है

मेरे पुत्र होगा। मैं स्वामी से परामर्श करके उस की सगाई करूँगी। उमंग के साथ बरात चढ़ेगी और मेरे पैरों पड़ती हुई कुलवधू घर में आवेगी।

अथवा मेरे पुत्री होगी। मैं स्वामी से परामर्श करूँगी। सजधज के साथ बरात मेरे घर आवेगी और भात भरने के लिए मेरा भाई बरसते हुए मेघ की उदारता के साथ आवेगा। मेरा जँवाई पुत्री को ले जायगा। मेरे मन में उल्लास और चित्त में उमंग है। मुझे अनंत सुख है।

स्त्री के पारिवारिक सुख का कैसा संपूर्ण चित्र है!

दांपत्य-जीवन के चित्र

(१३) वियोग-शृंगार में जो तीव्र मार्मिकता होती है वह संयोग-शृंगार में नहीं। इसी लिए साहित्य में भी वियोग-शृंगार के चित्र अधिक मिलते हैं। गीतों में संयोग के अनेक सुंदर-सुंदर गीत हैं। यहाँ पर विरह का एक कारुणिक चित्र उपस्थित किया जाता है।

पति विदेश में है। उस के बिना सारा संसार शून्य, निष्प्रभ है। विरहिणी रो कर गाती है—

तू क्यों ए मेड़ी वैरण डगमगी, थारी लगी ए धरम की नींव।
अेक दिन साजन आप चिणावता॥
रावटी पुराणी भँवर जी हो गई जी। हो जी कोई टपकण लाग्या जूण।
इब घर आवो गोरी का सायबा जे॥
पिलँग पुराणा भँवर जी हो गया जे। हाँ जी कोई तड़कण लाग्या साल।
इब घर आवो सुंदर रा सायबा जे॥
हिंगळू में जालो भँवर जी पड़ गयो जे। हाँ जी मारू कजळे में पड़ गया सैवाळ।
इब घर आवो अंधियारे घर रा पावण जे॥
सावण आवण भँवर जी कह गया जे। हाँ जी कोई बीत्या बारा मास।
इब घर आवो अवरे घर रा पामणा जे।

झुर झुर मारू जी मैं पिंजर हो गई जे। हाँ जी कोई बिदरँग हो गयो बेस।
इब घर आज्या अंधेरे घर रा चानणा जे॥

एकांत में खड़ी मेरी ऊँची मेड़ी, (महल) तू क्यों डगमगाई। तेरी तो शुभ मुहूर्त्त में नींव लगी है और स्वयं स्वामी ने खड़े रह कर तुझे चुनवाया है। (प्रेमी के स्नेह और ममता के ईंट-गारे से इस विरहिणी का पवित्र प्रेम-भवन बना है। वह इस का हृदय-मंदिर है, जिसे विरह की आग ने झुलसा कर जर्जर कर दिया है। वह अब डगमगा रहा है।)

प्रिय, यह कोठरी पुरानी हो गई है और इस के छिद्रों से जल टपकने लगा है। अब तो आजा मेरे प्रिय।

पलंग भी पुराना हो गया और उस का चौखट अब चटखने लगा है। सुंदर स्वामी अब तो घर आजा। मेरी सौभाग्य-बिंदुली के हिंगलू में जाला लग गया है और आँजने के काजल में सैवाल जम गए हैं। मेरे अँधेरे घर के पाहुने, अब तो घर आजा।

हे रसिक, सावन में लौटने का वचन दे गए थे, पर बारह मास बीत गए। मेरे अँधेरे घर के उजियारे अब तो आजा।

पीपल फूलों के लिए आजीवन रोता है और फराँस का पेड़ फलों के लिए। क्या मैं भी इन्हीं की तरह निराश हो कर रोती रहूँ, मेरे रस-लोभी भौंरे!

तेरे बिरह में विसूर-विसूर कर मेरा पंजर जर्जर हो गया है। मेरा वेश विरंगा है। अब तो घर आजा, मेरे अँधेरे घर के उजियारे!

एकथंभियो महल

(१४) एक थंभे वाला विशाल महल है, जिस के चारों ओर गवाक्ष हैं, और प्रत्येक गवाक्ष के पास एक-एक दीपक जलता है जिस के प्रकाश में पति-पत्नी सुख से सोए हैं। इतने में ऊँट के सवार ने आ कर जगाया। दीपक की रोशनी में राजाजी का पत्र पढ़ा और पत्नी से कहा,—'जोधपुर की नौकरी में बुलाया है।' 'ए पापी ऊँट के सवार, तेरी प्यारी स्त्री मरे, तूने संयोगी दंपति को जुदा होने का संवाद सुनाया' यह कह कर स्त्री ने पति को जाने से रोकने के लिए अनेक चेष्टाएँ और प्रस्ताव किए। पति-पत्नी के प्रश्नोत्तर बहुत रोचक हैं

'प्रिय, इस बार राज्य-सेवा में ससुर जी को भेज दो। इस ग्रीष्म भर मेरे साथ रहो।'

'नहीं प्रिये, बला से जावे तुम्हारे ससुर जी। उन के मेरे जैसा वीर घुड़सवार पुत्र है।'

'तो, जेठ जी को ही भेज दो, ताकि इस बार वर्षा ऋतु साथ में बितावें।'

'सुंदरि, जेठ जी के तेज मिज़ाज वाली कलहकारी स्त्री है, जो नित्य उठ कर तुझ से झगड़ेगी।'

'अच्छा तो, देवर जी को ही भेज दो। इस वर्ष शीत काल में तुम मेरे साथ ही रहो।'

'नहीं प्रिये, देवर के सुदर, सुकुमार, भोली-भाली नववधू है। वह उस के बिना कातर मयूरी की तरह चिल्लावेगी।'

स्त्री ने झल्ला कर कहा—'तब तो अपने पिता के तुम एक ही आज्ञाकारी बेटे जो जोधपुर की चाकरी में नित्य जाते हो।' 'पति चला गया। ननद बाई, उठ कर जरा देखो तो, कौन चढ़ रहा है और कौन चला गया।' उत्तर—'भाई अभी घोड़े चढ़ रहा था।' स्त्री ने लपक कर लगाम पकड़ ली और कातर मयूरी की तरह रोने लगी। प्रेमी ने उसे हृदय से लगाया और अपने हरे रूमाल से आँसू पोंछे। फिर स्वस्थ होने पर कहा—'प्यारी प्रसन्नता से मुझे इजाज़त दो। देखो, मेरे साथी चले गए और मैं रह गया।' पर सीख दी नहीं जाती। हृदय प्रेम से गद्‌गद हो रहा है और छाती भर आई है। गीत इस प्रकार है—

अेक थंभियो ढोला महल चिणाव। च्यारूँ दिसा में राखो गोखड़ा जी म्हाँरा राज।

गोखे-गोखे दिवलो संजोय, राजींदा ढोला, दीये रे चानणिये ढाळू ढोलियो जी म्हाँरा राज।

बादळ वरणी सेज बिछाव, राजींदा ढोला, हाथाँ ने ढोळावूँ हूँ तो बीजणो जी म्हाँरा राज।

सूता हंजामारू सुख भर नींद। इतरे में राई के हेलो मारियो जी म्हाँरा राज।

उठो सुंदर गोरी दिवलो संजोय। दिये रे चाँदणिये कागद बाँचिया जी म्हाँरा राज।

लिखियो ए सुंदर गोरी घोड़ो नें सिरयाव। लिखी है जोधाणे गढ़ री चाकरी जी म्हाँरी नार।

मरजो रे राईका थारोडी जी नार। सैणाँरो विछोवो कुसमी पाखियो जी म्हाँरा राज।

मत दो सुदर गोरी राईके नें गाळ राईको राधाजी रो मेल्यो आवियो जी म्हाँरा राज

पहली ओळँग हंजामारू सुसरा जी नें मेल। हमकै नें ऊनाळो खांतीला घर बसो जी म्हाँरा राज।

सुसरे जी री सुंदर गोरी, जावे रे बलाय। म्हारे तो सरीसा बेटा घोड़े चढ़ै जी म्हाँरी नार।

दूजी ओळँग हंजामारू जेठ जी ने मेल। हमकै जी चोमासे आलीजा घर बसो जी म्हाँरा राज।

जेठ जी री सुंदर गोरी कळहगारी नार। नित उठ नें झगड़ों नूंत सी जी म्हाँरी नार।

तीजी ओळँग हंजामारू देवर जी नें मेल। इबकै तो सीयाळे मदछक्या घर बसोजी म्हाँरा राज।

देवर जी सुंदर गोरी बाळी-भोळी नार। ऊभी नें किरळावे कायर मोर ज्यूं जी म्हाँरी नार।

इतराँ री हंजामारू थे ही रे सपूत। नितरा तो पधारो जोधाणे री चाकरी म्हाँरा राज।

इतराँ में सुंदर गोरी म्हे ही ए सपूत। नितरा तो उठने जावाँ जोधाणे री चाकरी जी म्हाँरी नार।

उठो बाई सा डागळिये चढ जोय। कुण जी रे सिधाया, कुण जी रे घर बसै म्हाँरा राज।

वडिया भावज म्हारोड़ा बड वीर। थांने तो सुगुणी री सायबो जी म्हाँरा राज।

झेली झेली सुंदर गोरी घोड़े री लगांम। आँसू तो रळकाया कायर मोर ज्यूं जी म्हाँरा राज।

लीनी हंजामारू हिवड़े लगाय। आँसूड़ा तो पूँछ्या हरिये रुमाल सूं जी म्हाँरा राज।

देवो नी सुंदर गोरी हँस हँस सीख। साईंना सिधाया छेती में म्हे पड्या जी म्हाँरी नार।

सीखड़ली हंजामारू दीवी रे न जाय। छाती तो भरीजे हिवड़ो ऊबके जी म्हाँरा राज॥

यह एक लोकप्रिय गीत है। इस की लोकप्रियता का कारण यह है कि जीवन में नित्यप्रति ऐसी घटनाएँ घटती हैं।

(१५) सोहर के गीतों को राजस्थानी में 'हालरा' कहते हैं। उन का एक नमूना यहाँ देते हैं—

पुत्र-विहीना अभागिनी सरोवर के किनारे गई उसे देख कर हंस, बगुला आदि पक्षी उड़ गए वह बगीचे में गई तो वृक्षों पर फलों को कच्चा पाया और बाग़ के पक्षी

उस के अशुभ दर्शन से उड़ गए। बाजार में गई तो दूकानदारों ने दूकानें बंद कर दीं। घर की रसोई में गई, तो देवर-जेठ उस से घिना कर उठ खड़े हुए। यही नहीं रंग-महल में पति ने भी इस निपूती अभागिन का स्वागत नहीं किया। हाय, एक पुत्र के बिना इस अभागिन के लिए सारा संसार शून्य है—अमंगलमय है—अस्पृश्य है।

परंतु ज्यों ही दैव की कृपा से इस स्त्री की कोख पुत्रवती हुई, त्यों ही सारे संसार का रंग बदल गया। सरोवर, बाग़, घर, रंगमहल सब जगह इस का आदर हुआ। पलने में झूलते हुए पुत्र के मुखड़े की हास्य-रेखा ने सारी दुःख-कालिमा को धो कर गार्हस्थ्य के चित्रपट पर नए-नए सुंदर स्वर्गीय चित्र अंकित कर दिए। इसी लिए तो सृष्टि के आदि से मानव के हृदय में पुत्र-प्राप्ति की इच्छा न बुझने वाली चिनगी की तरह जल रही है।

गीत इस प्रकार है—

मा, सहस-तळावाँ मैं गई जे। रीता ए समँद-तळाव, हंसा बुगला उड रह्या जे।
मा, बाग-बगीचाँ में गई जे। मा, काचा ए दाड़म दाख, कोयल कागा उड गया जे।
मा, सहस-बजारों में मैं गई जे। मा, हाट्याँ ए सैं जड़ली हाट, बागीजर का उठ रह्या जे।
मा, राम-रसोयाँ में मैं गई जे। मा, जीमै देवर-जेठ, बाई जी रो उठ रह्या जे।
मा, रंग-महलाँ में मै गई जे। मा, सूत्या ए बाई जी का वीर, हाथ पकड़ ओठी करी जे
मा, आयो ए आळ-जंजाळ। मा, ..., कूखड़ली वैरण भई जे।
मा, सहस-तळावाँ मैं गई जे। मा, भरियो हिलोळा खाय, हंसा बुगला रम रह्या जे।
मा, सहस-बगीचाँ मैं गई जे। मा, पाक्या सै दाड़म दाख, कोयल सुवटा खा रह्या जे।
मा, सहस-बजाँरा में मै गई जे। मा, हटवाँ सै खोली हाट, बाजीगर का रम रह्या जे।
मा, रंग-महलाँ में मैं गई जे। मा, देख्यो गीगो महलाँ माँय, पालणिये में झूलतो जे।।

सब कुछ कह लेने के बाद आख़िर यह उस अभागिन का स्वप्न ही है जो, वह अपनी मा से कहती है।

सपनो

सुणो ओ भँवर, म्हाँ ने सपनो सो आयो जी राज। सपना रो अरथ बतावो, जी राज।
कहो ए गोरी, थाँने किण विध आयो जी राज। सपना रो अरथ बतावाँ, जी राज।
हंस सरोवर ढोला गाजत देख्यो, जी राज। मांनसरोवर जळ भर्यो, जी राज।
वागाँ माँयला चपलाँ म्हे फूलत देख्या, जी राज। फुलड़ा वीणै दोय कामणी, जी राज।
पोळाँ माँयला हसती म्हे घूमत देख्या, जी राज। हरी हरी दूब घोड़ा चरै, जी राज।
आँगणिया रो चौक म्हे पूरत देख्यो, जी राज। ऊपर कूँभ कलस धर्यो राज।
महलाँ माँयले दिवलो म्हे जगतो देख्यो, जी राज। दिवला ली जोत सुहाई, जी राज।
हंस सरोवर गोरी, पीर तुम्हारो, जी राज। मांनसरोवर थाँरो सासरो जी म्हाँरी नार।
वागाँ माँयला चंपला वै वीर तुम्हारा, जी राज। फुलड़ा विणै थाँरी भावजाँ जी म्हारी नार।
पोळाँ माँयला हसती वै जेठ तुम्हारा, जी राज। हरी हरी दूब सुवासणी जी म्हारी नार।
आँगणिया रो चौक, वो कँवर तुम्हारो, जी राज। कूँभ-कलस थारी कुळ बहू म्हारी नार
महलाँ माँयलो दिवलो, वो कंत तुम्हारो, जी राज। दिवला री जोत थे सायबाणी जी नार।
धन धन वसदेव जी रा छावा, जी राज। सपना रो अरथ भलो दियो, जी म्हारा राज।
धन धन ए साजनियाँ री जाई, जी राज। सपना रो अरथ भलो लियो जी राज।

'प्रिय, मैंने अपूर्व स्वप्न देखा। उस का अर्थ आप बताओ।'

'कहो सुंदरी, कैसा स्वप्न आया? मैं अर्थ बताऊँगा।'

स्त्री स्वप्न बखानती है—एक ओर गरजता हुआ हंससरोवर देखा, दूसरी ओर मानसरोवर जल से भरा देखा। बाग के चंपक फूलते देखे, जिन के फूल दो सुंदरियाँ बीन रही थीं। पोल में हाथी झूमते देखे और हरी-हरी दूब देखी जिसे घोड़े चर रहे थे। आँगन में चौक पुराते देखा और उन पर कुंभ कलश रक्खा देखा। महलों में दीपक जलते देखा। दीपक की ज्योति मेरे मन को बहुत भाई।

पति स्वप्न का अर्थ बताता है—हंससरोवर तुम्हारा पीहर और मानसरोवर ससुराल है। बाग के चंपक तुम्हारे भाई और फूल चुनने वाली सुंदरियाँ भौजाइयाँ हैं। पोल के हाथी जेठ और दूब ननद बाई हुई। आँगने के चौक तुम्हारे पुत्र और कुंभ-कलश नववधू हुई महलो का दीपक मैं तुम्हारा पति और उस की ज्योति तू, मेरी प्यारी पत्नी

इस पर स्त्री प्रसन्न हो कर कहती है—'धन्य है पतिदेव (वसुदेव के पुत्र) स्वप्न का अर्थ आप ने अच्छा किया।

बदले मे पति कहता है—'धन्य है प्रिये, जो तू ने ऐसा स्वप्न देखा और उस का अर्थ समझा।'

'ओळ्यूँ'

(१७) पुत्री को विवाह के बाद बिदा करते हुए महर्षि कण्व का भी हृदय व्यथित हो गया था, फिर सांसारिक मा-बापों का तो कहना ही क्या ? इस अवसर के गीत राजस्थान में "ओळ्यूँ" कहलाते हैं। ओळ्यूँ का शब्दार्थ है "प्रिय की स्मृति"। करुण रस का एक प्रबल श्रोत ओळ्यूँ के गीतों में मिलता है और मार्मिक भावुकता उन मे लबालब भरी रहती है। यों तो इस प्रसंग के सैकड़ों गीत हैं जो बहु प्रचलित हैं पर यहाँ पर नमूने के तौर पर दो गीत देते हैं—

पीहर के परिवार की स्त्रियाँ लड़की को ससुराल बिदा करती हुई गाती हैं—

हरिये वन री कोयली।

थारे बाबो सा' बाग लगायो ए बनड़ी, थारे बिन कुण सींचेगो।

म्हारे हरिये वन री कोयली।।

थारे बागाँ में फुलड़ा फूल्या ए बनड़ी, थारे बिन कुण तोड़ेगो।

म्हारे हरिये वन री कोयली।।

थारे बागाँ में हींडो घाल्यो ए बनडी, थारे बिन कुण हींडेगो।

म्हारे हरिये वन री कोयली।।

आँगणिये माँय थारो रोवत भतीजो, थारे बिन कूण खेलावेगो।

म्हारे हरिये वन री कोयली।।

गुडियाँ ए घरी थारी आळे-दिवाळे, देख 'र जी अुकळावे ए।

म्हारे हरिये वन री कोयली

संग री सहेल्याँ थारी घर नाँहि झाँकै, बै देख दूराँ सै ही जावे ए।।

म्हारे हरिये वन री कोयली।।

कोई य न अब म्हारे आँगण खेलै यो तो सूनो बरसावे ए।

म्हारे हरिये वन री कोयली

थारी माता को हिवड़ो ऊझळै, वा तो नैंणा नीर बहावै ए ॥

म्हारे हरिये वन री कोयली ॥

तेरे पिता ने सुंदर बाग़ लगाया है, पर अब उसे तेरे बिना कौन सींचेगा ? ए मेरे हरे बन की कोयल ! तेरे बाग में फूल खिले हैं; उन्हें तेरे बिना कौन तोड़ेगा। बाग में झूला पड़ा है, उस पर अब कौन झूलेगा ? घर के आँगन में तेरा भतीजा रोता है; उस को, अब कौन खिलावेगा ?

घर में जहाँ-तहाँ तेरी गुडियाएँ पड़ी हैं, उन्हें देख कर जी अकुलाता है। तेरी सहेलियाँ अब इस घर में झाँकती तक नहीं, दूर से ही देख कर चली जाती है।

माता कहती है—'बेटी, मेरे आँगन में अब कोई नहीं खेलता, यह सूना पड़ा है और तेरी माता का हृदय—वह तो उस से भी अधिक सूना पड़ा है, और वह रात दिन आँखो से आँसू बहाती है।' ए मेरे हरे उपवन की कोयलिया !

विरह से जगाई हुई स्नेह-स्मृति में एक प्रकार का अनिर्वचनीय सूनापन होता है। उस सूनेपन का भाव मूर्तिमान हो कर सुपुष्ट मात्रा में इस गीत में अंकित हुआ है।

(१८) पीहर से विदा होती हुई नववधू अपने पति से विनय करती है—

अेक वर करला थारा मारू जी, पाछा जी मोड़।

राजीँदा ढोला, ओळूँ घणी आवै म्हारा बाबो सा'री।

सुंदर गोरी, ओळूँ थारी परी रे निवार।

चंपकवरणी, बाबो सा'री भोळ सुसरो जी भाँगसी।

अेक वर करला थारा मारूजी पाछा जी मोड़।

राजीँदा ढोला, ओळूँ घणी आवे म्हारी माय री।

सुंदर गोरी, ओळूँ थारी परी रे निवार।

मिरगानैणी, माऊ जी री भोळ सासूजी भाँगसी।

अेक बार करला थारा मारूजी, पाछा जी मोड़।

राजीँदा ढोला, ओळूँ घणी आवे म्हारे वीर री।

सुंदर घण थूँ ओळूँ थारी परी रे निवार।

वीरे जी री भोळ, देवर भाँगसी

अेक वर ओ मारू जी करला थारा पाछा जी मोड़।
राजींदा ढोला, ओळूं धणी आवे म्हारी छोटी बैन री।
सुंदर धण, तूं ओळूं थारी परी रे निवार।
मिरगानैणी, बहनड़ी री भोळ नणदल भाँगसी॥

'एक बार, केवल एक बार, प्रियतम, अपने ऊँट को लौटा लो। राजन्, मुझे अपने पिता की बहुत याद आती है'।

'चंपकवरणी प्यारी, तुम याद को छोड़ो। पिता की कमी तुम्हारे ससुर पूरी करेंगे।'

इसी प्रकार परिवार से बिछुड़ती हुई इस कन्या को माता की, भाई की, छोटी बहन की याद आती है और यह उन से जी भर कर मिल लेने के लिए पति को रोकना चाहती है, परंतु पति उसे आश्वासन देता है कि इन की कमी क्रमशः उस की सास, देवर और ननद पूरा करेगी। पर क्या इस आश्वासन से हृदय को धीरज मिलता है ? कैसी व्याकुलता से भरा है यह विनय ! हरिणी मानो बंधनों को छुड़ा कर स्वच्छंद अपने उपवन में, विचरने को अकुला रही है। हृदय में तूफ़ान आया है। उसी की कसमसाहट ने भोली वधू को बाध्य किया होगा कि वह लज्जा के अकाट्य आवरण को हटा कर, इस स्पष्टता और दयनीयता के साथ अपने नवपरिचित प्रेमी से प्रार्थना कर रही है।

पणिहारी

(१९) 'पणिहारी' के गीत राजस्थान देश के सर्वोत्तम परिचायक हैं। उन में जो सौंदर्य, स्थानीय रंग और देशीय छटा का विवरण मिलता है, उस के प्रत्येक अंश पर राजस्थानी जीवन की गहरी छाप लगी रहती है। बरसात राजस्थान की सर्वोत्तम ऋतु है और इस ऋतु में सरोवरों के तट पर संध्या-सवेरे पनिहारिनों के समूह—"झूलरों"—का वस्त्राभूषण से सज कर, एक स्वर से गीत गाते हुए आना-जाना, एक ऐसा स्वर्गोपम दृश्य है, जिस की कल्पना मात्र करने से सौंदर्य की विभूतियाँ जागृत होती हैं। साक्षात् देखने से तो, और ही आनंद आता है। कला की दृष्टि से भी यह दृश्य भारतीय संस्कृति को राजस्थान की एक उत्तम देन समझा जा सकता है। पनिहारी प्रथा के आयोजन में साहित्य, संगीत और कला—तीनों आदर्शों का पूर्ण समन्वय हुआ है इसे केवल पढ़ कर साहित्यिक संतोष

कर लेने से ही पूर्णानंद का लाभ नहीं समझ लेना चाहिए। इस का सजीव सौंदर्य तो इस के वास्तविक दृश्य में रहता है और इस की कलात्मक मधुरिमा बसती है इस के स्वर्गीय संगीत में। बाहरी जगत के अधिकाधिक संपर्क से तथा ज़माने की बदलने वाली हवा से अब यह प्रथा शिथिल होती जा रही है, परंतु तो भी लुप्त नहीं हो गई है। यों तो सभी राज्यों में यह दृश्य देखने को मिलता है परंतु मारवाड़ और मेवाड़ की पनिहारिनों का दृश्य विशेष मनमोहक होता है। नागोड़, मेड़ता, उदयपुर, मूँडवा, जोधपुर आदि नगरों में यह दृश्य सुलभता से देखा जा सकता है।

इस प्रथा ने वैयक्तिक दृष्टि से भी गृहस्थ-जीवन में कलात्मक भावना की सुरुचि का समावेश किया है, जिस से प्रेरित हो कर कुछ अंश में नागरिक जीवन में सौंदर्योपासना, स्वच्छता और संगठित जीवन की ज्योति का कुछ आभास आया है।

'पणिहार' के गीत अनेक हैं। उन में से एक बहु-प्रचलित गीत नमूने के तौर पर देते हैं—

काळी ए कळायण ऊमटी, पणिहारी ए लो।
मोटोड़ी छाँट्याँ रो बरसै मेह वा'ला जो।

भर नाडा भर नाडिया ए पणिहारी ए लो।
भरियो भरियो समँद तळाब वा'ला जो।

किण जी खुणाया नाडा-नाडिया पणिहारी ए लो।
किण जी खुणाया तळाब वा'ला जो।

सुसरै जी खुणाया नाडा-नाडिया पणिहारी ए लो।
पिव जी खुणाया तळाब वा'ला जो।

सात सहेल्याँ रे झूलरे ए पणिहारी ए लो।
पाणीड़े नें चाली रे तळाब वा'ला जो।

घड़ो य न डूबै ताळ में ए पणिहारी ए लो।
इँढोणी तिर तिर जाय, वा'ला जो।

सातूं ए सहेल्याँ भर नीसरी ए पणिहारी ए लो।
पणिहारी रही रे तळाब, वा'ला जो

हिंदुस्तानी

बँवते ओठीड़े ने हेलो मारियो ए लंजा ओठीड़ा ए लो।
घड़ियो उखणावतो जाय, वा'ला जो।

ओराँ रे काजळ - टीकियाँ ए पणिहारी ए लो।
थारोड़ा दीसे हुं फीका नैण, वा'ला जो।

ओराँ रे ओढण चूनड़ी ए पणिहारी ए लो।
थारोड़ो मैलो सो वेस, वा'ला जो।

ओरा रा पिव जी घर वँसै रे लंजा लंजा ओठीड़ा ए र
म्हारोड़ा वसै परदेस, वा'ला जो।

घड़ो तो पटक दे नी ताळ में ए पणिहारी ए लो।
चालैनी ओठीड़े री लार, वा'ला जो।

बाळूं तो जाळूं थारी जीभड़ली ए लंजा ओठीड़ा ए लो
डसे तनें काळो नाग, वा'ला जो।

घड़ो तो भर नें पाछी वळी ए पणिहारी ए लो।
आई आई फळसै री बार, वा'ला जो।

घड़ों तो पटक दूं ऊभी चौक में ए म्हारा सासू जी ए र
वेगेरो घड़ियो उतराव, वा'ला जो।

किण थाँने मोसो मारियो ए म्हारा बहूजी ए लो।
किण थाँनें दीवी है गाळ, वा'ला जो।

अेक ओठी मनें रसो मिल्यो रा म्हारा सासूजी ए लो।
पूछी म्हारे मनड़े री बात, वा'ला जो।

देवर जी सरीसो डीघो पातळो ए म्हारा सासूजी ए लो।
नणदल बाई सा रें उणिहार वा'ला जो।

थे तो बहू जी भोळा घणा ए म्हारा सासूजी ए लो।
ओ तो थारोड़ो ही भरतार, वा'ला जो॥

पावस की काली घटा उमड़ आई है, और मोटी-मोटी बूँदों वाला मे
ल-तलैयाँ भर गए हैं और समुद्र की तरह विशाल सरोवर भी भर ग
'ए पनिहारी ये ताल-तलैयाँ किसने खुदवाए हैं? और किस
ाल तालाब?

'ससुर जी ने ताल-तलैयाँ खुदवाई हैं और प्रियतम ने तालाब बनवाया है।'

सात सहेलियों का झूलरा बना कर पनिहारी तालाब को पानी भरने चली। तालाब लबालब भरा है; घड़ा डुबोया नहीं जाता और ईढोणी पानी पर तर-तर जा रही है। इस लिए कि परदेसी प्रियतम की याद में पनिहारी अपना आपा भूल चुकी है।

रास्ते जाते एक ऊँट के सवार (ओठी) को आवाज़ दी और घड़ा उठाने को कहा। किसे पता था कि यही ओठी परदेस से लौटता हुआ पनिहारिन का पति निकलेगा।

ओठी ने भेदभरी बातें पूछीं—'ए पनिहारी, औरों ने कज्जल-बेंदी लगा रक्खी है, तेरे नेत्र फीके से क्यों हैं। औरों ने चुनड़ियाँ ओढ़ी हैं और तेरे ये मैले से वस्त्र!'

'औरों के स्वामी घर पर हैं। चतुर ओठी, मेरा पति विदेश गया है।'

इस पर ओठी ने ठीक ही तो कहा, परंतु पनिहारी इस व्यंग्यपूर्ण परिस्थिति का रहस्य कैसे समझती? ओठी ने कहा—'घड़े को ताल में पटक दे और मेरे पीछे हो जा।'

'जला दूँ तेरी जीभ को ओठी, तुझे काला सर्प डसे। जो तू मेरे पातिव्रत पर कुदृष्टि रखता है।'

पनिहारी वापिस घर को आई। सात्विक क्रोध से उस का मिजाज गर्म हो गया था। सास से जल्दी से घड़ा उतारने को कहा। सास ने कुछ अनर्थ की संभावना समझ कर वहू से पूछा—'बहूरानी, किस ने तुझे ताना दिया है—किसने गाली दी?' बहू ने कहा—'मुझे आज तालाब पर एक ओठी मिला जिस ने मेरे मन की बात पूछी। वह ओठी शान शकल में देवर और ननद बाई से मिलता था।' सास ताड़ गई—'भोली बहू, वह तो तेरा ही भरतार है।'

गीत-कथा

(२०) बूढ़े ठाकुर के पास हाड़ेराव का परवाना आया। परतंत्र रह कर नौकरी बजाना ठाकुर की स्वतंत्र तबियत को सहन नहीं होता था, उस पर यह वृद्धावस्था। कोई पुत्र होता तो उसे ही एवज़ में भेज दिया जाता; यहाँ तो एक ही लड़की थी। परंतु यही वीर लड़की अनेक सुपुत्रों की कमी पूरा करने वाली थी। सजना ने किस प्रकार अपने पिता का कष्ट दूर किया इस गीत में बड़े सुंदर ढंग से कहा गया है

बैठ्या बाबो जी तखत बिछाय।
कागदिया तो आया जी बाबे जी रे हाडे राव रा।
कागद बाबा जी म्हाँने बाँच सुणाय।
काँई रे लिख्यो छै बाबा जी कोरे कागदाँ।
कागद बाई जी बाँच्यो ए न जाय।
छाती तो फाटे ये बाई सजना हिवड़ो ऊझळै।
एदड़ छेवड़ लिखी छै सात सिलांम।
बीच में तो लिखियो ए बाई सजना वेग पधारणा।
थे म्हारा बाबो जी बे दिल मत होय।
बारे तो बरसाँ लग करसाँ चाकरी।
करिया सजना मरदाना भेस।
करला ललकार्‌या ए बाई सजना ढळती रात रा।
बूझ्यो सजना गायाँ रो ए गुवाळ।
सींव बतावो रे भाई हाडे राव री।
या ही छै ओठी राजा जी री सींवँ।
तालर थोड़ा ए बाई सजना सरवर मोकळा।
बूझ्यो सजना मालीड़े रो पूत।
बाग बताओ रे माळीका, राजा जी रो कूण सो।
यो ही छै ओठीड़ा हाडेजी रो बाग।
आमू तो पाक्या ओ ओठीजी नींबू रस भर्‌या।
सजना बूझी पाणी री पणिहार।
होद बतावो ए पणिहार्‌याँ हाडे राव रो।
यो ही छै सजना समंद तळाव

यो ही छै ओठी राजा जी री महल।

केळ झबरखै रे ओठीड़ा राजा जी रे बारणै।

भाभी म्हाँने अचरज होय।

नैण नारी रा ये बोली बोलै मरद री।

एक बर देवर बागाँ में ले चाल।

बेरो तो पाड़ाँ ओ देवरिया नारी मरद को।

नारी होय तो पड़्या रिड़्या फल खाय।

मरद हुवै तो तोड़ै फूल गुलाब को।

राजा जैमल पड़्या रिड़्या फळ खाय।

गायड़ मल री सजनाँ ओ या तोड़ै फूल गुलाब रो।

भाभी म्हाँने अचरज होय।

नैण नारी रा ये आ बोलै बोली मरद री।

अेक बर देवर ले चालो समँद तळाव।

बेरो तो पाड़ाँ ओ देवरिया नारी मरद को।

नारी होय तो ईरॉं-तीरॉं न्हाय।

मरद मुँछाळो यो न्हावै समँद झकोळ कै।

राव जैमल औरॉं-तीरॉं न्हाय।

गायड़ मल री सजनाँ तो या न्हावै समँद झकोळ के।

भाभी म्हारे मन में आवै रीस।

नैण नारी रा ये आ बोली बोलै मरद री।

अेक बर देवर राय-रसोई ले चाल।

बेरो तो पाड़ाँ ओ देवरिया, नारी मरद को।

नारी होय तो धीरे धीरे खाय।

मरद मुछाळो तो यो झट दे जीम चळू कौ।

भाभी म्हारे मन में आवै रीस।

नैण नारी रा य आ बोली बोलै मरद की

अेक बर देवर सेजाँ में ले चाल।

बेरो तो पाड़ाँ ओ देवरिया नारी-मरद को।

नारी होय तो फूल ज्युँ कुमळाय।

मरद मुंछाळे री सेजाँ ओ देवरिया सळवट ना पड़े।

होगी सजना घुड़ले असवार।

दिन तो उगायो ए बाई सजना बाबो जी रे देस में।

उळँगी सजना समँद-तळाव।

चुड़लो दिखायो जी बाई सजनाँ बाँवै हाथ रो।

उठ ओ बाबा जी ढकियो फळसो खुलाय।

बारै बरसाँ री ओ बाई सजना कर आई चाकरी।

बाबा जी को हाडेराव का कागज़ आया है, जिस को अपनी बेटी सजना को पढ़ कर सुनाते हुए बूढ़े ठाकुर का हृदय भर आता है। आखिर सजना को मालूम हो गया। उस ने हिम्मत के साथ पिता से कहा—'आप निश्चित रहें। भाई नहीं तो मैं ही बारह वर्ष की चाकरी आप के बदले कर आऊँगी।'

सजना ने तुरंत मरदाना वेष बनाया और ऊँट पर सवार हो हाड़ाराव के देश को चल पड़ी। पूछती-पूछती पहुँच गई। राव की एक भावज थी जिसे सजना के मरदाने वेष पर संदेह हो गया और वह बार-बार देवर को उकसाने लगी कि वह इस की जाँच करे। तीन बार जाँच हुई। एक बार बाग में, दूसरी बार तालाब पर, तीसरी बार रसोई में। सजना अपनी चतुराई से तीनों बार सफल हुई। चौथी बार की जाँच विकट थी। रंगमहल, में ले जा कर सजना की परीक्षा करने का प्रस्ताव था। सजना को यह मालूम होते ही वह वीर महिला वहाँ से चल निकली और दूसरे दिन पिता के देश को आ गई। इस प्रकार सजना ने पिता के प्रति अपना कर्तव्य पालन किया।

गाँवों के गीत (ग्राम-गीत)

हिंदी में, और अन्यत्र भी, (परंतु हिंदी से कम) यह धारणा देखी जाती है कि किसी प्रकार का लोकगीत हो उसे ग्रामगीत कहा जाता है ग्राम-गीत गाँव के जीवन के गीतों के

लोकगीतो में हम ने यही भेद किया है कि सब प्रकार के गीत, जो व्यक्ति-विशेष की रचनाएँ नही हैं, बल्कि लोक की परपरागत रचनाएँ हैं, लोकगीत हैं। गाँव के गीत—ग्रामीण जीवन के गीत—ग्रामगीत हैं। एक का क्षेत्र विस्तृत है, दूसरे का संकीर्ण। लोकगीतों में ग्रामगीत आ जाते है, पर ग्रामगीतों में लोकगीत नही आते। दोनो मे व्याप्य-व्यापक का संबंध है।

कुछ गाँव के गीत नीचे उद्धृत करते हैं, जिन में प्राकृतिक जीवन, भोलापन और सादगी के भाव कूट-कूट कर भरे है।

(२१) गाँव के स्वच्छंद जीवन में एक मस्ती होती है, एक आत्म-विश्वास, एक अल्हड गर्व होता है, जो नागरिक जीवन मे कम मिलता है। इसी अल्हड़ गर्व और मस्ती भरे आत्म-विश्वास का उदाहरण नीचे के गीत में मिलता है—

बनवारी हो लाल कोन्याँ थारे सारै। गिरधारी हो लाल कोन्याँ थारे सारै॥ टेक॥

अै महल-माळिया थारे। थारी बरोबरी म्हे करॉ स, कोई टूटी टपरी म्हारे॥
गिरधारी हो लाल ०॥

अै काम धेनवाँ थारे। थारी बरोबरी म्हे करॉं स, कोई भैंस पाडड़ी म्हारे॥
बनवारी हो लाल ०॥

अै हाथी घोड़ा थारे। थारी बरोबरी म्हे करॉं स, कोई ऊँट, टोडड़ा म्हारे॥
गिरधारी हो लाल ०॥

अै भाला बरछी थारे। थारी बरोबरी म्हे करॉं स, कोई जेळी गंडासी म्हारे॥
बनवारी हो लाल ०॥

ओ रतनागर सागर थारे। थारी बरोबरी म्हे करॉ स, कोई डाव भर्‌या है म्हारे॥
गिरधारी हो लाल ०॥

अै तोकस-तकिया थारे। थारी बरोबरी म्हे करॉं स, कोई फाटी गुदड़ी म्हारे॥
बनवारी हो लाल ०॥

आ राधा-राणी थारे। थारी बरोबरी म्हे करॉ स, कोई एक जाटणी म्हारे॥
गिरधारी हो लाल ०॥

हे बनवारी हे गिरधारी तुम चाहे कितने ही बडे हो मैं अब तुम्हारे वश में हीं हू

तुम्हारे महल है, पर मेरी टपरी भी उस से कम नहीं, क्यों कि मैं संतोष से उस में रहता हूँ।

तुम्हारे कामधेनु है तो मेरे पास भैंस-गायादि हैं। तुम्हारे हाथी-घोड़े हैं—मेरे ऊँट-बैलादि।

तुम्हारे पास भाले बरछे आदि शस्त्र है तो मै अपनी जेली, गंडासा से ही प्रसन्न हूँ।

तुम रत्नाकर सागर में सोते हो, तो मेरे गाँव में पानी की भरी तलैयाँ हैं।

तुम्हारे क़ीमती तोकस-तकिये आदि सौख्य का सामान है, तो मैं अपनी फटी गुदड़ी में ही मस्त हूँ। तुम्हारे राधा-रानी और और रानियाँ भी हैं, पर मैं तो एक जाटनी से ही संतुष्ट हूँ।

अब बताओ मैं त्रिलोकपति से किस बात में कम हूँ?

(२२) वर्षा ऋतु गाँवों मे, विशेषत: राजस्थान के गाँवों में, नव-जीवन, उल्लास, स्फूर्ति और आनंद की लहर लाती है। किसानों के दिल हरे हो कर लहराने लगते हैं और वे कड़ा से कड़ा परिश्रम कर के नहीं थकते। उसी तरंगित ग्रामीण हृदय का अक्स कुछ गीतों मे खिचा हुआ है।

ग्राम-वधू बरसात के दिनों में अपनी और अपने ससुराल के परिवार की दिन-चर्या इस गीत मे बखानती है:—

झिरमिर झिरमिर मेहूड़ो बरसै, बादळियो घररावे ए॥
जेठ जी तो मेरा बूजा काटै, परण्यो हळियो बावै ए। झिरमिर झिरमिर ०॥
देवर मेरो करै अळसोटी, जेठाणी रोटी ल्यावै ए॥ झिरमिर झिरमिर ०॥
बाळकियो भतीजो मेरो खेड़ चरावै, नणदल गायाँ घेरें ए॥ झिरमिर झिरमिर ०॥
ग्वाळाँ नै म्हारे गळछट चूरमो, हाळ्याँ नै खीर लापसो ए॥ झिरमिर झिरमिर ०॥

नन्हीं-नन्हीं बूँदों में मेह बरस रहा है, बादल गरज रहा है। मेरा जेठ खेत निरा रहा है और मेरा पति हल चला रहा है।

देवर अलसोटी कर रहा है और जेठानी गाँव से खेत में रोटी (छाक) ला रही है। बालक भतीजा मवेशी का खेड़ चरा रहा है और ननद गायें घेर रही है

के खेत से घर लौटने पर ग्वालों को घी-युक्त चूरमा और हल करने वालों को खीर और लपसी बना कर खिलाऊँगी।

(२३) इसी तरह का एक दूसरा ग्राम-जीवन का चित्र है जिस मे पशु-जगत प्रधानता के साथ आया है। वही ग्राम-वधू कह रही है—

मेरो देवरियो चरावै साँढ, करला गरजणा।

टोडियो चरावै, टोडड़ी चरावै, वो तो ल्यावे ल्यावे घरां ए चराय साँढ्या गरजणा।

भैंस्याँ चरावै वो तो भूरटी, वो तो ल्यावे ल्यावे घराँ ए चराय भैंसा आरणा।

धोळती चरावै वो तो दू झणी, कोई ल्यावे ल्यावे घराँ ए चराय साँड दड़कणा।

मेरो जेठ जी बाँधै टोडिया, मेरे परण्यो बाँधै ऊँट, करला बोलणा।

मेरो बडलो भतीजो बाँधै भूरटी, मेरो छोट्क्यो बाँधै गाय, धोळी दूझणी।

म्हारो साँड दड़ूकै गोर में, म्हारो भैंसो भैंस्याँ माँय, साँड दड़ूकणा।

मेरो परण्यो चुंधावै टोडिया, मेरो जेठजी दूवै भूरी झोट, करला गाजणा।

मेरी नणदल पकड़ै वाछड़ा, मेरो देवरियो दूवै धोळी गाय, धोळ्याँ दूझणी।

मेरा देवर गरजने वाले ऊँट और ऊँटनियाँ चराता है, वह ऊँट के छौने चरा कर साँझ को गरजती हुई ऊँटनियों को घर लाता है।

भूरी भैंसें भी वह चराता है और उन के साथ मोटे-ताज़े जंगली भैंसे।

वह दुधारू गाये और गरजने वाले साँड भी चराता है और चरा कर उन्हे घर लाता है। इसी प्रकार जेठ जी, पति, बड़े और छोटे भतीजे और ननद को भी पशु-पालन और ग्रामीण गृहस्थ-संबंधी किसी न किसी कार्य में संलग्न बताया गया है।

(२४) चरखा ग्राम-जीवन की अंतरात्मा से अलग नही किया जा सकता। वह ग्रामीणों का इतना ही प्यारा है जितना जीवन का और कोई आवश्यक साधन। उस के तार-तार में, उस के स्वर-स्वर में ग्रामीण जीवन की आत्मा और चरित्र का राग ओत-प्रोत है। बहुत से गीत तो चरखे के स्वर में स्वर मिला कर गाए जाते हैं। परंतु अब शहरों की हवा गाँवों में भी फैलती जा रही है और चरखा दिनोंदिन निष्प्राण और लुप्त होता जा रहा है इस गीत में चरखे का वर्णन है

चाल रे चरखला, हाल रे चरखला।

ताकू तेरो सोवणो, लाल गुलाबी माळ।

चरकूँ मरकूँ फिरै घेरणी मधरो-मधरो चाल॥ चाल रे चरखला० ॥

गुड्डी तेरी रँग रंगीली, तकली चक्करदार।

चोखो वण्यो दमकड़ो तेरो, कूकड़िये री लार॥ चाल रे चरखला० ॥

कातणवाळी छैल-छबीली, बैठी पीढो ढाल।

महीँ-महीँ वा पूणीं कातै, लंबो काढे तार॥ चाल रे चरखला० ॥

ताकू (तकुवा), माळ (मालाकार डोर), घेरणी (हत्था), गुड्डी, तकली, दमकडो, कूकडी, पूणी, तार आदि विशेष शब्द है जो चरखे के यंत्र से संबंध रखते है। अ जमाना आ रहा है जब हम इन शब्दों को भी भूल रहे हैं। छैल-छबीली कतिन की भावना इस विवरण मे जान डाल देती है।

(२५) एक ग्रामगीत में बड़ी रुचि के साथ बाजरे के खिचड़े पर काव्य-प्रतिभा जगमगाती मिलती है—

म्हारो मीठो लागै खीचड़ो। म्हारो चोखो लागै खीचड़ो॥

छुळवयो-छाँट्यो बाजरो। म्हें दळी ए मुँगाँ की दाळ॥ मीठो खीचड़ो॥

ऊखल घाल्यो बाजरो। म्हे छाल्लै घाली दाळ॥ मीठो खीचड़ो॥

म्हे नान्हो कूट्यो बाजरो। म्हे मीठी छाँटी दाळ॥ मीठो खीचड़ो॥

खदबद सीझै बाजरो। कोई लथपथ सीझै दाळ॥ मीठो खीचड़ो॥

दूध खीचड़ो खाबा बैठ्या। कोई तरसै म्हारी जाड़॥ मीठो खीचड़ो॥

बाजरे का 'खीचड़ा' मीठा लगता है। साफ़ किया—छाँटा हुआ बाजरा और दली हुई मूँग की दाल।

ऊखल में बाजरा महीन कूटा गया और छाज में दाल छाँटी गई। दोनों को मिल कर पकाते समय बाजरा 'खदबद' और दाल 'लथपथ' ध्वनि करने लगी।

जब तैयार हुआ और दूध के साथ मिला कर घर के लोग खाने लगे, तो बनाने वाली वधू के मुँह में पानी भर आया।

(२६) एक धनवान कृषक की कन्या जो पिता के घर मे आराम से पली थी मामूली खेतिहर को ब्याही गई पति के घर का कठोर जीवन उसे लगा इस

' ने पिता से शिकायत की। पिता ने उसे आश्वासन दिया। जब मेह बरसा औ
न्य, फल, शाकादि की उपज हुई तो यही कठोर जीवन इस कन्या को रुचने लग
ह अपने पिता को सराहने लगी, जिस ने इसे इस अदना परंतु परिश्रमी और ईमान
तिहर को ब्याहा। गीत का नाम 'हाळी' है। गीत इस प्रकार है—

काळी तो पीळी ए, मा मोरी, बादळी। बरसण लागो मेह।
मेरे बाबाजी ने कहियो ए, हाळी ने बेटी क्यूँ दई ? ॥ टेक ॥
आठ बळदाँ की ए मा मोरी, नीरणी। आठ हाळ्याँ की छाक॥
बाबा जी नें कहियो ए०
दोनूँ देराणी-जेठाणी मेरी लड़ मरी। कूण उठावै म्हारी छाक॥
बाबा जी नें कहियो ए०
गज को तो काढो ए लाडो बेटी घूँघटो, मचक उठावो झाझी छाक॥
बाबाजी नें कहियो ए०
खेताँ तो खेताँ ए मा मोरी, मैं फिरी, कठेय न लाध्यो खेत॥
बाबा जी नें कहियो ए०
टीबे तो ओल्हे ए लाडो बेटी, टीबड़ी, जैं तळे हाळीड़े रो खेत॥
बाबा जी नें कहियो ए०।
देवर-जेठाँ के ए मायड़ मेरी, रूसणो, कूण उतारे म्हारी छाक॥
बाबा जी नें कहियो ए०
गज को तो काढो ए लाडो बेटी घूँघटो, मचक उतारो झाझी छाक।
बाबा जी नें कहियो० ॥
डहराँ तो डहराँ ए मा मोरी बाजरो, टीबाँ सूळी ए जँवार।
बाबा जी नें कहियो हाळी नें बेटी भल दीज्यो।
डहराँ तो डहराँ ए मा मोरी काकड़ी, टीबाँ में गुड़स मतीर॥
बाबा जी नें कहियो ए०।
मीठो तो लागै ए मा मोरी बाजरो, फीको तो लागे ए जवार॥
बाबा जी नें कहियो ए०
खाटी तो लागै ए मा मोरी काकडी, मीठा तो लागे ए मतीर
बाबा जी नें कहियो ए हाळी नें बेटी नित दीज्यो

ए मा, काली-पीली घटा उमड़ी है और मेह बरसने को है। पिता जी से कहना कि खेतिहर को बेटी क्यों दी ! मैं आठ-आठ बैलों को चारा डालती हूँ और आठ हलियों की छाक पकाती हूँ। मेरी देवरानी-जेठानी आपस में लाड़ली हैं। खेत में ले जाने को मेरी छाक कौन उठावे ?

माता कहती है, लाड़ली बेटी, घबरा मत, शील-पूर्वक घूँघट निकाल कर ससुराल में रह। खुद झमक कर छाक उठा लिया कर।

ए मा, मैं खेत-खेत में घूमी लेकिन अपना खेत न मिला।

प्यारी बेटी, टीबे के तले छोटी टीबड़ी है उस के तले तेरे पति का खेत है।

इसी प्रकार माता-बेटी का प्रश्नोत्तर चलता है। अंत में मेह बरसा, टीबे-टीबे पर ककड़ी और मीठे मतीरे, बाजरा और मूली पैदा हुए, जिन्हें रुचि-रुचि कर इस कन्या ने खाया और अपने जीवन को धन्य समझा। अब यही लड़की माता-पिता को सलाह देती है कि कृषक का जीवन अच्छा जीवन है, अतएव उस की बहिनों को कृषकों को व्याहा जाय।

बारहमासा

(२७) कृपक के लिए उस का काम ही परमात्मा है। उस की ईश्वर की भावना लंबी-चौड़ी दार्शनिक दलीलों पर नहीं अटकी रहती। वह ईश्वर का रूप कौन-कौन सी विभूतियों में देखता है और उस की उपासना किस ढंग की है, यह बात इस गीत से मालूम हो जायगी।

'साड़ महीने बिरखा लागी, बाजरियाँ री वाह।
माऊ जी म्हारे भातो लावै, बाहरे साँई वाह॥
सावण महीने बाजर लागी, नीनाणाँ री नाह।
काचरियाँ री बेलाँ टाळाँ, वाह रे साँई वाह॥
भादू महीने भूँगा होसी, तीवणियाँ री ताह।
बाजरियाँ री रोटी खावाँ, वाह रे साँई वाह॥
आसोजाँ म आसा लागी हक्कालाँ री हाह

काती महीने करड़ा सिट्टा, भावै इत्ता खाह।
काती महीने सिट्टा कीना, वाह रे साँई वाह॥
मिगसर महीने मोका महता, लेखो लेसी साह।
लेय'र देय'र दूरा होस्याँ, वाह रे साँई वाह॥
पोह महीने पाळो पड़सी, खालड़ी रो खोह।
खालड़ी रो खोह कीनो, वाह रे साँई वाह॥
माह महीने पाळो पड़सी, पाणी पत्थर खाह।
पाणी रो तो पत्थर कीनो, वाह रे साँई वाह॥
फागण महीने फाग खेलै, गोपियाँ रो नाह।
महूड़े रो मद्द पीयो, वाह रे साँई वाह॥
चैत महीने चंपा मोरी, चंचल मोरचा साह।
बिन बूठाँ ही हरिया होसी, वाह रे साँई वाह॥
बैसाखाँ में धूप पड़ सी, तावड़िये री ताह।
पड़छायाँ में पड़िया रहस्याँ, वाह रे साँई वाह॥
जेठ महीने धूप पड़सी, तावड़िये री ताह।
खेजड़ चढ़'र खोखा खास्याँ, वाह रे साँई वाह॥

कृषक के सादे जीवन का इस गीत में संपूर्ण इतिहास है। उस का काय ही उस का ईश्वर है। जब वह सफल हो जाता है तो उसे परमात्म-प्राप्ति का-सा सुख होता है, इस लिए वह ईश्वर को धन्यवाद देता है। क्या सचमुच जीवन की सारी फ़िलासफ़ी का निचौड़ इसी में नहीं है! यदि है, तो हमें कृषक के जीवन से उपदेश लेना चाहिए।

आषाढ़ महीने में वर्षा का आरंभ होता है, कृषक खेत में काम करता है और उस की माता उसे रोटी पहुँचाती है। सावन में बाजरा फूटता है, खेत निराया जाता है, काचर-मतीर की बेलें बचा दी जाती हैं। भादों में भुनगे बहुत होते हैं जिन के शरीर के चमकीले भाग से लड़कियाँ गहने—मालाएँ आदि—बनाती हैं तरकारी खूब निपजती है और नई बाजरी की रोटियाँ बनाते हैं

आसोज में फ़सल की आशा लग जाती है और 'हक्काल हाका' कर के चिड़िया

उड़ाते हैं। कृपक रात में भी खेत में रहते हैं। कार्तिक में सिट्टे खूब होते हैं--चाहे जितने खाओ। वाह रे ईश्वर, तुझे धन्य है!

मिगसर में वनिया लेखा करता है। कृषक किसी प्रकार ले-देकर हिसाब साफ़ करता है।

पौष में ज़ोर का जाड़ा पड़ता है जो चमड़ी को खा जाता है।

माघ में कड़ाके का जाड़ा पड़ता है, पानी जम जाता है।

फागुन में गोपियों के नाथ ने फाग खेला था; कृषक भी महुवे का मद पी कर मस्त रहता है।

चैत में चंपा फूलती है और मोर चंचल हो जाते हैं, इस महीने में बिना वर्षा के खेती होती है।

वैसाख और जेठ में धूप भयंकर पड़ती है; कृषक या तो छाया में झोपड़ी या वृक्ष के तले पड़ा रहता है अथवा खेजड़ों पर चढ़ कर फली तोड़ कर खाता है।

हे ईश्वर, तुझे धन्य है जो प्रत्येक ऋतु और मास में कृपक को नए-नए अनुभव और फल देता है!

नाट्यगीत

(२८) नृत्य, गीत और नाट्य का संबंध बहुत पुराना है। नाटक की उत्पत्ति सभ्यता के विकास से बहुत पहले इन्हीं तीन तत्त्वों से हुई थी। अब तक जिन गीतों के उदाहरण दिए गए, वे गेय मात्र हैं। परंतु इन के अतिरिक्त राजस्थानी में ऐसे गीत भी हैं, जो गेय होते हुए नृत्य और नाट्य भी हैं। गुजराती में 'गरबा' नाम के गीत इसी कोटि के गीत हैं। राजस्थानी में ऐसे गीतों का एक उदाहरण 'हरियाळो' गीत में मिलता है। विवाह अथवा अन्य किसी मांगलिक अवसर पर स्त्रियाँ इकट्ठी हो कर यह गीत गाती हैं। और स्त्रियाँ चारों ओर घिर कर टेक गाती हैं और बीच वाली स्त्री गाई जाने वाली पंक्ति के भाव का नाट्य कर के दिखाती है। यह गाँव का गीत है; इस लिए अधिकांश में कृषक-जीवन के व्यापारों का उल्लेख और नाट्य किया जाता है परंतु नागरिक लोगों ने भी इस को अपना लिया अतएव नागरिक व्यापारों का

उल्लेख और नाट्य भी इस में सम्मिलित कर लिया गया। गीत का क्रम और प्रश्नोत्तर नाट्य के साथ-साथ इस ढंग से चलता है—

सब स्त्रियाँ मिल कर गाती हैं—गोरी म्हारी ए, हरियाळो बूठो जे क्यूँ? अर्थात् हरियाली के मौसम में वर्षा कैसे बरसती है? तो, बीच वाली स्त्री नाट्य कर के भाव बताती है—यूँ म्हारा साजन यूँ जी यूँ (इस प्रकार—अर्थात् हाथों को इस ढंग से ऊँचा-नीचा कर के, मानो आकाश से पानी बरस रहा है।)

इसी प्रकार जब जेठ अथवा ननदोई को जिमाने का प्रसंग आता है तो नाट्य करने वाली स्त्री अपनी ओढ़नी की छोर को हाथ में ले कर उस में पंखा हाँकने का इंगित करती है।

भाव का क्रम-विकास गीत में इस ढंग से होता है—मेह बरसा, खेत जोते और निराए गए, उन की रखवाली हुई, फ़सल काटी गई, धान इकट्ठा हुआ, उस से रसोई बनी और फिर परिवार के आत्मीय, सगे-संबंधी निमंत्रित कर के जिमाए गए।

गीत बहुत लंबा है। यहाँ पर थोड़ा सा प्रारंभिक और अंतिम भाग उद्धृत कर के बस करते हैं—

गोरी म्हारी ए हरियाळो बूठो जे क्यूँ? यूँ म्हारा सायब यूँ जी यूँ।
गोरी म्हारी ए हरियाळो बाई जे क्यूँ? यूँ म्हारा सायब यूँ जी यूँ।
गोरी म्हारी ए हरियाळो नीनाणी जे क्यूँ? यूँ म्हारा सायब यूँ जी यूँ।

× × ×

गोरी म्हारी ए धीवड़ ने मुकलाई जे क्यूँ? यूँ म्हारा सायब यूँ जी यूँ।

अंत में दो एक बातों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं। गीत हमारी जातीय संपत्ति है। इन में मनोविज्ञान, समाज-दर्शन और मानव-वृत्तियो का अखूट और अमूल्य भंडार भरा पड़ा है। इन्हें हम उपेक्षा की दृष्टि से न देखें; गँवारू समझ कर इन्हें लुप्त न होने दें। ये हमारी पूर्व-संस्कृति के अच्छे परिचायक हैं। जिस प्रकार भूतकाल के इतिहास को पढ़ कर हम अपने जीवन के लिए उपयोगी मार्ग निकाल सकते हैं वैसे ही मृतकाल की संस्कृतियों के स्मारक-स्वरूप इन गीतों को हम जातीय उत्थान के

कार्य में लगा सकते है। यह जान लेना चाहिए कि गीतों की दुनिया मरी हुई दुनिया नहीं है, वह जीवित है। गीत हमारे सामाजिक, धार्मिक, नैतिक जीवन के एक बहुत बड़े भाग को अनुप्राणित करते हैं और हमारे समाज का आधा अंग गीतों की नींव पर अपनी धर्म-नीति और दिनचर्या को रखती है। ईश्वर करे, वह दिन शीघ्र आवे, जब हम अपनी इस खो रही बहुमूल्य संपत्ति को बचाने की प्राणपण से चेष्टा करें।

भारतीय साहित्य के सौ वर्ष

[लेखक—प्रोफ़ेसर अमरनाथ झा, एम्० ए०]

यदि सन् १८३७ में, किसी भारतवासी से यह प्रश्न किया जाता कि भारतीय इतिहास मे वे प्रमुख लेखक कौन है जिन की कृतियाँ पढ़ी जाने के योग्य हैं तो उत्तर में निश्चय ही प्रसिद्ध संस्कृत साहित्यिकों की ओर संकेत किया जाता। उस समय भी पढ़ी-लिखी जनता का अधिकांश संस्कृत का अध्ययन करता था; जिन लोगों का संबंध शासन से कर्मचारी के रूप में था, वे फ़ारसी भी पढ़ते थे। परंतु उस समय सूरदास या तुलसीदास, विद्यापति या चंडीदास, वली या मीर के नाम किसी के मुँह पर न आते। संस्कृत इस समय भी अध्ययन का मुख्य विषय था। जनता की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति संस्कृत दर्शन, संस्कृत नाटकों, महाकाव्यों और गीतकाव्यों से हो जाती थी। नक्षत्र-विद्या, ज्योतिष और गणित का ज्ञान संस्कृत द्वारा सुलभ था। इसी प्रकार विधान, कर्मकांड और धर्म का ज्ञान भी। विद्वान् लोग वार्तालाप तथा शिक्षण के लिए संस्कृत के माध्यम का ही उपयोग करते थे। देश के विभिन्न भागों का आपस में पत्र-व्यवहार संस्कृत द्वारा ही होता था। यह बात नहीं कि आधुनिक भाषाओं में साहित्यिक कार्यशीलता ही न रही हो; परंतु यह भाषाएँ गंभीर अध्ययन अथवा विशेष अनुशीलन की दृष्टि से इतनी सम्मानित नहीं थीं।

आज, यदि विशिष्ट विद्वानों की चर्चा छोड़ दी जाय, तो यह देखा जायगा कि संस्कृत तथा फ़ारसी का स्थान प्रायः संपूर्णतया आधुनिक भाषाओं ने ले लिया है। अभी कुछ ही समय पूर्व तक हमारे विश्वविद्यालयों मे, आर्ट्स विभागों में, प्राचीन भाषाओं के किंचित् अनिवार्य अध्ययन पर ज़ोर दिया जाता था। परंतु उपयोगितावादी बर्बरता की शक्तियों ने इसे न केवल अनावश्यक बना दिया है, वरन् परिस्थिति यह है कि प्राचीन भाषाओं का ज्ञान एक प्रकार से बाधक समझा जाता है, और उन के अध्ययन के विषय मे निरुत्साह दिलाया जाता है। इस शोच्य स्थिति का श्रेय अथवा अश्रेय दो बातों पर है—एक तो विज्ञान-संबंधी ज्ञान की अद्भुत शक्ति में विश्वास पर, दूसरे इस पर कि प्रत्येक

उच्च शिक्षा-संबंधी आयोजना में देशीय आधुनिक भाषाओं को प्रमुख आसन दिलाने का प्रयत्न होने लगा है।

सौ वर्ष पूर्व यद्यपि हिंदी, उर्दू और बँगला भाषाएँ बहु-संख्यक जनता द्वारा बोली और लिखी जाती थी, फिर भी उन की संस्कृत अथवा फ़ारसी से कोई प्रतिद्वंद्विता न थी। आधुनिक भाषाओं में कविता अधिकांश अशिक्षित साधारण वर्ग के नैतिक उत्सर्ग के तात्पर्य से लिखी जाती थी; और प्राचीन कथाएँ, धार्मिक शिक्षाएँ, भक्ति-संबंधी गीत—यही बहुधा इस प्रकार के साहित्य के रूप तथा विषय थे। ऐसे ही कहीं कोई अर्द्ध-शिक्षित व्यक्ति किसी अकाल अथवा युद्ध का वर्णन टूटे-फूटे पद्य में कर दे तो दूसरी बात है, अन्यथा आधुनिक भाषाएँ गौण स्थान रखती थीं, और उन का विशेष मान न था।

भारतवर्ष की आधुनिक भाषाओं के साहित्य की अद्भुत उन्नति का श्रेय अंग्रेजी के अध्ययन, धार्मिक सुधार-संबंधी आंदोलनों, जातीयता की भावना की वृद्धि, और विकास पाती हुई राजनैतिक भावना को प्राप्त है। गेटे के समय में जर्मनी में साहित्यिक बुद्धि का जो प्रचुर विकास और प्रस्फुटन हुआ था, उसे छोड़ कर साहित्य के इतिहास में, मेरी समझ में कोई दूसरा काल नहीं हुआ है जिस की तुलना उस अद्भुत उन्नति से की जा सके जो कि हमारी आधुनिक भाषाओं ने इस थोड़े समय में की है। भाषा गद्य मुख्यतया इसी युग की उत्पत्ति है। इसी युग में भाषा उपन्यासों का आरंभ होता है; गल्प, निबंध, आलोचनाएँ, इतिहास तथा साहित्य के अन्य अंग इसी युग से सन्नद्ध हैं। भाषा की कविता—विशेष कर उन का वह अंग जो इस पीढ़ी में प्रशंसित है—वह भी इसी युग में रची गई है।

बंकिम चटर्जी, रमेश दत्त, रवींद्रनाथ ठाकुर, शरत् चटर्जी के उपन्यास; रवींद्र-नाथ और नरेश सेनगुप्त की आख्यायिकाएँ, माइकेल मधुसूदन दत्त, नबीन सेन, रवींद्रनाथ, अतुलप्रसाद सेन, चित्तरंजन दास, नज़रुल इस्लाम की कविताएँ; द्विजेंद्र लाल राय, गिरीश बोस, अमृतलाल बोस के नाटक—बँगला में; ग़ालिब, हाली, इक़बाल, चकबस्त, अकबर की कविता, रुसवा और सरशार के उपन्यास, आज़ाद और शिबली के निबंध; 'अवधपंच', 'ज़माना,' 'निगार' तथा अन्य पत्रों का कार्य पत्रकारिता के क्षेत्र में; पद्य-रचना संबंधी विविध प्रयोग—उर्दू में; हरिश्चंद्र, अयोध्यासिंह, सुमित्रानंदन, निराला, मैथिलीशरण, तथा अन्य तरुण-कवियों की कविता प्रेमचंद के सुदर्शन और कौशिक की महावीरप्रसाद द्विवेदी के निबंध [illegible], दास पद्मसिंह

शर्मा की आलोचनाएँ—हिंदी में; इन सभी पर उन परिस्थितियों की छाप है जिन का वर्णन मैं ऊपर कर चुका हूँ। बिना अंग्रेज़ी शिक्षा और राष्ट्रीयता की भावना के ये साहित्य बिल्कुल भिन्न होते। संभव है वह और भी अच्छे होते, अथवा इतने भी न बन पड़ते, परंतु जैसे हुए हैं उन से भिन्न अवश्य होते।

यदि हम साहित्यिक विकास के क्रम का निरीक्षण करने के लिए ठहरें तो हम देखेंगे कि दो परस्पर-विरोधी प्रभाव काम करते रहे हैं। एक ओर तो अंग्रेज़ी का और उस के माध्यम से यूरोपीय साहित्यों का प्रभाव हमारे अवेक्षण को विस्तृत करता रहा है, हमारे मानसिक क्षितिज की सीमा को बढ़ाता रहा है, हमारी सहानुभूति को उदार बनाता रहा है, तथा हम में नए-नए साहित्यिक रूपों में प्रयोग करने की इच्छा उत्पन्न करता रहा है; दूसरी ओर राष्ट्रीयता की भावना पुराने छंदों के चुनाव, संस्कृत उद्गम के शब्दों की खोज, और परंपरा-प्रतिष्ठित विषयों के दृढ़ता-सहित ग्रहण किए जाने के लिए उत्तरदायी रही है। साथ ही साथ सांप्रदायिक भावना ने भी हिंदुओं द्वारा कठिन संस्कृत शब्दों के और मुसल्मानों द्वारा अप्रचलित अरबी शब्दों के व्यवहार के रूप में उद्गार पाया है।

उपन्यास के क्षेत्र में मुख्य प्रेरणा स्कॉट और थैकरे से तथा कविता में शेली और स्विनबर्न से प्राप्त हुई है। परंतु ऐसा अनुमान करना भूल होगी कि भारतीय कवियों और उपन्यासकारों ने केवल अनुकरण किया है और उन में कोई मौलिकता नहीं है। वे अपने पैरों के बल पर खड़े हुए हैं। उन्हों ने भिन्न प्रकार के प्रयोग किए हैं, और अपने लिए वह रूप ग्रहण किया है जो उन के मत से भारतीय जाति तथा भाषा के अनुकूल हो। स्वतंत्रता के लिए युद्ध करते हुए, संसार की महान् जातियों के बीच अपने लिए जगह प्राप्त करने का प्रयत्न करते हुए, सभ्यताओं के संघर्ष के मध्य में, मध्यकालीनता और आधुनिकता के मिश्रण में, वर्णव्यवस्था के संरक्षण से निःसीम प्रतिस्पर्द्धा के परिवर्तन में, भारतीय लेखकों ने जिन विषयों का चुनाव किया है वह विभिन्न भी है और साथ ही अक्षय भी। समसामयिक जीवन तक सीमित रहने की उन्हें आवश्यकता नहीं—यद्यपि, जो कुछ भी वह लिखेंगे उस का अधिकांश उस जीवन से संबंध रखेगा जिस से वह परिचित हैं, और उन के रहन-सहन से निकटतम है। परंतु वह अतीत काल से भी वर्तमान के लिए प्रेरणा ग्रहण कर सकते है। आयर्लैंड के कवियों ने लोक-साहित्य, प्राचीन परंपरा, डायरमूड और डायड्री की कहानियों से विषय ग्रहण किए हैं और उन की कविताएँ माइरिश बाल्क और

बालिकाओं द्वारा गाई जाती हैं। मिस्टर डब्ल्यू० बी० यीट्स अपने 'आक्सफोर्ड बुक आव् माडर्न वर्स' नामक काव्य-संग्रह की भूमिका में लिखते हैं—

"बारह वर्ष हुए आलिवर गोगर्टी अपने वैरियों द्वारा पकड़ लिया गया और लिफी के तट पर एक निर्जन घर मे बंदी किया गया, जहाँ कि मृत्यु की पूर्ण संभावना थी। एक स्वाभाविक आवश्यकता का कारण ले कर वह बाग़ में गया और पानी में कूद पड़ा और जिस समय कि वह तमंचों की गोलियों की बौछार में दिसंबर के बर्फ़-जैसे ठंडे जल को तैर कर पार कर रहा था, उस ने मानता की कि यदि मैं सकुशल नदी पार कर लूँगा तो उसे दो हंस चढ़ाऊँगा। जिस समय उस ने अपने वचन की पूर्ति की मैं उपस्थित था। उस की कविता इस घटना पर ठीक बैठती है, अर्थात् वह प्रसन्न, निस्संग और वीर-संगीत है।"

यहाँ पर जीवन की एक महान् घटना काव्य-रूप में परिणत हो गई है, कविता सप्राण हो उठी है। जब कि कवि अपने को इस भाँति अपने देश से अभिन्न बना लेता है, और उच्च आत्म-निवेदन करता है तब कविता भी तेजमयी हो उठती है। इस प्रकार की कविता के कुछ उदाहरण हसरत मोहानी, नज्रुल इस्लाम, चकबस्त और नवीन ने प्रस्तुत किए हैं। आख्यायिकाएँ लिखने में, नए से नए अंग्रेज़ी पद्य-प्रयोगों की शैली में गीतो की रचना में, समसामयिक सामाजिक परिस्थितियों को विषय मान कर नाट्य-रचना में हमारे लेखक पीछे नहीं रहे हैं। समालोचना के क्षेत्र में भी उन्हों ने पाश्चात्य से स्वतंत्रता-पूर्वक विचार ग्रहण किए हैं—साथ ही उन्हों ने इस बात का अनुभव नही किया है कि काव्य-समीक्षा तथा सौंदर्य-निरूपण-संबंधी विस्तृत साहित्य संस्कृत में भरा पड़ा है।

व्यंग्य और हास्य-संबंधी पद्य रचना, विशेष रूप से पनपी नहीं है—यद्यपि इस प्रसंग में अकबर का नाम उल्लेखनीय है। विनोदपूर्ण परिहास, सरस व्यंग्य, व्याजपूर्ण उपहास—इन्हे लिखने का सफलता पूर्वक प्रयत्न नहीं हुआ है। साहित्यिक आकांक्षियो के लिए इतिहास भी बहुत अच्छा क्षेत्र है। ऐसे जीवनचरित जो साहित्यिक महत्व भी रक्खें अभी लिखे नही गए। एकांकी नाटकों का विशेष-रूप से सृजन नहीं हुआ है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति कठिन नही है। परंतु हमारी आधुनिक भाषाओं को संपन्न बनाने के प्रयास में अपनी परंपरा से दूर हटना हमारे लिए घातक सिद्ध होगा। यह एक मूर्खता-पूर्ण विचार है कि हिंदी अथवा बंगाली का काम बिना संस्कृत के चल सकता है अथवा उर्दू बिना हिंदी और फ़ारसी का पोषण पाए हुए जीवित रह सकती है। इन भाषाओं की थाती

बड़ी भरी-पूरी है; अतीत से इन्हें बहुत प्रतिष्ठित उत्तरदान मिला है। नवीन के प्रेम में तथा विदेशी के आकर्षण में पड़ कर हमें पूर्ण अराष्ट्रीयता, से बचना चाहिए। हम रशन, फ्रेंच, जर्मन और इटालियन साहित्य से अवश्य जो चाहें सो ग्रहण करें, परंतु हमें उन्हीं अंशों को ग्रहण करना चाहिए जिन्हें हम पचा सकें। नहीं तो हमारी स्थिति उन जीवों की-सी हो जायगी जिन्हें, उन का आकार देखते हुए, अत्यधिक भोजन मिल गया है और हम लोग दंभियों की एक जाति बन कर रह जावेंगे।

हिंदुस्तानी एकेडेमी का पंचम वार्षिक साहित्य-सम्मेलन, लखनऊ

(१६-१८ जनवरी, १९३७)

१—सभापति डाक्टर राय राजेश्वर बली का भाषण

हिंदुस्तानी एकेडेमी के सदस्यगण, देवियो और सज्जनो !

हिंदुस्तानी एकेडेमी के पंचम वार्षिक साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर मुझे सभापति का आसन ग्रहण करने को कह कर आप ने जो मेरा मान बढ़ाया है उसे मैं भली भाँति समझ रहा हूँ। यह वास्तविक संतोष का कारण है कि एकेडेमी अपने कार्यकाल के दस वर्ष पूरे कर चुकी। मुझे खूब याद है कि आज से ठीक दस साल पहले, २२ जनवरी, सन् १९२७ को संयुक्त-प्रांतीय सरकार के एक प्रस्ताव से एकेडेमी का जन्म हुआ था, और इसी शहर (लखनऊ) में उसी साल २९ मार्च को तत्कालीन गवर्नर सर विलियम मैरिस ने मेरी प्रार्थना पर एकेडेमी का विधिवत् उद्घाटन किया था। चूँकि उस समय शिक्षामंत्री की हैसियत से एकेडेमी की स्थापना में मेरा भी एक दायित्व था, मैं इस के सुयोग्य अध्यक्ष सर तेज बहादुर सप्रू के संचालन में इस की उन्नति और श्रीवृद्धि को बड़ी दिलचस्पी से देखता आ रहा हूँ। मैं कह सकता हूँ कि नींव पड़ने के बाद उस के ऊपर की इमारत खड़ी करना कोई साधारण काम न था। नए आदर्श स्थापित करने थे, लोकमत को अपने पक्ष में करना तथा लोगों में फैले हुए संदेहों को दूर करना था। इन के सिवाय एकेडेमी को अपने निर्माणकाल में ही ऐसी आर्थिक कठिनाइयों से युद्ध करना पड़ा जिन के ऊपर इस का कोई वश नहीं था, और जिन से यह अभी तक अपने को स्वतंत्र नहीं कर सकी है। मैं निस्संदेह यह कह सकता हूँ कि एक महत् उद्देश्य-साधन के लिए एकेडेमी के अधिकारी-गण सदा प्रयत्नशील रहते हुए हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

यह बड़े खेद का विषय है कि साहित्यिकों के कुछ दलों में एकेडेमी के उद्देश्यों के संबंध में बड़ी भ्रांतियाँ फैली हुई हैं। मैंने लोगों को यह कहते सुना है कि एकेडेमी की स्था

पना एक नई भाषा के सृजन के लिए है। क्या यह संभव है? साथ ही यह भी लोगों की धारणा है कि एकेडेमी हिंदी और उर्दू भाषा के वास्तविक हितसाधन में बाधक हो रही है। इस प्रकार की शंकाएँ तो एकेडेमी के छपे उद्देश्यों और नियमावली आदि पर एक दृष्टि डालने से ही दूर हो सकती थीं। उन मे तो यह साफ़-साफ़ कहा गया है कि एकेडेमी का उद्देश्य "हिंदी और उर्दू साहित्य की रक्षा, प्रचार तथा उन्नति" करना है। इस से संतोष न होने पर एकेडेमी के प्रकाशनों को देखने पर किसी भी संदेही को यह स्पष्ट हो जायगा कि क्या हिंदी क्या उर्दू, किसी के लेखक को अपनी स्वाभाविक भाषाशैली को छोड़ने पर बाध्य किए जाने का कहीं कोई प्रयत्न नहीं किया गया, और दोनों भाषाएँ अपने विकास के स्वाभाविक स्रोत में ही आगे बढ़ रही हैं। यह अवश्य है कि एक ही संस्था की देख-रेख में दोनों ही भाषाओं की उन्नति के कार्यसाधन में कुछ स्पष्ट लाभ है। भाषातत्व की दृष्टि से दोनों भाषाओं में इतनी अधिक समानता है कि दोनों एक ही भाषा के दो भिन्न रूप कही जा सकती हैं। हमारे प्राचीन साहित्य मे बहुत सी ऐसी बातें हैं जो दोनों ही की बपौती कही जा सकती है। दोनों को एकत्र रखने और उन में संपर्क बनाए रखने से लाभ ही हो सकता है। मैं जानता हूँ कि पृथक्करण की धाराएँ बह चली हैं, पर इन से हमारे नागरिक जीवन मे अपार हानि हो कर रहेगी। मैं इस संबंध मे आगे और विचार करूँगा। यहाँ पर मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि हिंदुस्तानी एकेडेमी का कर्तव्य यही है कि वह एक उच्च आदर्श की स्थापना द्वारा इन पृथक्करण की धाराओं का विरोध करती हुई तथा इन झूठे लांछनों से विचलित न होती हुई अपने कर्त्तव्य-पथ पर दृढ़ रहे।

एक साहित्यिक संस्था के जीवन में दस वर्ष का काल बहुत नहीं होता। फिर भी इतने ही समय में एकेडेमी ने प्रशंसनीय कार्य कर दिखाया है। इस का मुख्य कार्य उचित प्रकार के ठोस साहित्य का सृजन ही है। अब तक हिंदी और उर्दू दोनों मिला कर यह पचास से ऊपर बड़ी पुस्तकें प्रकाशित कर चुकी है। ये प्रकाशन मुख्यतया मौलिक विषयों पर विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों द्वारा लिखाए गए हैं। लेखकों की सूची पर एक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जायगा कि अपनी पुस्तकों के लिए यशस्वी लेखकों का सहयोग प्राप्त करने मे एकेडेमी को सौभाग्य से बड़ी सफलता मिली है। एकेडेमी ने कुछ लब्धप्रतिष्ठ पाश्चात्य

के नाटकों के अनुवाद भी प्रकाशित किए हैं जिन से कि प्राय इसी कोटि के

और उर्दू काव्य के दो महान् काव्यसंग्रह भी सुयोग्य विद्वानों द्वारा तैयार करवाए हैं और प्रत्येक संग्रह छः बड़ी-बड़ी जिल्दों में समाप्त हुआ है। इन में से कुछ जिल्दें प्रकाशित हो गई हैं, कुछ यंत्रस्थ हैं और शेष छपने को हैं। एक दूसरा महत्वपूर्ण कार्य हिंदी और उर्दू में "हिंदुस्तानी" नाम की दो पृथक् त्रैमासिक पत्रिकाओं का प्रकाशन है, जिन्हों ने कि अभी-अभी अपने जीवन का छठवाँ वर्ष पूरा किया है, और इसी बीच इन्हों ने हिंदी और उर्दू के पत्र-जगत् में अपने लिए एक सुप्रतिष्ठित स्थान बना लिया है। इन पत्रिकाओं ने लोक-रुचि के पीछे न पड़ कर साहित्य, कला, पुरातत्व, इतिहास, तथा दर्शन आदि गंभीर विषयों पर ऐसी मननशील रचनाएँ प्रकाशित करने की विशेषता अपनाई है जिस से कि ये किसी भी पुस्तकालय की उपयोगिता बढ़ा सकती हैं।

हिंदुस्तानी एकेडेमी का कार्य प्रकाशनों तक ही परिमित नहीं रहा है। उत्पादक और समालोचनात्मक साहित्य के विविध अंगों की रचित पुस्तकों पर पुरस्कार प्रदान द्वारा तथा साहित्य, कला और ऐतिहासिक अथवा सांस्कृतिक विषयों पर सर्वसाधारण के हितार्थ व्याख्यानों द्वारा इस संस्था ने उच्च कोटि के साहित्य के सृजन में प्रोत्साहन दिया है। पाँच-पाँच सौ रुपयों के कुल सोलह पुरस्कार अब तक एकेडेमी हिंदी और उर्दू की अन्यतम कृतियों पर प्रदान कर चुकी है और सौ-सौ रुपयों के आठ पुरस्कार यह विद्यार्थियों को दे चुकी है। लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों द्वारा बारह विभिन्न व्याख्यानों का आयोजन भी इस की ओर से हो चुका है। इन में से कुछ दोनों भाषाओं में पुस्तकाकार प्रकाशित भी हो चुके हैं क्यों कि एकेडेमी का उद्देश्य यह रहा है कि दोनों माध्यमों द्वारा समान-रूप से ज्ञान-वितरण होता चले। इन सेवाओं के अतिरिक्त एकेडेमी ने सात सहस्र पुस्तकों से ऊपर का एक विशद पुस्तकालय भी संग्रह कर लिया है जिस के अनेक ग्रंथ बहुत मूल्यवान् और दुष्प्राप्य हैं, और साथ ही कुछ हस्तलिखित मौलिक पुस्तकें भी हैं। इन सब के अतिरिक्त, इस ने अपने वार्षिक साहित्य-सम्मेलनों द्वारा भाषा और शैली-संबंधी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर सर्वसाधारण का ध्यान केंद्रित कर के और विविध विषयों पर साहित्यिक निबंध पढ़वा कर कुछ कम उल्लेखनीय कार्य नहीं किया है।

परंतु यह एक महान् खेद का विषय है कि आर्थिक क्लेश के कारण इस संस्था को कई दिशाओं में अपनी कार्यवाही कम करनी या बंद कर देनी पड़ी है। मुझे मालूम हुआ है कि इसी अभाव के कारण उल्लिखित व्याख्यानों का आयोजन बंद कर दिया गया है और

पुरस्कारों में काफ़ी कमी कर देनी पड़ी है। वैज्ञानिक तथा उद्योग-धंधों-संबंधी शब्दकोष का अत्यावश्यक प्रस्तुतीकरण बंद कर देना पडा है। बहुत-सी समाप्त की हुई हस्तलिखित पुस्तकों का प्रकाशन रोक दिया गया है और हिंदी तथा उर्दू साहित्य की संशोधित सर्वे रिपोर्टों का लेखन हाथ में नही लिया जा सका है। मुझे पूरी आशा है कि यथासभव शीघ्र गवर्नमेंट पर हमारी आवश्यकताएँ व्यक्त करने का प्रयत्न किया जायगा जिस से कि सरकार पहले जो रकम इस संस्था को देती थी वही फिर से देने के संबंध मे सहानुभूतिपूर्ण विचार करे।

हिंदुस्तानी एकेडेमी के कार्यो का यह सिंहावलोकन वहाँ से प्रकाशित वार्षिक रिपोर्टों के आधार पर हुआ है जो कि देखने से विज्ञापनार्थ न हो कर केवल याददाश्त के मतलब से प्रकाशित हुई जान पड़ती हैं। मेरी राय मे अब यह उचित होगा कि अपने जीवन के दस वर्ष की समाप्ति पर एकेडेमी अपने कार्यो का पूरा विवरण प्रकाशित करे। मैं देखता हूँ कि ऐसी ही राय मेरे सुयोग्य मित्र श्री सच्चिदानंद सिनहा ने भी दी थी, जिन्हों ने गत वर्ष इस पद को सुशोभित किया था। मै हृदय से उन का समर्थन करता हूँ। इस सस्था के लिए उचित विज्ञप्ति और प्रचार नितांत आवश्यक है। यह कहना व्यर्थ है कि एकेडेमी जो कुछ कार्य कर चुकी है उस पर किसी भी संस्था को उचित गर्व हो सकता है। सर्व-साधारण का ध्यान इस की ओर केंद्रित करना बहुत आवश्यक इस लिए नही है कि इसे अपने कार्यो के प्रदर्शन का अवसर मिले, बल्कि इस लिए कि उचित परिमाण में सब की सद्भावना यह प्राप्त कर सके, जिस की कि मेरी राय में वह निस्संदेह अधिकारिणी है।

मैं एकेडेमी के अधिकारियों से अनुरोध करूँगा कि भविष्य में कुछ काल तक के लिए वह लोकप्रिय विषयों पर लिखी हुई सस्ती पुस्तकों के प्रकाशन की ओर ध्यान दे। मैं यह राय नहीं देता कि ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन में एकेडेमी अपना स्टैंडर्ड नीचा कर दे। मेरा मतलब केवल यही है कि पुस्तकों का दाम कम रखने से अधिक संख्या में जनता इन्हे अपना सकेगी। मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई है कि इस दिशा में एकेडेमी ने कार्यारभ कर दिया है और 'होम यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी' नामक प्रसिद्ध पुस्तकमाला के ढंग पर प्रकाशित होने वाली पुस्तकों की एक विज्ञप्ति निकल चुकी ह इस के साथ ही एकेडमी यदि

सर्वश्रेष्ठ पुराने लेखकों की अमर कृतियों का प्रकाशन संभव हो सके तो बड़ा अच्छा हो। हमें यह मानना ही पड़ेगा कि पश्चिम के संपर्क के कारण हमारे देशवासियों में पाश्चात्य साहित्य में जो कुछ सर्वश्रेष्ठ है उस को पढ़ने, समझने और उस से लाभ उठाने की प्रबल आकांक्षा उत्पन्न हो गई है। इस प्रकार की सर्वसाधारण की युक्तिसंगत माँग का पूरा होना हम दैव के ऊपर नहीं छोड़ सकते और एकेडेमी जैसी संस्था का ही यह काम है कि वह जनता के लिए केवल अच्छी-अच्छी पुस्तकें ही न चुने बल्कि उन की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए अच्छे-अच्छे अनुवाद भी प्रकाशित करे।

एक और कार्य, जिस के प्रति एकेडेमी के अधिकारियों का गंभीर ध्यान मैं आकृष्ट करना चाहता हूँ, है दोनों भाषाओं में प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाले सत्साहित्य की विशद समीक्षा। प्रतिवर्ष प्रेस से निकलने वाले अतिकाय साहित्य में से बिना मुफ़्त में पैसे बरबाद किए हुए पढ़ने योग्य साहित्य को चुनना सब का काम नहीं है, और एकेडेमी जैसी संस्था का कर्त्तव्य है कि वह सच्चे मार्ग-प्रदर्शक की भाँति लोगों को इस में सहायता दे। एक उपाय मार्ग-प्रदर्शन तथा उचित साहित्य के उत्पादन का यही है कि जनता के सामने आने वाली पुस्तकों पर वह निष्पक्ष और आलोचनात्मक सम्मति देती रहे। इस से केवल उचित पुस्तकों के प्रचार में ही सहायता नहीं मिलेगी बल्कि इस प्रकार के साहित्य के नियंत्रण में भी सहायता मिलेगी जो जनता को कुरुचि की ओर खींचता है। इस तरह की वार्षिक रिव्यू से हमारे प्रांत के सर्वसाधारण तथा निजी पुस्तकालयों को भी पुस्तकें चुनने में बड़ी सहायता मिलेगी जिन के सामने सदा यह कठिनता रहती है कि वह किस प्रकार की पुस्तकों का संग्रह करें। पुस्तकों के संबंध में जानकारी सुव्यवस्थित-रूप से वितरित करने की व्यवस्था हिंदी और उर्दू साहित्य-जगत में अभी तक नहीं हुई है और मेरी राय में इस काम को उठाने के लिए एकेडेमी ही सब से अधिक उपयुक्त संस्था है। बल्कि सब से अच्छा तो यह होता कि एकेडेमी अपने जीवन के प्रथम दस वर्ष के काल में प्रकाशित होने वाले साहित्य के संबंध में भी एक विशद पुस्तक-विवरण प्रकाशित कर देती।

पुस्तक-विवरण के प्रकाशन के साथ ही साथ एक और काम जो हाथ में लेना चाहिए यह है कि एकेडेमी अपने पुस्तकालय का पहले से कहीं बड़े पैमाने पर निर्माण करे। मुझे यह सुन कर बड़ा दुःख हुआ कि अर्थाभाव के कारण गत चार वर्षों से एकेडेमी अपने

म विशेष वृद्धि नहीं कर सकी है एकेडेमी का जैसा नाम है उस के

इसे केवल कुछ पुरानी पुस्तकों से ही संतोष नहीं कर लेना चाहिए, बल्कि समय के साथ-साथ इस की वृद्धि होती चलनी चाहिए। प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाली हिंदी और उर्दू की ज़रूरी पुस्तकों की एक-एक प्रति इस की आलमारियों में होनी चाहिए। एकेडेमी के लिए एक ऐसे ही पुस्तकालय की आशा सर विलियम मैरिस ने १९२७ में इस के उद्घाटन के समय की थी। उन्हों ने कहा था, "मैं चाहता हूँ कि. यदि आवश्यकता हो तो क़ानून द्वारा, हिंदी और उर्दू की प्रत्येक प्रकाशित पुस्तक की एक प्रति का एकेडेमी में आना अनिवार्य कर दिया जाय, और इस प्रबंध तथा अपने सुचारु पर्यवेक्षण द्वारा एकेडेमी के लिए यह संभव हो सकेगा कि उस के पुस्तकालय में हिंदी उर्दू की सभी अच्छी पुस्तकें मिल सकें।" प्रांत भर के लिए एक ऐसे पुस्तकालय की आवश्यकता इतनी अधिक है कि इस संबंध में विशेष कहना व्यर्थ है। मैं एकेडेमी के अधिकारियों से चाहूँगा कि वह इस प्रकार की व्यवस्था के लिए सरकार से अनुरोध करें जिस से कि इस प्रांत मे प्रकाशित हिंदी-उर्दू की प्रत्येक पुस्तक की एक-एक प्रनि एकेडेमी में भेजी जाय। और फिर यह अपनी सालाना आय से अपने संग्रह को और बढा कर अपना पुस्तकालय भरा-पूरा रख सकती है।

एक बात और है जिस के प्रति मैं ख़ास तौर से एकेडेमी के अधिकारियों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। इस समय हमारे ग्रामीण भाइयों के उपयुक्त साहित्य-प्रकाशन की नितांत आवश्यकता है। उन के लिए केवल ऐसी पुस्तकों की ही आवश्यकता नहीं है जिन से उन को आधुनिक काल में मनुष्य द्वारा उपार्जित ज्ञान की जानकारी हो सके बल्कि ऐसी पुस्तकों की भी जो कि उन की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति करें अर्थात् जो केवल मनोरंजन के लिए पढ़ी जायँ। मेरी समझ मे है तो यह काम बड़ा ही कठिन। इस के लिए विशेष योग्य व्यक्तियो के काम में लगाने की आवश्यकता होगी। परतु हमारे समाज मे लोकतंत्र की जो शक्तियाँ इस समय काम कर रही हैं उन की ओर से हम कब तक आँखें मूँदे रहेंगे? साहित्य अब कुछ इने-गिने लोगों तक ही परिमित नहीं रह सकेगा और न रहना ही चाहिए। जिस आवश्यकता की ओर मैं आप का ध्यान आकृष्ट कर रहा हूँ उस के प्रति हम अब अधिक काल तक उदासीन नहीं रह सकते। सर विलियम मैरिस ने अपने भाषण में गश्ती और ग्राम्य-पुस्तकालयों के प्रोत्साहन तथा उन मे रखने योग्य साहित्य-सृजन की आवश्यकता पर ज़ोर दिया था। मेरी राय में इस समय यह ——— कई गुना बढ़ गई है और यदि प्राचीन ग्राम्य-साहित्य के आधुनिक हिंदी में

रूपांतरद्वारा तथा देहातों म बसने वालों के उपयोगी नवीन साहित्य-निर्माण द्वारा हिंदुस्तानी एकेडेमी इस काम में अग्रणी हो सके तो सचमुच बड़ा काम हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एकेडेमी मौजूदा साहित्य का सिंहावलोकन कर इस काम के उपयुक्त पुस्तकें खोज सकती है और गश्ती तथा ग्राम्य-पुस्तकालयों के प्रबंधकों तथा इस दिशा में काम करने वाले अन्य लोगों के लाभार्थ ऐसी पुस्तकों की एक सूची बना सकती है।

यदि एक ओर लोकतंत्र की भावना के प्रसार के कारण साहित्य को साधारण से साधारण मनुष्य की पहुँच के अंदर आने योग्य बनाने के उपाय सोचे जा रहे है, तो दूसरी ओर राजनीतिक एकता बढ़ने से भौगोलिक न्याय से देश भर के लिए एक समान भाषा निर्धारित करने का प्रश्न भी हमारे सामने उपस्थित होता है। एकेडेमी के गत वर्ष वाले साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन के बाद से समग्र देश भर के लिए एक भाषा के प्रश्न को ले कर बहुत से मत-मतांतर प्रगट किए जा चुके हे। देश भर में अनेक प्रांतों से विभिन्न भाषाओं के पक्ष में राष्ट्र-भाषा के दावे पेश किए गए है। इन में हिंदी या उर्दू का पक्ष सब से प्रबल है। व्यक्तिगत रूप से मै इस स्थिति से बिल्कुल चिंतित नही होता। मैं समझता हूँ कि इन दोनों में से किसी एक के भी समर्थक को अपनी भाषा को, अपर वर्ग के लोगों के समझने योग्य बनाने के लिए विवश होना पड़ेगा—यदि वह हृदय से अपनी भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न करता है। और इस प्रकार स्वतः दोनों भाषाओं का पार्थक्य उत्तरोत्तर रूप से नगण्य होता जायगा। यदि हिंदी या उर्दू को सचमुच राष्ट्रभाषा होने का गौरव प्राप्त करना है तो इन्हें अपनी शैली को सरल, सुबोध और सीधी-सादी बनाना पड़ेगा, जिस से दोनों पार्थक्य की ओर न बढ़ कर एकता की ओर बढ़ें।

इस प्रश्न के प्रचार वाले पहलू से हम एकेडेमी वालों का कोई संबंध नही है, हमारा संबंध केवल इस के व्यावहारिक और अधिक महत्वपूर्ण पहलू से है, और वह है इन दोनों भाषाओं के लिए एक ऐसी लोकप्रिय शैली का विकास जिस से भाषा के स्वाभाविक सौंदर्य और लालित्य को अक्षुण्ण बनाए रखते हुए वह सब प्रकार के विचार-विनिमय का साधन हो कर दोनों ही भाषाओं के लेखकों और पाठकों के बोधगम्य हो सके। यह काम धीरे-धीरे ही होगा और अंत में चाहे यह उद्देश्य सिद्ध न भी हो तो भी इस दिशा में किया गया प्रयत्न व्यर्थ नही क्यों कि इस से कम से कम इतना तो अवश्य ही होगा कि दोनो भाषाओं में वर्तमान पृथक्करण की प्रवृत्तियों को तो प्रोत्साहन न मिलेगा जिस का कि

बडा बुरा प्रभाव हमारे सामाजिक जीवन पर पड रहा है। यहा पर एकेडेमी की भाषा-सबधी नीति के संबंध मे जो भ्रांतियाँ फैली हैं उन्हें दूर कर देना चाहता हूँ। इस सबध मे मै सर विलियम मैरिस की एकेडेमी के उद्घाटन करने समय वाली वक्तृता से अधिक विश्वास-योग्य कोई प्रमाण नही दे सकता। उन्होने कहा था—

"गवर्नमेंट का वह प्रस्ताव जिस ने एकेडेमी को जन्म दिया है, हिंदी और उर्दू को इन प्रांतो की यमज (जोड़ुआँ) भाषाएँ मानता है और हिंदुस्तानी के संभवत: अवैज्ञानिक पर साथ ही अति उपयुक्त नाम से दोनों को अपने अंतर्गत करता है।"

आगे चलकर फिर आपने कहा है—

"यदि हिंदी और उर्दू को उन्नति के शिखर पर पहुँचना है तो दोनों को अपने स्वाभाविक विकास-स्रोत मे ही चलना होगा। पर साथ ही साथ इस की प्रतिक्रियाओ के प्रति भी हमे सावधान रहना पड़ेगा। भय यह है कि साहित्यिक लाभ जितने भी हों वह सार्वजनिक हानियों के आगे नगण्य हो सकते है। भाषाओं की विरोधिनी प्रवृत्ति के कारण उत्तर भारत के हिंदू और मुसल्मानों में भेद-भाव बढना यों भी कोई कल्याणकारी बात नही है, पर यदि राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित हो कर जान-बूझ कर इस पार्थक्य के बढाने का प्रयत्न किया जाय तो मै इस कार्य की देशद्रोह के रूप में निंदा करने को तैयार हूँ। यह विषय कुछ ऐसा अनोखा है जिस की कोई परिभाषा नही हो सकती है और न कोई नियम ही रक्खे जा सकते हैं। जिन का इस प्रश्न से संबंध है उन सब के विवेक और सुबुद्धि पर ही इस प्रश्न को छोड देना होगा। प्रत्येक हिंदू लेखक को यह आदर्श सामने रखना चाहिए कि वह मुसलिम पाठको तक पहुँचने की आकांक्षा रखता है और प्रत्येक मुसल्मि लेखक को हिंदू पाठकों को ध्यान में रखना चाहिए।"

उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि हिंदुस्तानी एकेडेमी में हिंदी और उर्दू दोनो यथोचित रूप से स्वीकृत हैं और यह भी स्वीकृत है कि दोनों को स्वाभाविक विकास का अवसर देना चाहिए, और साथ ही साथ संस्था की यह हार्दिक अभिलाषा रही है कि दोनों भाषाओ मे सद्भावना बनी रहे। इन बातों से एकेडेमी की भाषा-संबंधी नीति भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है और इस मे कही भुलावे की गुंजाइश नहीं रह जाती।

एक समान भाषा के विकास में वह लोग कोई विशेष बाधा नहीं पहुचाते जो हिंदी

है, जो कि आसानी से हल किया जा सकता है। सचमुच भय उन लोगो से है जो राजनीतिक या साम्प्रदायिक उद्देश्यों से प्रेरित हो कर दोनों भाषाओं को संस्कृत या अरबी-फ़ारसी के बोझ से दबाते चले जाते हैं। इस स्थिति को हमारे एकेडेमी के अध्यक्ष माननीय तेज बहादुर सप्रू ने भलीभाति पहचाना है, और जुलाई सन् १९३४ की 'हिंदुस्तानी' में एक सुन्दर लेख द्वारा आप ने इस प्रवृत्ति की उचित समालोचना भी की है। मैं आशा करता हूँ कि एकेडेमी की नीति के संचालक सब प्रकार से इस प्रवृत्ति को रोकते हुए दोनो भाषाओं के बीच सद्भावना दृढ़ करने के उपाय ढूँढ़ निकालेंगे।

मेरी समझ मे इस का एक उपाय है हिंदी और उर्दू की एक साधारण मूल-शब्दावली (ऐसे शब्दों की सूची जो साधारणतः सब विचार प्रगट करने के लिए पर्याप्त हो) का संग्रह प्रकाशित करना। दोनों का व्याकरण तो समान है ही, साथ ही शब्द-भंडार भी दोनो का बहुत कुछ समान है। इस प्रकार के समान शब्दों का प्रकाशन एकता की भावना को बढ़ावेगा। रह गए वैज्ञानिक और पारिभाषिक विषयों से संबंध रखने वाले शब्द सो ये सर्वसम्मति से गढ़े जा सकते हैं। इस का फल यह होगा कि एक काफ़ी बडा शब्द-भडार प्रस्तुत हो जायगा जिस से कि आवश्यकतानुसार दोनों के लेखक, लाभ उठा सकते है।

मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि दो विभिन्न लिपियो का प्रचलन स्थिति को और भी उलझन में डाल देता है। एक साधारण लिपि होती तो दोनो के भेद-भाव आप ही आप बहुत-कुछ दूर हो जाते। फिर भी हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि भाषा के रूप और लिपि में कोई अनिवार्य संबंध नहीं होता, दोनों दो जुदा चीज़े हैं। इस सम्मेलन मे पढे जाने के लिए जो निबंध आए हैं उन में से कुछ इस प्रश्न तथा इस मे संबद्ध विषयों पर लिखे गए हैं और उन के पाठ के समय इस विषय पर आप को विचार और तर्क का अवसर मिलेगा। मै आप के निर्णय का पहले से अटकल नहीं करना चाहता। यहाँ पर मैं केवल इतनी आशा प्रगट करता हूँ कि आप इन प्रश्नों पर व्यावहारिक पहलू को दृष्टि में रख कर तथा सर विलियम मैरिस के आशय से दूर न जाते हुए ही बहस करेगें।

सज्जनो मैं और अधिक आप का समय नहीं लेना चाहता गंभीर प्रश्नों पर आप का इस समय विचार करना है एसे प्रश्न जिन के ठीक हल करने पर ही आप के

साहित्य और समाज का कल्याण संभव है और मुझे तनिक भी संदेह नही आप अपने और इस संस्था की प्रतिष्ठा के अनुरूप ही अपने निर्णय करेंगे।

२—हिंदी-विभाग के सभापति

रावराजा रायबहादुर पंडित श्यामबिहारी मिश्र का भाषण

सभापति महोदय, भाइयो और बहनो!

प्रदर्शिनी के संबंध में अपनी एकेडेमी की इस बैठक में मैं आप महाशयों का स्वागत करता हूँ। आशा है कि हमारी यह बैठक भी गत वर्ष के समान ही सफल होगी। मैं आज हिंदुस्तानी एकेडेमी के विषय मे कुछ जानने योग्य बातें आप के सामने उपस्थित कर के तब आगे बढ़ना चाहता हूँ। इस का जन्म २२ जनवरी १९२७ में प्रकाशित गज़ट के प्रस्ताव से हुआ। तत्कालीन शिक्षा-सचिव माननीय डाक्टर राय राजेश्वर बली ने यह घोषणा की कि उन्होंने सरकारी बजट में एकेडेमी के लिए २५०००) रु० का प्रबंध कर दिया है। आप ने अपने समय मे साहित्य, संगीत और कला इन तीनों को प्रोत्साहन दिया। अनन्तर १० मार्च १९२७ को प्रांतीय लाट हिज़ एक्सिलेंसी सर विलियम मैरिस द्वारा इस का उद्घाटन हुआ। इस संबंध में लाट महोदय तथा शिक्षा-सचिव ने जो भाषण किए वे बड़े सारगर्भित और पांडित्यपूर्ण थे। इस संस्था की रजिस्टरी भी नियमानुसार हो गई है, और यह एक पूर्ण नैतिक व्यक्ति है। इस का उद्देश्य साहित्योन्नति है। इस के लिए यह उत्कृष्ट ग्रंथो के रचयिताओं को पारिश्रमिक या पुरस्कार देती आई है तथा नवीन मौलिक ग्रंथो या अनुवादों के रचे जाने का भी प्रबंध करती आई है। जिन विषयों पर अभी तक उत्कृष्ट ग्रंथो का उर्दू या हिंदी मे अभाव था या है, उन पर यह संस्था विशेष ध्यान देती आई है, तथा उत्कृष्ट विषयों पर व्याख्यानों की भी वृद्धि इस के द्वारा हुई है।

इस के संगठन मे कौसिल और कार्यकारिणी समिति की प्रतिष्ठा है। समिति के दो सदस्य कौसिल चुनती है तथा सात सरकार की ओर से निर्वाचित होते हैं। इस ने अब तक प्रायः ५० बृहत् और प्रामाणिक ग्रंथ तैयार किए हैं। हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं पर इस की सम-भाव से दृष्टि रहती है। एकेडेमी यह भी चाहती है कि हिंदी से संस्कृतपन तथा

उर्दू से अरबी-फ़ारसी-पन हट कर ये दोनों भाषाएँ अपने वास्तविक ऐक्य को प्राप्त हो कर अधिक लोकोपयोगी, अथच व्यापक बनें। इस प्रश्न के विषय में आगे बैठकों में कुछ विशेष कथन होगा ही। इस प्रश्न के उचित-रीत्या निर्णीत होने से न केवल भाषा की व्यापकता बढ़ेगी, वरन् देश में प्रायः एक हज़ार वर्षों से स्थापित हिंदू मुस्लिम भेदों मे भी बहुत कुछ कमी आवेगी, जिस से देशोन्नति में भारी सहायता मिलेगी। एकेडेमी द्वारा प्रकाशित निम्न ग्रंथ मुख्य महत्ता-युक्त हैं:—महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा लिखित 'कवि रहस्य'; डाक्टर वेणीप्रसाद लिखित 'हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता'; महामहोपाध्याय राय बहादुर गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा लिखित 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति'; मौलाना सैयद सुलैमान नदवी लिखित 'अरब और भारत के संबंध'; डाक्टर गोरखप्रसाद लिखित 'सौर-परिवार'; विश्वेश्वर नाथ जी रेउ लिखित 'भोजराज'; एन० सी० मेहता महोदय लिखित 'भारतीय चित्रकला'; राय बहादुर लाला सीताराम लिखित 'अयोध्या का इतिहास' आदि। एकेडेमी तीन ग्रंथमालाएँ तथा हिंदी और उर्दू की एक-एक तिमाही पत्रिका भी निकालती है, जिन में बड़े महत्व के लेख रहते हैं। इस ने एक नई पुस्तकमाला की भी घोषणा की है जिस में, साहित्य, विज्ञान, इतिहास, कला, दर्शन आदि की समान आकार-प्रकार की सर्वसाधारण के जानने योग्य एक ही प्रकार की उच्चता और विद्वत्ता-पूर्ण ग्रंथ निकला करेंगे। इस से इस माला की लोकप्रियता विशेष होगी, ऐसी आशा है।

एकेडेमी ने अब तक आठ महाशयों को उत्कृष्ट ग्रंथों के लिए पाँच-पाँच सौ रुपयों के पुरस्कार भी दिए हैं। हिंदी और उर्दू के भारी काव्य-संग्रह भी निकाले जा रहे हैं। सन् १९३० से जो हिंदी और उर्दू की तिमाही पत्रिकाएँ निकल रही हैं, उन के संपादक रामचंद्र जी टंडन तथा मौलवी असग़र हुसैन साहब जैसे प्रसिद्ध विद्वान् हैं। (बहुत खेद है कि मौलवी असग़र हुसैन साहब का हाल में परलोक-वास हो गया है।) हमारे पुस्तकालय मे सात हज़ार से अधिक ग्रंथ हैं और उसी के साथ एक वाचनालय भी लगा है, सो ये ग्रंथ सर्वसाधारण को वहीं बाँचने को भी उपलब्ध हैं। एकेडेमी ने चार साहित्य-सम्मेलन भी किए हैं। इन कुछ वर्षों से सरकारी आय के संकुचन से एकेडेमी के प्रति सरकारी सहायता में बड़ी कमी आ गई है, जिस से हमारे कई उपयोगी कार्य स्थगित हैं। फिर भी यह संस्था यथासाध्य साहित्यिक उन्नति में प्रवृत्त रहती है। आशा है कि समय के साथ इस की उपयोगिता मनोहरता चारुता आदि में उचित अभिवृद्धि होती रहेगी

हिंदी भाषा का इतिहास देखने से प्रकट है कि इस के चलन का पहला प्रमाण सातवीं शताब्दी में मिलता है। तब से चंद-पूर्व प्रायः सन् ११५० तक, लोक में हिंदी का प्रचार बढ़ता रहा किंतु साहित्य में अपभ्रंश-प्राकृत का अधिक मान रहा। अनंतर रासो और उत्तर-प्रारंभिक काल (प्रायः सन् १३८७) तक हिंदी साहित्य में भी व्याप्त हो गई और अपभ्रंश का चलन देश में तो रह गया ही न था, साहित्य से भी उठ-सा गया। हमारा साहित्य काव्यग्रंथों से उठा था जैसा कि प्रायः होता है, किंतु इस काल-पर्यंत गद्य का भी प्रचार होने लगा। अनंतर सन् १५०३ पर्यंत देश में साहित्य और धार्मिक उपदेश दोनों का चलन और मान बहुत अच्छा बढ़ा, जिस से हमारे हिंदू समाज ने प्रायः ३०० वर्षों से पद-दलित होने पर भी अच्छी दीप्ति दिखलाई। अनंतर १५०३ से १५७३ तक सूरकाल रहा और हम ने वैष्णव महात्माओं द्वारा भजनों के साथ अपने साहित्य को समर्थ-रूप में पाया। उस काल तक वह इतनी उन्नति कर आया था कि अन्य भाषाओं तक के उत्कृष्ट साहित्य का सामना कर सकता था। आगे १६२३ तक तुलसीकाल रहा, जिस में हमारे यहाँ भजनों की चाल कम पड़ गई और विविध विषयों के फैलाव से कविता ने भारी दीप्ति पाई, विशेषतया गोस्वामी तुलसीदास के प्रयत्नों से।

इस के पीछे १८३२ पर्यंत कलाकाल की महत्ता प्रायः दो सौ वर्षों तक रही। इस काल हमारी कविता ने शृंगार और वीरकाव्य तथा भाषा के शाब्दिक शृंगार को पुष्ट किया, अर्थात् उस में भाव और भाषा दोनों अलंकृत हुईं। इसी लिए हम ने इसे अलंकृत-काल कहा है। अनंतर १८३२ से १८६८ तक हमारे यहाँ परिवर्तन-काल माना जाता है और इस के पीछे वर्तमान काल।

वेद-पूर्व का हाल वेदों के वर्णनों अथच मोहजोदड़ो और हड़प्पा की खोदाई से प्रकट होता है। उस काल तक यहाँ वैभव, विद्या, बुद्धि आदि से इतर व्यक्तियों में किसी सामाजिक बड़ाई-छोटाई का प्रमाण नहीं मिलता। वैदिक विजय से आर्यों और अनार्यों में वर्णभेद स्थापित हो कर सामाजिक विभेद की पहली बल-विनाश-कारिणी नींव पड़ी। अनंतर ब्राह्मण एवं सूत्रकाल में सामाजिक मिश्रण के अंकुर दिखे और तब वैदिक विजय की भाँति बौद्धकाल में हमारे यहाँ दूसरी क्रांति का युग आया। चाहे बौद्धमत की दया-बाहुल्य से हो या सम्राट् अशोक के कुप्रबंध से, भारत में इस काल निर्बलता आई तथा दूसरी शताब्दी बी० सी० से छठवीं तक यहाँ सीदियन शक कुशान और हूण नाम्नी चार विजयिनी

धाराएँ आ-आ कर न्यूनाधिक काल के लिए विविध प्रांतों मे शासिका हुई, किंतु इन से समाज में कोई अंतर न पड़ा और ये हिंदू समाज में मिलती रहीं। मुसल्मानों के आने से पहले-पहल भारत का प्रचंड शत्रु सामाजिक भेद प्रकट हुआ और हमारे साहित्य ने धर्म एव शौर्य के कथन-बाहुल्य से पराजित हिंदू समाज को सबल एवं संगठित करने का प्रयत्न किया। उस काल एक प्रकार से धार्मिक और सामरिक साहित्य ही हिंदुओं के लिए देशप्रेम का साधक था। हिंदू-मुस्लिम अंतर मोग़ल साम्राज्य के समय बहुत कुछ घट गया और औरंगज़ेब के पूर्व हमारा साहित्य मोग़ल विलासिता से भी प्रोत्साहन पा कर वाममार्गस्थ धार्मिक भावों की आड़ में खासा शृंगारिक विवरण दिखलाता है। औरंगज़ेब के स ्य से धार्मिक असहिष्णुता के कारण फिर हिंदू-मुस्लिम युद्धारंभ हुआ, जिस से इन दोनों के बल-हीन हो जाने से ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित हुआ। अंतिम मोग़ल-काल में हिंदुत्व की भारी जागृति हो कर वही देश-प्रेम के रूप में साहित्य-क्षेत्र में भी अवतीर्ण हुआ। यद्यपि इस औंधे देश-प्रेम से समय पर हिंदू-मुस्लिम दोनों गिरे।

मोग़लों के समय तक हमारे यहाँ धार्मिक से इतर कोई ऊँच-नीच का सामाजिक या जातीय प्रश्न न था। भारतीय व्यापार का हिंदू, मुस्लिम दोनों उचित रीति पर समर्थन करते थे और दोनों पूरे भारतीय यहाँ तक हो गए थे कि अकबर क्या औरंगज़ेब तक के समय मे हिंदू सेनापति स्वयं काबुल पर आक्रमण करने भेजे गए, जो उन्हीं की वलायत थी। औरंगजेब शिवाजी तक को युद्धार्थ उधर भेजना चाहते थे। जो हिंदू मुसल्मान हो जाता था, उस का मान किसी भी मुस्लिम से कम नहीं रहता था। जहाँगीर, शाहजहाँ और दारा की माताएँ तक हिंदू थीं और आगरे के शाही महल तक में महावीर का मंदिर बना। मुस्लिम सहिष्णुता का यह सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है।

मोग़लो के राज्य-पर्यंत हमारे साहित्य में भारतीयता का प्रश्न कभी न उठा और भारतीय स्वराज्य के प्रतिकूल केवल धार्मिक विभ्राट् का प्रश्न था, और कोई नही। वह भी अकबर से शाहजहाँ तक के समय में लुप्त हो गया था। यही दशा बहुत कर के १८३२ पर्यंत स्थापित रही, जितना कुछ व्यापारिक गड़बड़ बंगाल आदि में ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा भारत के प्रतिकूल चला था, उस का पूरा फल भारत ने न जान पाया था और न उस का प्रभाव तत्कालीन साहित्य में आया

१८३२ से १८६८ तक जो परिवर्तन काल हुआ उस म जीवन-होड़ का

प्रभाव हमारे यहाँ फैलने लगा और भारत की पराधीनता व्यक्तिगत न रह गई वरन् सारे ग्रेट ब्रिटेन देश का राज्य भारत पर संस्थापित हुआ। वाणिज्य का भी ह्रास होने लगा। स्त्रियों, धर्म आदि संबंधी जो अत्याचार कभी-कभी हो जाया करते थे, वे एक दम बंद हो गए, लूट-खसोट का नाम न रहा और शांति पूर्णतया स्थापित हुई, किंतु इसी के साथ भारतीय व्यापार गिर गया और धन के विदेश जाने से बरकत की कमी समझ पड़ने लगी, जिस से तथा सारे देश की राजनीतिक अवनति से देशप्रेम की प्रचंड रूप से जागृति होने लगी, जो दिनों दिन प्रबल पड़ती गई। विदेशियों में जो दोष न थे वे भी बहुतों को समझ पड़ने लगे। नए भारतीयों को प्राचीन गड़बड़ों का अनुभव न होने से उन के चित्तों पर अंग्रेजी राज्य द्वारा उन बुराइयों के मिटने से कोई आभारीपन न रह गया और योरोपियनों की योग्यता अथच विदेशी राज्य के कारण समझा हुआ उन का अनुचित मान हज़ारों देशियों को कुढ़ाने लगा। इन सब बातों के प्रभाव अब कविता में भी देख पड़ते है, यद्यपि ऐसे विचार वाले मनुष्यों की संख्या अभी पूरी जनसंख्या के पड़ते में बहुत कम है। ऐसे भाव १८६८ तक कुछ-कुछ और १९२० के पीछे अधिकता से देख पड़ते हैं।

१८२५ से यहाँ गद्य की उन्नति प्रारंभ हुई जो समय के साथ बढ़ती आई है। कुछ काल से ब्रजभाषा के सामने खड़ी बोली की महिमा बढ़ रही है। ब्रजभाषा के भाव, उपमायें आदि बहुत दिनों से जैसे के तैसे ही चले आते हैं, जिस से नवीनता की कमी से उन में अलौकिक आनंद प्रदान की शक्ति कम रह गई है। इधर खड़ी बोली में भाषा-परिवर्तन के साथ भाव-परिवर्तन भी आधिक्य से हो रहा है और लोग उमर खैयाम, शैली, कीट्स, कबीर, टैगोर आदि के विचारों को बहुत कुछ बढ़ा कर छायावाद की ओर तीव्र गति से जा रहे हैं। जहाँ ब्रजभाषा में कथन की साँची बहुत कुछ सुगम हो गई थी और रचनाओं में नए भावों की कमी से उन के समझने में कोई भी कठिनता न थी, वहाँ खड़ी बोली में इतने भाव भरे जाते हैं कि बहुत दशाओं में कथित शब्दों में वे समाते ही नहीं, और अर्थ जिधर चाहो उधर ही मुड़ने लगता है। जिन कवियों की भाषा भावों के आधिक्य और दूर की कौड़ी लाने के उद्दाम प्रयत्नों से अर्थ व्यक्त करने में असमर्थ सी हो गई है, उन की रचनाओं में अलौकिकानंद की कमी हो जाती है। समालोचकों ने इस की निंदा भी आधिक्य से की, जिस से थोड़े ही दिनों से अब इस का चलन कमी पर है और खड़ी बोली की रचना बहुत कर के समझने योग्य होने लगी है। खड़ी बोली में भक्तकों की रीति पर कविता प्राय होती है

किंतु जहाँ प्राचीन काल में एक ही एक पद्य के मुक्तक होते थे, वहाँ अब कई-कई पृष्ठों के होते हैं, अथच रचना मे प्रायः भारी कथा-प्रसंग नही होते। जहाँ दो-चार ऐसे ग्रंथो मे कथाएँ कही भी गई हैं, वहाँ रामायण आदि की भाँति सिलसिलेवार कथा न कह कर कविगण प्राय: साहित्यिक छटा मात्र दिखलाने का प्रयत्न करते हैं, जिस मे कथा का डोर पूरा नही बैठता और रचना से मुक्तकपन की हवा नहीं हटती। फिर भी अभी तक दृढता-पूर्वक सम्मति देने अथवा मत-स्थापन का समय नही आया है, क्योकि खड़ी बोली की रचना-प्रणाली अत्यधिक नवीन होने मे अभी उस का कोई ढचर नहीं बैठ पाया है। आशा है कि समय पर उन्नति करते हुए नवीन भावपूर्ण किंतु वर्णनपूर्णता अथच अर्थव्यक्त का स्वाद लिए हुए वह नाटकों आदि के समान कथा भी सुचारुरूपेण कहने लगेगी। नाटको की उन्नति हुई है तथा उपन्यासों और छोटी कथाओं की भी। प्रबंधों की अभी कुछ कमी है। उन का भी प्रभाव बढ़ रहा है और विविध विषयों के वर्णन तो खूब ही बढ़े हैं, विशेपतया गद्य में। ब्रजभाषा भी अभी तक चल रही है किंतु खड़ी बोली के सामने उस का पाया दबता हुआ देख पड़ता है।

कुल बातों पर विचार करने से देख पड़ता है कि हमारी हिंदी में इन पचास-साठ वर्षो के अंदर बहुत अच्छी उन्नति हुई है। देश में इस के पठन-पाठन की प्रणाली भी अच्छी चली है और बढ़ती जाती है। यद्यपि दर्शन, विज्ञान आदि के टकसाली सर्वमान्य ग्रंथ अभी नहीं हैं, तथापि सूत्रपात सभी बातों का हो चुका है और देशोन्नति के साथ हिंदी के ऐसे विभागों की भी उन्नति अवश्यंभावी है। जिन-जिन कलाओं, व्यापारों, विद्या के विभागो आदि का चलन देश में होता जाता है, उन के ग्रंथ भी हिंदी में बनते है और समय तथा उन्नति के साथ अधिकाधिक बनेंगे। आशा है कि हमारी यह सभा भी इन विषयों की वृद्धि के उपाय सोचेगी।

३—जेनरल सेक्रेटरी डाक्टर ताराचंद का भाषण

मेरा पहला कर्तव्य यह है कि मै हिंदुस्तानी एकेडेमी की तरफ़ से डाक्टर राय राजेन्दर वली साहब को धन्यवाद दूँ। यह आप सब को मालूम है कि इन दिनों चुनाव की तैयारी बडे जोर से हो रही है और जो चुनाव में भाग ले रहे हैं उन का सारा समय इस के सबंध के कामो में लग रहा है इस के मी राय साहब के जिम्मे इतने

और धंधे हैं, कि उन से बहुत कम फ़ुरसत मिलती है। इन दिक़्क़तों के होते हुए भी आप ने हमारी प्रार्थना को माना और एकेडेमी के लिए समय निकाला इस के लिए हम आप का सच्चे दिल से शुक्रिया अदा करते है।

सब जानते हैं कि दस बरस हुए आप ही ने अपने हाथों से एकेडेमी के पौधे को लगाया था। आज आप इसे दस बरस के बाद फिर देख रहे है। इस समय में यह बढा और फला-फूला है। दस बरस हुए किन उम्मीदो के साथ इस ने जन्म लिया था; आज उन में से कौन-कौन सी पूरी हुई, कौन सी अभी अधूरी है, और कौन सी ऐसी हैं जिन की तरफ से हम निराश है, इन सब का ब्यौरा थोड़े समय में देना आसान नही। हर एक प्राणी जो इस संसार में पैदा होता है जीवन की मंजिलें उसी हालत में सफलता के साथ तै कर सकता है जब उस के अंदर बढ़ने की सकत हो और जब उसे बाहरी दुनिया की ताक़तें सहायता दें। बाहरी ताकतों पर तो किसी का जोर नहीं। इन्हो ने हम पर दया और रहम की नज़र भी डाली है और क्रोध और ग़जब की भी। एकेडेमी को सावन की सुहावनी रुत भी मिली है जब उस ने उन्नति के रास्ते पर लंबे-लंबे पग आगे रक्खे और गर्मी की लूएँ भी नसीब हुई जिन में उस का कलेवर सूखा बेदम-सा रह गया। हमारी भीतरी सकत का आसरा हमारे आदर्शो पर है। हमारे जीवन का अंदाज़ा इसी से हो सकता है कि हमारे विचार कितने ऊँचे और उदार है, हमारे भाव कितने पाक और सुथरे है, हमारे इरादे कितने अटल और बलवान् है।

जब कोई नई संस्था या नया इदारा नया ख़याल ले कर सामने आता है तो स्वभाव से ही इस अनजाने अजनबी की तरफ़ लोग पहले अचरज से देखते हैं। फिर कुछ तो उसे बिन-बुलाया बिन-चाहा मेहमान समझ कर द्वेष करने लगते हैं, कुछ उस से परच जाते है, उस मे गुण देखते है और उसे काम का जान कर अपनाने लगते है। ज्यों-ज्यों अजनबीपन दूर होती है क़दर बढ़ने लगती है। पिछले दस बरसों में एकेडेमी भी इन पड़ावों से पार हुई है। मेरा अपना यह विचार है कि धीरे-धीरे अब वह ज़माना आ गया है कि देश मे इस संस्था की ज़रूरत का अनुभव होने लगा है। पढ़े लिखों और सोच-विचार करने वालो के दिलों में यह ख़याल पैदा हो गया है कि ज़बान और अदब, भाषा और साहित्य क़ौम की ज़िंदगी के साथ बँधे है और इन के पालने-पोसने के लिए एक स्थायी संस्था या मुस्तक़िल इदारे की ज़रूरत है

इस जरूरत को हिंदुस्तानी एकेडेमी ने भरसक पूरा करने का जतन किया है। सरमाया कम है, काम बड़ा, काम करने वाले साधारण। फिर भी किताबों से, रिसालों से, इनामों और कान्फ्रेंसों से एकेडेमी ने हिंदी और उर्दू की सेवा की है, और इस का फल कम से कम इतना तो जरूर है कि हर तरफ जगाव है। खोटे-खरे साहित्य को सच्ची कसौटियों पर कसा जा रहा है, भाषा के मर्मों की गहरी जाँच हो रही है, कविता में नए भावों और नए विचारों का संचार है, विद्या और साहित्य का नया महल मजबूत और गहरी नीवों पर खड़ा हो रहा है। एकता की रेशमी लड़ी जो हिंदुस्तान के बिखरे हुए दानों को क़ौमियत की एक माला में पिरो रही है कितने ही धागों से गुँथी है। इन में भाषा भी एक धागा है जिस की महत्ता किसी से कम नहीं। हमारी एकेडेमी को चाहिए कि फुचड़ों को अलग कर ऐसा सुता धागा तैयार करे जो भारी दानों की तान को भलीभाँति सहार सके।

भाषा के धागे के बाटने और सँवारने का काम कठिन है लेकिन असंभव नहीं। इस के मुतअल्लिक कुछ उलझनें पैदा हो गई है जिन का साफ कर देना जरूरी जान पडता है। पहली बात तो यह है कि कुछ लोगों का खयाल है कि भाषा बनाने से नहीं बनती वह स्वभाव से बदलती है। इस लिए जान बूझ कर यह कोशिश करना कि एक आमफ़हम भाषा तैयार हो जाय बेकार है। मेरी राय में यह खयाल ठीक नहीं है। भाषा ऐसी क़ुदरती चीज़ नहीं जिस पर सोच-विचार का असर न पड सके---वह बहुत कुछ तो बनावटी चीज़ है। हम जितने लफ़्ज़ बोलते है उन में से निन्नानवे फ़ी सदी से भी अधिक ऐसे है जिन का जीवन आपस के समझौते पर निर्भर है। लफ़्ज़ तो निशान हैं जिन्हें हम ने मिल कर चुन लिया है। यह निशान हमेशा बदलते रहते है कभी एक-साँ नहीं रहते। इस उसूल की मिसालें बहुत सी मिलती है। आज हमारे देखते--देखते तुर्क अपनी ज़बान से अरबी लफ़्ज़ों को निकाल ज़बान में पुराने तुर्की लफ़्ज़ भरते जाते हैं। यूनानियों ने थोड़े ही समय में एक नई भाषा बना ली है जिस में साहित्य की किताबे लिखी जा रही है। यह भाषा आजकल की बोलियों और पुरानी यूनानी के बनावटी मेल से बनी है। जर्मनी में लूथर के समय में यानी सोलहवी सदी में कई बोलियों में साहित्य की रचना होती थी लेकिन सैक्सनी की बोली में लूथर ने बाइबल का तर्जुमा कर इसे ही टकसाली भाषा बना दिया १९१४ से पहले जर्मन में बहुत से

फ़्रांसीसी और दूसरी लातीनी भाषाओं के लफ़्ज़ मिलजुल गए थे। लड़ाई के बाद जर्मनों ने अपनी भाषा से इन को चुन-चुन कर निकाला और ठेठ ट्यूटन शब्द इस्तेमाल करने लगे। चौसर ने लंदन की बोली को चुना और सब ऐंग्लो-सैक्सन बोलियों ने इस के सामने माथा झुका दिया। इस चौसर की अंग्रेज़ी ने ऐसी उदारता दिखाई कि दुनिया की सब भाषाओं से लफ़्ज़ उधार ले लिए और इन्हें अपने में इस तरह समो लिया कि एक-जान हो गए। इसी उदारता का यह फल है कि छयों महाद्वीपों (बर्रेआज़मों) में इस के बोलने वाले मौजूद हैं और आज इन की तादाद और सब भाषाओं के बोलने वालों से ज़ियादा है। हमारी आँखों के सामने नागरी-प्रचारणी सभा नित नए लफ़्ज़ घड़ती है और इन्हें साइंसों की किताबों में इस्तेमाल करती है, और यही शेवा अंजुमने-तरक़्क़ी उर्दू ने इख़्तियार किया है। इस की इस्तिलाहों की लुगत चंद आदमियों के मन की घडंत है। यह सब मिसालें बताती हैं कि अगर हम मिल कर कोशिश करें तो कोई वजह नहीं कि एक ऐसी भाषा तैयार न हो जावे जो सारे हिंदुस्तान में आपस के व्यौहार के काम में आ सके।

दूसरा एतराज़ जो इस कोशिश के खिलाफ़ किया जाता है यह है कि अगर यह ज़बान बन भी जाय तो साहित्य या अदब की ज़बान नहीं हो सकती, ऐसी खिचड़ी भाषा में "साहित्य-रचना का सौष्ठव सर्वथा नष्ट" हो जायगा। मुझे अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि एतराज़ बे बुनियाद है। हिंदुस्तानी या उर्दू तो अपनी सरिश्त से ही खिचड़ी ज़बान है शुरू-शुरू में इस के इस्तैमाल करने वाले इसे 'रेख़ता' कहते ही थे। रेख़ता का अर्थ है खिचड़ी की तरह मिली-जुली भाषा। कौन कह सकता है कि उर्दू के नज़्म और नस्र में, गद्य और पद्य में "सौष्ठव", शुस्तगी, नहीं है? फिर इस सौष्ठव का निर्णय करने वाला कौन है? आगे चल कर मैं दिखलाऊँगा कि समय के साथ साहित्य की भाषा में तब्दीली होती रही है। कभी हमारी भाषा में प्राकृत और संस्कृत की भरमार दिखाई देती है, कभी फ़ारसी-अरबी की। यह तो रिवाज, चाल, या फ़ैशन की बात है। पसंद की गति बड़ी अनोखी है। दो आदमियों की रुचि एक सी नहीं होती। देखना यह है कि यह मिलवाँ ज़बान काम के योग्य है कि नहीं। एतराज़ करने वाले कहते हैं "क़िस्से कहानियों तथा साधारण विषयों के लेखों के लिए तो थोड़े परिमार्जन से यह भाषा काम की हो सकती है, शास्त्रीय तथा गंभीर विषयों के लिए यह सर्वथा अनुपयुक्त और असमर्थ है अगर इन से पूछा जाय 'क्यों? तो शायद जवाब मिलेगा कि इस के शब्दों का काफ़ी भरा नहीं

है। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि हिंदी और उर्दू में सब विद्याओ (इल्मों), शास्त्रीय तथा गभीर विषयों (इल्मी और संजीदा मजामीन) के लिए काफ़ी लफ़्ज है ? अगर हैं तो यह कोशिश क्यो हो रही है कि संस्कृत और अरबी से पारिभाषिक या इस्तलाही लफ़्ज ले कर डिक्शनेरियाँ तैयार की जायँ ? क्यों नही संस्कृत और अरबी की जगह ऐसे शब्द घड़े जायँ जो उर्दू और हिंदी दोनों मे एक-साँ चल सकें ? नए लफ़्ज लेने ही हैं तो पेशेवरों से कलावतो से लीजिए, न मिलें तो हिंदुस्तानी तरकीबों में ढालिए। हम अंग्रेजी इल्मी किताबो से ले कर अपने देश में इल्म फैला रहे है। क्या हर्ज है जो अंग्रेजी धातुओं, माद्दों, को हिंदुस्तानी जामा पहना कर अपनी ज़बान की कमी को पूरा करें ? सिर्फ़ अंग्रेजी से नही लेना चाहे तो और ज़बानों से लें, पर इस में क्या आपत्ति है कि हिंदी-उर्दू के लिए एक ही लफ़्ज हो ? यह यक़ीन कीजिए कि ऐसे लफ़्जों की वजह से ज़बान का सौष्ठव नष्ट नहीं होगा। 'सौष्ठव' का आधार केवल लफ़्ज नहीं उन का फ़िक़रों में जोड़ है। हर-एक भाषा में कठोर और भद्दी आवाज़ें और मधुर और प्यारी ध्वनियाँ होती हैं। फ़ारसी पढ़ने वाले संस्कृत के ख, झ, ठ, ढ, ढ़, घ, फ, भ वग़ैरा को भद्दा और सक़ील कहते हैं। संस्कृत पढ़ने वालों को ظ ض ژ ز ق ف غ ع इत्यादि कान पर भारी जँचते हैं। फिर भी जानने वाले जानते है कि दोनों की कविता में सौष्ठव है और दोनों के गुणों का बखान करते हैं। हमारी भाषा मे दोनों का मेल है। मिले-जुले शब्दों से इस की सुंदरता कम नही होती, बढ़ जाती है। इक़बाल के एक शेर की मिसाल पेश करता हूँ——

है रीत आशिक़ों की तन मन निसार करना।
रोना सितम उठाना और उन को प्यार करना॥

ऐसी मिसालों से हिंदी-उर्दू का साहित्य भरा पड़ा है।

तीसरा एतराज़ है कि "जो लोग हिंदुस्तानी का पक्ष ग्रहण कर रहे हैं वे अनजान मे अपने देश का अनिष्ट साधन कर रहे है और दासत्व की शृंखला दृढ़ करने में सहायक हो रहे हैं। यदि इन लोगों को अपने उद्योग में सफलता मिली तो हमारा संसर्ग प्राचीन संस्कृति से छूट जायगा और हम अपने गौरव से पूर्णतया अनभिज्ञ रह कर अंधकार मे टटोलते हुए आगे बढ़ेंगे और संभव है कि गढ़े में गिर कर अपना अंग भंग कर बैठें।"

मेरा निवेदन है कि एकेडेमी के कुछ भूले-भटके मेंबर ही इस पक्ष को ग्रहण नही कर रहे ह बल्कि कुछ और लोग भी इसी मनोरथ को सिद्ध करना चाहते ह गांधी जी न

अपने अखबार 'हरिजन' में एक लेख लिखा था उस का मंशा यह था कि भाषा के संबंध मे जो ख़याल उन्हों ने साहित्य-परिषद् में ज़ाहिर किए थे उन को साफ़ कर दें। इस लेख मे वह लिखते हैं "परिषद् का मक़सद हिंदुस्तान की सारी भाषाओं में से अच्छी से अच्छी चीजों का संग्रह कर के उन को देश के अधिक से अधिक लोगों के लिए उस भाषा के ज़रिए सुलभ बनाना है जिस को अधिक से अधिक देशवासी समझ सकते हैं"। इसी लेख की दूसरी क़िस्त मे उन्हों ने अपना मतलब और भी साफ लफ़्ज़ों में बयान कर दिया है। कहते हैं "हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दू एक ही भाषा के मुख़तलिफ़ नाम हैं। हमारा मतलब आज एक नई भाषा बनाने का नही है, बल्कि जिस भाषा को हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दू कहते हैं उसे अंतर्प्रांतीय भाषा बनाने का हमारा उद्देश्य है।"

काका कालेलकर जी जो गाँधी जी के साथियों में ऊँचा दरजा रखते हैं एक लेख 'हिंदी का प्रचार किस लिए और किन उपायों से' में लिखते हैं—"हम अपने यहाँ कोई नई भाषा बनाने नही जा रहे हैं। जिस भाषा को उत्तर हिंदुस्तान के शहराती और देहाती लोग मिल कर बोलते हैं, और जो सबों की समझ में बड़ी आसानी से आ सकती है, उसी को हम भारत की राष्ट्रभाषा—हिंदुस्तान की क़ौमी ज़बान—मानेंगे और उसी के सहारे हम अपने राष्ट्रीय साहित्य का भी निर्माण करेंगे।" "हम अपनी राष्ट्रभाषा को पंडितो और मौलवियों की तरह संस्कृत या अरबी-फ़ारसी के शब्दों से लादना नहीं चाहते—हम राष्ट्रभाषा में से संस्कृत और अरबी-फ़ारसी शब्दों को निकाल डालने के पक्ष में नही है। अगर हम ने ऐसी कोशिश की भी, तो हमारी प्रांतीय भाषाएँ क्षीण हो जायँगी। इस से देश का राष्ट्रीय जीवन निर्बल और ज़हरीला बन जायगा। चुनांचे हमारी भाषाओं मे जो शब्द अब दूध-शक्कर की तरह घुल-मिल गए हैं, और आम जनता जिन्हे आसानी से समझती और अपनाती है, उन सभी शब्दों को राष्ट्रभाषा में स्थान दिया जायगा।" "हम देश के सब धर्मों, संप्रदायों और प्रांतों का एक विराट संगठन करना चाहते है। इस लिए सभी को अपने अनुकूल रखने की हमारी कोशिश होगी।"

अगर गाँधी जी और काका कालेलकर जी जान कर या अनजाने देश का अनिष्ट साधन कर रहे हैं तो अनिष्ट-सिद्धि में इन का साथ देना एतराज़ करने वालों की प्रशसा प्राप्त करने से कहीं भला है।

सच तो यह है कि अगर हम एतराज़ों की असलियत को ध्यान से देखें तो वह निर्मूल

जंचेगी। सारे एतराजों का आडंबर जिस नींव पर खड़ा किया गया है उस का सारांश यह है कि हिंदुस्तानी एक नव-निर्मित भाषा है। इस बात को साबित करने के लिए हिंदी का बड़ा रोचक इतिहास गढ़ा गया है, जो दिल को मोहने वाला भले ही हो सच्चाई से बहुत निकट नहीं मालूम होता।

बारहवीं-तेरहवीं सदी में उत्तर में कई बोलियाँ बोली जाती थीं, जैसे पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी बोली, ब्रज, अवधी, बुंदेली इत्यादि। इन सब बोलियों में धीरे-धीरे साहित्य की रचना होने लगी। खड़ी बोली को मुसलमानों ने अपनाया और अपना धर्म फैलाने की नीति से इस का इस्तेमाल शुरू किया। इस में सब से पहले चौदहवीं सदी में सूफ़ी संतों और दर्वेशों ने पुस्तकें लिखीं। उन में धर्म के या तसव्वुफ़ के उसूल बयान किए। यह बोली इस तरह अवाम या साधारण लोगों की भाषा बनी। बाद में दकन के बादशाहों ने इस पर कृपा की नजर डाली और इसे दरबार के कामों का जरिया ठहराया। वह इस पर इतना रीझे कि स्वयं खड़ी बोली में कविता करने लगे। इस बोली को दकनी या हिंदी नाम मिला। सत्रहवीं सदी के अंत में वली इसे दिल्ली ले कर आए। यहाँ मुग़लों का राज्य था। इन की अपनी जबान फारसी या तुर्की थी लेकिन दरबार की जबान फ़ारसी थी। रिआया में राजस्थानी, ब्रज, अवधी, बुंदेली में साहित्य की रचना शुरू हो चुकी थी। लेकिन साधु संतों में खड़ी बोली का भी व्यवहार होता था। पंद्रहवीं सदी में दक्खिन से भक्ति की लहर उठ कर उत्तर में फैल चुकी थी। सूफ़ियों के विचारों के साथ-साथ सूफ़ियों की जबान भी आई थी। चुनांचे कबीर, नानक जैसे साधु-संतों ने इस का प्रयोग किया।

दकनी-हिंदी मुग़ल दरबार के मुसाहिबों और मुकर्रिबों के हाथों में आई। इन की तो मादरी ज़बान फ़ारसी थी। इन्हों ने इसे फ़ारसी के रंग में रंगना शुरू किया और मीर मजहर जानजानाँ के समय से ले कर ज़ौक और ग़ालिब के समय तक इस पर यही रंग चढ़ता रहा। दिल्ली पर जब तबाही आई तो फ़ैज़ाबाद और लखनऊ में इस जबान की आव-भगत हुई। यहाँ भी ईरानी नस्ल के नवाब वज़ीर मुल्क पर हकूमत करते थे। इन्हीं के दरबार में यह परवान चढ़ी। नासिख ने खास तौर पर और लखनऊ के और शायरों ने आम तौर पर अपनी समझ में इस को माँजा साफ़ किया यह ज़बान उर्दू के नाम से पुकारी

इस तरह खड़ी बोली की दो शाखे हो गईं। एक अवाम की जबान जिस में दकनी हिंदी, कबीर के रेखते,जटमल की गोरा बादल की बात वग़ैरा शामिल हैं, दूसरी दरबारी जबान जो राज्य के आश्रय में फली-फूली।

हिंदुस्तान की और भाषाओं, जैसे राजस्थानी, ब्रज, अवधी, बुंदेली वग़ैरा ने इस समय में बड़ी उन्नति की। ब्रज और अवधी में ऐसा सजल और सजीव साहित्य बना कि वह दुनिया के बड़े साहित्यों की टक्कर लेता है। लेकिन धीरे-धीरे लोगों के मन इन की तरफ़ से फिर गए। उन्नीसवी सदी के आरंभ में सदासुख लाल, इन्शा अल्ला ख़ाँ इत्यादि लेखको ने उत्तर में खड़ी बोली के गद्य की नींव डाली। लेकिन नई बात यह की कि इस मे 'हिंदी छुट फ़ारसी-अरबी का पुट' न आने दिया। बहुत दिनो तक गद्य तो खड़ी बोली मे लिखा जाता था लेकिन पद्य की भाषा ब्रज ही रही। अवाम की खड़ी बोली की कविता साधुसंतो में प्रचलित थी लेकिन इस में अभी अच्छे ग्रंथ नही थे। उन्नीसवी सदी में भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से इस खड़ी बोली का पद्य-साहित्य शुरू हुआ। इस साहित्य की ओर मे तरक़्क़ी हुई लेकिन यह अवाम की जबान से दूर होने लगा। दरबारी खड़ी बोली को फारसी-अरबी और अवाम की खड़ी बोली को संस्कृत के बोझ ने दबा दिया। न केवल दोनो के दरमियान एक गहरी खाड़ी बना दी, बल्कि भाषाओं को ऊँची शिक्षा पाए हुए लोगो के छोटे हल्के में सीमित कर दिया। उर्दू शायर और अदीब ऐसी जबान लिखने लगा जिसे शहरों के फ़ारसीदाँ समझ लें तो समझ लें उस के आम भाई उस से कोई फायदा न उठा सकें, और इस से भी बुरी हालत हिंदी की कविता की हुई।

इस कठिनाई का अनुभव कर के कुछ भूले-भटके लोगों ने यह धुन छेड़ी है कि हमारी जबान ऐसी होनी चाहिए जो सचमुच सारे हिंदुस्तानियों के दिलो की तर्जुमान हो सके। यह कोई नव-निर्मित जबान नहीं, वही पुरानी खड़ी बोली है। यह वही पुरानी उजली नदी है जो दो धारों में बँट गई है। विचार यह है कि बीच की ऊँची जमीन को हमवार कर के क्यों न इन दोनों धारों को मिला दिया जाय, ताकि हमारी जबान एक उमँड़ते, गरजते दरिया की तरह आगे बढे, जिस का सैलाब हमारे दिलों के खेतों को जिसे फूट, अविश्वास, शक और शुबहे की गर्म हवाओं ने सुखा दिया है, फिर से हरा-भरा कर दे।

मुझे आशा है कि इस बहस-मुबाहिसे और वाद-विवाद म आप के सभापतित्व में इस काम म सफलता होगी। मैं आप का और उन सब सज्जनों का आभारी हूँ जिन्हों ने हमारी कान्फ्रेंस में शरीक होने का कष्ट उठाया है।

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ़ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्०। मूल्य १)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा। सचित्र। मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा। मूल्य १)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी। अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा। मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)। मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी०। सचित्र। मूल्य ६॥)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल। सचित्र। मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास। मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी०। मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य १॥)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्०। सचित्र। मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

१३) घाघ और भड्डरी—संपादक, पण्डित रामनरेश त्रिपाठी मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०। मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ। मूल्य ३।।) सजिल्द, ३) बिना जिल्द।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा। मूल्य सजिल्द १।।), बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लैसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक—मिर्ज़ा अबुलफ़ज़्ल। मूल्य १।)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)। मूल्य सजिल्द ४), बिना जिल्द ३।।)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना। मूल्य सजिल्द ५।।), बिना जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए०। मूल्य ४।।) सजिल्द, ४) बिना जिल्द।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार। मूल्य प्रत्येक भाग का सजिल्द ५।।), बिना जिल्द ५)

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी० एस्०। सचित्र। मूल्य बिना जिल्द ६), सजिल्द ६।।)

(२४) प्रेम-दीपिका—महात्मा अक्षर अनन्यकृत। संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य ।।)

(२५) संत तुकाराम—लेखक, डाक्टर हरि रामचंद्र दिवेकर, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस), साहित्याचार्य। मूल्य सजिल्द २); बिना जिल्द १।।)

(२६) विद्यापति ठाकुर—लेखक, डाक्टर उमेश मिश्र एम्० ए०, डी

हिंदुस्तानी एकेडेमी के उद्देश

हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्देश हिंदी और उर्दू साहित्य की रक्षा, वृद्धि तथा उन्नति करना है। इस उद्देश की सिद्धि के लिए वह

(क) भिन्न भिन्न विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों पर पुरस्कार देगी।

(ख) पारिश्रमिक देकर या अन्यथा दूसरी भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित करेगी।

(ग) विश्व-विद्यालयों या अन्य साहित्यिक संस्थाओं को रुपए की सहायता देकर मौलिक साहित्य या अनुवादों को प्रकाशित करने के लिए उत्साहित करेगी।

(घ) प्रसिद्ध लेखकों और विद्वानों को एकेडेमी का फ़ेलो चुनेगी।

(ङ) एकेडेमी के उपकारकों को सम्मानित फ़ेलो चुनेगी।

(च) एक पुस्तकालय की स्थापना और उस का संचालन करेगी।

(छ) प्रतिष्ठित विद्वानों के व्याख्यानों का प्रबंध करेगी।

(ज) ऊपर कहे हुए उद्देश की सिद्धि के लिए और जो जो उपाय आवश्यक होंगे उन्हें व्यवहार में लाएगी।

पाण्डेय लॉ जनल प्रेस

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

जुलाई, १९३७

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी, जुलाई, १९३७

संपादक—रामचंद्र टंडन

लेख-सूची

वार्षिक मूल्य ४)—डाक-व्यय-सहित

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ७ } जुलाई, १९३७ { अंक ३

रंगमंच

[लेखक—श्रीयुत जयशंकर, 'प्रसाद']

भरत के नाट्य-शास्त्र में रंगशाला के निर्माण के संबंध मे विस्तृत रूप से बताया गया है। जिस ढंग के नाट्य-मंदिरों का उल्लेख प्राचीन अभिलेखों में मिलता है, उस से जान पड़ता है कि पर्वतों की गुफाओं में खोद कर बनाए जाने वाले मंदिरों के ढंग पर ही नगर की रंगशालाएँ बनती थी।

"कार्यः शैल गुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमंडपः" से यह कहा जा सकता है कि नाट्य-मंदिर दो खंड के बनते थे, और वे प्रायः इस तरह के बनाए जाते थे जिस से उन का प्रदर्शन विमान का-सा हो। शिल्प-संबंधी शास्त्रों में प्रायः द्विभूमिक, दो-खंडे या तीन-खंडे प्रासादो को जो कि स्तंभों के आधार पर अनेक आकारों के बनते थे, विमान कहते हैं। यहाँ द्विभूमि मे ऐसा भी अर्थ लगाया जा सकता है कि एक भाग दर्शकों के लिए और दूसरा भाग अभिनय के लिए बनता था। किंतु खुले हुए स्थानों में अभिनय करने के लिए जो काठ के रंगमंच रामलीला में विमान के नाम से व्यवहार मे ले आए जाते हैं, उन की ओर संकेत करना मैं आवश्यक समझता हूँ। रंगशाला में शिल्प का या वास्तुनिर्माण का प्रयोग किस तरह होता था यह बताना सरल नहीं, तो भी नाट्य-मंडप तीन तरह के होते थे—विकृष्ट, चतुरस्र और व्यस्र। विकृष्ट नाट्य-मंडप की चौड़ाई से लंबाई दूनी होती थी। उस भूमि के दो भाग

किए जाते थे। पिछले आधे के फिर दो भाग होते थे। आधे में रंगशीर्ष और रंगपीठ और आधे मे पीछे नेपथ्य-गृह बनाया जाता था।

पृष्ठतो यो भवेत् भागो द्विधा भूतो भवेत् च सः
तस्यार्धेन विभागेन रंगशीर्षम् प्रयोजयेत्।
पश्चिमेतु पुनर्भागे नेपथ्यगृहमादिशेत्।
(२ अ० ना० शा०)

आगे के बडे आधे भाग मे बैठने के लिए, जिस से दर्शकों को रंगशाला का अभिनय अच्छी तरह दिखलाई पड़े, ऐसा सोपान की आकृति का बैठक बनाया जाता था। कदाचित् वह आज की गैलरी की तरह होता था।

स्तंभानाम् बाह्यतः स्थाप्यम् सोपानाकृति पीठकम्।
इष्टका दारुभिः कार्यम् प्रेक्षकाणाम् निवेशनम्।

ईटों और लकड़ियों से ये सीढियाँ एक हाथ ऊँची बनाई जाती थी। इसी प्रसग मे मत्तवारणी का भी उल्लेख है। अभिनवगुप्त के समय में भी मत्तवारणी का स्थान निर्दिष्ट करने में संदेह और मतभेद हो गया था। नाट्य-शास्त्र में लिखा है—

रंग पीठस्य पार्श्वे तु कर्त्तव्या मत्तवारणी।
चतुस्तंभसमायुक्ता रंगपीठप्रमाणतः
अध्यर्ध हस्तोत्स्येधे न कर्त्तव्या मत्तवारणी।

मत्तवारणी के कई तरह के अर्थ लगाए गए हैं। अभिनवभारती में मत्तवारणी के सबंध में किसी का यह मत भी संग्रह किया गया है कि वह देवमंदिर की प्रदक्षिणा की तरह रंगशाला के चारों ओर बनाई जाती थी। "मत्तवारणी वहिर्निर्गमनप्रमाणेन सर्वतो द्वितीय भित्ति निवेशेन देवप्रासादाट्टालिका प्रदक्षिणासदृशी द्वितीया भूमिरित्यन्ये, उपरि मंडपांतर निवेशनादित्यपरे।" किंतु मेरी समझ में यह मत्तवारणी रंगपीठ के बराबर केवल एक ही ओर चार खंभों से रुकावट के लिए बनाई जाती थी। मत्तवारणी शब्द से भी यही अर्थ निकलता है कि वह मतवालों को वारण करे। यह डेढ़ हाथ ऊँची रगपीठ के अगले भाग में लगा दी जाती थी।

रंगमंच में भी दो भाग होते थे। पिछले भाग को रंगशीर्ष कहते थे और सब से आगे का भाग रंगपीठ कहा जाता था। इन दोनों के बीच में जवनिका रहती थी। अभिनव

गुप्त कहते हैं—"यत्र यवनिका रंगपीठ तच्छिरसोर्मध्ये।" रंगमंच की इस योजना से जान पड़ता है कि अपटी, तिरस्करिणी और प्रतिसीरा आदि जो पटों के भेद हैं वे जवनिका के भीतर के होते थे। रंगशीर्ष में नेपथ्य के भीतर के दो द्वार होते थे। रंगशीर्ष, यंत्रजाल, गवाक्ष, सालभंजिका आदि काठ की बनी नाना प्रकार की आकृतियों से सुशोभित होता था, जो दृश्योपयोगी होते। संभवतः यही मुख्य अभिनय का स्थान होता था।

पिंडीबंध आदि नृत्य-अभिनय के साधारण अंश, चेटी आदि के द्वारा प्रवेशक की सूचना, प्रस्तावना आदि जवनिका के बाहर ही रंगपीठ पर होते थे। रंगपूजा रंगशीर्ष पर जवनिका के भीतर होती थी। सरगुजा के गुहा-मंदिर की नाट्यशाला दो हजार वर्ष की मानी जाती है। कहा जाता है कि भोज ने भी कोई ऐसी रंगशाला बनवाई थी जिस में पत्थरों पर संपूर्ण शाकुंतल नाटक उत्कीर्ण था। आधुनिक रामलीला के अभिनयों में प्रचलित विमान यह प्रमाणित करते हैं कि भारत में दोनों तरह के रंगमंच होते थे। एक तो वे जिन के बड़े-बड़े नाट्यमंदिर बने थे और दूसरे चलते हुए रंगमंच, जो काठ के विमानों से बनाए जाते थे और चतुष्पथ तथा अन्य प्रशस्त खुले स्थानों में आवश्यकतानुसार घुमा-फिरा कर अभिनयोपयोगी कर लिए जाते थे।

नाट्यमंदिरों के भीतर स्त्रियों और पुरुषों के सुंदर चित्र भीत पर लिखे जाते थे और उन में स्थान-स्थान पर वातायनों का भी समावेश रहता था। नाट्य-मंडप में कक्षाएँ बनाई जाती थीं जिन में अभिनय के दर्शनीय गृह, नगर, उद्यान, ग्राम, जंगल, पर्वत और समुद्रों का दृश्य बनाया जाता था। आधुनिक काल के रंगमंचों से कुछ भिन्न उन की योजना अवश्य होती थी। किंतु—

कक्ष्या विभागे ज्ञेयानि गृहाणि नगराणि च
उद्यानारामसहितो देशो ग्रामोऽटवी तथा।

(ना० शा० १४ अ०)

इत्यादि से यह मालूम होता है कि दृश्यों का विभाग कर के नाट्य-मंडप के भीतर उन की इस तरह से योजना की जाती थी कि उन में सब तरह के स्थानों का दृश्य दिखलाया जा सकता था; और जिस स्थान की वार्त्ता होती थी उस का दृश्य भिन्न कक्ष्या में दिखाने का प्रबंध किया जाता था। स्थान की दूरी इत्यादि का भी संकेत कक्ष्याओं में उन की दूरी से किया जाता था।

बाह्यम् वा मध्यमम् वापि तथैवाभ्यंतरम् पुनः
दूरम् वा सन्निकृष्टम् वा देशाश्च परिकल्पयेत्।
यत्र वार्त्ता प्रवर्तेत तत्र कक्ष्याम् प्रवर्त्तते।।

रंगमंच में आकाशगामी सिद्ध विद्याधरों के विमानों के भी दृश्य दिखलाए जाते थे। यदि मृच्छकटिक और शाकुंतल तथा विक्रमोर्वशी नाटक खेलने ही के लिए बने थे जैसा कि उन की प्रस्तावनाओं से प्रतीत होता है, तो यह मानना पड़ेगा कि रंगमंच इतना पूर्ण और विस्तृत होता था कि उस में बैलों से जुते हुए रथ और घोड़ों के रथ तथा हेमकूट पर चढ़ती हुई अपसराएं दिखलाई जा सकती थी। इन दृश्यों के दिखलाने में मोम, मिट्टी, तृण, लाख, अभ्रक, काठ, चमड़ा, वस्त्र और बाँस के फंठों से काम लिया जाता था।

प्रतिपादौ प्रतिशिरः प्रतिहस्तौ प्रतित्वचम्
तृणजैः कीलजैर्माण्डैः सरूपाणीह कारयेत्।
यद्यस्य यादृशं रूपं सारूप्यगुणसंभवम्
मृन्मयं तत्र कृत्स्नं तु नाना रूपांस्तु कारयेत्।
भांडवस्त्रमधूच्छिष्टैः लाक्षयाभ्रदलेन च
नगास्तु विविधा कार्याः चर्मवर्मध्वजास्तथा।

(२४ अध्याय)

ऊपर के उद्धरणों से जान पड़ता है कि सरूप अर्थात् मुखौटों का भी प्रयोग दैत्य-दानवों के अंगों की विचित्रता के लिए होता था। कृत्रिम हाथ और पैर तथा मुखौटे मिट्टी, फूस, मोम, लाख और अभ्रक के पत्रों से बनाए जाते थे।

कुछ लोगों का कहना है कि भारतवर्ष में 'यवनिका' यवनों अर्थात् ग्रीकों से नाटकों में ली गई है। किंतु मुझे यह शब्द शुद्ध रूप से व्यवहृत 'जवनिका' भी मिला। अमरकोष में—"प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करिणी च सा"; तथा हलायुध में—"अपटी काडपटः स्यात् प्रतिसीरा जवनिका तिरस्करणी।"

इस में 'य' से नहीं किंतु 'ज' से ही जवनिका का उल्लेख है। जवनिका से शीघ्रता का द्योतन होता है। जव का अर्थ वेग और त्वरा से है। तब जवनिका उस पट को कहते हैं जो शीघ्रता से उठाया या गिराया जा सके। कांड-पट भी एक इसी तरह का अर्थ ध्वनित करता है, जिस में पट अर्थात् वस्त्र के साथ कांड अर्थात् डंडे का संयोग हो। प्रतिसीरा

और तिरस्करिणी भी साभिप्राय शब्द मालूम होते हैं। प्रतिसीरा तो नहीं किन्तु तिरस्करिणी का प्रयोग विक्रमोर्वशी मे एक जगह आता है। द्वितीय अंक मे जब राजा प्रमद वन में आते हैं, तो वहीं पर आकाश-मार्ग से उर्वशी और चित्रलेखा का भी आगमन होता है। उर्वशी चित्रलेखा से कहती है, "तिरस्करिणी परि परिच्छन्ना पार्श्ववर्त्तिनी भूत्वा श्रोस्ये तावत्।" और फिर आगे चल कर उसी अंक में "तिरस्करिणीम् अपनीय" तिरस्करिणी को हटा कर प्रगट होती है। प्रतिसीरा का भी प्रयोग संभव है खोजने से मिल जाय, किन्तु अपटी शब्द अत्यंत संदेह-जनक है। मृच्छकटिक, विक्रमोर्वशी आदि में "ततः प्रविशत्यपटीक्षेपेण" कई स्थानों पर मिलता है। विक्रमोर्वशी के टीकाकार रंगनाथ ने, "यतः—नासूचितस्य पात्रस्य प्रवेशो नाटके मतः इति नाटकसमयप्रसिद्धेर्यत्रा सूचित पात्र प्रवेशस्तत्राकस्मिक प्रवेशेऽपटीक्षेपेणेति वचनं युक्तम्। अत्र तु प्रस्तावनान्ते सूचिता नामेवाप्सरसां प्रवेश इति। केचित्पुनः—न पटीक्षेपोऽपटीक्षेपे इति विग्रहं विधाय पटीक्षेपं विनैव प्रविशतीति समर्थयन्ते तदप्यापाद्य कुचोद्यमात्रमित्यास्तां तावत्।"

इस से जान पड़ता है कि प्रवेशक की सूचना अत्यंत आवश्यक होती थी और यह कार्य अंको के आरंभ में चेटी, दासी या अन्य ऐसे ही पात्रो के द्वारा सूचित किया जाता था। उस के बाद अभिनय के वास्तविक पात्र रंगमंच पर प्रवेश करते थे। विक्रमोर्वशी मे प्रस्तावना में ही अप्सराओ की पुकार सुनाई पड़ती है और सूत्रधार रंगमंच से प्रस्थान कर जाता है और अप्सराएं प्रवेश करती हैं। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि पटी अभी तक उठी नही है और अप्सराओं का प्रवेश हो गया है। रंगमंच के उसी अगले भाग पर वे आ गई है, जहाँ कि सूत्रधार ने प्रस्तावना की है। इस के बाद अपटीक्षेप होता है अर्थात् पर्दा उठता है तब पुरूरवा का प्रवेश होता है और सामने हेमकूट का भी दृश्य दिखाई पड़ता है। इस लिए कुछ विशेष ढंग के परदे का नाम अपटी जान पड़ता है। संभवतः अपटीक्षेप उन स्थानों पर किया जाता था जहाँ सहसा पात्र उपस्थित होता था। उसी अंक में अन्य पात्रो के द्वारा कथावस्तु के अन्य विभाग का अभिनय करने में अपटीक्षेप का प्रयोग होता था। यह निश्चय है कि कालिदास और शूद्रक इत्यादि प्राचीन नाटककार रंगमंच के पटीक्षेप से परिचित थे और दृश्यांतर (ट्रान्स्फ़र सीन) उपस्थित करने मे उन का प्रयोग भी करते थे। यद्यपि वे प्राचीन रंगमंच आधुनिक ढंग से पूर्ण रूप से विकसित नहीं थे, फिर भी रंगमंचों के अनुकूल कक्ष्या-विभाग और उन में दृश्यों के

लिए शैल, विमान, और यान तथा कृत्रिम प्रासाद-यंत्र और पटों का उपयोग होता था।

नाट्यमंदिर में नर्तकियों का विशेष प्रबंध रहता था। जान पड़ता है कि रेचक, अंगहार, करण और चारियों के साथ पिंडीबंध अथवा सामूहिक नृत्य का भी आयोजन रंगमंच में होता था। अति प्राचीन काल में भारतवर्ष के रंगमंच में स्त्रियाँ नाटकों को सफल बनाने के लिए आवश्यक समझी गई। केवल पुरुषों के द्वारा अभिनय असफल होने लगे तब रंगोपजीवना अप्सराएं रंगमंच पर आईं। कहा गया है—

कौशिकीश्लक्ष्णनैपथ्या शृंगाररससंभवा
अशक्याः पुरुषैसातु प्रयोक्तुम् स्त्री जनादृते।
ततोऽसृजन्महातेजा मनसाप्सरसो विभुः।

रंगमंच पर काम करने वाली स्त्रियों को अप्सरा, रंगोपजीवना इत्यादि कहते थे। मालविकाग्निमित्र में स्त्रियों को अभिनय की शिक्षा देने वाले आचार्यों का भी उल्लेख है। उन का मत है कि पुरुष और स्त्री के स्वभावानुसार अभिनय उचित है। क्योंकि, "स्त्रीणा स्वभाव मधुरः कण्ठो नृणा बलत्वञ्च"—स्त्रियों का कंठ स्वभाव से ही मधुर होता है, पुरुष में बल है। इस लिए रंगमंच पर गान स्त्रियाँ करें, पाठ्य अर्थात् पढ़ने की वस्तु का प्रयोग पुरुष करें। पुरुष का गाना रंगमंच पर उतना शोभन नहीं माना जाता था। "एवं स्वभावसिद्धं स्त्रीणां गानं नृणां च पाठ्यविधिः।"

सामूहिक पिंडीबंध आदि चित्रनृत्यों का रंगमंच पर अच्छा प्रयोग होता था। पिंडीबंध चार तरह का होता था—पिंडी, शृंखलिका, लताबंध और भेद्यक। कई नर्तकियों के द्वारा नृत्य में अंगहारों के साथ, परस्पर विचित्र बाहुबंध और संबंध कर के अनेक आकार बनाए जाते थे। अभिनय मे रंगमंच पर इन की भी आवश्यकता होती थी। और पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी रंगमंच-शाला की उच्च कोटि की शिक्षा मिलती थी। नाटकोपयोगी दृश्यों के निर्माण-वस्त्र तथा आयुधों के साथ कृत्रिम केश-मुकुटों और दाढ़ी इत्यादि का भी उल्लेख नाट्यशास्त्र में मिलता है। केश-मुकुट भिन्न-भिन्न पात्रों के लिए कई तरह के बनते थे।

रक्षो दानवदैत्यानां पिंककेशकृतानितु
हरिश्मश्रूणि च तथा मुखशीर्षाणि कारयेत्।

(ना० शा० २३-१४३)

कोयल के पंखों से दैत्य दानवों की दाढ़ी और मूँछ भी बनाए जाते थे। मुकुट अभिनय के लिए भारी न हों; इस लिए अभ्रक और ताम्र के पतले पत्रों से हलके बनाए जाते थे। कंचुक इत्यादि वस्त्रों का भी नाट्यशास्त्र में विस्तृत वर्णन है। इन वस्तुओ के उपयोग में इस बात का भी विचार किया जाता था कि नाटक के अभिनय में सुविधा हो। नाटक के अभिनय में दो विधान माननीय थे, और उसे लोकधर्मी और नाट्यधर्मी कहते थे। भरत के समय में ही रंगमंचों में स्वाभाविकता पर ध्यान दिया जाने लगा था। रंगमंच पर ऐसे अभिनय को लोकधर्मी कहते थे। इस लोकधर्मी अभिनय में रंगमंच पर कृत्रिम उपकरणों का उपयोग बहुत कम होता था। "स्वभावो लोकधर्मी तु नाट्यधर्मी विकारतः" (१९३, अ० १३)।

स्वाभाविकता का अधिक ध्यान केवल उपकरणों में ही नही किंतु आंगिक अभिनय में भी अभीष्ट था। उस में बहुत अंगलीला वर्जित थी।

अतिसत्व क्रियाएँ असाधारण कर्म, अतिभाषित लोकप्रसिद्ध द्रव्यों का उपयोग अर्थात् शैल, यान और विमान आदि का प्रदर्शन और ललित अंगहार जिस में प्रयुक्त होते थे—रंगमंच के ऐसे नाटकों को नाट्यधर्मी कहते थे। स्वगत, आकाश-भाषित इत्यादि तब भी अस्वाभाविक माना जाता था, और इन का प्रयोग नाट्यधर्मी अभिनय में ही रंगमंच पर किया जाता था।

आसन्नोक्तं च यद् वाक्यम् न श्रृण्वंति परस्परम्
अनुक्तं श्रूयते वाक्यम् नाट्यधर्मी तु सास्मृता।

प्राचीन रंगमंच में स्वगत की योजना जिस मे कि समीप का उपस्थित व्यक्ति सुनी बात को अनसुनी कर जाता है, नाट्यधर्मी अभिनय के ही अनुकूल होता था; और 'भाण' में आकाश-भाषित का प्रयोग भी नाट्य-धर्मी के ही अनुकूल है। व्यंजना-प्रधान अभिनय का भी विकास प्राचीन रंगमंच पर हो गया था। भावपूर्ण अभिनयों में पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। नाट्यशास्त्र के २६वें अध्याय में इस का विस्तृत वर्णन है। पक्षियो का रेचक से, सिंह आदि पशुओं का गति-प्रचार से, भूत-पिशाच और राक्षसों का अंगहार से, अभिनय किया जाता था। इस भावाभिनय का पूर्ण स्वरूप अभी भी दक्षिण के कथकलि नृत्य में वर्तमान है।

रंगमंच में नटों के गति-प्रचार (मूवमेंट) वस्तु-निवेदन (डेलिवरी) संभाषण

(स्पीच) इत्यादि पर भी अधिक सूक्ष्मता से ध्यान दिया जाता था। और इन पर अलग-अलग नाट्यशास्त्र में अध्याय ही लिखे गए हैं। रंगमंच पर जिस कथा का अवतरण किया जाता था, उस का विभाग भी समय के अनुसार और अभिनय की सुव्यवस्था का ध्यान रखते हुए किया जाता था।

ज्ञात्वा दिवसांस्तान्क्षणयाममुहूर्त्तलक्षणोपेतान् ।

विभजेत् सर्वमशेषम् पृथक् पृथक् काव्यमंकेषु ॥

प्रायः एक दिन का कार्य एक अंक में पूरा हो जाना चाहिए और यदि न हो सके तो प्रवेशक और अंकावतार के द्वारा उस की पूर्ति होनी चाहिए। एक वर्ष से अधिक का समय तो एक अंक में आना नहीं चाहिए। प्रवेशक, अंकावतार और अपटीक्षेप का प्रयोग आज कल की तरह दृश्य या स्थान को प्रधानता दे कर नहीं किया जाता था; किंतु वे कथावस्तु के विभाजन-स्वरूप ही होते थे। पाँच अंक के नाटक रंगमंच के अनुकूल इस लिए माने जाते थे कि उन में कथावस्तु की पाँचों संधियों का क्रम-विकास होता था। और कभी-कभी हीन-संधि नाटक भी रंगमंच पर अभिनीत होते थे, यद्यपि वे नियम विरुद्ध माने जाते थे। दूसरी, तीसरी, चौथी संधियों का अर्थात् बिंदु, पताका और प्रकरी का तो लोप हो सकता था किंतु पहली और पाँचवीं संधि का अर्थात् बीज और कार्य का रहना आवश्यक माना गया है। आरंभ और फलयोग का प्रदर्शन रंगमंच पर आवश्यक माना गया है।

रंगमंच की बाध्य-बाधकता का जब विचार हम करते हैं तो उस के इतिहास से यह प्रगट होता है कि काव्यों के अनुसार प्राचीन रंगमंच विकसित हुए और रंगमंचों की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नहीं हुए। अर्थात् रंगमंचों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और यह प्रत्येक काल में माना जायगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं। काव्यों की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है। क्योंकि रसानुभूति के अनंत प्रकार, नियमबद्ध उपायों से नहीं प्रदर्शित किए जा सकते और रंगमंच ने सुविधानुसार काव्यों के अनुकूल समय-समय पर अपना स्वरूप-परिवर्त्तन किया है।

मध्यकालीन भारत में जिस आतंक और अनस्थिरता का साम्राज्य था, उस ने यहाँ की सर्व-साधारण प्राचीन रंगशालाओं को तोड़-फोड़ दिया। धर्मांध आक्रमणों ने जब भारतीय रंगमंच के शिल्प का विनाश कर दिया तो देवालयों से संलग्न मंडपों में छोटे-

मोटे अभिनय सर्व-साधारण के लिए सुलभ रह गए। उत्तरीय भारत में तो औरंगज़ेब के समय में ही साधारण संगीत का भी जनाज़ा निकाला जा चुका था। किंतु रंगमंच से विहीन कुछ अभिनय बच गए, जिन्हें हम पारसी स्टेजों के आने के पहले भी देखते रहे हैं। इन में मुख्यत: नौटंकी (नाटकी ?) और भाँड़ ही थे। रामलीला और यात्राओं का भी नाम लिया जा सकता है। सार्वजनिक रंगमंचों के विनष्ट हो जाने पर यह खुले मैदानों में तथा उत्सवों के अवसर पर खेले जाते थे। रामलीला और यात्रा तो देवता-विषयक अभिनय थे। किंतु नाटकी और भाँड़ों में शुद्ध मानव-संबंधी अभिनय होते थे। मेरा निश्चित विचार है कि भाँड़ों की परिहास की अधिकता संस्कृत भाण मुकुंदानंद और रससदन आदि की परम्परा में है, और नाटकी या नौटंकी प्राचीन राग-काव्य अथवा गीति-नाट्य की स्मृतियाँ हैं। रामलीला पाठ्य-काव्य रामायण के आधार पर वैसी ही होती है जैसे प्राचीन महाभारत और वाल्मीकि के पाठ्य-काव्यों के साथ अभिनय होता था। दक्खिन में अब भी कथकलि अभिनय उस प्रथा को सजीव किए है। प्रवृत्ति वही पुरानी है। परंतु उत्तरीय भारत में वाह्य प्रभाव की अधिकता के कारण इन में परिवर्तन हो गया है और अभिनय की वह बात नही रही। हाँ एक बात अवश्य इन लोगों ने की है और वह है चलते-फिरते रंगमंचों की या विमानों की रक्षा।

वर्तमान रंगमंच अन्य प्रभावों से अछूता न रह सका, क्योंकि विप्लव और आतंक के कारण प्राचीन विशेषताएं नष्ट हो चुकी थी। मुगल दरबारों में जो थोड़ी सी संगीत-पद्धति तानसेन की परंपरा में बच रही थी, उस में भी वाह्य प्रभाव का मिश्रण होने लगा था। अभिनयों में केवल भाण ही मुगल दरबार में स्वीकृत हुआ था; वह भी केवल मनोरंजन के लिए।

पारसी व्यवसायियों ने पहले-पहल नए रंगमंच की आयोजना की। भाषा मिश्रित थी---इंद्र-सभा, चित्रा-बकावली, चंद्रावली और हरिश्चंद्र आदि अभिनय होते थे, अनुकरण था रंगमंच में शेक्सपीरियन स्टेज का। क्योंकि वहाँ भी विक्टोरियन युग की प्रेरणा ने रंगमंच मे विशेष परिवर्तन कर लिया था। १९वीं शताब्दी के मध्य में कीन की सहायता से अंग्रेजी रंगमंच में पुरावृत्त की खोजों के आधार पर, शेक्सपियर के नाटकों के अभिनय की नई योजना हुई, और तभी हेनरी इर्विंग सदृश चतुर नट भी आए। किंतु

साथ ही सूक्ष्म तथा गंभीर प्रभाव डालने वाली इब्सन की प्रेरणा भी पश्चिम में स्थान बना रही थी; जो नाटकीय यथार्थवाद का मूल है।

भारतीय रंगमंच पर इस पिछली धारा का प्रभाव पहले-पहल बंगाल पर हुआ। किंतु इन दोनों प्रभावों के बीच में दक्षिण में भारतीय रंगमंच निजी स्वरूप में अपना अस्तित्व रख सका। कथकलि नृत्य मंदिरों की विशाल संख्याओं में मर नहीं गया था। भावाभिनय अभी होते रहते थे। कदाचित् संस्कृत नाटकों का अभिनय भी चल रहा था, वहुत दबे-दबे। आंध्र ने आचार्यों के द्वारा जिस धार्मिक संस्कृति का पुनरावर्तन किया था, उस के परिणाम में संस्कृत साहित्य का भी पुनरुद्धार और तत्संबंधी साहित्य और कला की भी पुनरावृत्ति हुई थी। संस्कृत के नाटकों का अभिनय भी उसी का फल था। दक्षिण में वे सब कलाएँ सजीव थीं; उन का उपयोग भी हो रहा था। हाँ बाली और जावा इत्यादि के मंदिरों में इसी प्रकार के अभिनय अधिक सजीवता से सुरक्षित थे। ३० वरस पहले जब काशी में पारसी रंगमंच की प्रबलता थी, तब भी मैंने किसी दक्षिणी नाटक-मंडली द्वारा संस्कृत मृच्छकटिक का अभिनय देखा था। उस की भारतीय विशेषता अभी मुझे भूली नहीं है। कदाचित् उस का नाम 'ललित-कलादर्श-मंडली' था।

दृश्यांतर और चित्रपटों की अधिकता के साथ ही पारसी स्टेज ने पश्चिमी ट्यूनों का भी मिश्रण भारतीय संगीत में किया। उस के इस काम में बंगाल ने भी साथ दिया, किंतु उतने भद्दे ढंग से नहीं। बंगाल ने जितना पश्चिमी ढंग का मिश्रण किया वह सुरुचि से बहुत आगे नहीं बढ़ा। चित्रपटों में सरलता उस ने रक्खी। किंतु पारसी स्टेज ने अपना भयानक ढंग वंद नहीं किया। पारसी स्टेज में दृश्यों और परिस्थितियों के संकलन की प्रधानता है। वस्तु-विन्यास चाहे कितना ही शिथिल हो किंतु अमुक परदे के पीछे वह दूसरा प्रभावोत्पादक परदा आना ही चाहिए। कुछ नहीं तो एक असंबद्ध फूहड़ भड़ैती से ही काम चल जायगा।

हिंदी के कुछ अकाल-पक्व आलोचक जिन का पारसी स्टेज से पिंड नहीं छूटा है सोचते हैं स्टेज में यथार्थवाद। अभी वे इतने भी सहन-शील नही कि फूहड़ परिहास के बदले—जिस से वह दर्शकों को उलझा लेता है—तीन-चार मिनट के लिए काला परदा खींच कर दृश्यांतर बना लेने का अवसर रंगमंच को दें। हिंदी का कोई अपना रंगमंच नही है। जब उस के पनपने का अवसर था तभी सस्ती भावुकता ले कर वर्तमान सिनेमा में,

बोलने वाले चित्रपटों का अभ्युदय हो गया, और फलतः अभिनयों का रंगमंच नही-सा हो गया है। साहित्यिक सुरुचि पर सिनेमा ने ऐसा धावा बोल दिया है कि कुरुचि को नेतृत्व करने का संपूर्ण अवसर मिल गया है। उन पर भी पारसी स्टेज की गहरी छाप है। हाँ, पारसी स्टेज के आरंभिक विनय-सूत्रों में एक यह भी था, कि वे लोग प्राचीन इंग्लैंड के रंगमंचों की तरह स्त्रियों का सहयोग नहीं पसंद करते थे। १८वी शताब्दी में धीरे-धीरे स्त्रियाँ रंगमंच पर इंग्लैंड में आईं। किंतु सिनेमा ने स्त्रियों को, रंगमंच पर अबाध अधिकार दिया। बालको को स्त्री-पात्र के अभिनय की अवांछनीय प्रणाली से छुटकारा मिला। किंतु रंगमंचों की असफलता का प्रधान कारण है स्त्रियों का उन में अभाव; विशेषत हिंदी रंगमंच के लिए। बहुत से नाटक मंडलियों द्वारा इस लिए नहीं खेले जाते कि उन के पास स्त्री-पात्र नही हैं। रंगमंच की तो अकाल मृत्यु, हिंदी में दिखाई पड़ रही है। कुछ मंडलियाँ कभी-कभी साल में एकाध बार, वार्षिकोत्सव मनाने के अवसर पर कोई अभिनय कर लेती हैं। पुकार होती है आलोचकों की, हिंदी में नाटकों के अभाव की। रंगमंच नही है, ऐसा समझने का कोई साहस नहीं करता। क्योंकि दोष-दर्शन सहज है। उस के लिए वैसा प्रयत्न करना कठिन है जैसा कीन ने किया था। युग के पीछे हम चलने का स्वाँग भरते हैं। हिंदी में नाटकों का यथार्थवाद अभिनीत देखना चाहते हैं और यह नहीं देखते कि पश्चिम में अब भी प्राचीन नाटकों का फिर से सवाक्-चित्र बनाने के लिए प्रयत्न होता रहता है। ऐतिहासिक नाटकों के सवाक्-चित्र बनाने के लिए उन ऐतिहासिक व्यक्तियो की स्वरूपता के लिए टनों मेक-अप का मसाला एक-एक पात्र पर लग जाता है। युग की मिथ्या धारणा से अभिभूत नवीनतम की खोज में, इब्सनिज़्म का भूत वास्तविकता का भ्रम दिखाता है। समय का दीर्घ अतिक्रमण कर के जैसा पश्चिम नें, नाट्यकला में अपनी सब वस्तुओं को स्थान दिया है, वैसा क्रम-विकास कैसे किया जा सकता है यदि हम पश्चिम के आज को ही सब जगह खोजते रहेंगे; और यह भी विचारणीय है कि क्या हम लोगों का सोचने का, निरीक्षण का दृष्टिकोण सत्य और वास्तविक है। अनुकरण में फैशन की तरह बदलते रहना साहित्य में ठोस अपनी वस्तु का निर्मंत्रण नहीं करता। वर्तमान और प्रतिक्षण का वर्तमान सदैव दूषित रहता है, भविष्य के सुंदर निर्माण के लिए। कलाओं का अकेले प्रतिनिधित्व करने वाले नाटक के लिए तो ऐसी 'जल्दबाज़ी' बहुत ही अवांछनीय है। यह रस की भावना से अस्पृष्ट व्यक्ति-वैचित्र्य की यथार्थवादिता

ही का आकर्षण है, जो नाटक के संबंध में विचार करने वालों को उद्विग्न कर रहा है। प्रगतिशील विश्व है; किंतु अधिक उछलने में पदस्खलन का भी भय है। साहित्य में युग की प्रेरणा भी आदरणीय है किंतु इतना ही अलं नहीं। जब हम यह समझ लेते हैं कि कला को प्रगतिशील बनाए रखने के लिए हम को वर्तमान सभ्यता का---जो सर्वोत्तम है---अनुसरण करना चाहिए, तो हमारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण हो जाता है। अतीत और वर्तमान को देख कर भविष्य का निर्माण होता है। इस लिए हम को साहित्य में एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए। जिस तरह हम स्वाभाविक या प्राचीन शब्दों में लोकधर्मी अभिनय की आवश्यकता समझते हैं ठीक उसी प्रकार से नाट्यधर्मी अभिनय की भी; देश, काल, पात्र के अनुसार रंगमंच में संगृहीत रहना चाहिए। पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोड़ कर नए को नहीं पाया है।

श्री भारतेंदु ने रंगमंच की अव्यवस्थाओं को देख कर जिस हिंदी रंगमंच की स्वतंत्र स्थापना की थी, उस में इन सब का समन्वय था। उस पर सत्य-हरिश्चंद्र, मुद्रा-राक्षस, नीलदेवी, चंद्रावली, भारत-दुर्दशा, प्रेमयोगिनी सब का सहयोग था। हिंदी रंगमंच की इस स्वतंत्र चेतनता को सजीव रख कर रंगमंच की रक्षा करनी चाहिए। केवल नई पश्चिमी प्रेरणाएँ हमारी पथ-प्रदर्शिका न बन जाएँ। हाँ, उन सब साधनों से जो वर्त्तमान विज्ञान द्वारा उपलब्ध हैं; हम को वंचित भी न होना चाहिए।

आलोचकों का कहना है कि "वर्तमान युग की रंगमंच की प्रवृत्ति के अनुसार भाषा सरल हो और वास्तविकता भी हो।" वास्तविकता का प्रच्छन्न अर्थ इब्सेनिज़्म के आधार पर कुछ और भी है। वे छिप कर कहते हैं; हम को अपराधियों से घृणा नहीं सहानु-भूति रखनी चाहिए। इस का उपयोग चरित्र-चित्रण में व्यक्ति-वैचित्र्य के समर्थन में भी किया जाता है। रंगमंच पर ऐसे वस्तु-विन्यास समस्या बन कर रह जायेंगे। प्रभाव का असंबद्ध स्पष्टीकरण भाषा की क्लिष्टता से भी भयानक है। रेडियो ड्रामा के संवाद भी लिखे जाने लगे हैं, जिन में दृश्यों का संपूर्ण लोप है। दृश्य वस्तु श्रव्य बना कर संवाद में आती है। किंतु साहित्य में एक प्रकार के एकांकी नाटक भी लिखने का प्रयास हो रहा है। वे यही समझ कर तो लिखे जाते हैं कि उन का अभिनय सुगम है। किंतु उन का अभिनय होता कहाँ है। यह पाठ्य छोटी कहानियों का ही प्रतिरूप नाट्य है। दृश्यों की योजना

साधारण होने पर भी खिड़की के टूटे हुए काँच, फटा परदा और कमरे के कोने में मकड़ी का जाला दृश्यों में प्रमुख होते है—वास्तविकता के समर्थन में !

भाषा की सरलता की पुकार भी कुछ ऐसी ही है। ऐसे दर्शकों और सामाजिकों का अभाव नहीं किंतु प्रचुरता है, जो पारसी स्टेज पर गाई गई गजलों के शब्दार्थों से अपरिचित रहने पर तीन बार तालियाँ पीटते हैं। क्या हम नहीं देखते कि बिना भाषा के अबोल-चित्रपटों के अभिनय में भाव सहज ही समझ में आते है और कथकलि के भावाभिनय भी शब्दों की व्याख्या ही हैं ? अभिनय तो सुरुचिपूर्ण शब्दों को समझाने का काम रंगमच से अच्छी तरह करता है। एक मत यह भी है कि भाषा स्वाभाविकता के अनुसार पात्रों की अपनी होनी चाहिए और इस तरह कुछ देहाती पात्रों से उन की अपनी भाषा का प्रयोग कराया जाता है। मध्यकालीन भारत में जिस प्राकृत का संस्कृत से सम्मेलन रंगमच पर कराया गया था वह बहुत कुछ परिमार्जित और कृत्रिम-सी थी। सीता इत्यादि भी संस्कृत बोलने में असमर्थ समझी जाती थी। वर्तमान युग की भाषा-संबंधी प्रेरणा भी कुछ-कुछ वैसी ही है। किंतु आज यदि कोई मुगल-कालीन नाटक में लखनवी उर्दू मुगलों से बुलवाता है तो वह भी स्वाभाविक या वास्तविक नहीं है। फिर राजपूतों की राजस्थानी भाषा भी आनी चाहिए। यदि अन्य असभ्य पात्र हैं तो उन की जंगली भाषा भी रहनी चाहिए। और इतने पर भी क्या वह नाटक हिंदी का ही रह जायगा। यह विपत्ति कदाचित् हिंदी नाटकों के लिए ही है।

मैं तो कहूँगा कि सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावों और विचारों के अनुसार भाषा में होगी ही और पात्रों के भावों और विचारों के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिए। किंतु इस के लिए भाषा की एकतंत्रता नष्ट कर के कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिंदी नाटकों के लिए ठीक नहीं। पात्रों की संस्कृति के अनुसार उन के भावों और विचारों में तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए।

रंगमंच के संबंध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जायँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हों, जो व्यावहारिक है। हाँ, रंगमच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता

है। देश-काल की प्रवृत्तियों का समुचित अध्ययन भी आवश्यक है। फिर तो पात्र रंगमंच पर अपना कार्य सुचारु रूप से कर सकेंगे। इन सब के सहयोग से ही हिंदी रंगमंच का अभ्युत्थान संभव है।

अवधी की कुछ प्रवृत्तियाँ

[लेखक—श्रीयुत रामाज्ञा द्विवेदी, एम्० ए०]

"हिंदुस्तानी" के एक पुराने अंक[1] में मैं ने अवधी के कुछ नामधातु तथा प्रत्ययों का दिग्दर्शन कराया था और यह लिखा था कि जितने नामधातु इस भाषा में होते और बन सकते हैं उतने शायद संसार की किसी भी भाषा में नहीं। आज पाठकों के मनोरंजनार्थ मैं यहाँ अवधी की कुछ प्रबल प्रवृत्तियों का सिंहावलोकन कराना चाहता हूँ जिस से यह स्पष्ट होगा कि संसार की भाषाओं में अवधी अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है।

तुलसीदास की अवधी में तो पाठकों को फ़ारसी के बड़े-बड़े शब्दों को भी ठोक-पीट कर सीधा कर लेने की प्रवृत्ति मिलेगी ही, जैसे "ग़रीबनेवाज़" का "गरीबनेवाजू"। परंतु आधुनिक अवधी में भी अनेक अंग्रेजी शब्दों को तोड़-फोड़ कर उन्हें देहाती कर लेने की परम प्रबल प्रवृत्ति मिलती है। यों तो इस भाषा की दो बहुत प्राचीन तथा सर्वव्यापी प्रवृत्तियाँ हैं, एक तो ब्रजभाषा की भाँति इस में "ने" नहीं प्रयुक्त होता और इस के कारण वाक्यों की गति-विधि में एक विशेष माधुर्य आ जाता है; दूसरे उन अक्षरों का बिल्कुल प्रयोग नहीं किया जाता जिन के उच्चारण में या तो अधिक समय लगता हो या सीधे-सादे बोलने वालों को कुछ अड़चन पड़ती हो। इसी के फलस्वरूप इस में ज़, ग़, फ़, क़ आदि फ़ारसी उच्चारण नहीं मिलते जो सर्वथा संस्कृत के कारण है। दूसरी भाषाओं के विकट से विकट शब्दों को भी तोड़-मरोड़ कर उन्हें देहाती साँचे में ढाल लेना अवधी के लिए साधारण-सी बात है। उच्चारण की सुगमता तथा समय की बचत करने की प्रवृत्ति के ही कारण अवधी में "श" का भी "ने" की भाँति प्रयोग बिलकुल ही नहीं होता। अंग्रेज़ी का "मशीन" शब्द घोर देहाती बन कर "मसीनि" में परिवर्तित हो जाता है, और यह उदाहरण अवधी की इस सुगमतान्वेषक प्रवृत्ति का दोनों ही प्रकार से द्योतक है। एक तो "श" घिस कर

---

[1] जूलाई, १९३१

"स" हो गया और अंत में "न" का "नि" हो जाने से ऐसा प्रतीत होता है मानों इस घोर वैज्ञानिक युग में मशीन रूपी राक्षस को इकारांत कर के और स्त्रीलिंग में परिवर्तित कर के एक निःसहाय तथा मृतप्राय बुढ़िया का कपड़ा पहना दिया गया हो। इसी प्रकार "लैंटर्न" को खड़ी बोली वालों ने तो केवल "लालटेन" का चोला दिया, पर अवधी में वह "लालटेनि" बोला जाता है, और प्रायः अनपढ़ देहातियों के मुँह में तो वह "लालटेमि" अथवा "लामटेमि" तक हो जाता है। और जब चिढ़ कर कोई गँवार अपना क्रोध प्रगट करना चाहता है तो इन शब्दों को "मसिनिया", "ललटेमियाँ" आदि तक कह डालता है। "इया" एवं "वा" लगा कर तो प्रत्येक शब्द को "टुकारने" की प्रवृत्ति अवधी में बहुत ही व्यापक है, यहाँ तक कि वह उजड्डपन अथवा असभ्यता की सीमा तक पहुँच गई है। क्योंकि "साहब" या "डिप्टी" जैसे शब्द भी इसी प्रवृत्ति के शिकार बन कर "सहेबवा" तथा "डिपटिया" अथवा "डिपटियवा" हो जाते है।

टुकारने की इस प्रवृत्ति को छोड़ कर यों भी बड़े से बड़े और कठिन से कठिन बाहरी शब्दों को भी सीधा कर लेना अवधी को खूब आता है। इस का बड़ा अच्छा उदाहरण अंग्रेजी का "एग्रीमेंट" शब्द है जो उन दिनों सारे अवध प्रांतके देहातोंमें बहुत प्रचलित हुआ था। जब गाँव वाले भरती हो कर आसाम के चाय के बगीचों अथवा फ़िजी आदि टापुओं में सालों के लिए काम करने जाते थे, इस भरती में उन्हें नौकरी के लिए निश्चित अवधि के लिए ठेका लिख देना पड़ता था, जिसे एग्रीमेंट कहते थे, और जिसे देहात में "गिरमिट" कहने लगे। इसी प्रकार सायकिल को "सइकिलि", पेंसिल को "पिंसिनि" (जो 'पेंशन' के लिए भी प्रयुक्त होता है), स्टेशन को "टेसन", रेशन को "रासन" रेल को "रेलि", निब को "निबि" आदि कहते हैं। यह तो हुई अंग्रेजी शब्दों की दशा; पर फ़ारसी तथा संस्कृत के भी अनेक शब्द इस तोड़-मरोड़ से नहीं बच सके हैं। सिपाहियों की पेंशन को कभी-कभी "इंगलिस" भी कहते है और अनेक रोज़मर्रा के काम आने वाले शब्द जो फ़ारसी, अरबी अथवा संस्कृत के है घिस कर इसी साँचे में ढल जाते हैं। जैसे मुकदमा का "मोकदिमा" फौज का "फउदि", आफ़त का "आफति", दावात से "दुवाइति", कलम से "कलमि", जहाज से "जहाजि", मोटर से "मोटरि", रेक्रूट का "रँगरूट", क़वायद (ड्रिल) का "कवाइति", समाअत (सुनवाई) का "समाइति" आदि। "सुलह" शब्द तो अपने असली रूप मे केवल अदालती अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, पर जब वह देहाती "सुल्लह" रूप धारण करता है तो उस का अर्थ घरेलू सा हो जाता है, जैसे 'यन के घर माँ बड़ी सुल्लह बाय' अर्थात् इन

के घर के लोगों में आपस में बड़ा मेल-जोल है। संस्कृत का "शांत" शब्द "सानित" हो जाता है और प्रायः उन बदमाशों के लिए प्रयुक्त होता है जो बहुत दंडों के बाद अपनी शरारतें छोड़ देते हैं। इसी प्रकार "वज्र" शब्द "बज्जर" का रूप धारण कर लेता है जो सर्वथा अपने संस्कृत मूल से कहीं अधिक अर्थ-साम्य का द्योतक है, क्यों कि जो प्रभाव सुनने वाले पर "बज्जर" कहने से होता है वह "वज्र" से नहीं, जैसे 'यहि बेचारे क छाती बज्जर क होय गइ' अर्थात् इस बेचारे की छाती वज्र की हो गई (इतना कष्ट सहन कर लिया)। इसी प्रकार म्लेच्छ का "मलिच्छ", वर्द (बैल) का "बर्ध", एंजिन का "अहिजन', सपत्नी को "सउति", बल्कल का "बोकला" (पेड़ की छाल) आदि हो जाता है।

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा कि कठोर से मधुर करने के लिए शब्दो के बीच में या अंत में इ-कार अथवा उ-कार या कभी-कभी दोनों ही जोड़ दिए जाते हैं, जैसे तनख्वाह से "तनुखाह" आदि में। एकाध शब्दों की मात्राएँ तो अंतिम अक्षरों से अलग हो कर पृथक् "इ" अथवा "उ" के रूप में ही लिख दी जाती हैं, जैसे मूली के 'लकार का रकार' हो कर "मूरी" न हो कर "मुरई" (र+ई) बन जाता है, चिड़िया का ड़ र में परिवर्तित हो कर और अंतिम यकार का लोप हो कर चिरी बनता हुआ "चिरई" (र+ई) हो जाता है। इसी तरह चूड़ा का "चिउरा" और चींटी का "चिउँटी" बन जाता है, जिस से शब्दों को चपटा बना कर उन की कर्कशता दूर करने की प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। ठीक इस के विपरीत दूसरी प्रवृत्ति है कुछ शब्दों के आगे 'में', 'पर', 'से' आदि न लग कर इन का उन्ही में सम्मिलित हो जाना। यह है तो संस्कृत व्याकरण का अनुकरण-सा, पर न तो सभी शब्दों में ऐसा होता है और न सभी के ही साथ। उदाहरण के लिए 'पेड़ें चढा बाय' (अर्थात् पेड पर चढ़ा है) कहेंगे, पर यह नही कह सकते कि "पेड़ें चिरई बइठी बाय" (पेड पर चिड़िया बैठी है)। उसी तरह नगीचें (नगीच=पास पास में); भूई (भू=पृथ्वी+ई=जमीन पर); बजारें (बाजार में), घरें (घर में), बनें (बन में) आदि प्रयोग प्रचलित हैं। कानें सुनेन=कान से मैने स्वयं सुना (केवल दूसरे का कहा हुआ नहीं सुना), हाथे दिहेन=मैंने स्वयं अपने हाथ से दिया; बेरमिहाँ अपने गोड़ें चलागै=बीमार स्वयं अपने पैरो चला गया; पेटें खाइस=पेट भर खाया आदि प्रयोग है तो थोड़े ही, पर इस प्रवृत्ति के स्पष्ट द्योतक है। यहाँ तक कि "बाहर" (जो अव्यय है) तक से "बहरें" भी बन जाता है, और उन विधवाओं को जो अपने पति से कभी मिलने के पहले ही विधवा बन जाती है "चौके (चौक=विवाह की वेदी) क राँड़ि (विधवा)" अर्थात् चौक पर की विधवा कहते

है। मुँह से "मुँहें" (जैसे अपने मुँहे कहिस=स्वयं अपने मुँह से कहा) और आँखि से "आँखी" (अपनी आँखी देखी बाति होय=अपनी ही आँखों देखी बात है)।

दिशा अथवा दूरता बतलाने वाले इसी प्रकार के कुछ थोड़े से शब्दों में "इँत" प्रत्यय लगा दिया जाता है जिस से न्यूनता का बोध होता है। जैसे 'वतइँत नायँ बइठत्या राजू ?'—भले आदमी जरा उधर हट कर क्यों नहीं बैठते ? 'लमहतँ (लाम=दूर) भागि गवा'=कुछ दूर भाग गया; 'मछरिया तरहँत (तर=तल=नीचे) बूड़ि गई' अर्थात् मछली जरा नीचे डूब गई; 'यतहँत घुसुकि आवौ'=जरा इधर खिसक आओ आदि। मालवी तथा जयपुरी बोलियों की भाँति अवधी में भी "कतिक" (कितने)—उदाहरण, 'गिरिसम होंहि न केतिक गुंजा' (तुलसीदास)—कहाँक, कहवाँक (कहाँ), वहँकाँ (वहाँ) आदि प्रयोग तो होते ही हैं पर "तक" अर्थ में "लै" प्रत्यय लगा दिया जाता है, जैसे यहँ लै (यहाँ तक) वहँ लै (वहाँ तक), कहँ लै, जहँ लै आदि। लंबाई-चौड़ाई आदि के द्योतक शब्दों में भी ऐसे ही कुछ प्रत्यय लग कर वही अर्थ देते हैं जो अंग्रेजी में "इश" लग कर मिलता है, जैसे बड़ा से बड़हन (कुछ बड़ा), छोट से छोटहन या छोटट (कुछ छोटे), लम्मा (लम्बा) से लमछर (कुछ लंबा) करिया (काला) से करियौंछ (कुछ-कुछ काला)। फ़ारसी का "गर" प्रत्यय जो "कारगर" आदि शब्दों में मिलता है अवधी के साधारण शब्दों में भी लग जाता है, जैसे हाड़ (हड्डी) से "हड़गर" (मोटी हड्डी वाला), मासु (मांस) से "मसुगर", रस से "रसगर" (रसवाला) जूस से "जुसगर" (जूसवाला) पानी से "पनिगर" (पानी-वाला) आदि।

एक और बहुत बड़ी प्रवृत्ति प्रत्येक शब्द में 'या', 'वा', 'का', 'हा' आदि प्रत्ययों को लगा कर घृणा, प्रेम, भय आदि भावों का प्रदर्शन करना है। संज्ञाओं में 'वा' अथवा 'या' लगा कर घृणा या दया दिखलाई जाती है और उन के अंतिम अक्षरों के स्वरों को दीर्घ से ह्रस्व कर के वा और या लगा दिए जाते हैं। जैसे नदी से नदिया। "नदिया बिरकुल्लै झुराय गइ" (नदी बिलकुल सूख गई); "सधुइया महा मलिच्छ बाय" (साधू बड़ा गंदा है); "एसौ खेतिया म कुछुइ न भय" (इस साल खेती में कुछ भी नहीं हुआ); "पंडितवा पोथिया बेंचि डारिस" (पंडित ने पोथी बेच डाली); "बेटउवा अपनी महतरिया क गरियाइस" (बेटे ने अपनी माँ को गाली दिया)। यही शब्द यदि आदर द्योतक रूप में प्रयुक्त हों तो नदी, साधू, खेती, पंडित, पोथी, बेटवा, महतारी होंगे। जैसे कोई

लड़का अपने बाप को प्रणाम करे तो कहेंगे कि "बेटवा बापे क पयलगी किहिस" और यदि उसे मारे तो कहा जायगा कि "बेटउवा बपवा क मारिस"। भावानुसार भाषा की शैली का यह परिवर्तन सर्वथा सराहनीय है। यह परिवर्तन केवल जीवित प्राणियों या बड़ी ही वस्तुओं के ही संबंध में नही होता, बल्कि छोटी से छोटी वस्तु के लिए भी लागू है। क्यो कि यदि घर गिर जाय तो कहेंगे "घरा गिरि परा" और क़लम टूट जाय तो कहेगे "कलमिया टुटि गइ"। अ-कारांत शब्दों मे यह परिवर्तन केवल 'अ' को 'आ' कर देने से ही स्पष्ट होता है। यों तो कुछ शब्द ही ऐसे हैं जिन का अंत "हा" में होता है और जो सदा ही निकृष्ट अर्थ में प्रयुक्त होते है, जैसे "कुटिहा" (कूटि अर्थात् खराब मजाक़ करने वाला); "मोटहा" (गट्ठर ले जाने वाला कुली); "फटहा" (फटा कपड़ा पहने हुए दरिद्र); "गैतलहा" (बहुत पुराना, नष्ट-भ्रष्ट); "मरतकहा" (मरणासन्न; बेकाम।)

जिन विशेषणो को श्रद्धा अथवा भय-पूर्वक प्रयोग में लाया जाता है उन में 'का' प्रत्यय लगा दिया जाता है, जैसे "ललका" घोड़ा (वह अच्छा लाल घोड़ा); "उँचका" घर (वह बढ़िया ऊँचा घर); "उजरका" कोट (वह धुला सफ़ेद कोट); "गोरहरका" मनई (गोरा आदमी); "निकका" बर्द (नीक=अच्छा; बर्द=बैल); "मोटका" सिपाही (मोटा सिपाही) आदि। एकाध विशेषणों के दोनों ही प्रयोग देखने में आते है, जैसे किसी पतले आदमी को यदि प्रेमपूर्वक स्मरण करना हो तो कहेंगे "ऊ पतरका जवान" (वह पतला जवान) और उस को ही यदि घृणा से देखेगें तो उस के लिए "पतरपुक्की" या 'पतरपुक्का" विशेषण प्रयोग करेंगे। इसी तरह पराकाष्ठा दिखलाने के लिए एकाध शब्दों में "अंठ" प्रत्यय लगा देते है, जैसे "झुरंठा" (सूखा हुआ जो झूर या एकदम नीरस हो गया हो); "मुरहंठ" (हद दर्जे का मुरहा या पाजी आदमी)।

पाठकों को अवधी की एक और प्रवृत्ति के कुछ नमूने दे कर यह लेख यहीं समाप्त करूँगा। वह प्रवृत्ति शब्दों की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति कही जा सकती है क्योंकि भिन्न-भिन्न क्रियाओं की जो ध्वनि है उन्हीं का अनुकरण करना ही इस प्रवृत्ति का मुख्य ध्येय है। ये ध्वन्यात्मक शब्द सभी दुहरे होते हैं और प्रायः सभी द्रुत गति तथा क्रिया के द्योतक है, जैसे यदि कोई किसी को जल्दी-जल्दी पीट डाले तो कहेंगे "पटर-पटर पीटि दिहिस", इसी तरह खड़ाऊँ पहन कर जल्दी-जल्दी चलने के लिए "खटर-खटर"; गालियाँ देने के लिए "लटर-लटर"; डूबता हुआ मनुष्य जब जल्दी-जल्दी पानी पीने लगता है तो उसे "हुचुर-

टुचुर" और बहुत प्यासा आदमी जब जल्दी-जल्दी शरबत या पानी पीने लगता है तो उसे "घुटुर-घुटुर", छोटे बच्चे के लिए "घुट-घुट", और इसी तरह बहुत भूखा मनुष्य जब ज्यादा खाना सट-सट खा जाता है तो उस के लिए "गुटुर-गुटुर" शब्दों का प्रयोग होता है। कोई सुस्त औरत जब इधर-उधर घूमती फिरती बातें बनाती रहती है तो उस के लिए "पुटुर-पुटुर" तथा "चिदिर-चिदिर" का प्रयोग करते है। इन ध्वनि-सूचक शब्दों की भी कई श्रेणियाँ हैं, जैसे पानी या मट्ठा पीते समय यदि कोई गँवार गले से अधिक शोर करे तो "घुटुर-घुटुर" के स्थान मे "घटर-घटर" कह देंगे, बच्चों के खाने के लिए इसी तरह "सुटुर-सुटुर" की जगह "सटर-सटर" कहेंगे। ताकने के लिए "टुकुर-टुकुर" कहते है जिस से निर्निमेष एवं निष्क्रिय हो कर देखने का भाव प्रकट होता है। इसी प्रकार कितने ही शब्दों की सृष्टि और भी हो जाती है जो भिन्न ध्वनियों तथा अर्थों के द्योतक होते है, जैसे "टुन्नफुन्न" (मनमुटाव या झगड़ा); "गुम्म-सुम्म" (जब हवा नहीं चलती और गर्मी बहु पड़ती है उस समय का द्योतक है); चमा-चम्म, रपा-रप्प, ठना-ठन्न, गता-गम्म आदि भी इसी प्रकार के अनेक दुहरे शब्द हैं जिन के प्रयोग का आनंद देहात के प्रयोग करने वाले ही जान सकते हैं।

यदि हम अवधी के शब्दों की प्रतिनिधि-स्वरूप एक लंबी सूची अर्थों-सहित दे सकते तो स्पष्ट हो जाता कि अवधी का शब्द-भांडार कितना पूर्ण और अगाध है। दुहरे अव्ययों अथवा विशेषणों की भाँति कुछ पूर्वकालिक के क्रिया-वाचक खंड भी प्रयुक्त होते है जैसे "घुसरि-पसरि", "खाइ-खुइ", "नोचि-चोथि", आदि और कुछ भाववाची पद भी ऐसे ही है जैसे "चोरी-चमरई", "लूगा-लत्ता", "अन्न-पानी", "लकड़ी-पथरी" इत्यादि। ऐसे ही दुहरे प्रयोग कुछ क्रियाओं के भूत एवं भविष्य रूपों के साथ लगते है जो कई दृष्टि से अंग्रेजी व्याकरण से मिलते जुलते हैं, जैसे "जाबै त किहिस" (गया ही तो); "चलै त गय" (चला ही तो गया); "मरबौ करब" (मारूँगा भी); "गइउ रहा" (गया भी था); "चलबौ किहिस" (चला ही गया) तथा "जाबौ करबूँ" या "जाबै करबूँ" (मैं तो जाऊँगा भी या मै तो जाऊँगा ही)। ये प्रयोग अंग्रेज़ी के 'डिड गो' की भाँति है जिस में दो क्रियाओ का एक साथ ही समावेश हो जाता है। हम यहाँ यह भी बतला देना चहते है कि हम ने अवधी के शब्दों का जो अपूर्ण संग्रह किया है उस में ही खाने-पीने, खेती-बारी आदि भिन्न-भिन्न विभागो के इतने शब्द आ गए है कि उन्हीं के बल पर यह कहा जा सकता है कि अवधी का शब्द-भांडार भरा-पूरा है और संसार की उन्नत भाषाओं में बहुत पीछे न ठहरेगा।

हिंदी के कुछ भूले हुए शब्द

[लेखक—प्रोफ़ेसर अमरनाथ झा, एम्० ए०]

इधर तीस-चालीस वर्ष से हिंदी गद्य और पद्य की गति अधिकाधिक संस्कृत की ओर होती रही है—उर्दू और फ़ारसी के डर से, पुराने हिंदी के शब्दों का भी प्रयोग कम होने लगा है। अब तो दशा यह है कि कम से कम आज कल की हिंदी कविता केवल वही समझ सकता है जो संस्कृत में पूर्ण अवगति रखता हो। यही दशा उर्दू की हो रही है। इस समय मुझे हिंदी के ही विषय में कुछ लिखना है। हिंदी केवल विद्वानों की भाषा नहीं है —सर्व साधारण की भाषा है— मजदूरों की, कास्तकारों की, इक्केवालों की, दूकानदारों की भी भाषा है। आज ही हिंदी की एक मान्य पत्रिका में सब से पहली कविता जो मुझे मिली, उस का अंतिम पद यों है —

चली स्नान-हित शोभा-वलयित,
गीत-सदृश चित्त प्रिय-छवि-निर्मित;
क्षालित शत-तरंग-तनु पालित,
अवगाहित निकली द्युति निर्मल।

इस में हिंदी के दो शब्द, 'चली', 'निकली',—बीस में से दो शब्द—धोखे से आ गए हैं। जनता को छोड़ दीजिए, पढ़े-लिखे वाचकों को भी समय लगेगा इस के समझने में। ऐसी कविताओं का भी साहित्य में स्थान है, ऊँचा स्थान है। परंतु जब सभी कवि इसी शैली का अनुकरण करेंगे तो हिंदी और संस्कृत में भेद ही क्या रह जायगा, जीवित और पुरानी भाषा में अंतर ही कौन सा होगा? सुलभता से उर्दू में भी ऐसे क्लिष्ट, अरबी-मिश्रित उदाहरण मिल जायँगे। हिंदू और मुसल्मानों के परस्पर विरोध और मनोमालिन्य के ही कारण हिंदी और उर्दू की ऐसी प्रगति हो रही है। यह खेद का विषय है। साथ ही 'हिंदुस्तानी' का भी इस समय में विरोधी हूँ इस लिए कि इस नई भाषा के म

है जो उर्दू पढ़ने और लिखने की योग्यता रखते हैं—मुसलमान ऐसे बहुत थोड़े हैं जो हिंदी के अक्षरों से भी परिचित हों। ऐसी दशा में हिंदी-उर्दू मिलन में उर्दू का ही प्राधान्य होगा, और हिंदुस्तान के साधारण लोगों के लिए यह एक क्लिष्ट विदेशी भाषा हो जायगी। साथ ही सयुक्त प्रांत और पंजाब के अतिरिक्त और प्रांत वालों के लिए तो इस का समझना असभव ही हो जायगा। कालक्रम से, पचास-सौ वर्ष में, हिंदू मुसल्मानों में ऐक्य स्थापित होने पर, संभव है 'हिंदुस्तानी' भाषा प्रचलित करने का यत्न सफल हो। 'हिंदुस्तानी' को आज कल की साधारण भाषा मान कर जो उस का समर्थन करते हैं, उन की भाषा के कुछ उदाहरण नीचे उद्धृत करता हूँ :—

(१) "मेरा ज़ाती अक़ीदह यह है कि अगर हिंदुस्तान में क़ौमी इत्तहाद की बुनियाद कोई हो सकती है तो वह मुश्तर्का अदब या मुश्तर्का जबान है। हम में अगर एक-दूसरे के अदब ओ शेर और तारीखो-फ़लसफ़ा की क़द्र पैदा हो जाय या बअलफ़ाजे दीगर हम एक दूसरे को समझने लगें तो बहुत कुछ इख्तलाफ़ और ग़लतफ़हमियाँ जो इस वक़्त हमारे लिए बायसे नंग हैं दूर हो सकती हैं।"

(२) "मेरी नाचीज राय में हिंदुस्तान का लिसानी इत्तिहाद जिस में हिंदुस्तानी आम ज़बान होगी इसी क़द्र अहम है जितना कि मुल्क का इंतज़ामी इत्तिहाद जो नई इसलाहात की तहत में क़ायम किया जाने वाला है।"

(३) "अगर हमारी एकेडमी हमारे कवियों और लेखकों को जगा सके ताकि वह इस मायावी दुनिया के सपनों की असलियत पहचान लें और उस सच्ची दुनिया के अमृतमय नूर से हमारे मनों को रोशन कर दे तो सचमुच इस संस्था का मकसद पूरा हो जाय।"

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अभी कुछ दिनों तक हिंदी-उर्दू संमिश्रण केवल कठिन ही नहीं, हानिकारक और हास्यास्पद भी है।

फिर भी मेरा विचार है कि हिंदी लिखने और बोलने वालों का यह कर्तव्य है कि जहाँ ठेठ हिंदी के शब्द का उपयुक्त प्रयोग हो सके वहाँ अनावश्यक कठिन संस्कृत शब्द का प्रयोग न करें। बहुत स्थान में, विचार की गूढ़ता से, भाव की असाधारणता से, पद के लालित्य से विवश हो कर संस्कृत का सहारा लेना पड़ता है। परंतु हमारा हिंदी का भाडार

खाली हो रहा है। हम दिनानुदिन इन शब्दों को देहाती समझ कर भूलते जाते है। इनकी ही कृपा से हमारी भाषा जीवित रह सकती है और सर्व-साधारण के हृदयंगम हो सकती हैं।

सब से पहला हिंदी-कोष हैरिस साहिब ने मद्रास मे सन् १७९० ई० में प्रकाशित किया। फिर सन् १८०८ ई० में एक कोष मद्रास में ही मुद्रित हुआ। हिंदुस्तानी का एक कोष सन् १८०८ ई० मे कलकत्ता में टेलर साहब और हंटर साहब ने प्रकाशित किया था। फिर एक नया संस्करण परिवर्धित रूप मे, लंडन में, सन् १८१७, में मुद्रित हुआ। जौन शेक्सपियर साहब का सन् १८३४ का कोष बहुत ही उपकारी है, और उस समय के सब कोषों से अच्छा है। इस के तीसरे संस्करण के प्रकाशित होने की तिथि से पूरे सौ वर्ष हो चुके हैं, और इस को देखने से ज्ञात होता है कि उस समय कितने शब्द प्रचलित थे जिन्हें हम भूल गए है अथवा जिन्हें हम देहाती कह कर तिरस्कार करते है।

अपनी भूमिका में शेक्सपियर साहब ने एक बड़ी अच्छी बात कही है जिस से उन लोगो के मत की पुष्टि होती है जो हिंदी को राष्ट्रभाषा कहते हैं—

> "भारतवर्ष जैसे विस्तृत देश में, जहाँ मनुष्यों की विभिन्न जातियाँ बसती है, सब से प्रचलित व्यावहारिक भाषा—उसे हम 'ज़बाने-उर्दू', 'रेख़्ता', 'हिंदी', 'हिंदुस्तानी' अथवा 'दकनी' जो चाहें कह लें—के अंतर्गत बोलियों की विभिन्नता मिलना स्वाभाविक है, और एक भाग के साधारण शब्द दूसरे भाग के निवासियों के लिए न केवल अपरिचित वरन् नितांत दुरूह हो सकते हैं। इस लिए वह भाषा जो यहाँ वर्णित है, और जो साधारणतया हिंदुस्तान खास या दकन में, दिल्ली, आगरा, हैदराबाद या कर्नाटक में प्रचलित है मूलतया एक है, फिर भी देश के विस्तार के कारण बोलियों में, अनेक अंशों में भेद हुए बिना नहीं रह सकता।"[1]

---

[1] In India, extensive as it is, and peopled by many different races of men, variety of dialects must be expected to occur in the most prevalent colloquial language, whether denominated *Zaba'n-i-urdu*, *Rekhta*, *Hindi*, *Hindustani*, or *Dakhani;* and words of common use in some parts

इस कोष का टैटिल पेज यों है:

> "A Dictionary, Hindustani and English, with a copious Index, fitting the work to serve, also, as A Dictionary English and Hindustani By John Shakespear. London: Printed for the Author, *by* J. L. Cox and Son, 75 Great Green Street, Lincoln's-Inn Fields; and sold by Parbury, Allen and Co. Booksellers to the Hon. East India Company. Leadenhall Street. MD CCC XXXIV."

हज़ार पृष्ठ से अधिक का यह कोष मेरे इस लेख का आधार है।

मैं कुछ ऐसे हिंदी शब्दों की सूची देता हूँ जिन का अब प्रायः व्यवहार नहीं होता है—

अधन	निर्धन के अर्थ में
उबाकना	वमन करना
अबलापा	कमज़ोरी—असामर्थ्य
अबूझ	नासमझ
अबोला	जिसे चुप रहने की आदत हो
उभराना	बर्तन को ऊपर तक भर देना
अपटक	जो हाथ पैर चलाने में असमर्थ हो
उपराला	सहायता

---

may appear strange, or be even unintelligible, to the inhabitants of others. Thus, though the language here treated of, and which most generally prevails in Hindustan proper, or in the Dakhan, at Delhi, Agra, Hyderabad, or in the Carnatic, is essentially one and the same; yet, through so wide a range of country, differences will present themselves in various particulars of speech.

उपरावरी	लड़ाका
उपरौंचा	अँगोछा
अफेंडा	घमंडी
अटन	ढेर
उजानै	नदी के प्रवाह के विरुद्ध
उजवाना	एक पात्र से दूसरे में उड़ेलवाना
उज्झड़	गँवार
अदर्सा	मलमल का एक प्रभेद
अधबर	बीच में
अधर्सा	कपड़े का आधा टुकड़ा
अबराना	घबड़ाना
अरस	नीरस
अकँट	चतुरता
अगाना	भिन्न करना
अगनी	कपड़ा सुखाने के लिए रस्सी
उरेब	धोखा
अड़ानी	बड़ा छाता
अड़ंग	ऐसा शहर जहाँ तिजारत हो
अड़ैंच	दुश्मनी
ओसारा	बरांडा
उसिजना	उबालना
आसन तले आना . . .	आधीन होना
असौ	इस वर्ष
उसीसा	तकिया
अशुधिया	अशुद्ध बोलने या पढ़ने वाला
अकड़ैत	अकड़ने वाला
आग फाँकना . . .	बातें बनाना

आगम बाँधना	भविष्यवाणी करना
अगोरना	देख-भाल करना
अगोरिया . . .	चौकीदार
अलंग	किनारा; कोना
अंटाचित	अभागा
इंडुआ	कपड़े का टुकड़ा जिस पर गठ्ठर रक्खा जाय
आवाई	खबर
ओस पड़ जाना . . .	दाम कम हो जाना
ऊकना	भूल करना
औगाह	गहरा
उहार	पालकी को ढकने का कपड़ा
बात फेंकना . . .	चिढ़ाना
बाज	विरह
बाछना	चुनना
बाँस पर चढना . . .	अपवादित होना
बवरूता	बहुरूपिया; मूर्ख
बित्तम बित्तम . . .	थोड़ा थोड़ा कर के
बटपाड़	डाकू
बजोड़ना . . .	मारना
बिचकाना	प्रतिज्ञा भंग करना
बुरास . . .	क्रोध; अप्रसन्नता
बसनी	बटुआ
बिसुरना	धीरे-धीरे रोना
बकारा	मुसाफ़िर
बिलल्ला	मूर्ख
बंदूहा	आँधी

बनहा	जादूगर
बवेसिया . .	बकनेवाला
बिहाना	समय व्यतीत करना
भदेसल	भद्दा; कुरूप
बहुरना	वापस आना
भड़ंग	भड़भड़िया
भकुआ	बेवकूफ़
भंभूआ	वह फ़क़ीर जो चोरी करने पर बाध्य होता है
भोकस	जादूगर
पाटूनी	मल्लाह
पातर	वेश्या
पिछलपाई . . .	भूतिनी
पिड़ाना	दर्द करना (यह अच्छा संस्कृत "पीड़ा" से उत्पन्न हुआ शब्द है)
परचूनिआ . . .	अनाज बेचने वाला
पसर . . .	मवेशी को रात में चराना
पखेस	मुहर
पुलहाना	राज़ी करना
पँवारा	कहानी
पोआना	धूप में सुखाना
पोटला	गट्ठर
पौढ़ना	लेटना
पोली	बेवकूफ़
पोहना	रोटी बनाना
फफसा . . .	वे स्वाद का
फर्फंद	धोखा

फसकड़ . . . . जमीन पर पाँव फैला कर बैठना
पेखनिया . . . . नाटक करने वाला पात्र
तारे तोडना . . . धोखा देना
तपरी . . . . थोड़े ऊँचाई की जगह
ततरी . . . . चपला कुमारी
तितिंबा . . . . अड़चन
तुर्तुरा . . . . तेज़ (मनुष्य)
तड़ा . . . . द्वीप
तौंसना . . . . गर्मी से परेशान होना
थाँग . . . . चोरों का अड्डा
थोड़दिला . . . . कृपण
त्यूर . . . . सर चकराना
त्यौंधा . . . . जिसे कम सूझता है
टाबर . . . . छोटा तालाब
टिपका . . . . उँगली से लगाया हुआ कोई रंग
टकसाल चढ़ना . . . शिक्षा प्राप्त करना
ठेसरा . . . . ताना
जागाबंदी . . . . नींद आना
जुल . . . . धोखा
जमोगना . . . . दर्याप्त करना
जुन्हाई . . . . चंद्रमा की ज्योति
झाँसू . . . . धोखा देने वाला; फुसलाने वाला
झकोर . . . . हानि
झोझा . . . . पेट
चपड़ाऊ . . . . निर्लज्ज
चप्पन . . . . बर्तन का ढक्कन

चफाल	ऐसा स्थान जिस के चारों तरफ़ दल-दल हो
चट्टा	विद्यार्थी
चकरैला	गोल
चकलाना	चौड़ा करना
चिकनिया	शौकीन आदमी
चंडावल	सेना के पीछे का अंश
चौतर्का	एक प्रकार का तंब
चोर ढोर	मुद्दई और मुद्दालह
चौड़ाई मारना . . .	बातें बनाना
चौकड़ी भूलना . . .	आपे से बाहर होना
चोंटी आसमान पर घिसना .	घमंडी होना
छतनार	चिपटा
छुरी तले दम लेना . .	कठिनाई में न घबराना
छीजना	घटना; रोगी होना
दुरना	छिपना
दसौंधी	प्रशंसात्मक कविता लिखने वाला
डगरा	सड़क
दिगवार	चौकीदार
दुल्मियाँ	छोटा वटुआ
दिनी	बुड्ढा (जानवर)
धँधार	अकेला
धुँधेला	दुष्ट
धिँगाना	त्रस्त करना
धूरा देना	ठगना
डावक	कुएँ का ताज़ा पानी
डुकरिया	बुढ़िया

ढाँसा	अपवाद
रखड़	थकान
रमदू फद्दू	साधारण लोग
रहवाई	मकान का किराया
सापन	वह रोग जिस में सर के बाल झड़ जाते हैं
सपर्दा	नाचने वाली औरत के साथ का बजाने वाला
सुतार	बढ़ई
सत्राना	क्रुद्ध होना
सताऊ	तंग करने वाला
सतीला	बलवान
सुकलाई	(शुक्ल से) सफ़ेदी
सिवाना	सीमा
सुनोधन	इशारा
सेना	गाँव का तहसीलदार
कालिमा	अपवाद
कुलाँच मारना	कूदना
कुलबोड़	जो अपने कुल को कलंक लगाता है
कमठ	एक तरह का धनुष (यह संस्कृत शब्द है)
कंटर	कृपण
कँगड़ा	मोटा-ताज़ा
कने	नज़दीक ; पास
कूटना	दाम लगाना
कौंध	चमक (जैसे बिजली की)
खब्बा	बँहथिया

खटाल	वसंत समय
खरियाना	जमा होना
खिसियाहट . . .	बिगड़ना

इस प्रकार के सैकड़ों शब्द हिंदी में पहले बोल-चाल में व्यवहृत थे। कोई कारण नहीं कि ये फिर से व्यवहार में न लाए जावें।

हिंदुस्तानी के संबंध में कुछ ग़लतफ़हमियाँ

[लेखक—डाक्टर ताराचंद, एम्० ए०, डी० फ़िल्० (आक्सन)]

इधर हाल में कई पत्र-पत्रिकाओं में ऐसे लेख प्रकाशित हुए हैं, जिन का संबध उस समस्या से है जो हिंदुस्तान की आधुनिक भाषाओं के, और विशेषतः संयुक्त प्रांत की भाषा के विकास से दिलचस्पी रखनेवालों का ध्यान आकर्षित कर रही है। समस्या नई नही है। वास्तव में उन्नीसवीं सदी के शुरू में ही, जब कि जॉन बोथविक गिलक्राइस्ट ने कलकत्ता के फ़ोर्ट विलियम कालिज में लल्लूलाल, सदल मिश्र, मीर अम्मन, मीर बहादुर अली, हैदरबख्श 'हैदरी', क़ाज़िम अली 'जवान', मज़हर अली ख़ाँ 'विला', निहालचंद, शेरअली 'अफ़सोस' इत्यादि को इकट्ठा कर के उन के द्वारा फ़ारसी और ब्रजभाषा से अनुवाद कराना शुरू किया था, अनुवाद के लिए प्रयोग में लाई जानेवाली भाषा के नाम, स्वभाव, मर्यादा और शैली की समस्या उपस्थित हो गई थी। इस समस्या की ओर उन्नीसवी सदी भर लोगो का ध्यान आकर्षित होता रहा, और कुछ वर्षो मे तो वादविवाद बहुत जोर से चला। १८६० और १८८० के बीच जॉन बीम्स और एफ़्० एस्० ग्राउज ने इस विषय पर शास्त्रीय पत्रिकाओं में विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद ने बीम्स का पक्ष ग्रहण करते हुए भाषा में फ़ारसी और अरबी के प्रभाव को कायम रखने के लिए अपील की, किंतु राजा लक्ष्मणसिंह ने इस का विरोध किया और फ़ारसी तथा अरबी अंशों को हटा कर उन के स्थान पर संस्कृत के शब्दों को लाने के पक्ष मे ग्राउज़ का समर्थन किया। यह बात भी मनोरंजक है कि ईसाई धर्म-प्रचारकों ने भी संस्कृत के प्रभाव का पक्ष लेने में कमी नही की। सर जी० ए० ग्रिअर्सन—जिन्हें सभी लोग भारतीय भाषा-विज्ञान का आचार्य मानते हैं—ने अपनी पुस्तक 'लिंग्विस्टिक सर्वे अव् इंडिया' के भाग ९ के पहले हिस्से में लिखा है—"दुर्भाग्यवश इस युग में सब से प्रभावशाली अँगरेज संस्कृत-मिश्रित भाषा के ही पक्ष में रहे हैं। ईसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा इसी संस्कृत-मिश्रित हिंदी का प्रयोग हुआ है, और इंजील का अनुवाद भी उसी हिंदी

में हुआ है। कुछ भारतीय लेखक जो ठेठ हिंदी के पक्ष में थे इस भ्रमपूर्ण प्रयत्न के शक्तिशाली उदाहरण के मुक़ाबले में बहुत कम सफल हुए।"

बीसवीं सदी के आरंभ से वही विवाद फिर जोरों के साथ शुरू हो गया है। इस प्रकार यह विवाद जो लगभग डेढ़-सौ बरस से जारी है केवल सामयिक या महत्वहीन नहीं कहा जा सकता। वास्तव में इस समस्या के निर्णय पर बहुत से व्यावहारिक महत्व के परिणाम निर्भर है। इस लिए यह आवश्यक है कि इस समस्या पर बिना अनावश्यक आवेश और जहाँ तक संभव हो सके बिना दलबंदी के भाव के ग़ौर किया जावे।

नाम-संबंधी ग़लतफ़हमियाँ

प्रश्न के पक्ष-विपक्ष में विचार करने और दोनों विरोधी दलों के पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण को समझने के पहले मुझे यह आवश्यक मालूम होता है कि जिन नामों का हम प्रयोग करे उन की ठीक-ठीक परिभाषा दे दे, क्योंकि इस संबंध में बहुत कुछ ग़लतफ़हमी इस कारण होती है कि उन नामों के अर्थ के बारे में लोगो को भ्रम है। इस विषय में बहुत से नामों का प्रयोग हुआ है, जिन में से कुछ ये है—'भाषा', 'हिंदवी', 'हिंदी', 'हिंदुस्तानी', 'ज़बानेहिंदुस्तान', 'देहलवी', 'खड़ी बोली', 'मध्यदेश की बोली', 'रेख़्ता', 'ज़बाने-उर्दू-ए-मुअल्ला', 'उर्दू'। इन सब नामों में 'हिंदी', 'हिंदुस्तानी' और 'उर्दू' का प्रयोग अधिक होता है, और वास्तव में वादविवाद भी अब इन तीन नामों के प्रयोग के ही संबंध में है।

हिंदी

सब से पहले हमे हिंदी नाम को ही लेना चाहिए। जैसा कि भारतीय भाषा-विज्ञान के सभी विद्यार्थी जानते हैं। हिंदी या हिंदवी नाम का प्रयोग कई विभिन्न अर्थो मे हुआ है। उन में से तीन जो अधिक महत्व रखते है, नीचे दिए जाते है—

(१) हिंदी या हिंदवी नाम का प्रयोग साधारणतया भारतीय के अर्थ में हुआ है। भारतवर्ष के साथ जब मुसलमानों का प्रारंभिक संपर्क हुआ तभी से उस का प्रयोग इसी अर्थ में होने लगा। लाहौर और दिल्ली के पास बसने के बाद जब मुसलमानो ने

भारतीय आर्य-भाषा को अपनाया तब उस भाषा के लिए हिंदी या हिंदवी नाम का प्रयोग हुआ। इस प्रयोग के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं। १२२८ मे मोहम्मद औफी ने कुछ कवियों की कविताओं का संग्रह किया। उन कवियों में उस ने ख्वाजा मसूद सआद सलमान नामक एक कवि का भी जिक्र किया है, और लिखा है कि उस ने हिंदवी भाषा मे एक दीवान लिखा था। अलाउद्दीन खिलजी (१२९५-१३१५) के शासनकाल में, फख्रुद्दीन मुबारक गजनवी ने एक शब्द-कोष तैयार किया जिस में उस ने फ़ारसी के शब्दों के हिंदी पर्यायवाची शब्दों को दिया। अमीर खुसरौ (जिस की मृत्यु १३२५ मे हुई) ने भी हिंदी और हिंदवी नामों का प्रयोग किया। शाह मीराँ जी शमसुल उश्शाक ने, जिन का देहांत १४९५ मे हुआ, अपनी रचनाओं की भाषा हिंदी बतलाई है। दक्षिण भारत में भी हिंदी शब्द का प्रयोग दक्खिनी के साथ-साथ आम तौर पर हुआ। नुसरती ने, जो बीजापुर के शासक, अली आदिल शाह द्वितीय के दरबार में राजकवि था, अपनी हिंदी कविताओं का जिक्र किया है। दक्षिण में विकसित होनेवाली कविता को जब मुगल दरबार में आश्रय मिला तब दिल्ली के शायरों ने भी अपनी काव्य-भाषा के लिए हिंदी नाम का ही प्रयोग किया। शायरों मे, शाह हातिम से ले कर ग़ालिब तक, इस प्रयोग के अनेक उदाहरण मिल सकते है, और गद्य के संबंध में भी प्रारंभिक लेखकों से ले कर सर सैयद अहमद खाँ तक अनेक उदाहरण मिलेंगे। इस प्रयोग के अनुसार हिंदी का अर्थ वही है जो आजकल उर्दू का है।

(२) हिंदी शब्द का दूसरा प्रयोग प्रांतीय प्रचलित भाषाओं के उस वर्ग के लिए होता है, जिसे ग्रियर्सन ने 'टर्शियरी प्राकृत्स' (तीसरी प्राकृत) और डाक्टर सुनीतिकुमार चैटर्जी ने नई इंडो-एरियन भाषाएँ कहा है। वह प्रदेश, जहाँ इन भाषाओं का प्रयोग होता है, पश्चिम में सरहिंद से ले कर पूरब में बनारस तक, और उत्तर में हिमालय की तराई से ले कर दक्षिण में नर्मदा तक फैला हुआ है। इन भाषाओ का प्रचार प्राचीन मध्य-प्रदेश और उत्तरी और दक्षिण कोशल में है। वे भाषाएँ पश्चिमी हिंदी और पूरबी हिंदी, इन दो शाखाओं से संबद्ध है। इस प्रकार हिंदी शब्द का प्रयोग निम्नलिखित मानी हुई प्रचलित भाषाओं के लिए होता है—बुंदेली, कनौजी, ब्रजभाषा, बाँगड़ू, ग्रियर्सन द्वारा पुकारी जानेवाली हिंदुस्तानी या बाबू हरिश्चंद्र द्वारा पुकारी जानेवाली खड़ीबोली या, शेख बाजन और अमीर खुसरौ द्वारा पुकारी जानेवाली देहलवी, अवधी, बघेली और

छत्तीसगढ़ी। इन आठ भाषाओं के अतिरिक्त कुछ विद्वान् राजस्थानी और मगही को भी इसी वर्ग में शामिल करते हैं। पंडित सूर्यकरण पारीक और श्री नरोत्तमदास स्वामी राजस्थानी के और श्री राहुल सांकृत्यायन मगही के पक्षपाती हैं। इस प्रकार पंजाब से ले कर बंगाल तक की सभी प्रचलित भाषाओं के लिए हिंदी शब्द का प्रयोग होता है।

(३) तीसरे अर्थ में हिंदी शब्द का प्रयोग विशेषतः हिंदुस्तानी, खड़ीबोली या देहलवी नाम से पुकारी जानेवाली साहित्यिक भाषा के लिए होता है। ध्वनि और व्याकरण की दृष्टि से आधुनिक हिंदी उन सब प्रचलित भाषाओं से भिन्न है, जो पश्चिमी और पूरबी हिंदी के वर्गों में शामिल की जाती है, और उर्दू के समान है।

उर्दू

हिंदी के लिए उर्दू नाम का प्रयोग शायद मुसहफ़ी ने ही पहले-पहल किया था। १७५२ में तैयार किए गए अपने कविता-संग्रह में मीर ने 'जबाने-उर्दूए-मुअल्ला' नाम का प्रयोग किया। क़ाइम की 'मखज़ने निकात' (१७५४) में भी इस नाम का प्रयोग मिलता है। बाक़र आगाह नामक दक्षिण के एक शायर ने १७७२ में, और अली इब्राहीम खाँ ने १७८३ में उर्दू शब्द का प्रयोग किया था। अता हुसैन तहसीन ने 'नौ तर्ज़े-मुरस्सा' (१७७० या १७९७) में 'ज़बाने-उर्दूए-मुअल्ला' का उल्लेख किया है। १८०१ में लिखी गई पुस्तक 'बाग़ो-बहार' की भाषा को मीर अम्मन ने उर्दू कहा था। ध्वनि और व्याकरण के नियमों को देखते हुए उर्दू हिंदी के ही समान है, अंतर केवल बाहरी शब्दों के आने के कारण हो गया है।

हिंदुस्तानी

वजही (१६३५) की रचनाओं में, फ़रिश्ता (जन्म १५९०) द्वारा लिखे हुए इतिहास में, और अब्दुल हमीद लाहौरी (मृत्यु १६५४) के 'बादशाहनामा' में 'जबाने-हिंदुस्तान' नाम का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार मालूम होता है कि इस भाषा के लिए १६-१७वीं सदियों में जबाने हिंदुस्तान नाम काफ़ी प्रचलित था। टैरी और (१६१६) फ़ायर (१६७३) ने इसे 'इंडोस्तान' नाम से पुकारा है, और असादुज़्ज़ी ने १७०४ में 'लिंगुए इंदोस्तानिका' के हस्तलिखित शब्द-कोष का ज़िक्र किया है। १७१५ में केटेलेयर

ने 'लिंग्वा हिंदोस्तानिका' की सब से पहली व्याकरण-पुस्तक और शब्द-कोष की रचना की। अठारहवीं सदी में हिंदुस्तानी नाम का प्रचलन हुआ। जब १८०१ में मीर अम्मन ने 'बाग़ो-बहार' की रचना शुरू की तो उस ने जान-बूझ कर ठेठ हिंदुस्तानी का प्रयोग किया। गिलक्राइस्ट ने 'हिंदुस्तानी' शब्द का ही अपनी किताबों के नाम के साथ प्रयोग किया, उदाहरणार्थ 'अँगरेज़ी-हिंदुस्तानी डिक्शनरी' और गार्सं द तासी ने पेरिस में हिंदी और हिंदुस्तानी के इतिहास पर भाषण दिए। 'हिंदुस्तानी' नाम का प्रयोग 'खड़ीबोली' के लिए किया गया है। बहुत से लेखकों ने इस नाम का प्रयोग उर्दू के लिए और कुछ ने आधुनिक हिंदी के लिए किया है।

हिंदुस्तानी की ग्रियर्सन द्वारा दी गई परिभाषा नीचे दी जाती है ताकि उस में स्थिति साफ़ हो जावे—"हिंदुस्तानी मुख्यतः गंगा के दोआब के ऊपरी भाग की भाषा है और भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा भी है, जो कि फ़ारसी और देवनागरी, दोनों लिपियों में लिखी जा सकती है। उस के साहित्य में विशुद्ध तत्सम शब्दों का प्रयोग कम होता है और फ़ारसी तथा संस्कृत शब्दों का प्रयोग अधिक नहीं होता। इस प्रकार उर्दू नाम हिंदुस्तानी की केवल उस विशेष शाखा को दिया जा सकता है जिस में फ़ारसी शब्दों का बहुधा प्रयोग होता है......और इसी प्रकार हिंदी उस शाखा को कहेंगे जिस में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है।"

इस प्रकार मालूम हो जाता है कि हिंदुस्तानी नाम नया गढ़ा हुआ नाम नहीं है जिस का मन्शा हिंदी और उर्दू का स्थान लेना हो। हिंदुस्तानी एक पुराना और प्रसिद्ध नाम है, जो उस भाषा के लिए प्रयोग में आता है जिस के उर्दू और हिंदी दो रूप हैं, और जो इन दोनों का आधार है।

भाषा-संबंधी ग़लतफ़हमी

नाम के संबंध में ग़लत धारणा होने की वजह से भाषा के संबंध में भी अजीब ग़लत-फ़हमी फैल गई है। भाषा और साहित्य के बड़े-बड़े इतिहासकारों ने भी हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी की उत्पत्ति और विकास के संबंध में निर्णय करने में ग़लती की है। इस ग़लती का कारण यह है कि या तो साहित्य की विभिन्न धाराओं का उन्हें ज्ञान नहीं है, या वे हिंदी के उपरोक्त तीनों अर्थों को और विशेषतः दूसरे और तीसरे को पृथक्-पृथक् रूप

से समझने में असमर्थ है। जब कुछ लोग हिंदी के विकास की बात करते हैं तो वे इस बात का खयाल नहीं करते कि हिंदी का इतिहास राजस्थानी, ब्रजभाषा और अवधी जैसी भाषाओं के इतिहास से भिन्न है। वे इस बात को भी भूल जाते है कि हिंदी और उर्दू के इतिहास में बहुत-सी समानता है।

हिंदुस्तानी या खड़ीबोली का, जो कि भारतीय आर्य-भाषाओं की ही एक शाखा से निकली है, मध्यदेश की अन्य भाषाओं से दसवीं सदी के लगभग अलग होने के बाद से अपना एक अटूट इतिहास है। जैसा कि सब लोग जानते है, गंगा के ऊपरी दोआब और आस-पास के हिस्सों में रहनेवाले लोगों की यही मुख्य भाषा थी और है। जब बारहवीं सदी के अंत में मुसलमान दिल्ली में और उस के आस-पास बसने लगे तब उन्हों ने इस प्रचलित भाषा को अपना लिया। इस प्रकार नए भाषा-भाषियों की ज़बान से कुछ नई ध्वनियाँ भी आ गईं। खड़ीबोली के व्याकरण-संबंधी नियमों में भी कुछ हलके और साधारण परिवर्तन हुए और मुसलिम विजेताओं की भाषा से उस में कुछ बाहरी शब्द भी आ गए। इस प्रकार जो परिमार्जित भाषा पैदा हुई, साहित्यिक प्रयोग के लिए वही काम में आने लगी। कहा जाता है कि अमीर खुसरो ने इस भाषा का प्रयोग चौदहवीं सदी में किया था, लेकिन उस समय का कोई पक्का सबूत नहीं मिलता, इस लिए यह बात निश्चय रूप से नहीं कही जा सकती। लेकिन दक्षिण में खड़ीबोली गद्य और पद्य दोनों की भाषा बन गई और वहाँ चौदहवीं और अठारहवीं सदियों के बीच उस भाषा में एक संपन्न साहित्य का सृजन हुआ। दक्षिण के इस साहित्य में भाषा-संबंधी दो विशेषताएँ हैं—भाषा में तद्भव शब्दों का बाहुल्य है और साहित्य में केवल विदेशी बातों की भरमार नहीं है। दक्षिण के लेखक उचित ही अपने को हिंदी का लेखक समझते थे। अपने गद्य और पद्य की भाषा को उन्हों ने ठीक ही हिंदी नाम दिया था।

इस के प्रतिकूल उत्तरी भारत में परिस्थिति बड़ी अजीब थी। यद्यपि खड़ीबोली या हिंदुस्तानी उत्तर भारत की ही भाषा थी किंतु साहित्यिक भाषा के रूप में उस का विकास मुख्यतः दक्षिण में ही हुआ। सत्रहवीं सदी से पूर्व उत्तर भारत में इस भाषा में पूरी तरह से लिखा हुआ कोई प्रमुख ग्रंथ मुश्किल से ही मिलेगा। जब तेरहवीं सदी में खड़ीबोली परिमार्जित हो कर सामने आई तो उसे राजस्थानी जैसी प्रतिद्वंदी भाषा से साहित्य के क्षेत्र में मुक़ाबला करना पड़ा। उस काल में राजस्थानी ही साहित्य के लिए

लोकप्रिय भाषा थी; जैन ग्रंथ और नरपति नल्ह आदि के काव्य भी उसी भाषा मे मिलते है।

पंद्रहवी सदी में जब भक्ति की लहर फैलनी शुरू हुई तब उस से तीन मतों का जन्म हुआ—निराकार-भक्ति, कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति। पहले मत के संत कबीर, नानक, दादू ने अपने विचारों का प्रचार करने के लिए अन्य प्रांतिक भाषाओं के साथ खड़ी बोली का प्रयोग किया। सूरदास, नंददास आदि कृष्ण-भक्तों ने अपने गीतों और भजनो मे केवल व्रजभाषा का ही प्रयोग किया। तीसरे संप्रदाय के संतो ने जिन के नेता गोस्वामी तुलसीदास थे, अपनी रचनाओं में अवधी भाषा का प्रयोग किया।

पंद्रहवी सदी तथा उस के बाद साहित्य की नदी दो धाराओं मे प्रवाहित हुई, जिन मे एक अवधी थी और दूसरी व्रजभाषा। केवल हिंदू लेखकों ने ही इन भाषाओं का प्रयोग नही किया, मुसलमानों ने भी उन्हें अपनाया। रहीम, रसखान और रसलीन व्रजभाषा के इतिहास मे उसी प्रकार प्रसिद्ध है जैसे हिंदू कवि, और सब लोग जानते है कि यदि मलिक मोहम्मद जायसी ने साहित्य की नीव न डाल दी होती तो कदाचित् अवधी 'रामचरितमानस' जैसे महान् ग्रंथ की रचना से वंचित रहती।

इस काल मे आधुनिक हिंदी या संस्कृत-मिश्रित हिंदुस्तानी की हालत डॉवाडोल रही। बोलचाल के लिए तो खड़ीबोली जीवित भाषा थी ही, लेकिन जहाँ तक साहित्य से संबंध है हिंदी (फ़ारसी-मिश्रित हिंदुस्तानी), व्रजभाषा और अवधी ही क्षेत्र में थी और अठारहवीं सदी के अंत तक परिस्थिति ऐसी ही बनी रही; हिंदी साहित्य का इतिहास लिखनेवाले कुछ लोगों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अठारहवी सदी से पहले भी आधुनिक हिंदी में साहित्य था, किंतु ये प्रयत्न सफल नही हुए हैं। सोलहवी सदी मे गंगाभट्ट द्वारा लिखित १६ पृष्ठ की 'चंद छंद वर्णन की महिमा' एक छोटी-सी पुस्तिका को आधुनिक हिंदी की पहली गद्यरचना बतलाया जाता है, और बहुत समय के बाद जटमल की 'गोरा बादल की बात' का नंबर आता है। पहली पुस्तक मिश्रित व्रजभाषा और खड़ीबोली में लिखी हुई है, और दूसरी के बारे में सिद्ध हो गया है कि वह उन्नीसवीं सदी में लिखी गई थी, और मूल राजस्थानी काव्य-ग्रंथ का अनुवाद है। कहा जाता है कि अठारहवीं सदी में दो या तीन और पुस्तकें जैसे 'मंडोवर का वर्णन', 'चकत्ता की पातस्याही की परंपरा' और मिलती है जो खड़ी बोली में लिखी गई है किंतु इन

की, साहित्यिक दृष्टि से, हिंदी (फ़ारसी-मिश्रित हिंदुस्तानी), व्रजभाषा और अवधी की गद्य-रचना से मुश्किल से ही तुलना की जा सकती है।

उन सब सदियों में फ़ारसी-मिश्रित हिंदी ही, न कि संस्कृत-मिश्रित हिंदी, सभ्य समाज की भाषा थी—वह हिंदू समाज हो या मुसलिम। यहाँ तक कि १८७१ में भारतेंदु हरिश्चंद ने अग्रवालो की उत्पत्ति पर अपनी पुस्तक के प्राक्कथन मे लिखा था "इन की (अग्रवालो की) बोली—स्त्री और पुरुष सब की—खडीबोली अर्थात् उर्दू है।" जो बात अग्रवाल जाति के विषय में सत्य थी वह उत्तर भारत के और सभी लोगों के विषय मे भी सत्य थी।

आधुनिक हिंदी का जन्म

वास्तव में आधुनिक हिंदी का युग उन्नीसवीं सदी के आरंभ से शुरू होता है। मुंशी सदासुखलाल नियाज़ ने ईस्ट इंडिया कंपनी की नौकरी से पेन्शन लेने के बाद जब इलाहाबाद में निवास करना शुरू किया, तब उन्हों ने श्रीमद्भागवत का स्वतंत्र अनुवाद किया और उसे 'सुखसागर' नाम दिया। उसी समय इन्शा अल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' की रचना की। इस के बाद गिल्क्राइस्ट और फोर्ट विलियम कालिज के अँगरेज़ प्रोफ़ेसरों ने सदल मिश्र और लल्लूलाल से हिंदुओं के वास्ते फ़ारसी-मिश्रित हिंदुस्तानी अथवा हिंदी के स्थान पर दूसरा साहित्यिक माध्यम तैयार करने के लिए कहा। 'हेरिटेज अव् इंडिया सीरीज़' में प्रकाशित 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में श्री एफ० ई० के० लिखते है—"किंतु उर्दू का शब्दकोष ऐसा था जिस में फ़ारसी तथा अरबी भाषाओं के, जिन का संबंध इस्लाम से था, अनेक शब्द ग्रहण कर लिए गए थे। हिंदी भाषा-भाषियों के लिए ऐसी साहित्यिक भाषा का होना जो हिंदुओं को ग्राह्य हो, उचित ही था। ऐसी भाषा उर्दू से फ़ारसी-अरबी के शब्द निकाल कर उन के स्थान पर संस्कृत और हिंदी के शब्द रख कर पैदा कर ली गई।" उन्हो ने फिर कहा है कि "लल्लूलाल की हिंदी वास्तव में एक नई साहित्यिक भाषा थी।" पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने १९२१ में 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' मे प्राचीन हिंदी पर एक लेख-माला लिखी थी। वह कहते हैं—"मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि हिंदुओं की रची हुई पुरानी कविता जो मिलती है, वह ब्रजभाषा या पूर्वी बैसवाड़ी, अवधी, राजस्थानी, गुजराती आदि ही में मिलती है, अर्थात् 'पड़ी बोली' में पाई

जाती है। खड़ीबोली या पक्की बोली या रेख्ता या वर्तमान हिंदी के आरंभ-काल के गद्य और पद्य को देख कर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फ़ारसी-अरबी तत्सम या तद्भव शब्दों को निकाल कर संस्कृत या हिंदी तत्सम और तद्भव रखने से हिंदी बना ली गई है।" एम० जूल्ज़ ब्लाक ('मराठी भाषा का निर्माण' नामक पुस्तक के लेखक) ने श्री के और पंडित गुलेरी के मत का समर्थन किया है। उन के अनुसार "लल्लूलाल ने डाक्टर गिलक्राइस्ट के कहने से 'प्रेमसागर' लिख कर इस प्रथा को बदल दिया। क्योंकि उस के गद्य-भाग प्रायः उर्दू में ही है, जिन में से फ़ारसी के शब्दों को निकाल कर भारतीय आर्य शब्द रख दिए गए हैं।......नई भाषा हिंदुओं की आम भाषा बन गई।"

कुछ नए हिंदी-लेखकों ने हिंदी की उत्पत्ति के विषय में इस मत का विरोध किया है, लेकिन जहाँ तक मुझे मालूम होता है उन के विरोध का अधिक समर्थन नहीं हुआ है। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि आधुनिक हिंदी (संस्कृत-मिश्रित हिंदुस्तानी) की उत्पत्ति और विकास के अध्ययन से हम केवल एक निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं—वह यह कि यह भाषा केवल १३५ वर्ष पुरानी है, और शायद उतनी भी नहीं, क्योंकि यद्यपि सदल मिश्र और लल्लूलाल ने आधुनिक हिंदी का श्रीगणेश किया, किंतु वह वास्तविक श्रीगणेश न था क्योंकि हिंदी पर फिर अंधकार के दिन आए और वह अंधकार १९५७ के ग़दर तक दूर न हुआ। उस अंधकार को राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह, बाबू हरिश्चंद्र आदि ने सदैव के लिए दूर किया और आधुनिक हिंदी साहित्य के युग का आरंभ किया।

ग़लतफ़हमी को दूर करने के लिए मैं निम्न-लिखित निष्कर्षों को पेश करता हूँ और मुझे विश्वास है कि उन्हें भाषा को शास्त्रीय रूप से अध्ययन करनेवाले ठीक मानेंगे—

(१) भारतीय आर्यवर्ग की पूर्वी भाषा मगही का साहित्य आठवीं सदी से शुरू होता है, जैसा कि श्री राहुल सांकृत्यायन ने दिखलाया है।

(२) उसी वर्ग की पश्चिमी भाषा, राजस्थानी, में बारहवीं से उन्नीसवीं सदी तक बहुत बड़ा साहित्य है, लेकिन अब वह साहित्यिक भाषा नहीं रह गई है।

(३) उसी वर्ग की दूसरी पश्चिमी भाषा, ब्रजभाषा, भी पंद्रहवीं से उन्नीसवीं सदी तक खूब संपन्न रही है। आधुनिक हिंदी के विकास के बाद वह गद्य-भाषा नहीं रह गई और अब पद्य-भाषा के रूप में भी क्षेत्र से हटती जा रही है।

(४) उसी वर्ग की पूर्वी भाषा, अवधी, पंद्रहवीं सदी में एक प्रमुख भाषा बन गई

लेकिन उसे ब्रजभाषा के समान लोकप्रियता नहीं हासिल हुई । अब वह साहित्यिक भाषा नहीं रह गई है ।

(५) चौदहवी से उन्नीसवीं सदी तक पश्चिमी और पूर्वी हिंदी की अन्य शाखाएँ साहित्यिक माध्यम बनी, लेकिन अब उन सब का प्रयोग समाप्त हो गया है।

(६) खड़ीबोली या हिंदुस्तानी के दो साहित्यिक रूप हैं। पहले के रूप का नाम उस भाषा का प्रयोग करनेवालों ने हिंदी रक्खा और अब उसे उर्दू कहा जाता है। चौदहवीं सदी से आज तक का उस का अटूट इतिहास है। दूसरे रूप का नाम आधुनिक हिंदी है। साहित्य के लिए इस का प्रयोग उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में हुआ और ग़दर के बाद से उस ने तेज़ी से उन्नति की है।

हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी का पारस्परिक संबंध

एक और ग़लतफ़हमी हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी के पारस्परिक संबंध के विषय में है। किसी को इस विषय में संदेह न होना चाहिए कि वास्तव में तीनों नाम एक ही भाषा के लिए हैं। भाषाओं के पारस्परिक संबंध को जानने के लिए यह आवश्यक होता है कि निम्नलिखित बातों को ध्यान में रख कर उन का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय—

(१) ध्वनि-संबंधी विशेषताएँ।

(२) व्याकरण अथवा शब्द-विन्यास की विशेषताएँ।

(३) शब्द-कोष।

इन तीनों में भी पहली दो बातें विशेष महत्व रखती हैं, और तीसरी का महत्व साधारण है। भाषाविज्ञान के सभी लेखक इस बात को मानते हैं कि भाषा में स्थायी चीज़ उस का व्याकरण होता है, जिस का यद्यपि समय के साथ कुछ रूपांतर होता रहता है किंतु वह असलियत में अक्षुण्ण रहता है। ध्वनि-संबंधी विशेषताएँ भी यद्यपि व्याकरण की भाँति स्थायी नहीं होतीं किंतु फिर भी वे काफ़ी स्थिर होती हैं। लेकिन भाषा का शब्द-कोष तरह-तरह की रुचियों पर निर्भर रहता है। ए० मेयीए जो आज भाषा-संबंधी सर्व-प्रमुख विद्वानों में से हैं, कहते हैं—

"उच्चारण और व्याकरण के क्रम स्थायी हैं, इन क्रमों के सारे अंग एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। ध्वनि और विन्यास के क्रम बाहरी प्रभावों को सहज में नहीं अपनाते.....

इस के विपरीत शब्दकोष का कोई नियत क्रम नहीं। ज्यादा से ज्यादा उस के बारे में यह कह सकते हैं कि शब्दों के छोटे-छोटे वर्ग होते हैं। सच तो यह है कि प्रत्येक शब्द का अपना पृथक् अस्तित्व होता है। इस प्रकार भाषा की मर्यादा को क़ायम रखने की इच्छा अर्थात् समय के परिवर्तन के बावजूद भाषा के व्यक्तित्व को बचाए रखने की इच्छा ध्वनि और विन्यास द्वारा ही सफल होती है।"

फ़ारसी में यद्यपि अरबी शब्दों की भरमार है, किंतु फिर भी वह सेमेटिक भाषाओं के कुटुंब से पृथक् आर्यवर्ग में शामिल है। यद्यपि अँगरेज़ी पर लैटिन का प्रभाव बहुत काफी मात्रा में है किंतु फिर भी उस की गिनती टच्यूटन कुटुंब में ही बनी हुई है। ऐंग्लो-सैक्सन शब्दों को तरजीह देनेवालों और जौनसन के अनुयायियों (लैटिन शब्दों का अधिक प्रयोग करनेवालों) की दो शैलियों के कारण अँगरेजी दो भाषाओं में विभक्त नहीं हो गई है। इतनी दूर न जाकर अपने देश की भाषाओं पर दृष्टि डालें तो देखेंगे कि सिंधी और पंजाबी में भी यही सिद्धांत काम करता दिखाई देता है। इन दोनों भाषाओं ने फ़ारसी और अरबी से काफ़ी शब्द लिए हैं, किंतु अपने ध्वनि और विन्यास-संबंधी नियमों के नाते वे भारतीय आर्यभाषाएँ हैं। शब्दकोष तो इतिहास, घटना-चक्र आदि पर निर्भर रहता है, जिस का उदाहरण गत महायुद्ध से मिल सकता है। युद्ध के समय इँगलैंड में उच्च घरानों ने जर्मन नामों को हटा कर अँगरेज़ी नाम धारण किए; इस प्रकार इँगलैंड के बादशाह के घराने का नाम हैनोवर के बजाय विंडसर पड़ा। फ्रेंच भाषा में, जो वैदेशिक शब्दों के विषय में सदैव सतर्क रहती है, अँगरेजी शब्द जैसे 'जेंटिलमैन' और 'स्पोर्ट' प्रवेश कर गए। रूस में शहरों के बाद आनेवाला शब्दांश 'बर्ग' हटा दिया गया, और उस के स्थान पर स्लाव लोगों का 'ग्राड' जोड़ दिया गया। इस प्रकार सेंट पीटर्सबर्ग का नाम पेट्रोग्राड हो गया, और जब भाग्य-चक्र ने पीटर्स के घराने को तबाह कर दिया तो पेट्रोग्राड का नाम लेनिनग्राड पड़ गया। ऐतिहासिक घटनाएँ, राष्ट्रीय आकर्षण और राष्ट्रीय विद्वेष तथा अन्य सामाजिक कारणों से शब्द-कोष सदैव प्रभावित होता रहता है।

इन सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए हम किस निर्णय पर पहुँचते हैं? हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी का ध्वनि-समूह एक है। तीनों में निम्नलिखित तीन तरह की ध्वनियाँ मौजूद हैं—प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के स्वर और व्यंजन, अर्वाचीन भारतीय भाषा के स्वर और व्यंजन तथा सेमेटिक भाषाओं की कुछ ध्वनियाँ। इस बात को कभी-कभी

थोड़ी-सी हिचकिचाहट के साथ, व्याकरण के आचार्य मानते है। उदाहरणार्थ देखिए पंडित कामताप्रसाद गुरु का 'हिंदी-व्याकरण', डाक्टर धीरेंद्र वर्मा का 'हिंदी भाषा का इतिहास', और मौलवी अब्दुल हक़ का 'क़वायदे-उर्दू'। ध्वनि-क्रम के अनुसार हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी एक है, किंतु अन्य आर्य और सेमेटिक भाषाओं, जैसे संस्कृत, ब्रजभाषा, अवधी, फ़ारसी और अरबी, से भिन्न हैं।

इन तीनों का व्याकरण भी क़रीब-क़रीब एक-सा ही है। ग्रियर्सन साहब लिखते हैं कि "उर्दू और हिंदी में इस्तैमाल होनेवाली क्रिया और संज्ञा के रूपांतरों में भी कोई खास फ़र्क़ नहीं है।"

'आधुनिक आर्य-भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' में जॉन बीम्स लिखते है :— "जब दोनों भाषाओं के व्याकरण मे कोई विशेष अंतर नहीं, तब उर्दू और हिंदी को दो भिन्न भाषाएँ बतलाना यह जाहिर करता है कि लोगों को व्याकरण के प्रश्न पर तथा भाषा-विज्ञान के सिद्धांतों के बारे मे बड़ी ग़लतफ़हमी है।"

शब्दकोष का अंतर

शब्दकोष की दृष्टि से इन भाषाओं में पूरी समानता नहीं है। किसी भाषा में एक तो भाषा मे बोले जानेवाले तद्भव शब्द होते हैं, दूसरे अन्य भाषाओं से लिए गए बाहरी शब्द होते हैं, और तीसरे नए बनाए हुए शब्द होते है। जहाँ तक उर्दू और हिंदी से संबंध है, दोनों में प्रथम कक्षा के बहुत-से समान शब्द हैं, उदाहरणार्थ सब क्रियाएँ, सर्वनाम, बहुत से अव्यय आदि एक हैं।

फिर जहाँ तक संज्ञाओं और विशेषणों का प्रश्न है, दोनों ने संस्कृत, प्राकृत, फ़ारसी, अरबी तथा अन्य भाषाओं से शब्द उधार लिए है। इस प्रकार कितने बाहरी शब्द लिए गए, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस दृष्ट से पूर्ण वैज्ञानिक ढंग पर बनाए गए शब्द-कोष अभी नहीं मिलते। 'फ़रहंगे-आसफ़ीया' नामक प्रसिद्ध शब्दकोष के संकलन-कर्ता मुन्शी सैयद अहमद देहलवी ने अपने संगृहीत शब्दों का विश्लेपण किया है। कुल शब्दों की तादाद ५०००९ है, जिन में से अरबी से लिए गए शब्द ७५८४, फ़ारसी से लिए गए ६०४१, संस्कृत से ५५४, अँगरेज़ी से ५०० और अन्य भाषाओं से लिए गए शब्द १८१ हैं। बाक़ी तद्भव शब्द हैं। नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा संगृहीत 'हिंदी

शब्द-सागर' के पृष्ठों को यदि उलट कर देखें तो हमें मालूम होगा कि उन ७५८४ अरबी और ६०४१ फ़ारसी के शब्दो मे प्रायः सब उस हिंदी शब्द-कोष में मौजूद हैं। अब साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि जहाँ तक बाहरी शब्दों से ताल्लुक़ है वहाँ भी हिंदी और उर्दू में इतना अधिक अंतर नही, जैसा कि कुछ लोगों का खयाल है। जहाँ तक उपसर्ग और प्रत्यय से बने हुए शब्दों से ताल्लुक़ है मालूम होता है कि इन में भी बहुत कुछ समानता है।

यहाँ तक तो हम ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि हिंदी और उर्दू के शब्द-कोष मे समानता है, पर यह भी जान लेना ज़रूरी है कि दोनों मे विभिन्नता भी है, और वह विभिन्नता बहुत बड़ी है, और यदि उस की तरफ़ ध्यान न दिया जाय तो उस के बहुत बढ़ जाने की संभावना है। हिंदी और उर्दू के लेखक दो दलों में विभक्त है। एक दल तो प्राचीन भाषाओं से तत्सम शब्दों को अधिकाधिक संख्या में लेने को उत्सुक रहता है, और दूसरा दल उस संख्या को सीमित रखना चाहता है। हिंदी और उर्दू के पहले दल वाले एक ही सी दलीलें पेश करते हैं। उदाहरणार्थ हिंदी के कुछ लेखक संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करने मे और फ़ारसी तथा अरबी शब्दों का बहिष्कार करने में निम्न-लिखित दलीले पेश करते हैं—

(१) हिंदी भारतीय आर्यभाषा है और उस का बँगला, मराठी, गुजराती आदि उसी वर्ग की भाषाओं से घनिष्ठ संबंध है। इस लिए यह स्वाभाविक ही है कि ये सब भाषाएँ संस्कृत भाषा से अपने शब्द लें क्योंकि संस्कृत से उन का जन्म हुआ है। जितने ही अधिक तत्सम शब्दों का प्रयोग होगा और जितने ही अधिक संस्कृत मूलों का प्रयोग किया जायगा उतना ही अधिक ये सब प्रांतीय भाषाएँ निकट आती जायँगी और हिंदी की लोक-प्रियता बढ़ेगी। इस प्रकार हिंदी अखिल-भारतीय भाषा बन सकेगी।

(२) शब्दों में एक विशेष सांस्कृतिक वातावरण हुआ करता है। संस्कृत शब्दो मे प्राचीन भारतीय संस्कृति की झलक मौजूद है, जब कि फ़ारसी और अरबी के शब्दो मे विदेशीपन टपकता है। इस लिए किसी भी भारतीय भाषा में संस्कृत शब्दों का समावेश फ़ारसी तथा अरबी शब्दों के समावेश से ज़्यादा अच्छा होगा।

इन दलीलों में सार है। यही नही, इन में हृदय को प्रभावित करने की क्षमता है। इस लिए इन तर्कों का सावधानी के साथ अध्ययन करना होगा।

जो लोग अरबी के शब्दों के लेने के पक्ष में हैं, वे भी इसी तरह की दलीलें पेश करते

हैं। इन के मतानुसार अरबी एक बहुत बड़े संप्रदाय की धर्म-पुस्तकों की भाषा है और उस में उन की परमप्रिय परंपराओं का समावेश है। इस के साथ अरबी एक जीवित भाषा है जिस में तेजी के साथ पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रभावों का समावेश हो रहा है, और इसी लिए अरबी द्वारा आधुनिक विचार-धारा के अनुसार प्रयुक्त होनेवाले शब्द आसानी से मिल सकते हैं। सारे भारतवर्ष में अरबी धार्मिक संप्रदाय में काफ़ी पढ़ी जाती है, और उस की ध्वनियों से तथा उस के शब्दों से काफ़ी लोग परिचित हैं। खड़ीबोली या हिंदुस्तानी पर इस का काफ़ी प्रभाव पड़ा है, जिस के सबूत में खड़ीबोली का व्याकरण या उस की ध्वनियों तथा उस की शब्दावली को पेश किया जा सकता है। पहले भी सूरदास ऐसे ब्रजभाषा के तथा तुलसीदास ऐसे अवधी के महान कवियों ने अपनी कविताओं और गीतों में अरबी शब्दों का प्रयोग करने में आपत्ति नहीं की; और कवियों ने हज़ारों ऐसे शब्द भाषा में सम्मिलित कर लिए जो 'शब्दसागर' में देखे जा सकते हैं। इन तर्कों के सार में कोई अविश्वास नहीं कर सकता। लेकिन इन पर ध्यान से विचार करने के बाद इसी निर्णय पर आना पड़ता है कि इन दोनो के बीच का रास्ता ही ठीक होगा। हिंदुस्तानी में संस्कृत शब्दों के प्रयोग के खिलाफ़ आवाज उठाने वालों में जे० बीम्स और सर जी० ए० ग्रिअर्सन की कोटि के प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् ही नहीं बल्कि राजा शिवप्रसाद, पंडित बाल-कृष्ण भट्ट, पंडित गिरिधर शर्मा, पंडित पद्मसिंह शर्मा और पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय जैसे हिंदुस्तानी विद्वान् भी मौजूद हैं।

यहाँ पर मैं केवल पंडित गिरिधर शर्मा की सम्मति उद्धृत करता हूँ—"संस्कृतमय बना कर आपने बंगाल, महाराष्ट्र आदि में हिंदी का प्रचार शीघ्र कर लिया, किंतु वह केवल शिक्षितों की भाषा बन गई। सर्वसाधारण उसे बिलकुल न समझ सके तो क्या लाभ हुआ? लाभ क्या, बड़ी हानि हो गई। हिंदी भाषा में हिंदी भाषा के शब्द ही प्रथम लेने चाहिएँ, फिर जब उन से आवश्यकता पूरी न हो तब संस्कृत भाषा से सरल शब्द लेने चाहिएँ।"

दूसरी ओर सैयद हुसैन बिलग्रामी, मौलवी वहीदुद्दीन सलीम और मौलवी अब्दुल हक ऐसे विद्वानों ने अरबी के पक्षपातियों के जोश को कम करने की कोशिश की है। मौलवी वहीदुद्दीन ने 'वज़ए-इस्तलाहात' नामक किताब में कहा है—"हम को इस धोखे से बचना चाहिए और हिंदी ज़बान के अलफ़ाज़ व हुरूफ़ से, जो हमारी ज़बान की

फ़ितरत में दाख़िल हैं, नाक भौं चढ़ाना नहीं चाहिए। हम जिस तरह अरबी और फ़ारसी से इसतलाहात लेते हैं, इसी तरह हिंदी से भी बेतकल्लुफ़ वाज़े इस्तलाहात से काम लेना चाहिए।"

पड़ोसियों के बीच भेद की दीवारें

दुर्भाग्यवश ये वर्ग एक दूसरे से पृथक्-पृथक् काम कर रहे हैं और इस लिए उन की सलाह और चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया गया। इस का फल यह हुआ है कि हिंदी और उर्दू शिक्षितों की भाषाएँ बनती जा रही हैं, और बोलचाल की भाषा से दूर हटती चली जा रही हैं। पड़ोसियों के बीच वे भेद की दीवारें खड़ी करती जा रही हैं, जब कि चाहिए यह था वे उन के पारस्परिक संपर्क को बढ़ाने के लिए एक माध्यम बनतीं। उन की उपादेयता कम होती जा रही है और उन की लोकप्रियता भी घटती जा रही है।

सांस्कृतिक कारणों के आधार पर दिए जानेवाले तर्कों के महत्त्व को अवश्य बढ़ा दिया गया है। संस्कृति हमारे आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक तथा कला-संबंधी विचारों पर निर्भर रहती है। ये विचार एक अंश में मनुष्य के प्रकृति की शक्तियों के विरुद्ध युद्ध करने से पैदा होते हैं। उस संघर्ष के द्वारा ही मानव-समाज अपने जीवन के उपाय करता है; और दूसरे अंश में उन विचारों की उत्पत्ति मनुष्य के आंतरिक संघर्ष से होती है, जिस के द्वारा उस की मनोवृत्तियों का एकीकरण होता है। इस प्रकार भौतिक और मानसिक कारणों से संस्कृति पैदा होती है। इस लिए संस्कृति एक ओर प्रादेशिक होती है, जैसे फ्रेंच, अँगरेज़ी, चीनी, फ़ारसी इत्यादि और दूसरी ओर वर्गों के हिसाब से, जैसे कुलीन और धनी लोगों की संस्कृति, मध्यश्रेणी के लोगों की संस्कृति और मज़दूर तथा किसानों की संस्कृति। हम भारतीय संस्कृति कह सकते हैं, किंतु क्या उर्दू संस्कृति और हिंदी संस्कृति कहना अर्थ-संगत होगा? उर्दू अर्थात् फ़ारसी-मिश्रित हिंदुस्तानी का पहले भी हिंदुओं के धार्मिक विचारों का प्रचार करने के लिए प्रयोग होता आया है। आज भी उस का इस उद्देश्य से प्रयोग हो रहा है, और जहाँ तक अनुमान होता है भविष्य में भी उस का प्रयोग इस लिए होता रहेगा। इसी प्रकार हिंदी मुसलमानों के लिए उपयोगी सिद्ध होती आई है, और क्यों न हो? जब चीनी, फ़ारसी, पश्तो, जावानी, अवधी, बँगला और अरबी से कुछ भी संबंध न रखने वाली ऐसी ही अनेक भाषाओं का प्रयोग मुसलमानों

के धार्मिक विचारों को प्रकट करने के लिए हो सकता है, तब फिर हिंदुस्तानी में संस्कृत के कुछ शब्दों के प्रयोग से धर्म पर क्या आफ़त बरपा हो सकती है ?

भारतीय संस्कृति आधुनिक विकास की चीज है, जिस के विकास में इस महान देश मे रहने वाली प्रत्येक जाति का कुछ न कुछ हिस्सा है। उस संस्कृति के आदर्श राष्ट्रीय है जो प्रांत, जाति और संप्रदाय की संकीर्णताओं से परे है। जिन भौतिक और सामाजिक अवस्थाओ में इस संस्कृति का जन्म हो रहा है वे पहले जैसी नही हैं, और हमारे आंतरिक तथा बाहरी संघर्ष भी पहले जैसे नही हैं। पुराने विचार बदल रहे हैं, और आवश्यकता अब एक नई व्याख्या और नई अभिव्यक्ति की है। समान संस्कृति के इस अनुभव की प्रेरणा से ही भारतवर्ष के साहित्य का निर्माण होना चाहिए, साहित्य की भाषा तमिल, तेलुगू, गुजराती, बँगला, मराठी या हिंदुस्तानी चाहे जो हो।

हम लोगों को उर्दू और हिंदी के विभिन्न सांस्कृतिक वातावरण पर अधिक ध्यान नही देना चाहिए, बल्कि हमें उस नीति के परिणामों पर भी ध्यान देना चाहिए जिस के द्वारा निम्न प्रकार से पारिभाषिक शब्द गढ़े जा रहे है :—

अँगरेजी	हिंदी	उर्दू
एबसिसा	भुज	फ़ासला या मक़तूआ
एब्सोल्यूट टर्म	परमपद	रक़म मुतलक़
एक्सेलरेट	गतिवृद्धि करना	इसराए हरकत
एलजबरा	बीजगणित	मजबूरो मुक़ाबला
आल्टरनेंडो	एकांतर निष्पत्ति	तबदील
एंटिसिडेंट	पूर्वपद	मुक़द्दम

मै ने ये शब्द नागरी-प्रचारिणी सभा, बनारस द्वारा प्रकाशित 'पारिभाषिक-कोष' से तथा औरंगाबाद की अंजुमन-तरक़्क़िए-उर्दू के 'फ़रहंग' से लिए हैं। ये शब्द बीजगणित मे प्रयुक्त हुए है, और इन से देखा जा सकता है कि इन शब्दों के प्रयोग से हिंदुस्तानी के दोनों रूपों में कितना अधिक अंतर बढ़ता जा रहा है। जब तक हिंदुस्तानियों को शिक्षा अँगरेजी माध्यम द्वारा दी जाती थी तब तक इस बात की अधिक चिंता न थी कि इन दो भाषाओ में कौन-कौन से पारिभाषिक शब्द थे। पर अब मध्य-श्रेणी की शिक्षा हमारी निजी भाषा के माध्यम से दी जा रही है और शीघ्र ही उच्च शिक्षा भी इसी माध्यम द्वारा

दी जायगी। ऐसी हालत में प्रत्येक अँगरेज़ी परिभाषा के लिए हिंदी और उर्दू में अलग-अलग शब्द होने से बंगाल को छोड़ सारे उत्तरी भारत में एक कठिन प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। अगर हिंदी और उर्दू के विद्यार्थियों को एक-दूसरे के शब्द समझ में नहीं आते तो इस का नतीजा यह होगा कि स्कूलों में दुहरी शिक्षा हो जायगी, जिस के कारण या तो खर्च बढ़ जायगा और या शिक्षा दोषयुक्त हो जायगी। यूनीवर्सिटियों में यह मुसीबत और भी भीषण रूप धारण करेगी। शोध, अध्ययन तथा शिक्षा-प्रचार की समस्याएँ जटिल हो जायँगी। प्रश्न यह होगा कि या तो प्रत्येक यूनिवर्सिटी में अध्यापकों के दो दल रक्खे जायँ या प्रत्येक केंद्र में दो यूनीवर्सिटियाँ खोली जायँ जिन में उर्दू और हिंदी में पृथक्-पृथक् शिक्षा दी जाय।

सरकारी दफ़्तरों की तथा व्यवस्थापिका सभाओं की भाषा क्या होगी? यह प्रश्न पंजाब में आज उठ खड़ा हुआ है, और शीघ्र ही युक्तप्रांत, बिहार और दिल्ली में भी उठ खड़ा होगा। इन के अतिरिक्त सार्वजनिक शिक्षा तथा आमोद-प्रमोद के साधनों, रेडियो, सिनेमा, नाटकों के भी सवाल उठते हैं। फिर प्रांतीय व्यापार-व्यवहार के लिए अँगरेज़ी के स्थान पर कौन-सी भाषा आएगी? क्योंकि यह तो सब मानते हैं कि अँगरेज़ी से निकट भविष्य में यह काम न चल सकेगा।

यह बड़े खेद की बात है कि अपनी भाषा में दूसरी भाषाओं के शब्दों को न अपनाने के कारण एक ही भाषा के दो विभागों में बहुत बड़ा अंतर होता जा रहा है और उस के कारण व्यावहारिक, शिक्षा-संबंधी तथा शासन-संबंधी समस्याएँ अधिक से अधिक जटिल होती जा रही हैं।

जैसा कि मैं ने पहले ही दिखलाने की कोशिश की है, हिंदुस्तानी बनावटी भाषा नहीं है। हज़ार साल से यह स्वतंत्र भाषा के रूप में चली आ रही है। इस में बहुत अधिक साहित्य भी है, क्योंकि दक्षिण में गद्य या पद्य में जो कुछ भी लिखा गया है, उस में से बड़े हिस्से को मैं हिंदुस्तानी में ही शामिल समझता हूँ। उत्तर में भी विदेशों की नक़ल करने वालों का ज़ोर होते हुए भी बहुत-सा साहित्य सीधी-सादी रोजमर्रा की ज़बान में लिखा मिलता है। इस के उदाहरण किसी भी समय के दीवानों में मिल सकते है। हाली के 'मुनाजात-ए-बेवा' और 'बरखा रुत' ऐसी उर्दू के उदाहरण हैं जो कि भाव और मुहावरों दोनों में पूर्णरूप से हिंदुस्तानी कहे जाने योग्य हैं। आधुनिक हिंदी में भी ऐसा साहित्य

मौजूद है, जो बताता है कि हिंदुस्तानी किस तरह लिखी जाय। इस स्थान पर केवल एक लेखक का नाम लूँगा। लेकिन वह लेखक आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में रचनात्मक कलाकारों में अद्वितीय है। मेरा मतलब मुन्शी प्रेमचंद से है।

अंतर को दूर करने का उपाय

बात वास्तव में यह है कि साहित्य में आधुनिक हिंदी और उर्दू, हिंदुस्तानी की केवल दो शैलियाँ हैं और वैज्ञानिक ग्रंथों में अंतर केवल उद्धृत शब्दों में पड़ता है। मेरा मत है कि इस अंतर को हटाना असंभव नहीं है। केवल इस के लिए प्रबल इच्छा की आवश्यकता है। मेरा दृढ़ मत यह है कि अंतर को दूर करना चाहिए; और मैं उन लोगों के विचार के लिए, जो दोनों भाषाओं का अंतर दूर करना चाहते हैं, कुछ तजवीजें पेश करता हूँ :—

(१) यह प्रयत्न किया जाय कि उर्दू बोलनेवाले आधुनिक हिंदी पढ़ें और हिंदी बोलनेवाले उर्दू पढ़ें।

(२) उर्दू और हिंदी के प्रसिद्ध लेखकों द्वारा व्यवहृत शब्दों का एक कोष बनाया जाय।

(३) हिंदी और उर्दू के ध्वनि, विन्यास आदि से संबंध रखनेवाले नियमों को एकत्र कर के आधुनिक परिपाटी में एक व्याकरण की रचना की जाय।

(४) हिंदी और उर्दू के लेखकों के व्यवहार के लिए पारिभाषिक शब्दों का एक कोष बनाया जाय।

(५) अनुवादकों के लिए एक अँगरेज़ी-हिंदुस्तानी कोष बनाया जाय।

(६) सरल हिंदी तथा उर्दू में लिखे हुए गद्य और पद्य के संग्रह निकाले जायँ।

इन में से कुछ बातें व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा की जा सकती हैं, लेकिन इन में से कुछ के लिए सरकार की सहायता की आवश्यकता पड़ेगी। उदाहरणार्थ स्कूलों में हिंदी और उर्दू की शिक्षा शिक्षा-विभाग द्वारा ही प्रचलित कराई जा सकती है। पारिभाषिक शब्दों का कोष, जहाँ ये दोनों भाषाएँ प्रचलित हैं, उस क्षेत्र के विद्वानों के मतैक्य के बिना संभव नहीं। चूँकि इस प्रश्न से कई प्रांतों और रियासतों के शिक्षा-कार्य का संबंध है, इस लिए इन जगहों की सरकारों के बिना यह समस्या हल नहीं हो सकती। लेकिन व्यावहारिक आवश्यकता को देखते हुए इन सरकारों का हस्तक्षेप उचित ही होगा। फ्रांस

की एकेडेमी जैसी जिम्मेदार संस्था की अनुपस्थिति में एक कमेटी ही बना दी जाय जिस में सरकार के, विश्वविद्यालय के, साहित्यिक तथा वैज्ञानिक संस्थाओं के प्रतिनिधि शामिल किए जायँ, जो कि इन समस्याओं पर विचार कर के एक क्रियात्मक उपाय निकालें और पारिभाषिक शब्दों की समस्या को हल कर सकें।

अगर वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दों पर कोई समझौता हो गया, तो हिंदी और उर्दू के झगड़े की जड़ कट जायगी और एक ही स्थान में दो भाषाओं की उपस्थिति से जो कठिनाइयाँ पैदा हो गई हैं वे दूर हो जायँगी। तब हिंदी और उर्दू का अंतर मिट जायगा और भाषा और साहित्य का ऐक्य स्थापित हो सकेगा।

भारतीय चित्रकला के सौ वर्ष

(१८३७-१९३७)

[लेखक—श्रीयुत रामचंद्र टंडन, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

सन् १८३७ दिल्ली के अंतिम और कठपुतले मुगल बादशाह बहादुर शाह द्वितीय के राज्यारोहण का वर्ष है। इस तिथि से जिस सदी का आरंभ हुआ, और जिस का दूसरा छोर आज तक पहुँचता है, वह क्या राजनीति के क्षेत्र में, क्या सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में, और क्या शिक्षा और कला में, एक अत्यंत महत्वपूर्ण सदी रही है। यह संभव नहीं कि पिछले सौ वर्षों में हमारे देश के जीवन तथा इतिहास में जो घोर परिवर्तन उपस्थित हुए हैं, उन का कतिपय पंक्तियों में ब्यौरा दिया जा सके, अथवा उन की दिशा ही बताई जा सके। बहुत मोटे ढंग से यह कहा जा सकता है कि इस काल में राजनीतिक क्षेत्र में देशी शासकों का क्रमागत ह्रास रहा, ब्रिटिश साम्राज्य ने देश में विस्तार पाया और दृढ़ता ग्रहण की, और फिर लोकमत के प्रभाव से इस ने स्वराज्य की भावनाओं की भी अपेक्षा की। सामाजिक क्षेत्र में पुरानी व्यवस्था का शिथिल पड़ना, पाश्चात्य का प्रभाव और तदनंतर आत्मसम्मान की लहर का उठना देखा जाता है। इसी प्रकार से धार्मिक जीवन में एक ह्रास का युग लक्षित होता है, जिस में कट्टरता की वृद्धि के साथ पुरोहितों का आतंक रहता है, फिर देश में शासकों के धर्म के प्रचार का प्रयत्न होता है, और पुनः धार्मिक सुधारकों का प्रादुर्भाव होता है, जो धर्म की संकीर्णता से रक्षा कर के उसे बुद्धिवादिता की नीव पर बिठाने का प्रयत्न करते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में हम पुरानी विद्याओं का ह्रास देखते हैं, तदनंतर देश पर पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली का जूआ पड़ता है, और क्रमशः इस शिक्षा-प्रणाली के भीतर से भी अपने प्राचीन ज्ञान तथा साहित्य के लिए सम्मान का उदय होता है। इस प्रकार से यह ज्ञात होगा कि हमारे जातीय जीवन के विविध विभागों में तीन भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ आती हैं—ह्रास की, पाश्चात्य

के आतंक की, और आत्मसम्मान अथवा पुनरुद्धार की। किसी भी विभाग में पुनरुद्धार की प्रवृत्ति पूर्णतया मफलता नही प्राप्त कर सकी है, परंतु उस के चिह्न स्पष्ट है। इस काल मे हमारी कला के इतिहास में भी यही तीन अवस्थाएँ बीती है, और उस ने भी अन्य क्षेत्रों की प्रवृत्तियों को प्रतिबिंबित किया है। इस लेख में इन सौ वर्षों की भारतीय चित्रकला की प्रगति का केवल संक्षिप्त विवेचन किया जायगा।

उन्नीसवी सदी के आरंभ में चित्रकला की जिन दो शैलियों का क्रम देश में चला आ रहा था वह 'मुग़ल' और 'राजपूत' शैलियाँ थीं। इन में से पहली शैली को सदा राज-दरबार तथा उमरावों का आश्रय मिलता रहा था। इस का ऐश्वर्य-काल तो व्यतीत हो चुका था। इस शैली में अच्छा से अच्छा काम जो कुछ हुआ है वह औरंगजेब के समय से पूर्व ही हो चुका था। औरंगजेब के समय में कलाओं को प्रोत्साहन न मिला, यहाँ तक कि दरबारी चित्रकार जीविका तथा आश्रय की खोज में अन्य छोटे-छोटे दरबारों में जाने लगे थे। फिर भी औरंगज़ेब के उत्तराधिकारियों के समय में जो चित्र रचे गए उन की सख्या भी पर्याप्त है और कला की दृष्टि से भी वे खरे उतरेंगे। परंतु ज्यों-ज्यों मुग़ल बाद-शाहों के पराक्रम में ह्रास होता गया त्यों-त्यों ह्रास इस कला में भी हुआ, यहाँ तक कि चित्रकारों में प्रेरणा और सृजन-बुद्धि का प्रायः लोप होता गया और उन की कृतियो का आधार पुरानी परंपरा का अनुकरण मात्र रह गया। शबीहों के अंकन में पुराने मुग़ल चित्रकारों ने विशेपता प्राप्त की थी। सन् १८३७ में जो शिल्पी रह गए थे वह प्रायः एकमात्र शबीहो के चित्रण में लगे थे। दिल्ली में स्थित चित्रकारों की अपनी विशेष शैली बन गई थी और यह शैली 'दिल्ली क़लम' के नाम से प्रसिद्ध है। चित्रकार नकल करने मात्र की योग्यता रखने लगे थे। उन के वंशज प्रायः संपूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी मे वही धंधा करते रहे। आज से पचास वर्ष पहले तक दिल्ली में हाथीदाँत पर जो बारीक चित्रकारी हुआ करती थी, उस में भी हमें इन चितेरों के हस्त-कौशल का उदा-हरण प्राप्त होता है। यह चित्रकार रंगों के विधान में, और चित्रांकण मे प्राचीन परिपाटी के ही अनुयायी थे। अब भी कुछ मुसल्मान परिवार अपने पुश्तैनी धंधे मे लगे हुए हैं। इन की पटुता केवल नक़ल करने की पटुता है और इन के चित्रों की खपत अधिकांश पर्यटक संग्राहकों में होती है। चूँकि यह अपने चित्र अधिकांश पुराने कागज़ो पर बनाते हैं, इस लिए यह अपनी नई कृतियों को पुरानी कह कर अच्छे दामों में निकाल

देते हैं। फिर भी इन व्यवसायियों के सामने कठिन समय है। इन पंक्तियों का लेखक इस वर्ग के कतिपय चित्रकारों से परिचित है। नक़ल करने का इन में अद्भुत कौशल है, परन्तु इस कला को वास्तव में कला का आसन नहीं दिया जा सकता।

ह्रास की वही कहानी हमें उन चित्रकारों की कृतियों में भी मिलती है जो लखनऊ में जा कर बस गए थे। थे यह भी 'मुग़ल'-परंपरा के चित्रकार। इन्होंने अवध के नवाबों के यहाँ आश्रय ग्रहण किया था। अठारहवीं सदी के अंत के लगभग के लखनऊ के चित्रों में हमें पुनरुद्धार के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। अवध के नवाबों की छत्रछाया में कला कुछ पनपती जान पड़ती है, परंतु यह लक्षण अस्थायी सिद्ध होते हैं और फिर वही क्रमागत ह्रास दिखाई पड़ता है। उन्नीसवीं सदी में, लखनऊ के चित्रकारों पर यूरोपीय शैली के चित्रों का प्रभाव पड़ा। इस समय तक अनेक यूरोपीय चित्र हमारे देश में पहुँच गए थे। इन चित्रों की नक़ल करने के प्रयास में देशी चित्रकारों ने जो चित्र बनाए वह बहुधा हास्यास्पद हैं। अनेक चित्रकार 'जान कंपनी' के धनी व्यवसायिकों का आश्रय ग्रहण करने लगे और चूँकि यह लोग अपनी शबीहें अंकित करा कर अपने देश में भेजने के लिए बहुत उत्सुक रहा करते थे, इन चित्रकारों को थोड़ा बहुत धंधा मिल जाता था। शबीहों के अंकन में ही इन चित्रकारों की विशेषता थी, और कहीं-कहीं इस में उन्हों ने अत्यंत कौशल दिखाया है। परंतु इन चित्रों की इतर सजावट और भड़कीलापन कला के ह्रास के द्योतक हैं और शबीहों के चित्रण के कौशल को दबा देते हैं। इस प्रकार की उन्नीसवी सदी की अनेक कृतियाँ उपलब्ध हैं, जो पूर्व और पाश्चात्य की एक मिश्रित शैली में है, जिसे दोगली शैली कहना उपयुक्त होगा। कला की दृष्टि से इन का विशेष मूल्य या महत्व नहीं है। जो कुछ इन का मूल्य है ऐतिहासिक दृष्टि से है। महान् 'मुग़ल' कला का इस प्रकार अधःपतन हो चुका था। अब भी लखनऊ में इने-गिने चित्रकार हैं जो इसी धंधे द्वारा किसी भाँति जीविकोपार्जन करते हैं। यह नई कृतियों की रचना में इतना काम नहीं करते जितना पुरानी कृतियों के जीर्णोद्धार में, और पुरानी कृतियों पर नए रंग लगा कर उन्हें और भी भद्दा बनाने में समर्थ होते हैं।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम २५ वर्षों तक 'मुग़ल' शैली की चित्रकला का अभ्यास बिहार में, पटने में भी होता रहा। अवध की भाँति बिहार में भी 'मुग़ल'-परंपरा प्रचलित थी। जिस समय 'मुग़ल' कला का वेग में ह्रास हो रहा था उस समय चित्रकारों

के कुछ कुटुंब हमारे प्रांत से बिहार मे जा कर बस गए थे। धीरे-धीरे कुछ स्थानीय विशेषताओं के साथ उन की अलग-सी शैली बन गई जो यद्यपि 'मुग़ल' शैली का प्रकारांतर मात्र थी, फिर भी पटना क़लम कर के प्रसिद्ध हुई। कुछ काल तक तो इन चित्रकारों का धंधा अच्छा चला। उन की कला में अंकन की चतुराई अवश्य थी परंतु उस में निर्जीवता-सी आ रही थी; और लखनऊ क़लम की भाँति, वरन् कुछ अधिक मात्रा में, पटना कलम भी, घटिया यूरोपीय चित्रों से प्रभावित हो चुका था। यहाँ भी शबीहों पर ही विशेष ध्यान दिया गया है। यूरोपीय सौदागरों से इन्हें अच्छा काम मिल जाता था और पटना के चित्रकार इन्ही के आश्रय का बड़ा भरोसा रखते थे। इस चित्रकला के हमें जो उदाहरण प्राप्त होते हैं उन मे अंतिम दिनो में एक विचित्र मिश्रित शैली दिखाई पड़ती है जो कि ईस्ट इंडिया कंपनी के समय की कला की एक प्रकार से प्रतीक है। इस शैली का अब लोप हो गया है।

'मुग़ल' शैली का प्रभाव हमें दकनी चित्रकारों की कृतियों में भी मिलता है। इन की शैली पर भी स्थानीय प्रभाव पड़ा है और वह दकनी क़लम के नाम से ज्ञात है। उन्नीसवीं शताब्दी भर इस शैली के चित्रकार अपने धंधे मे लगे रहे और आज भी हैदराबाद तथा नेकोंडा में उन के वंशज अपने काम में संलग्न हैं। दकनी क़लम 'मुग़ल' क़लम की ही एक प्रशाखा है और यह अनुमान किया जाता है कि या तो औरंगजेब के समय में या उस के अनंतर उत्तर भारत से अनेक चित्रकार आश्रय की खोज में दकन के दरबारों में आ कर बस गए थे क्यों कि दिल्ली में उन्हें आश्रय-दाता न मिलता था। दकन में इस से पूर्व चित्रकला की अपनी परंपरा थी और वहाँ के चित्र ठेठ ईरानी ढंग के होते थे। परंतु दकन के चित्रकारो पर 'मुग़ल'-परंपरा का प्रभाव हुए बिना नहीं रहा और अठारहवीं तथा उन्नीसवी सदी में तो वह प्रभाव और भी स्पष्ट है। इन सदियों में औरंगाबाद तथा दौलताबाद में जो चित्र बनते रहे उन पर 'मुग़ल'-परंपरा की छाप है। इन चित्रकारों के चित्र आकार में किंचित् अपेक्षाकृत छोटे होते। इन चित्रों के विषय प्रायः ऐतिहासिक या अर्ध-ऐतिहासिक होते और बहुत कर के यहाँ भी शबीहों का प्रचार मिलता है। इन शबीहों के विषय दकनी दरबार के विशेष व्यक्तियों से ही लिए जाते। शबीहों के अंकन में चातुरी की कमी नहीं है, परंतु कदाचित् इन में 'ठेठ मुग़ल' चित्रकारों का-सा भाव दर्शन नहीं हो पाया है।

इन प्रमुख केंद्रों से भिन्न, मुग़ल शैली के चित्रकारो के कुछ वंश उत्तरी हिंदुस्तान

के कतिपय शहरों में यत्र-तत्र बस गए थे और यह स्थानीय प्रतिष्ठित व्यक्तियो के लिए अथवा बाज़ारू ढंग के चित्रों का आलेखन कर के कालयापन करते थे। परंतु इन चित्रकारो को जीविकोपार्जन में बड़ी कठिनाइयो का सामना करना पड़ता। ऐसे वंशो का विशेष वृत्तांत एकत्र नही किया जा सकता। हाल मे बनारस के श्री रामप्रसाद ने, जो कि मुगल-परंपरा के अनुयायी हैं, कला-प्रेमी जनता का किंचित् ध्यान आकर्षित किया है।

भारतीय चित्रकला की दूसरी परंपरा—राजपूत शैली—भौगोलिक दृष्टि से दो परस्पर-संबद्ध वर्गों में विभाजित होती है। एक तो पर्वतीय या पहाड़ी शैली है और दूसरी राजस्थानी। पहाड़ी शैली की प्रतिनिधि-स्वरूप चित्रकारी हमे हिमालय की पहाड़ी रियासतो, विशेष कर कॉगड़ा प्रदेश मे अधिकांश मिलती है, और राजस्थानी शैली के उदाहरण हमे जयपुर तथा राजपूताना की अन्य देशी रियासतों की चित्रकला मे मिलेंगे। काँगड़ा की घाटी तथा जयपुर मे हमें भारतीय चित्रकला की परंपरा का अनुगमन बराबर मिलेगा।

जयपुर तथा काँगड़ा की शैलियों में भी, जयपुर की शैली में ह्रास के चिह्न पहले लक्षित हुए। कारण कदाचित् यह है कि जयपुर मैदान में है और पहाड़ी प्रदेशों में आवागमन की कठिनाइयो के कारण परंपरा की विशेष रक्षा हो सकी है। उन्नीसवीं सदी में जयपुर शैली में जो चित्र लिखे गए उन में रचनात्मक भाव के ह्रास के साथ सजीवता का ह्रास भी लक्षित होता है। इस शैली के चित्रों में परंपरा का अंध अनुसरण मात्र मिलेगा और वही पुराने बंधे तुले हुए विषयों का चित्रण दिखाई देगा। इस काल के अंकित अधिकांश चित्रो मे वंश-परंपरागत चित्रकार के हस्तकौशल का प्रमाण तो मिलता है, परंतु पुराने चित्रो की सजीवता इन में नही है। शबीहों ने प्रधानता अवश्य धारण कर ली है परंतु अन्य विषयो का चित्रण भी बराबर मिलता है। इन अन्य विषयों में राग-रागनियाँ मुख्य हैं। साथ मे पशु-पक्षियों के भी सुंदर रेखाचित्र प्राप्त होते हैं। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे तैयार किए चित्र अधिकतर चरबों का आधार ले कर बने हैं। ये चरबे पेंसिल या गेरू से बनाए खाकों को सुई की नोक से छेद कर बनाए जाते थे। और इस प्रकार एक ही चरबे से आवश्यकतानुसार एक प्रकार के कई चित्र तैयार हो सकते थे। इस काल में चित्र बाहुल्य से बनते रहे है और उन के लिए संग्राहकों में माँग भी अधिक रही है। इस कारण बाज़ार में बहुत घटिया चित्रो का भी चलन हो गया। राजपूत चित्रकारों की एक विशेष कृति को हमे भुला न देना चाहिए। मेरा तात्पर्य भित्तिचित्रों से है। उन्नीसवी सदी में, जयपुर और राजस्थान

के अन्य नगरों में, विशेषतया बीकानेर और उदयपुर में भित्तिचित्र बहुसंख्या में बनते रहे। उन में से बहुत तो अब भी देखने को मिल सकते हैं और उन से पता चलता है कि इन के चित्रकारों ने पौराणिक कथानकों के चित्रण में विशेष कौशल प्राप्त किया था।

काँगड़ा चित्रकारों की कला राजस्थानी चित्रकारों की कला की अपेक्षा कहीं अधिक सुरक्षित और क्रमागत रही है। इस का कारण, जैसा कि संकेत किया जा चुका है, यह रहा है कि काँगड़ा के चित्रकार पहाडी सुरक्षित सुप्रदेशों में रह कर काम करते थे, और वहाँ पर बाहरी विनाशक प्रभाव देर में पहुँचते थे। काँगड़ा क़लम के सर्वोत्तम उदाहरण तो हम सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों के चित्रों में मिलेंगे, परंतु अच्छे चित्र बराबर उन्नीसवीं सदी में भी बनते रहे। यह सही है कि बाद के चित्रों में हमें पहले जैसी सरसता, ललामता और अभिनव भाव नहीं मिलते, फिर भी उन्नीसवी सदी के ऐसे चित्र हमे पर्याप्त संख्या में मिलेंगे जो कला की कसौटी पर सब प्रकार से खरे निकलेंगे। काँगड़ा क़लम के छोटे चित्रपटों में प्राचीन भित्तिचित्रों की परंपरा का अनुगमन हुआ है। इस शैली के चित्र न केवल हमें काँगड़ा की घाटी में मिलते हैं वरन् पंजाब और गढ़वाल तक के प्रायः सभी प्रमुख पहाड़ी रियासतो में प्राप्त होते हैं। अठारहवीं सदी में काँगड़ा शैली उत्तर में जम्मू तक, दक्षिण में गढ़वाल तक और पश्चिम में लाहौर तक फैल गई थी। यद्यपि साथ ही साथ, समस्त पहाड़ी प्रदेशो में, पुराने ढंग की चित्रकारी भी जारी थी। इन चित्रों में गति और भाव-भंगियों का, और सहज, सरस, ग्रामीण जीवन का अद्भुत कौशल के साथ चित्रण हुआ है। इन चित्रों के विषय बहुत विभिन्न हैं। हमें रामायण, महाभारत और अन्य पौराणिक उपाख्यानों के चित्रण मिलेंगे; साथ ही कृष्ण की लीलाओं के ऐसे चित्र जो वास्तव में तत्कालीन ग्राम्य-जीवन के चित्र हैं मिलेंगे। शबीहों और दरबारी जीवन के चित्रण का भी अभाव नहीं है। उन्नीसवी सदी के अंत में पर्वतीय प्रदेशों की अक्षुण्णता कुछ टूटती है, आवागमन के साधनों की उन्नति के साथ ऐसे प्रभाव काम करने लगते हैं जिन से इस कला के सौष्ठव पर आघात पहुँचता है। काँगड़ा कलम में ह्रास के चिह्न परिलक्षित होते हैं—और हम अधिकांश पटों में देखते है कि चित्रांकण उतनी सहानुभूति के साथ नहीं हुआ है। काँगड़ा चित्रकारों के वंशज पर्वतीय प्रदेशों को छोड़ कर लाहौर तथा अमृतसर में अमीरों के आश्रय में आ कर काम करने लगते हैं। उन पर भी यूरोपीयों से संपर्क का प्रभाव पड़ने लगता है। लाहौर के अजायबघर में लार्ड डलहौज़ी और सर जान लारेंस के, काँगड़ा चित्रकारों के बनाए

हुए चित्र सुरक्षित हैं जिन्हें देखने से कौतूहल होता है। कहा जाता है कि कांगड़ा शैली का—अथवा उस क़लम का जो कि पहाड़ी प्रदेशों में विशेष कर कांगड़ा की घाटी में परिचलन था—अंत १९०५ ई० में, धरमशाला के विनाशकारी भूकंप के अवसर पर हुआ, जब कि कांगड़ा का सुसंपन्न नगर तथा सारा का सारा पास का ज़िला विध्वस हो गया और भग्नावशेषों का ढूहा बन कर रह गया। परंतु 'हिमालयन आर्ट' नामक प्रसिद्ध पुस्तक के लेखक श्री जे० सी० फ्रेंच का कहना है कि जिस समय वह कांगड़ा की घाटी में, १९२९ ई० में गए थे उस समय भी चित्रकारों के कई घराने अपना धंधा सँभाले हुए थे। हाँ, अब उन का कार्य केवल संग्रहकर्ताओं के साथ व्यापार के निमित्त पुरानी शैली की लकीर पीटते हुए चित्रों का अंकन करना मात्र रह गया था।

हम ने देखा है कि पहाड़ी चित्रकार जीविकोपार्जन के निमित्त अपने दुर्गम प्रदेशों को छोड़ कर बाहर आने लगे थे। हम उन्नीसवीं सदी के मध्य काल से कुछ पूर्व यह पाते हैं कि लाहौर में ऐसे चित्रकार बराबर आए और यहाँ, रंजीतसिंह के आश्रय में एक नई शैली का विकास हुआ, जो कांगड़ा शैली का आधार बिना छोड़े हुए भी मध्यम कोटि की यूरोपीय कला से प्रभावित हुई है। लाहौर तथा अमृतसर में इन चित्रकारों द्वारा भित्ति-चित्र भी बने, और इन लोगों ने सिख गुरुओं के, दरबारियों के, तथा दरबार के अन्य दृश्यों का भी अंकन किया। इन चित्रकारों को हम फ़िरंगियों के व्यंग्य-चित्र बनाते हुए भी पाते हैं। इन के बनाए चित्र उस समय तो चलन पाते रहे; परंतु रंजीतसिंह की मृत्यु पर देश की राजनीतिक परिस्थिति डाँवाडोल रही और यह कला के विकास में सहायक न हुई। अतएव ऐसे चित्रकार जो कि पंजाब के किसी दरबार से संबद्ध न हो सके, विवश हो कर अपने-अपने स्थानों को लौट गए। अपने साथ यह बाहरी दुनिया का ज्ञान भी ले गए और स्वयं अपने प्रदेशों की शैली पर इस का उन्हों ने प्रभाव डाला।

पुरानी चित्र-परंपरा की दो शैलियों का और भी वर्णन करना आवश्यक है। यह दोनों ही दक्षिण भारत से संबंध रखती हैं। इन में से एक तंजोर की है। स्थानीय किंवदंतियों के आधार पर यह कहा जाता है कि तंजोर के चित्रकार आरंभ में हिंदुस्तान से, राजा सारा-भोजी के काल में, अठारहवीं सदी के अंत में आए थे। चूँकि तंजोर के चित्रकार हिंदू जाति के हैं इस लिए यह अनुमान किया गया है कि यह राजपूत चित्रकारों के वंशज हैं। और जिस समय मुग़ल वंश का ह्रास हुआ उस समय इन के पूर्वज दक्षिण में आ कर बस गए।

यह बात तो ठीक है कि यह दक्षिणी शैली हिंदुओं की परंपरा में है, परंतु इस के संबंध में कोई ऐसी बात नहीं है जो राजपूत शैली से विशेष समानता रखती हो और गंभीर विवेचकों ने बताया है कि इस का अस्तित्व राजपूत शैली से स्वतंत्र है। यद्यपि इस तंजोर शैली का उद्गम बहुत स्पष्ट रूप से नहीं ज्ञात हो सका है, फिर भी यह निश्चय ही है कि तंजोर के कलाप्रेमी राजाओं के दरबार में आश्रय पा कर यह समुचित रूप से विकसित हुई और वहाँ के शिवाजी (१८३३–५५) के राज्य-काल में चित्रकारों के अनेक कुटुंब हाथीदाँत और लकड़ी पर चित्रांकण करने में लगे हुए थे। यह किंचित् आश्चर्य की बात है कि यही चित्रकार तैल के माध्यम से उसी काल में बड़े-बड़े कैनवस के पटों पर भी चित्र अंकित करते थे। यह शैली निश्चय ही उन्हों ने यूरोपीयों के संपर्क से ग्रहण की थी। इस प्रकार के चित्र, कहा जाता है, पर्याप्त संख्या में तंजोर के राजमहल में तथा पुदुकोटा के पुराने राजमहल में मौजूद हैं। ऐसा ज्ञात पड़ता है कि शिवाजी अंतिम राजा थे, जिन्हों ने चित्रकारों को आश्रय दिया था, क्योंकि उन के बाद चित्रकला में लगे हुए यह कुटुंब तितर-बितर हो गए और उन्हों ने और धंधों को अपनाया। हाँ, कुछ थोड़े से कुटुंब अपने परंपरागत व्यवसाय में अब भी लगे हुए हैं और अब भी अधिकांश हिंदू देवी-देवताओं के अच्छे परंतु किंचित् अतिरंजित चित्र बना कर बाजार में बेचते रहते हैं। जिस समय तंजोर की शैली अपने पूर्ण विकास पर थी उस समय इस में हाथीदाँत पर शबीहों के अंकन का कार्य बहुत उत्तम हुआ और आजकल भी स्थानीय प्रतिष्ठित घरानों में इस के नमूने सुरक्षित मिलेंगे।

दूसरी शैली मैसूर से संबंध रखती है। इस का इतिहास अठारहवीं सदी के आरंभ-काल में पहुँचता है। परंतु इस शैली के सब से सुंदर उदाहरण उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में राजा कृष्णराजा वाड्यार के आश्रय में रचे गए। कृष्णराजा स्वयं कला के मर्मज्ञ और पारखी थे। अपने दरबारी चित्रकारों की कृतियों में वह व्यक्तिगत रूप से दिलचस्पी लिया करते थे, और उन में आपस में प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न करने के लिए पुरस्कार दिया करते थे। इस शैली के चित्रकारों का काम भी अधिकांश हाथीदाँत के चित्रपटों पर शबीहों का ही अंकन रहा है, और इस का बहुल अंश मैसूर के महल में सुरक्षित है। कृष्णराजा की मृत्यु १८६८ में हुई। उन की मृत्यु के अनंतर इन दरबारी चित्रकारों की कृतियों का भी प्रायः अंत हो गया।

चित्रकारी का एक वर्ग फिर भी रह गया है जिस का वर्णन आवश्यक है। उत्तरी

तथा दक्षिण भारत के विभिन्न दरबारी चित्रकारो के अतिरिक्त भी देश मे स्थान-स्थान पर ऐसे चित्रकार रहे हैं जो अपनी जीविका के निमित्त बाजारू काम करते रहे हैं। इस प्रकार का काम प्राय: सभी मुख्य नगरों में होता रहा है। खेद है कि यह कार्य सुरक्षित नही हुआ है। इस प्रकार के चित्र अधिकांश देवी-देवताओं की मूर्तियो की नक़ल हुआ करते थे। कलकत्ते के श्री अजित घोष ने पटुआ जाति के कुछ चितेरों के चित्र एकत्र किए हैं। उन के देखने से ज्ञात होता है कि यह चितेरे अपने काम में निपुण थे। उन की रेखाओ मे विशेष सजीवता है। त्रिचनापल्ली में भी बाजारू चित्रकार जो काम किया करते थे वह ऊँची श्रेणी का था। यह लोग देसी रंगों से काग़ज तथा अभ्रक के चित्रपटों पर सुंदर काम करते थे।

जो कुछ कहा गया है उस से यह स्पष्ट हो गया होगा कि उन्नीसवी सदी के अत होते-होते मुगल तथा राजपूत दोनों ही चित्र-परंपराओ का पूर्ण रूप से ह्रास हो चुका था। अपने देश की कारीगरी और कुशलता प्राय: लुप्त हो चुकी थी। डाक्टर आनंद कुमारस्वामी का कहना है कि यह परिस्थिति "अधिकांश में तथा-कथित 'अंग्रेज़ी शिक्षा' द्वारा उत्पन्न रुचियों का परिणाम थी।" श्री ई० बी० हैवेल महोदय भी जिन का कि भारतीय चित्र-कला के पुनुरुत्थान में बड़ा हाथ रहा है, जिसे कि हम आगे देखेगे, "भारतीय यूनिवर्सिटियो की बनावटी संस्कृति" के संबध मे टिप्पणी करते है। साधारणतया यूनिवर्सिटी शिक्षा-प्राप्त भारतीय का दृष्टिकोण इग्लिस्तान से प्रेरणा प्राप्त करने की ओर रहा है। वह यह अनुभव करने में कुछ दिनों पहले तक, अशक्त रहा है कि वास्तविक भारतीय संस्कृति का आधार अपने देश की भूमि में तथा वहाँ की परंपरा में ही मिल सकता है। १९०२--३ की दिल्ली की बड़ी प्रदर्शनी में ऐसे अनेक तैल-चित्र प्रदर्शित किए गए जो कि यूरोपीय शैली के अनुकरण में कलकत्ता, बंबई, मद्रास और लाहौर के सरकारी कला-शिक्षालयो के विद्यार्थियों द्वारा अंकित हुए थे। इन चित्रों में हमें विशेष प्रतिभा के चिह्न न प्राप्त होगें। कलकत्ता स्कूल अव् आर्ट के भूतपूर्व प्रिंसिपल श्री परसी ब्राउन ने, सर जार्ज वाट द्वारा संपादित 'इंडियन आर्ट एट देलही' नामक पुस्तक में इन चित्रों के संबंध मे अपना मत अकित किया है। उन का कहना है कि यह चित्र "अत्यंत साधारण कोटि के थे, इन का रेखांकण त्रुटिपूर्ण था और शैली तथा रगसाजी की दृष्टि से यह नौ-सिखियो की कृति जैसे थे।"

यूरोपीय शैली मे हिंदुस्तान में जो कार्य हुआ उसे अग्रसर करने तथा प्रसिद्ध करने का श्रेय इस शैली के कुशल चित्रकार त्रावंकोर के स्वर्गीय राजा रविवर्मा को प्राप्त है। राजा रविवर्मा त्रावंकोर के राज-परिवार मे उत्पन्न हुए थे। उन्हों ने बहुतायत से चित्र बनाए और यह चित्र सस्ते बाजारू तैल-छापो द्वारा देश में बहुत अधिक प्रचारित हुए। वास्तव में देखा जाय तो इन तैल-छापो के माध्यम द्वारा चित्रकार की असली प्रतिभा क्षीण रूप मे ही हमारे सामने आती है। राजा रविवर्मा ने चित्रकला की शिक्षा दक्षिण भारत में भ्रमण करनेवाले यूरोपीय चित्रकारों, विशेष कर थियोडोर जेन्सन नाम के चित्रकार से प्राप्त की थी। इस के अतिरिक्त उन्हों ने यह कार्य मदुरा के चित्रकार अलाग्री नायडू से भी सीखा था, और अलाग्री नायडू महाराजा त्रावंकोर के आश्रय में यूरोपीय शैली में काम करनेवाला उस समय का सब से प्रसिद्ध चित्रकार समझा जाता था। राजा रविवर्मा तथा अन्य यूरोपीय शैली में चित्रांकण करनेवाले चित्रकारों का कार्य कभी भी बहुत उच्च कोटि का नही बन पड़ा और डाक्टर कुमारस्वामी की इस सम्मति का कि रविवर्मा का "कार्य अपने सर्वोत्तम उदाहरण मे भी द्वितीय कोटि से आगे नहीं बढ़ा है" अनेक भारतीय तथा यूरोपीय कलामर्मज्ञों ने समर्थन किया है। श्री हैवेल महोदय का कहना है कि "यह निश्चय है कि उन के चित्रों में कल्पना तथा भावपूर्ण भारतीय कविता तथा कथा का जो चित्रण है उस में रस का अत्यंत अभाव है। और यह मूल अपराध ऐसा है कि चित्रण की टेकनिकल जानकारी उस क्षति को किसी प्रकार पूरा नही करती।" फिर भी रविवर्मा का कार्य समस्त हिंदुस्तान मे अमीर आश्रयदाताओ द्वारा पसंद किया गया ओर देश के अनेक राजामहाराजाओ ने उन से चित्र बनवा कर अपने महल सजाए। रविवर्मा न केवल शबीहें चित्रित करते थे, वरन् प्राकृतिक दृश्य भी, और बाद मे तो प्राय हिंदू कथाओं को ही चित्रित करते रहते थे।

हिंदुस्तान में कला-संबंधी नवीन आंदोलन किस भांति आरंभ हुआ इस की कथा भी रोचक है। डाक्टर आनंद कुमारस्वामी ने लिखा है—"जो लोग यूरोपीय कला के भारतीय कला पर उन्नीसवीं सदी में हुए प्रभाव को जानते हैं, और निकृष्ट, प्रेरणा-विहीन तथा नितांत विदेशी ढंग की भारतीय शिक्षा से परिचित हैं—ऐसी शिक्षा से जो कि भारतीयो को अपने ही देश में विदेशी बना देती है—उन्हें जो कुछ भी आंदोलन संभव हुआ है, उस पर आश्चर्य ही होगा।" हिंदुस्तानियों में, कला-संबंधी विषयों में, आत्मसम्मान जागृत करने

का श्रेय वास्तव में एक अंग्रेज सज्जन को ही प्राप्त है। जिस समय कि श्री हैवेल महोदय कलकत्ते में सरकारी आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल तथा इंडियन म्यूजियम के कला-विभाग के निरीक्षक बन कर आए, उस समय उन्हों ने देखा कि कला-विभाग यूरोपीय चित्रों की अत्यत घटिया नक़लों से भरा हुआ है और विद्यार्थीगण पुराने यूरोपीय ढंग से त्रिकोणों, चतुष्कोणो और मूर्तियों के सहारे रेखांकण सीख रहे हैं। जो चित्र वह प्रस्तुत करते वह नितांत प्रेरणा-विहीन होते। श्री हैवेल महोदय के मन में यह बात उठी कि यदि सत्रहवी सदी के उत्कृष्ट भारतीय चित्रों के आधार पर उन्हें शिक्षा दी जाय तो विद्यार्थियों को वास्तविक रूप में भारतीयता की प्रेरणा प्राप्त हो सकेगी। सौभाग्यवश उन्हें एक कुशल बंगाली चित्रकार का सोत्साह सहयोग प्राप्त हो गया। श्री अवनींद्रनाथ ठाकुर ने, जिन्हों ने स्वयं प्रारंभिक वर्षों में, यूरोपीय ढंग के तैल-चित्र बनाए थे, यह अनुभव किया कि अपने ही देश की परपरा के आधार पर कला-सबंधी आंदोलन का नेतृत्व ग्रहण करने मे ही कला का कल्याण है और भविष्य में इस आंदोलन से जागृति तथा हित की बड़ी संभावनाएँ हैं। यह विचार कर के उन्हों ने बड़े उत्साह और लगन के साथ श्री हैवेल महोदय के विचारो को कार्य-रूप में परिणत करने का काम उठाया और इस प्रकार जिस बात को हैवेल महोदय ने सिद्धांत-रूप में उठाया था उस को व्यावहारिक रूप मिला। अवनींद्रनाथ ठाकुर, सरकारी आर्ट स्कूल के सहकारी-प्रिंसिपल बना दिए गए और समान भावों से प्रेरित दो व्यक्तियो ने अपनी भिन्न-भिन्न योग्यताओ के संयोग से उस आंदोलन को जन्म दिया जिस से बंगाल शैली की चित्र-कला चल पड़ी। परंतु जातीय संस्कृति के उत्थान के संबंध में इन महोदयों के कार्यो का आरभ मे स्वागत नहीं हुआ था। यही नहीं उन का घोर विरोध किया गया। उन दिनो एक इस प्रकार का विश्वास जनता के हृदय में घर कर गया था कि यूरोप ही से कला-संबंधी एक मात्र प्रेरणा प्राप्त हो सकती है; अतएव यह समझा गया कि यह लोग उन्नति के विरोधी हैं। विद्यार्थियों और 'राष्ट्रीय' कहलाने वाले समाचार-पत्रों ने समान रूप से इन के कार्य का विरोध किया। परंतु अंत में सद्बुद्धि सहायक हुई। इस कला-संबधी आंदोलन के आरंभिक वर्षो मे जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, उन से श्री अवनींद्रनाथ ठाकुर को अपने निश्चय में दृढ़ता ही प्राप्त हुई। अंत में उन के रचनात्मक कार्य ने भारतीय कला के इतिहास में एक नए युग का सूत्रपात कर दिया।

बंगाल का कला-संबंधी आंदोलन अब तीस वर्ष से अधिक पुराना हो चुका है।

इस बीच में, इस के प्रभाव में आए हुए चित्रकारों ने न केवल अपना बहुत-सा काम जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया है, वरन् यह जनता के कला-संबंधी विचारों में आश्चर्यजनक परिवर्तन लाने में सफल हुआ है। इस प्रकार आज, इस आंदोलन के दादागुरु अवनींद्रनाथ अपने पिछले कार्य का किंचित् संतोष के साथ पर्यवलोकन कर सकते हैं। अवनींद्रनाथ की शैली का तीव्र विरोध हुआ है, और यह विरोध अब भी संपूर्णतया ठंडा नहीं पड़ा है। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसी शैली के चित्रकारों की कृतियों द्वारा ही आधुनिक काल में हमारे देश में यह बात सर्वमान्य हो सकी है कि हिंदुस्तान की अपनी चित्रकला अपनी पुरानी परंपरा और भारतीयता के भावों के आधार पर ही निर्मित हो सकती है। यदि यह पूछा जाय कि इस शैली द्वारा वास्तव में क्या कार्य संपादन हुआ है तो हम स्वयं अवनींद्रनाथ के, उन के भाई गगनेंद्रनाथ के, तथा उन के शिष्यों अर्थात् नंदलाल बोस, असित कुमार हाल्दार, समरेंद्रनाथ गुप्त, के० एन्० मजूमदार, शैलेंद्रनाथ दे, के० वेंकटप्पा, शारदा उकील, डी० पी० रायचौधुरी, वीरेश्वर सेन आदि आदि की अनेक सफल और सुंदर चित्रों के नाम ले सकते हैं। यह आंदोलन अब बंगाल तक सीमित नहीं रहा है, वरन् सारे देश में फैल गया है, और इस का समर्थन भारतीय तथा विदेशी कला-मर्मज्ञों द्वारा हुआ है। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि आंदोलन आरंभ करने वालों ने जिस उद्देश्य को सामने रक्खा था वह संपूर्णतया फलीभूत हो गया है। इस संबंध में उचित विचार तो यह होगा कि यह शैली अभी, जिसे हम परिवर्तन-काल कहेंगे, उस को पार नहीं कर चुकी। इस शैली की त्रुटियों के विषय में भी बहुत कुछ कहा गया है। इस शैली के चित्रों में कोरी भावुकता होती है, रेखांकण में दृढ़ता का परिचय नहीं मिलता, चित्रकार पुरानी कथाओं के जाल से निकल कर आधुनिक जीवन के मनन पर ध्यान नहीं देते, रंगों की व्यवस्था चटक न हो कर धूमिल होती है, आदि आदि आलोचनाएँ की जा चुकी हैं और की जाती हैं। इस बात को स्वीकार करने में संकोच न होना चाहिए कि यह सभी आलोचनाएँ अंशतः ठीक हैं; अर्थात् प्रस्तुत कार्य के एक अंश की ही उचित समीक्षा करती हैं। परंतु यह भी न भूलना चाहिए कि शैली में जो कुछ सर्वोत्तम कार्य हुआ है उन पर यह लागू नहीं होतीं। यह आलोचनाएँ इस बात पर भी ध्यान नहीं देतीं कि सामूहिक रूप से बंगाल शैली ने कितना बड़ा कार्य-साधन किया है। बंगाल शैली अपनी पहली मंजिल पार कर चुकी; वह अब दूसरी मंज़िल में पैठी है। इस ने आधुनिक जीवन की वास्तविकताओं तथा कठोर सत्य की ओर से आँखें नहीं फेरी हैं,

तथा व्यक्तिगत विकास का चित्रकारों को पूर्ण अवसर दिया है और यदि इस में अब भी ऐसे चिह्न मिलते हैं जिन से प्रयोग की अवस्था ज्ञात होती है, तो यह भी जान लेना चाहिए कि यह प्रयोग उन्नतिगामी है। श्री ओ० सी० गाँगुली महोदय ने ठीक ही बताया है कि "सभी समालोचक इस बात पर सहमत है कि इस शैली की कृतियाँ सच्चे भारतीय भावों को ले कर और उन के प्रति सम्मान का भाव धारण करते हुए रची गई हैं और भारतीय विषयों को भारतीय वातावरण में प्रस्तुत करने में सफल हुई हैं।" इस शैली का यह उद्देश्य नहीं रहा है कि विदेशी प्रभावों को बिल्कुल दूर रक्खा जाय। प्रयत्न यह रहा है कि जो प्रभाव भारतीय विचारधारा में सहज मे समा सकें उन्हें ग्रहण कर लिया जाय।

बंगाल में जो कला-संबंधी जागृति हुई उस का प्रभाव समस्त देश पर हुए बिना न रहा। फिर भी हमारे देश के चित्रकारों के एक वर्ग ने, विशेष कर बंबई में, अपने को इस से अलग रक्खा। पाश्चात्य शैली की उस 'एकेडेमिक' परपरा में पोषित हो कर जिस मे 'सादृश्यता' या 'नेच्यूरलिज़्म' पर विशेष ध्यान दिया जाता है, बंबई के इस विशेष वर्ग ने बगाल के चित्रकारों की बरावर निंदा की है और उन की कृतियों को "काल्पनिक, अवास्तविक, बेतुकी" आदि कहा है। पाश्चात्य का अनुकरण करने वाले बंबई शैली के चित्रकारों की कृतियों में हमें विशेष प्रतिभा का परिचय तो मिलता नहीं। उन का अधिकांश मध्यम या निकृष्ट श्रेणी का हुआ है।

हमारे देश की चित्रकला में और भी नए-नए प्रयोग हुए हैं। रवींद्रनाथ ठाकुर ने चित्रकार के रूप में किसी भी परंपरा को न ग्रहण कर के अपनी 'आदि-मता' द्वारा जनता को स्तंभित किया है। यह नहीं कहा जा सकता कि उन के चित्रों में अपना कुछ विशेष आकर्षण नहीं है। उन के अतिरिक्त अमृत शेरगिल जैसी कुशल चित्रलेखा भी कुछ प्रयोग प्रस्तुत कर चुकी हैं, जिस के विकास की भविष्य में बड़ी संभावनाएँ हैं।

भविष्य के संबंध में क्या कहा जाय? यह अनुभव किया गया होगा कि बंगाल के चित्रकारों ने 'भारतीयता' पर अधिक ज़ोर दिया है। कदाचित् यह देखते हुए कि हम पाश्चात्य के प्रवाह में बह न जाएँ यह अब तक आवश्यक भी था। परंतु यह संभव नहीं कि भारतीय कला संसार के प्रभावों से बिल्कुल अलग-अलग रह कर पनप सके। यह अनुमान कर लेना चाहिए कि भारतीय चित्रकार अब ऐसी स्थिति प्राप्त कर सके है कि बाहरी प्रभावों के ग्रहण करने में उन की 'भारतीयता' के नष्ट होने का भय नहीं है, और वह अब

ऐसे प्रभाव ग्रहण कर सकते हैं जो उन के अनुकूल सिद्ध हों। ध्यान से देखा जाय तो स्वयं बंगाली कला बाहरी प्रभावों को बिल्कुल दूर नहीं रख सकी है। डाक्टर कुमारस्वामी ने ठीक ही लिखा है कि "विदेशी प्रभावों को पचा कर अपनी परंपरा के आधार पर नवीन शैली का विकास करने की संभावना भारतीय चित्रकला के भविष्य के लिए शुभ-सूचक है"। यह कहना न होगा कि नवीन आंदोलन इसी पथ पर चल रहा है।

काश्मीरी ग्रामगीत

[लेखक—श्रीयुत रामनरेश त्रिपाठी]

मैं मई, १९२८ में काश्मीर गया था। उन दिनों मैं ग्रामगीतों के संग्रह का काम हाथ में लिए हुए था। इस से काश्मीर के वाह्य-सौंदर्य के साथ-साथ उस के अंतःसौंदर्य को भी, जो ग्रामगीतों में चित्रित है, देखने को मैं लालायित था। संयोग से उन्हीं दिनों में स्व० लाला लाजपतराय भी श्रीनगर में ठहरे हुए थे। उन से मेरा पहले का भी परिचय था और काश्मीर में तो महीनों मिलते-जुलते रह कर हम लोग बहुत निकट हो गए थे। काश्मीरी गीतों के संग्रह में उन की प्रेरणा और सुरुचि ने मुझे बहुत ही उत्साहित किया था।

मैं ने काश्मीर के गाँवों में भ्रमण किया। धानों के खेतों में निराती हुई, और घरों के सामने खड़े-खड़े धान कूटती हुई स्त्रियों के मनोमुग्धकारी स्वरों में गाए जाते हुए गीत और हॉजियों (माझियों) के तरह-तरह के स्वरों और लयों के गीत गवा कर मैं ने सुने और संग्रह किए और एक शास्त्री जी की सहायता से उन के अर्थ समझे। काश्मीरी भाषा न जानने के कारण काश्मीरी गीतों के समझने ही में नहीं, संग्रह में भी मुझे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। और साथ ही उन के उच्चारण में आई हुई कुछ नई ध्वनियों के वर्णों के अभाव में मैं उन्हें शुद्ध-शुद्ध लिखने में भी असमर्थ रहा।

जो थोड़े से गीत मुझे प्राप्त हुए हैं, वे भू-स्वर्ग के गीत होने के उपयुक्त ही हैं। उन मे जो भाव व्यक्त किए गए है वे मनुष्य स्वभाव की उच्च कोटि की संस्कृति में पले हुए जान पड़ते हैं। काश्मीर जैसा सुदर है, वैसा ही उस के गीतों में प्रेमरस भी प्रचुरता से छलक रहा है। सौंदर्य के साथ प्रेम का होना बिल्कुल स्वाभाविक है।

काश्मीरी गीतो के कुछ उदाहरण देने के पहले काश्मीरी भाषा के संबंध में कुछ सूचनाएँ, जिन्हें मैं जानता हूँ, यहाँ दे देना पाठकों के लिए उपयोगी समझता हूँ।

काश्मीरी भाषा में संस्कृत और फ़ारसी शब्दों का खूब मिश्रण है। मुसलमानों के आक्रमण और अधिकार के पहले काश्मीर संस्कृत शिक्षा का केंद्र था। काश्मीरी भाषा

हिंदी की तरह एक स्वतंत्र भाषा है, उस में भी संस्कृत के बहुत से तत्सम और तद्भव शब्द भरे हुए है जो उस के मूल का पता बतलाते हैं। जैसे—

काश्मीरी	**हिंदी**
वाथ (पाथ)	=रास्ता
पोश (पुष्प)	=फूल
पूर (पूर्व)	=पूरब
दछुन (दक्षिण)	=दक्खिन
नविद् (नापित)	=नाई
मोल (मूल्य)	=दाम
गछ (गच्छ)	=जाओ
नास (नासा)	=नाक
अस (अस्य)	=मुँह
ज्याव (जिह्वा)	=जीभ
अत्थ (हस्त)	=हाथ
अंगुली (आंगुल्य)	=उँगली
बोई (भ्राता)	=भाई
आन (आनय)	=लाओ
कोत (कुत्र)	=कहाँ
तोत (तत्र)	=वहाँ

इसी तरह अरबी-फ़ारसी के भी बहुत से शब्द, कुछ तो असली वेष में और कुछ काश्मीरी जामे के अंदर, काश्मीरी भाषा में घर किए हुए हैं। जैसे —

सौदा, बाजार, ज़्याद (जियादा), इत्यादि।

काश्मीरी वर्णमाला में कुछ ऐसे अक्षर हैं, जो देवनागरी में नहीं है। जैसे एक अक्षर ऐसा है जिस का उच्चारण च और छ के मध्य का है। मैं ने गीतों में उसे स्पष्ट करने के लिए च के नीचे बिंदी देकर काम निकाला है। कुछ अक्षरों और शब्दों के उच्चारण में एक खास प्रकार का जोर देना पड़ता है। उन का उच्चारण भाषा से परिचय रखने वाले ही उचित रीति से कर सकते हैं।

काश्मीरी गीतों के संबंध में एक यह बात विशेष ध्यान देने की है कि शृंगार और विरह के गीत मुख्य कर मुसलमान समाज ही में प्रचलित हैं। मुसलमान काश्मीर में हैं भी ९५ फी सदी, इस से उन के गीत भी इसी औसत से हैं। वहाँ की पंडित जाति ऐसे गीतों को असभ्यों के गीत समझ कर उन की उपेक्षा करती है। पंडितों में भक्ति और ज्ञान तथा वैराग्य के गीतों का अधिक प्रचार है। पंडितों की स्त्रियाँ उत्सवादि में जो गीत गाती हैं, उन में शृंगार के गीत तो नाम मात्र ही के होते हैं। यहाँ पंडित और मुसलमान दोनों समाजों में प्रचलित कुछ गीत दिए जाते हैं:—

[१]

अरिन्य रंग कोरुनम हिये वन्यतोम अद कर यियें ।।

(उस ने) मुझ चमेली का रंग अरिन्य पुष्प (जुही ?) का-सा कर दिया है (अर्थात् मैं मुरझा गई हूँ)। मुझे बताइए वह फिर कब आएगा।

छाडान लूसस वननय क्याह् सना गोस ना कननय।
चोलुम कथ दरदच्य नयें वन्यतोम अद कर यियें ।।

वनों में ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक गई हूँ। क्या उस के कानों तक यह बात नहीं पहुँच गई ? किस दूर वन में वह चला गया है ? मुझे बताइए वह फिर कब आएगा।

फुलया लज्यमो गुलनय कोसमन त बिथि सुम्बलनय।
यम्बरज़ल बोम्बुरनि लये वन्यतोम अद कर यियें ।।

कोसम और सुम्बल आदि फूलों में शिगूफ़े निकल आए। नरगिस का फूल भ्रमर के प्रेम में खिल गया है। मुझे बताइए वह फिर कब आएगा।

मुशका जान गुलाबन बुन्दसय दाग ह्यतो लालन।
नालान बुलबुल छुये वन्यतोम अद कर यियें ।।

गुलाबों की कैसी सुगंधि है ! लाले ने मध्य भाग में काला चिह्न धारण कर लिया है। बुलबुल भी फ़रियाद करती है। मुझे बताइए वह फिर कब आएगा।

बरिमस खा स्य तय सुरये क्याह् सना यिथि ना त च्यपे।
म्यति आस तमि संज प्रये वन्यतोम अद कर यियें ।।

मै ने उस के लिए प्यालियाँ और सुराहियाँ (प्रेम-रस से) भर दी हैं। व
आ कर इस को पी जाता! मुझ को भी उसी की प्रीति है। मुझे बताइए वह फि
आएगा।

लाल म्यानि असि दर्शुन हाव बुज्न असि चय मो गशराव।

अ नस कास्तम खये वन्यतोम अद कर यिये॥

हे मेरे लाल (प्यारे) अब हमें दर्शन दो और अब हमें मत बिसारो। (मेरे)
(हृदय) का ज़ंग दूर करो। मुझे बताइए वह फिर कब आएगा।

प्रयि च्यानि बर बुख आयस च्यय पत वन्य दिनिद्रायस।

बियि अस्य म्रटि कस छिये वन्यतोम अद कर यिये॥

तुम्हारे प्रेम से मेरे संतोष का प्याला भर गया है। (इस लिए) मैं तुम्हा
मे निकली हूँ। हमें और किसका आश्रय है? मुझे बताइए वह फिर कब आएग

लोल नार छुह् जोरावार प्रारान छस वालि ना थार।

लायिनम लोलच्य छ्ये वन्यतोम अद कर यिये॥

प्रेम की आग बड़ी प्रबल है। उस के आने की प्रतीक्षा में हूँ। उस ने मुझ मे
चिनगारियाँ लगाई हैं। मुझे बताइए वह कब आएगा।

त्राविथ चोलुम मु पानस ब्यूठुम ला मकानस।

वुछान लूसम लये वन्यतोम अद कर यिये॥

मुझ ग़रीब को छोड़ कर वह शून्य-लोक में जा बैठा है। उसे देखते-देखते
थक गई। मुझे बताइए वह फिर कब आएगा।

पोशनूल छुय वनान जार यम्बरज़लि थवतम च्यथ सार।

प्रारान छिह् दर्शुन दिये वन्यतोम अद कर यिये॥

पोशनूल (जानवर) प्रार्थना करता है कि नरगिस को सुरक्षित रक्खो।
दर्शनों की प्रतीक्षा है। मुझे बताइए वह कब आएगा।

[२]

प्रबाथ हो आव अछ्य मुच्राव,

न्यंदर मो त्राव न्यं दर मो त्राव।

अब प्रभात काल आया, आँखें खोलो। नींद को छोड़ो; नींद छोड़ो।

छु चमकान आथ्म सियुक गाश
न्यबर अन्दर थि छ्यथ आकाश।
मुच्र अछ्य दारि मो श्रोपराव
न्यंदर मो श्राव न्यंदर मो श्राव॥

आत्मा के सूर्य का प्रकाश चमकता है। बाहर और अंदर से चिद्रूपी आकाश भी चमकता है। अब नेत्रों को—जो द्वार हैं—खोलो। नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

छतञ्य ह्यत्यनै छ्य कृहनी कीश,
च्र चेनन कोन छुख वुपदीश।
समय गव रंग बदलिथ आव
न्यंदर मो श्राव न्यंदर मो श्राव॥

अब तुम्हारे काले केश सफ़ेद होने लगे। अब भी तुम उपदेश क्यों नहीं ग्रहण करते हो; समय का रंग बदल गया, नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

समय जान बांड जशना जान,
गछ्यस युथ त्युथ गंडुन सामान।
नो वुय पाथरा ह्यथ च्राव
न्यंदर मो श्राव न्यंदर मो श्राव॥

समय को तुम भाँड़ के तमाशे के समान जानो। जैसी सामग्री उपलब्ध है उस से इसे सजाना चाहिए। यह नित नया स्वांग धारण कर के आता है। नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

ज्ञानुक दीफ प्रज़लिथ ज़ान
व्यचारकि न्यत्र वुछ शिव ध्यान।
वुज़िय युथ न खयालुक वाव,
न्यंदर मो श्राव न्यंदर मो श्राव॥

ज्ञान के दीपक को प्रज्वलित जान कर विचार के नेत्रों से कल्याण की मूर्ति को देखो।

ऐसा न हो कि तुम्हारे कुतर्कों का वायु चले। नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

मकर च़ेर फेर च़ होशस कुन,
वोद्यू गक्थ जाम नाली छ्न।
च़्यथस वुज़नाव आलुच़ त्राव,
न्यंदर मो त्राव न्यंदर मो त्राव॥

अब देर न करो; होश की तरफ़ फिरो; उद्योग के कपड़े पहनो। अपने चित्त को जगाओ और आलस्य को छोड़ो। नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

संगरमालन छ्यच़र सम्पुन,
ह्योतुन सोरुय जगत नाम्पुन।
च़ मुख अद्वैत आनस हाव
न्यंदर मो त्राव न्यंदर मो त्राव॥

पर्वतमाला के चारों ओर रोशनी फैल गई, और सारा जगत प्रकाशमान होने लगा। तू अपना मुख अद्वैत के शीशे में देख। नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

वोद्यूगा कर त सामी सुर,
स्यदथ पानय दियिय ईश्वर।
सु करिय युथ च़ करहस बाव,
न्यंदर मो त्राव न्यंदर मो त्राव॥

तुम उद्योग करो और परमात्मा का ध्यान धरो। वह तुम को स्वयं ही सिद्धि देगा। तुम उस की जैसी भावना करोगे, वैसा फल मिलेगा; इस लिए उठो और नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

छ्यनय साथय द्यनय राथय,
तिहुन्द सामी छु प्रबाथय।
अमिस निश अभि़यथ हो जाव,
न्यंदर मो त्राव न्यंदर मो त्राव॥

क्षण, घड़ी, दिन, रात आदि कालचक्र का स्वामी प्रभात काल है; इसी काल में

अभिजित् की उत्पत्ति होती है। नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

गछुन हुश्यार च्य वड गथ छय,
च्य लागञ्य कुस लागथ छय।
न्यराशन पान गाश हो आव,
न्यंदर मो त्राव न्यंदर मो त्राव॥

(इस समय) जागना उत्तम गति है। इस में तुम को क्या लागत लगानी है? निराशों के लिए स्वयं ही प्रकाश आया है। नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

कर्म खराव दर्म खोरन त्राव,
गछ् आथ्म तीर्थ तन मन नाव।
बखच् सर प्रयम पोञ्य छाव,
न्यंदर मो त्राव न्यंदर मो त्राव॥

कर्म की खड़ाऊँ धर्म के पैर में पहन कर जाओ; आत्मा के तीर्थ में तन और मन को धो डालो, भक्ति के तालाब में प्रेम के पानी से मैल छुड़ा डालो। नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

चुगन चुन मञ्ज छु चूर्युम जान,
छु च्यथ च्यथ खुश गछन बगवान।
पतिम पहरस छु युथ सुबाव,
न्यंदर मो त्राव न्यंदर मो त्राव॥

चार युगों में चौथा ही अच्छा है कि जिस में खा-पीकर ही भगवान् खुश होते है। (रात की) अंतिम घड़ी (अर्थात् प्रभात काल) का ऐसा ही स्वभाव होता है। नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

[२]

मदकीत मारवनि युद वीश दारवनि।
शुद शांत दुद चूर गूर गूर करयो॥

हे मधु और कैटभ या मद-अहंकार को मारने वाले, युद्धवेश धारण करने वाले, शुद्ध, शांति-स्वरूप और दूध (मन) को चुराने वाले, मैं तुम को डुलाती रहूँ।

शहर शहर गाम गाम राम राम स्वरयो।
दक्षिण वुतरि पछम पूरि गूर गूर करयो॥

प्रत्येक शहर और प्रत्येक ग्राम में राम के रूप में मैं तेरा स्मरण करूँ और दक्षिण-उत्तर-पश्चिम-पूर्व चारों ओर तुम्हें डुलाती रहूँ।

कर हृशीकीश राग दीश किस शीशस।
खंजि खंजि चूर चूर गूर गूर करयो॥

मेरी संपूर्ण इंद्रियों के स्वामी! राग, द्वेष आदि के शीशे को टुकड़े-टुकड़े कर चूर चूर कर डालो। मैं तुम को डुलाती रहूँ।

छिय वसंत रंग जाम यिन च्यानि फोजि शाम।
लंजि लंजि मूरि मूरि गूर गूर करयो॥

बसंती रंग के कपड़े वाले श्याम! तुम्हारे आने से मैं लता की तरह टहनी-टहनी पत्ते-पत्ते फूल गई हूँ। मैं तुम्हें डुलाती रहूँ।

बोंबूर गीता छ्यसयो गेवान।
स्वर्ग - मंडलचि हूर गूर गूर करयो॥

मैं तुम्हारे प्रेम में विरह-गाथा गाती हूँ, जैसे स्वर्ग-मंडल में अप्सराएँ गाती हैं। मैं तुम्हें डुलाती रहूँ।

सिर्य दरशुन दित मूह गटि मंज नित।
यित नूरकि नूर गूर गूर करयो॥

सूर्य की तरह दर्शन दे कर मेरे मोह-रूपी अँधेरे को हटा लो। प्रकाश को भी प्रकाशित करने वाले आओ। मैं तुमको डुलाती रहूँ।

तुलसी छावय त हियि तन नावय।
फल्यल मुशाक कोफूर गूर गूर करयो॥

तुलसी को लगा-लगा के इस चमेली जैसे शरीर को साफ़ करूँगी। फुलैल और कपूर की सुगंधि भी मै इस में लगाऊँगी। मैं तुम को डुलाती रहूँ।

मननकि तेलन न्यदिध्यासन टोठ।
श्रवणकि कन दूर गूर गूर करयो॥

मनन से मैं ने तुम को मन में रक्खा है और विचार से अब तुम मेरे मन में रमे रहो। हे मेरे कान के फूल, मैं तुम को डुलाती रहूँ।

राजयोग राज बोज साञ्नि ताज ताज स्वर।
श्यम साज संतूर गूर गूर करयो॥

हे राजयोग के राजन्! हमारे प्रेम-रूपी साज और संतूर (वाद्ययंत्र विशेष) के ताजे-ताजे स्वरों को सुनो, और मैं तुम को डुलाती रहूँ।

दीह अभिमानुक कुल ह्लाय छ्यननुय।
त्याग वाराग सूर गूर गूर करयो॥

देह का अभिमान-रूपी वृक्ष त्याग और वैराग्य की राख से कटने लग जाएगा। मैं तुम्हें डुलाती रहूँ।

[४]

आदि प्रबातस अछ्य मुचर्य जे
मन किञ्न सोर्य जे श्री बगवान॥

प्रभात से पहले नेत्रों को खोलना चाहिए और मन से श्री भगवान् का स्मरण करना चाहिए।

न्यर्मल बोज बवसागर तर्यजे
न्यश्कल यारबल कर्य जे श्रान।
श्यशक्य मल अबिमानक्य हर्यजे
मन किञ्न सोर्य जे श्री बगवान॥

निर्मल बुद्धि से भवसागर को तरना चाहिए। निश्कल सरोवर में स्नान करना

चाहिए। अभिमान के तीनों मल दूर करने चाहिए और मन से परमात्मा का स्मरण करना चाहिए।

संसार भ्रम मानिथ दम बर्य जे
सोहम सोर्य जे ठहरिथ प्राण।
यन्द्रयि शोमरिथ सुमरन फिर्य जे
मन किञ्‍ सोर्य जे श्री बगवान।।

संसार को भ्रम मान कर समय बिताना; प्राणों को रोक कर सोऽहं को विचारना। इंद्रियों को शांत कर के माला फेरना और मन से परमात्मा का स्मरण करना चाहिए।

त्याग सन्य राग दीश निश व्यसर्य जे
सोहम सोर्य जे दर्य जे द्यान।
मन थ्यर कर्य जे मंथर पर्य जे
मन किञ्‍ सोर्य जे श्री बगवान।।

त्याग से, राग और द्वेष से पीछे हटना चाहिए; सोऽहं सोच कर ध्यान धरना चाहिए। मन को स्थिर कर के मंत्र पढना चाहिए; मन से भगवान् का स्मरण करना चाहिए।

श्री कृष्ण चरण कमलन अछ्य जर्य जे
यछि यछि श्रदाथि बावनाय सान।
मानसी पूजि सत्य दीह मशर्य जे
मन किञ्‍ सोर्य जे श्री बगवान।।

इच्छा, विश्वास भावना से भगवान् कृष्ण के चरण-कमलों पर नेत्र को जड़ दो; मानसी पूजा से अपने शरीर को भूल जाओ; फिर मन से भगवान् का स्मरण करना चाहिए।

नाना सूरिथ् बानन बर्य जे
बावनायि हंद्य खीर खण्ड पकवान।
श्री कृष्ण महाराजस आपर्य जे
मन किञ्‍ सोर्यजे श्री बगवान।।

नाना भावों को समाप्त कर के (सब व्यवहार करो); भावना के खीर और खांड के पकवान, भगवान् कृष्ण को खिलाना और मन से ईश्वर का स्मरण करना चाहिए।

अष्टदल हृदयस मंज वथर्य जे
न्यर्वासिन आसन की थान।
कृष्ण ध्यान सत्य पान थान आवर्थ जे
मन किञ्ज सोर्य जे श्री बगवान॥

अष्टदल हृदय के बीच निर्वासिना रूपी आसनो को विछाना और स्वयं स्थान को कृष्ण के ध्यान से बंद करना तथा मन से भगवान् का स्मरण करना चाहिए।

दीह दम्बकिस कुटम्बस र।वर्य जे
अशर्य जे ज्ञान संतान।
ईकांतच्य शान्ति शक्ति वर्य जे
मन किञ्ज सोर्य जे श्री बगवान॥

शरीर के मद-रूपी कुटुंब को छोड़ना और ज्ञान-रूपी संतान को धारण करना चाहिए। एकांत की शांति-रूपी शक्ति को धारण करके मन से भगवान् का ध्यान करना चाहिए।

दर्म कर्म जोर मूह् राजस फर्य जे
सत्य ह्राथ शम दम की पह्ल्वान।
आनन्द नगरस राज्या कर्य जे
मन किञ्ज सोर्य जे श्री बगवान॥

शम और दम नामक पहलवानों को साथ लेकर धर्म और कर्म के जोर से मोह राजा को जीतो। फिर आनंद के नगर का राज्य करो और मन से भगवान् को ध्यान में लाओ।

बाल मुकुन्दुन ध्याना दर्य जे
दुन जन्मन हंज हर्यजे हान।

न ज़ि जांह ज़्यविजे नज़ि जांह मर्य जे
मन किञ्न सोर्य जे श्री बगवान ॥

ईश्वर का ध्यान धर कर दोनों जन्मों की हानि को दूर करना, फिर न कभी जन्म लेना और न कभी मरना। मन से भगवान् का स्मरण करना।

[५]

राम जुव श्याम रूप हावे,
परम गथ प्रावनावे ॥

रामचंद्रजी श्याम-मूर्ति दिखा कर (हम को) परम गति को पहुँचा देगा।

यूग शोग ह्यथ ज़्यथ हारे,
अचि मंज़ शान्त वारे।
ब्रह्मानन्द की पोश छावे,
परम गथ प्रावनावे ॥

योग का तोता मन की मैना को लेकर शांति की फुलवाड़ी में जायगा। वहाँ वह ब्रह्मानंद के फूलों का स्वाद दे कर परम गति को पहुँचा देगा।

करि सत संग बोलबाशे,
चटि मूह वाल वाशे।
हंस पखव वुफनावे,
परम गथ प्रावनावे ॥

(वह) सत्संग की बातें करेगा; मोह के जाल को काटेगा; हंस के परों से उड़ायेगा और परम-गति को पहुँचा देगा।

वखच् ओला येरनावे,
शखच् सत्य बसावे।
अमर्यथ की फल ख्यावे,
परम गथ प्रावनावे ॥

(वह) भक्ति का घोंसला बनवा देगा। शक्ति में मिला कर बसायेगा। अमृत के फल खिलायेगा और परम गति को पहुँचा देगा।

पोशनूल जन गंजरावे,
प्रेयम गीथ ग्यवनावे।
नाव सुमरथ सुस्थ थावे,
परम गथ प्रावनावे॥

(वह) पोशनूल की तरह (बागों में) प्रेम के गीत पढ़ायेगा। नाम-स्मरण में स्वस्थ रखेगा और परम गति को पहुँचा देगा।

रूठ्य मन्य जन मननावे,
आथ्म तीर्थ मन नावे।
निष्काम जल दाम च्यावे,
परम गथ प्रावनावे॥

(वह) मानो रूठे हुओं को मनायेगा; आत्मा के तीर्थ में मन को साफ़ करेगा; निष्काम जल को पिलाएगा; और परम गति को पहुँचा देगा।

[६]

क्याह यावुन यियिना फीरिथ,
मानंदि तीर जन गोम नीरिथ॥

काश वह यौवन फिर आता, जो तीर की तरह निकल चला!

दम तिहुंदय क्याह् यियि दरकार,
यस न सत्य आसि यनुन यार।
ब्यियि अफसूस अथ गछि मूरिथ,
मानंदि तीर जन गोम नीरिथ॥

उस के जीवित रहने से क्या लाभ है जिस का यार साथ न हो? वह हाथों को मलते हुए शोक करेगा—हाय तीर की तरह वह (यौवन) निकल चला।

रिंद आशक हा ज़िंदय मूदे
तिम हस तोर क्युत मुकलिथ गय।
गछि़ खाक स खाक नत मीलिथ,
मानंदि तीर ज़न गोम नीरिथ।।

मस्त प्रेमी जीवित ही मर गए और वे ही इस संसार के दुःखों से छूट गए; नहीं तो मिट्टी के साथ मिट्टी मिल जायगी। हाय, यह (यौवन) तीर की तरह चला गया।

मो नाज़ यथ यावन रायस,
यावन मंज़य च्यत पायस।
गर छयुय गछ़ुन पान थव शीरिथ,
मानंदि तीर ज़न गोम नीरिथ।।

इस यौवन-रूपी राजा का अभिमान मत कर। यौवन काल में ही विचार कर, यहाँ से घर जाना है, इस लिए शरीर को तैयार रख, हाय, तीर की तरह यह (यौवन) चला गया।

[७]

यार चोलमय चूरि चूरे,
मूरि थोवुनम लोल नार।
कर सना म्य ड्यक पूरे
यार अचि हे आंगन।।

मेरा यार चोरी-चोरी से भाग गया। उस ने मुझ टहनी में प्रेम की आग लगा दी। मेरे भाग्य कब खुलेंगे कि वह मेरे पास आएगा?

रथ ब वंद सय दूरि दूरि
मूरि थोवुनम लोल नार।।

मैं अपना खून बरतनों में निकाल-निकाल कर उपहार दूँगी। (उस ने) मुझ टहनी में प्रेम की आग लगा दी।

यार चोलुम तय कति छांडन
आर आस नय व्यसियय।
यारस रो स्तुय बाग फोल्मय
कुस म्य छाव्य म कर क्या ह॥

मेरा यार भाग गया। अब उस को कहाँ ढूँढूँ? हे सखि! मुझ एक मात्र पर उस को दया नहीं आई? उस की अनुपस्थिति में (मेरे यौवन-रूपी) बाग में वसन्त आया। कौन इस बाग़ का रस लेगा? हाय, मैं क्या करूँ?

फीरम जरदी रंग रोयस
मार करनस व्यसियय।
अम्य यारन बेंआरन
खार थोव नम दर दिल॥

मेरे लाल वर्ण के मुख पर पीला रंग छा गया। हे सखि! मैं मारी गई! इस निर्दय ने मेरे दिल को मसल डाला।

नेर हा नन्य वन्य ब दिमसय
वार छुम नय व्यसियय।
गरि द्रायस मायि तिहिंदे
रूदुम कथ सना जाये॥

मैं बाहर निकलती और उस की खोज करती; मगर हे सखि! मैं विवश हूँ। मैं घर से उस की प्रीति से निकल भी गई तो वह कहाँ है, यह कौन जानता है।

जायि जाये वन्य दिमसय
थजि ग्राये व्यसियय।
लोलमत्य सय ललि करसय
करस लुलमत लाय॥

हे सखि! मैं स्थान-स्थान में ऊपर को देखती हुई उस को ढूँढूँगी। उस प्रियतम प्यारे को बहुत प्यार करती हुई बलिहारी हो जाऊँगी।

क्य थो जाज्यथस आमताबय
ठ्यथ नाविथ गोम।
पान आल वस यिलि बडेशन
करस वालिज्य मंज जाय॥

उस जालिम ने मुझ को जलाया। फिर छोड़ गया। जब मैं उस को देखूँगी तो वारी हो जाऊँगी और हृदय में उसे स्थान दूँगी।

[८]

अस्य आय लारान लोल सती,
लो लती लो।

हम प्रेम से खिंचे हुए दौड़ते हुए आए, हे प्यारी ! आँखों की पुतली !

यथ अश्क बागस वन्य म्य छिती,
रोवुम सोरुय दोह।
यिम पोश लागस कारि पती
लो लती लो॥

प्रेम के उपवन में मैं ने उसे ढूँढ़ा। सारा दिन बीत गया। यह फूल मैं (उस के) सिर में लगाऊँगा। हे मेरी प्यारी ! आँखों की पुतली !

अर्ज़ा बोज़ तम रोज़ अती,
बोज़ तम आरिज़ो।
यिम नाज़ कदम त्राव सोती,
लो लती लो॥

ज़रा ठहरो। मेरी प्रार्थना सुनो और मेरी इच्छा से परिचित हो जाओ। अहा ! यह अदा की चाल ! शनैः-शनैः चलो। हे मेरी प्यारी ! आँखों की पुतली !

रातस गारान गाम ग्रान्ती,
लूसुम सना दोह।

जायन ब करता नाल मती,

लो लती लो॥

रात बीत गई, ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मैं विह्वल हो गई। अब दिन भी समाप्त हो गया। क्या मैं (उन) जगहों को आलिंगन करूँगी ' मेरी प्यारी ! आँखों की पुतली !

जुल्फ चयानी छिय बवरि फोनी,

नत यास्मन पोश।

शबान क्याह् छिय च्य कारि पती

लो लती लो॥

तुम्हारी जुल्फें बर्बुर की डालियाँ है या माल्ती के फूल। अहा ये तुम्हारी गर्दन के पीछे कैसी शोभा दे रहे हैं ! हे मेरी प्यारी ! आँखों की पुतली।

बादाम च्यशमव जीनिमती,

चश्मै नरगिस आ हो।

डीशिथ हिरनव जंगल रटी,

लो लती लो॥

(तुम्हारे) बादामी नेत्रों ने नरगिस फूल और हरिण को जीत लिया है; (यह) देख कर हरिणों ने वन का आश्रय किया है। हे मेरी प्यारी ! आँखों की पुतली !

[९]

वुछत गोलनस अम्य दिलदारन लोल नारन कोरनम सूर।

खूनि दिल छुस चशमव हारन लोल नारन कोरनम सूर॥

देख, इस दिलदार (माशूक़) ने मुझ को खराब किया। प्यार की आग ने मुझे जलाया है। मैं दिल का खून नेत्रों से निकालता हूँ। प्यार की आग ने मुझे जलाया है।

वुछिथ ओवनस अइकञ्जा मारन बलि कर छुम ललवुन नार।

तंब लाविथ चोल लाचारन लोल नारन कोरनम सूर॥

प्रेम-रूपी साँप ने मुझे डस लिया है। इस पीड़ा से मैं कब मुक्त हो सकूँगा ? मुझे

इसे सहन ही करना होगा। वह (हम) असहायों को प्रलोभन दे कर चला गया। प्रेम की आग ने मुझ को जलाया है।

पश नोवनस चोन वन्य पहरन छुम न हावान माहि रुखसार।
गोश थाविना जारन त पारन लोल नारन कोरनम सूर ॥

(उस ने रात के) चारों पहरों में मुझे उदासी का अनुभव कराया। तो भी चढ़े चाँद का-सा मुख वह नही दिखाता। क्या (वह) मेरी इस विनती पर कान नही देगा? मुझे प्रेम की आग ने जलाया है।

रंगि बुलबुल चाव लाल जारन नाल त्रावान खुश गुफ़्तार।
मस दिथ म्य रुदुम किनारन लोल नारन कोरनम सूर ॥

बुलबुल की तरह (वह) लालों के उपवनों मे चला गया और मीठे स्वर से फरियाद करने लगा। मुझ को मतवाला बना कर उस ने किनारा पकड़ा। प्रेम की आग ने मुझे जलाया है।

आन डबि प्यठ माशोक प्रारन रुय तम्य सुन्द छु पुर अनवार।
तंबलावान नेको कारन लोल नारन कोरनम सूर ॥

शीशे के बरामदे पर माशूक इंतिजार करता है। उस का मुख चमक रहा है, और वह कैसे-कैसे नेक काम करने वालों को भी विह्वल करता है। प्रेम की आग ने मुझे जलाया है।

बंद मिस्कीन जोल अश्क नारन करि क्याह् प्योस स्वरुनुय यार।
पत लारान साहिब कारन लोल नारन कोरनम सूर ॥

बंदे ग़रीब को इश्क़ की आग ने जलाया। क्या करें, यार का ख़याल रखना ही पड़ा। (यह) उत्तम काम करने वालों के भी पीछे-पीछे दौड़ती है। इसी ने मुझ को भी जलाया है।

[१०]

वनत हय व्यस्य यार म्योनुय,
यार छा ग़मखार छा।

सीन जोलनम अश्क नारी,
यूत ज़ालिम यार छा॥

ऐ सखि! तुम कहो कि यह मेरा यार है, या ग़मख्वार है? प्रेम की आग ने मेरे कलेजे को जलाया है। क्या यार इतना ज़ालिम है?

तंब लाविथ दूरि चोलुमय,
दूरि हाविथ चूरि रुय।
मिहर छा महताब छा
गुलज़ार छा रुख़सार छा॥

वह मुझ को दूर से चोरी-चोरी मुँह दिखा कर तरसाता हुआ चला गया। सूरज है, या चाँद है? गुलज़ार है, या रुख़सार है?

ज़ुल्फि मिशकीन याम त्रोवुन,
आशकन थोवुन फिराक़।
ज़ुल्फ छा ज़ंजीर छा या,
सुम्बले तातार छा॥

ज्यों ही उस ने अपनी शोभायमान ज़ुल्फ़ें फैलाई त्योंही प्रेमी विकल हो गए। क्या यह ज़ुल्फ़ है? या साँकल है? या तातार का सुंबुल है?

दामि गैसो कोसि अब्रो,
तीरि मिज़गान तेगि नाज़।
हुस्न की सामान छा यिम,
चूर छा हथियार छा॥

केशपाश का जाल, भ्रू-भंग का धनुष, पपनी का तीर, और हाव-भाव की तलवार —क्या ये सौंदर्य की सामग्रियाँ हैं या चोर (चित्त के चुराने वाले) हैं या आयुध हैं?

नागिराय छायि रुहुम,
चाय करनस हिय माल।

ब्यइमसय मंज रूद जागिथ,
या सु लागिथ मार छा।।

उस 'नागिराय'[१] (नागों के राजा) ने छाया में छिप कर मुझ 'हियमाल' को बहुत हानि पहुँचाई। या वह साँप बन कर किसी चश्मे में ताक लगाये बैठा तो नहीं है ?

बुलबुले सहरी .चोलुम त्रा-,
विथ गुलस छ्यम न खबर।
रञ्जिशे दिल तस ज्यमन छा,
या ज़िरोके खार छा।।

(वह) प्रभात का बुलबुल गुल को छोड़ कर चला गया। मुझे मालूम नहीं है कि वह मुझ से अप्रसन्न है या मुझे तड़पाना चाहता है।

जोश गोंडनम अशक नारन,
बाल यारन न्यूम होश।
पोश मोत बागस अन्दर छा,
या लबे अनहार छा।।

प्रेम की अग्नि ने (मुझे) जलाना शुरू किया। यार ने मेरे होश उड़ा दिए। न जाने वह बाग़ में है या नहर के किनारे पर है ?

गछ्त है व्यस्य अस्त पाठिन,
वुछत आमुत यार छा।
दूरिरुक वर क्या म्य छा,
या मन्दिन्यन गटकार छा।।

हे सखि ! तुम धीरे-धीरे जाओ और देखो, वह आया तो नहीं ? क्या यह मेरा भ्रम है ? या मध्याह्नकाल ही मुझे अंधकार सा दिखाई पड़ता है ?

---

[१] यहाँ 'नागिराय' और 'हियमाल' की कथा की ओर संकेत किया गया है।

स्फुट प्रसंग

१—कवि पेमी और उस की हिंदी कविता

मुझे अभी एक हस्तलिखित पुस्तक प्राप्त हुई है, जो फ़ारसी अक्षरों में लिखी है। इस का नाम 'पेमपरकाश' है। इस के रचयिता का उपनाम पेमी है। इस की भाषा हिंदी है। इस का विषय सूफ़ी-मत के अनुसार ईश्वर-प्रेम है। अनेक छंदों में यह लिखी गई है। खुदा और रसूल की तारीफ़ करने के बाद शाह मुहीउद्दीन पीर की तारीफ़ कर के कवि अपना और अपनी रचना का परिचय इस प्रकार देता है—

औरंगज़ेब के राज में, भई ग्रंथ की आस।
पेमी नाँओ बिचार के, धरौ पेम-परकास॥
हम बासी स्री नगर के, आय बसे सब छोर।
मार हर एसे नगर में, जहाँ साह नहीं चोर॥
हम पूरब के पुरबिया, जात न पूछै कोय।
जात पात सो पूछिए, जो धुर पूरब का होय॥

इस की कविता बड़ी सुंदर है और इस की कविता का उद्देश्य सराहनीय है। इस के कुछ पद नीचे उद्धृत किए जाते हैं, जिस से इस कवि की मनोहर वाणी और श्रेष्ठ भावों का कुछ परिचय प्राप्त होगा—

(१)

पेमी हिंदू तुरुक में, हर रंग रहौ समाइ।
देवल और मसीत में, दीप एक है भाइ॥

(२)

मारग सिध परेम की जानो चाहे कोय

(३)

पेमी हरदरसन ललित, फूल रही फुलबार।
फिल् संवात् बिल् अर्ज में, देखो आँख पसार ।।

(४)

सुध आवे जब मिन्त की, औ होत सुरत में एन् ।
मोती माला आँसु की, नौछावर करैं नैन ।।

(५)

तुम सूरज हम दीप निस, अजुगति कहैं सुनाय।
बिन देखे नहिं रह सकूं, देखे रहौ न जाय ।।

(६)

हौं चकई वा सिंध की, जहाँ न सूरज चंद।
रात दिवस नहिं होत है, नाँ दुख नाहि अनंद ।।

(७)

मन पारा तन की खरी, ध्यान ज्ञान रसमोय।
बिरह अगन सूं फूंक दै, निरमल कुंदन होय ।।

(८)

जहाँ पीत तहँ बिरह है, जहाँ सुख दुख देख।
जहाँ फूल तहँ काँट है, जहाँ दरब तहँ सेख ।।

(९)

बीज बिरछ नहिं दोइ है, रुई चीर नहिं दोय।
दध तरंग नहिं दोइ है, बूझो ज्ञानी लोय ।।

(१०)

रकत पान पकवान तन, हियो रसोई सार।
बैठी बिरहा रावरी, सदा करत जिवनार ।।

(११)

मधुकर जात न ओसन प्यास।
ध्यान ज्ञान कछु काम न आवत, कीनो बहुत अभ्यास ।।

हम चाहक वह रूप मनोहर, तुम क्या जोग बखानी।
आँब छाडि के मिले रुख कूँ, सोई पुरुष अयानो॥
जामें सुरत होय ध्यानन की, ताको जाय बताओ।
हम डोरत बौरें बरानी, हमें कहा समझाओ॥
जो तु रंग बन ताजन दौरे ताकी दीजे आस।
पेमी दरसन हेत को, अरनी बन बन फिरत उदास॥

इस प्रकार साठ-बासठ पृष्ठ की कवित्त-छप्पय-दोहे और राग-रागिनियों में लिखी हुई यह हिंदी कविता, एक मुसल्मान ईश्वर-भक्त की है जिस का प्रेम-संदेश हिंदु-मुसलमानो को एकत्रित करने के लिए हिंदी भाषा में बड़े गौरव की चीज है। सुविधा प्राप्त होने पर यह कविता पुस्तकाकार में छपवाई जा सकती है; इस से न केवल कविता का किन्तु औरंगजेब के समय की हिंदी भाषा के रूप का भी भला बोध होता है। फ़ारसी अक्षरों में लिखी होने के कारण इस के पढ़ने में कठिनाई है, कहीं-कहीं कागज़ को कीड़ों ने खा लिया है इस लिए कुछ शब्द अभी दुर्बोध हैं, तथापि आशा है कि परिश्रम करने पर यह कार्य सफल होगा।

लक्ष्मीधर शास्त्री

२—कौशांबी का एक नया सिक्का

हाल में मुझे कौशांबी से एक ताँबे का सिक्का मिला है, जो बड़े महत्व का है। उस में गुप्तकालीन अक्षरों में 'कोसाम्बी' लिखा हुआ है। विशेष महत्व इस सिक्के का यह है कि अब तक कौशांबी में कोई ऐसा सिक्का नहीं मिला था जिस में शब्द 'कोसाम्बी' लिखा हो, और जो कौशांबी कहाँ है इस को निर्विवाद रूप से स्थिर करता हो। कौशांबी के संबंध में पुरातत्त्व-वेत्ताओं में बड़ा मतभेद रह चुका है। विसेंट स्मिथ का कथन है कि कनिंगहम जिस को बौद्ध कौशांबी बतलाते हैं, वह बौद्धों की कौशांबी नहीं है, बल्कि जैनों की है। बौद्ध कौशांबी सतना के पास कहीं है। कनिंगहम का कहना था कि बौद्धों की कौशांबी यही है, जो मंझनपुर तहसील ज़िला इलाहाबाद में है और जो प्रयाग से लगभग ४० मील पर है। यह विषय विवाद-ग्रस्त इस कारण से हो गया कि ह्वेनसांग ने अपने भ्रमण-वृत्तांत में एक जगह यह लिखा कि वह बौद्ध कौशांबी में गया था और वह प्रयाग से ५०० ली दूरी

पर थी। दूसरी जगह उस ने यह लिखा कि कौशांबी प्रयाग से १५० ली दूरी पर है। इस पर विवाद छिड़ गया।

कनिंगहम जब १८६८ मे कौशांबी गए तो उन्हों ने इस की खूब जाँच-पड़ताल की, और उन्हों ने यही निश्चय किया कि इलाहाबाद जिले वाली ही बौद्ध कौशांबी है। परंतु विंसेंट स्मिथ अपनी ही बात पर अड़े रहे। उस समय तक कोई ऐसा पक्का प्रमाण, शिलालेख, ताम्रपत्र, या सिक्के के रूप में नही मिला था जो अकाटच रूप से इस का निश्चय कर सके। जैसे-जैसे समय बीतता गया कनिंगहम के मत की पुष्टि होती गई। कनिंगहम के पक्ष में उस समय तक केवल दो ही लिखित प्रमाण थे। एक तो वह शिलालेख जो कि इस समय पभोसा के धर्मशाला में लगा हुआ है। यह लेख किसी विशेष महत्व का नहीं है, क्योंकि वह बहुत पुराना नही है। वह इस प्रकार है—

चन्द्रसात्पुत्रसाक श्री हीरालालेन कौशाम्बी नगर वाह्य। प्रभासा चलोपरि श्री पद्मप्रभजिन दीक्षा ज्ञान कल्याण। कक्षभे श्री जिन बिम्ब प्रतिष्ठा करित।

अंरेज बहादुर राज्ये शम.

इस लेख में संवत् १८८९ और प्रयाग लिखा हुआ है।

दूसरा शिलालेख इस से पुराना है। यह लेख अशोक-स्तंभ, जो इस समय भी कौशांबी में है, उस के ऊपरी भाग मे खुदा हुआ है। यह लेख नागरी अक्षरों में है। इस लेख में कुछ सुनारों ने गणेश और शिवभैरव की स्तुति कौशांबी के सुनारों के मंगलार्थ की हैं। लेख में संवत् १६२१ जो ईसा का सन् १५६५ है, दिया हुआ है। विंसेंट स्मिथ इन दोनो शिलालेखों से संतुप्ट न थे। और उन का संतुष्ट न होना किसी हद तक सही भी था। पहला लेख तो बिल्कुल नया था, और दूसरा लेख यद्यपि १५६५ ई० का था परंतु उस से इतना ही सिद्ध होता था कि जिन सुनारों ने इस लेख को खोदा था, वे कौशांबी के रहने वाले थे। यह नहीं सिद्ध होता था कि जिस स्थान पर वह स्तंभ और लेख था, वही कौशांबी है।

तीसरा लेख जो इस से भी पुराना था और जिस का पता उन्नीसवीं शतब्दी के आरंभ में लगा वह संवत् १०९३ का था। यह लेख कड़े के क़िले के फाटक पर खुदा हुआ था और अब इंडियन म्यूज़ियम कलकत्ते में है। वह शिलालेख अशुद्ध संस्कृत में है, और इस प्रकार है—

ओम् सं० १०९३ आषाढ़ सुदि १ अद्यहं श्री मत्कटे महाराजाधिराज यसःपाला कोसम्बमण्डले पयलास ग्रामे महन्त समुसनादिसति यथा पभोसेकीय माथुर विकटस्य सासनत्वं प्रसादि कृत्य मत्वभाग भोगाकर हिरन्य प्रत्यादायादिकं मत्वोपने तव्यमिति दसवंधेनसह अलभ्रत पुत्र पौत्राणां ....

इस का अर्थ संक्षिप्त में यह है—

सं० १०९३ आषाढ़ सुदी १ के दिन महाराजाधिराज यशस्वी यशपाल, कड़ में आने के अवसर पर पयलास ग्राम के महंत को आदेश करते हैं कि यह गाँव उन्होंने दान में पभोसा निवासी मथुरा वकट को दे दिया है। उस गाँव की कुल आमदनी उन को और उन के पुत्र-पौत्रों को मिला करे। पुरातत्त्व-विभाग के भूतपूर्व डाइरेक्टर-जनरल राय बहादुर दयाराम साहनी ने कड़े के आस पास पयलास ग्राम की बहुत खोज की तो उन को मालूम हुआ कि कड़े से पाँच मील उत्तर-पश्चिम पर एक ग्राम है जिस का नाम परास है। साहनी जी को संदेह नहीं है, कि यह वही पयलास ग्राम है जिस का वर्णन उपर्युक्त शिलालेख में है। यह सही भी हो सकता है क्योंकि व्याकरण का सूत्र है कि "रलयो रभेद:" अर्थात् र और ल में कोई भेद नहीं है, और बोलचाल में ऐसा परिवर्तन हो भी जाता है। इस लिए पयलास से पयरास और पयरास से परास हो जाना असंभव नहीं। परन्तु फिर भी अक्षरों की खींचातानी ही से इस शिलालेख द्वारा कौशांबी का स्थान निश्चित करने में सहायता मिलती है।

चौथा शिलालेख जो सब से अधिक महत्व का है वह संवत् १२४५ का है। यद्यपि यह लेख कड़ा के शिलालेख के लगभग २०० वर्ष बाद का है परंतु इस में शब्दों की खींचातानी की आवश्यकता नहीं। गाँव का नाम स्पष्ट रूप से लिखा है, और वही नाम अब तक चला आता है।

यह शिलालेख इलाहाबाद म्युनिसिपल म्यूजियम में सुरक्षित है। लेख इस प्रकार है—

ओम् परम भट्टारकेत्यादि राजावली पञ्चत्योपेता श्वपति-गजपति-नरपति राजत्रयाधिपति विविधविद्याविचारवाचस्पति श्रीमज्जयचंद्रदेवराज्ये सम्वत् १२४५ अद्येष कौशाम्ब पत्तलाया गेहवडग्रामवास्तीक श्रीवास्तव्य ठक्कुर .... श्री सिद्धेश्वरस्य प्रसादम् अका (रयत्)

मैं ने इस शिलालेख को मेहवड ग्राम से जो कौशाबी से लगभग दस मील की दूरी पर है लाकर इलाहाबाद म्यूज़ियम में रक्खा है।

इन सब शिलालेखों से यह ज्ञात होता है कि कौशांबी के स्थान का प्रमाण १०६५ के पहले का कोई नहीं मिला। यह गौरव प्राचीन मुद्राशास्त्र ही को प्राप्त था कि वह कौशांबी की स्थिति के संबंध में आज से लगभग १७०० वर्ष पहले का प्रमाण दे सके। वह प्रमाण एक नया ताँबे का सिक्का है, जो कौशांबी ही से मिला है। यह सिक्का प्रसिद्ध 'लैंकी बुल' (दुर्बल बैल) के प्रकार का है। 'लैंकी बुल' सिक्के तो बहुतेरे कौशांबी में मिल चुके हैं। इन सिक्कों के एक ओर एक बैल और दूसरी ओर मेरु, स्वस्तिक, चक्र, इत्यादि कई प्रकार के चिह्न होते हैं। परंतु उन पर कोई लेख प्रायः नही होता। यह जो नया सिक्का प्राप्त हुआ है, वह इस प्रकार है—

सामने—

एक बैल खड़ा हुआ, बाईं ओर पैर बढ़ाए जा रहा है, बैल के ऊपर सिर के निकट 'कोसाम्बी' लिखा हुआ है। बैल के पिछले पुट्ठे के ऊपर × चिह्न है—

पीछे—

कई फल का चक्र, उज्जैन चिह्न, यानी क्रास के चारो कोने पर लट्टू, मेरु या चैत्य, और भी कई चिह्न हैं—

यह सिक्का अभी पूर्ण-रूप से साफ़ नहीं किया जा सका है। मुमकिन है साफ़ हो जाने पर और चिह्नों का पता चले। यह सिक्का इलाहाबाद के म्युनिसिपल म्यूज़ियम में सुरक्षित है। 'लैंकी बुल' प्रकार के सिक्कों का समय ईसा की तीसरी शताब्दी निर्विवाद रूप से निश्चित हो चुका है, इस लिए कौशांबी के संबंध में यह प्रमाण सब से पुराना है।

ब्रजमोहन व्यास

३—'रामचरितमानस' की सब से प्राचीन प्रति के तीन पृष्ठ

जनवरी सन् १९३५ की 'हिंदुस्तानी' में मैं ने एक लेख 'रामचरितमानस की सब से प्राचीन प्रति' शीर्षक लिखा था जिस में मैं ने सं० १६६१ में लिखी गई 'रामचरितमानस'

‘रामचरितमानस’ की सब से प्राचीन प्रति के तीन पृष्ठ।

की एक हस्तलिखित प्रति का सविस्तर परिचय दिया था। साथ ही मैं ने उस में किए गए कुछ संशोधनों की लिखावट के संबंध में यह विचार किया था कि वे तुलसीदास की हस्तलिपि में हैं या नहीं। यह विचार दो पृष्ठों के संशोधनो को लेकर किया गया था जिन की लिखावट एक व्यक्ति की ज्ञात होती थी और तुलसीदास की मानी जाने वाली अन्य लिखावटों से अन्य संशोधनों की अपेक्षा अधिक निकट थी। उन्हीं दो पृष्ठों में से एक का चित्र प्रस्तुत चित्रों में से पहला है। अन्य दो पृष्ठों के भी संशोधन तुलसीदास के किए हुए कहे जाते हैं किंतु, वे तुलसीदास की लिखी हुई मानी जानेवाली लिखावटों से और भी कम साम्य रखते हैं; शेष दो चित्र उन्हीं दो पृष्ठों के हैं। ये चित्र जिस समय उक्त लेख लिखा गया था उस समय प्राप्त नही थे इस लिए अब दिए जा रहे हैं। मूल प्रति, जैसा लिखा जा चुका है, श्रावणकुंज अयोध्या में सुरक्षित है।

माताप्रसाद गुप्त

समालोचना

कविता

श्री राजराजेश्वरी-ग्रंथावली—रचयिता, राजा राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह, 'प्यारे' (भूतपूर्व सूर्यपुराधीश)। प्रकाशक, श्री राजराजेश्वरी-साहित्य-मंदिर, सूर्यपुरा, शाहाबाद (बिहार)। १९३७। मूल्य ५)

सूर्यपुरा का राजकुटुंब अपने साहित्य-प्रेम और साहित्यिकों को आश्रय देने के लिए प्रसिद्ध रहा है। प्रस्तुत ग्रंथ में राज्य के वर्त्तमान स्वामी राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह ने, अपने स्वर्गीय पिता की प्राप्य रचनाओं को एकत्र कर के सुरक्षित करने का उद्योग किया है। इस के संपादन में हिंदी के कुशल साहित्य-सेवी श्री शिवपूजन सहाय जी का भी हाथ रहा है। वर्तमान राजा साहब ने ग्रंथावली के भूमिका-भाग में लिखा है:—"इन रचनाओं का रचना-काल आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व का है। इस बीच हिंदी-साहित्य की जो अभूतपूर्व प्रगति और उन्नति हुई है, वह सचमुच आश्चर्यजनक है। शृंगार-रस और ब्रजभाषा की रचनाएँ अब असामयिक प्रतीत हो रही हैं; पर जिस समय ये रचनाएँ रची गई थीं, वह समय आज से सर्वथा भिन्न था। मेरे पिता जी हिंदी-भूषण भारतेंदु हरिश्चंद्र के समकालीन थे और उन से इन की खासी घनिष्टता थी। ब्रजभाषा की रचनाओं और शृंगार-रस की प्रधानता का वह युग था। उस समय यदि इन का प्रकाशन हुआ रहता, तो हिंदी-साहित्य में इन का क्या स्थान होता, यह विचारने की बात है।" यह वक्तव्य परिचयात्मक होने के साथ आलोचनात्मक भी है। संग्रह में रचयिता के गद्य तथा पद्य दोनों के ही उदाहरण मिलेंगे और दोनों ही पर ५० वर्ष पूर्व की छाप है। प्रकाशक का कहना है कि "यद्यपि ग्रंथावली की कुछ चीज़ें अधूरी ही हैं, तथापि प्रकाशित कर दी गई हैं; क्योंकि ग्रंथकार की एक पंक्ति को भी नष्ट होने देना अभीष्ट न था।" ग्रंथकार के पूज्य पिता जी की कुछ स्फुट रचनाएँ परिशिष्ट-रूप में दे दी गई हैं। प्रकाशन सजधज के साथ हुआ है।

रा० ट०

अर्चना—लेखक, बाबू चंद्रभान सिह। प्रकाशक, लक्ष्मी आर्ट प्रेस, दारागंज, प्रयाग। पृष्ठ संख्या, ४+१४८, मूल्य, १।॥)

इस पुस्तक में रचयिता की १०१ फुटकर कविताएँ भिन्न-भिन्न शीर्षकों से संग्रहीत हैं, और यह दारागंज प्रयाग की 'तरुण-भारत ग्रंथावली' की ४०वी संख्या के रूप में प्रकाशित हुई है। कविताओं के विषयों में प्राकृतिक वस्तुओं से ले कर मानव-जीवन की विविध बातें तक आती हैं, और उन्हें कवि ने अपने ही ढंग से चित्रित करने का प्रयत्न किया है। भावो मे सादगी किंतु कहीं-कहीं सुंदरता भी लक्षित होती है और यद्यपि भाषा एव काव्यकला की दृष्टि से कवि का अधिकार पूरा नही कहा जा सकता, फिर भी प्रस्तुत संग्रह में एसी अनेक रचनाएँ मिलेंगी जिन में रचयिता के उज्वल भविष्य का आभास स्पष्ट दीख पड़ता है। इस से पहले कवि की दो-एक और कृतियाँ निकल चुकी है। यह पुस्तक कवींद्र रवींद्र को समर्पित है और इस की भूमिका पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी ने लिखी है।

प० रा० च०

आषाढ़—रचयिता तथा संपादक श्री भुवनेश्वरसिंह, "भुवन"। प्रकाशक, वैशाली-प्रेस, मुज़फ़्फ़रपूर (बिहार), मूल्य ।॥)

यथार्थ में यह ग्रंथ 'भुवन' जी की अपूर्व मैथिली कविताओं का एक छोटा-सा सग्रह है। आदि में कवि ने कविताओं के संबंध में एक संक्षिप्त किंतु रोचक भूमिका दी है। जिस से कवि के हृदय का परिचय हमें पूर्ण-रूप से मिलता है। 'भुवन' जी की कविताओं से प्रायः हिंदी जनता भी परिचित है। कवि ने अपने उद्‌गारों का एक छोटा सग्रह प्रकाशित कर कवि-समाज़ का जो उपकार किया है, उस के निमित्त हम उन्हे बधाई देते हैं। इन सभी कविताओं में भाव, भाषा तथा रचना-शैली मनोहर हैं। आशा है जनता इस ग्रंथ का उचित आदर करेगी।

श्री उमेश मिश्र

नाटक

आनंदविजयनाटिका—रचयिता, श्री रामदास उपाध्याय; संपादक और

टिप्पणीकार, श्री भुवनेश्वरसिंह "भुवन"। प्रकाशक, वैशाली प्रेस, मुजफ्फरपुर (बिहार)। पृष्ठ संख्या २०+५८। मूल्य ।)

यह चार अंको में लिखित एक छोटी नाटिका है। यद्यपि प्रधान-रूप में यह ग्रंथ मैथिली भाषा में लिखा गया है, तथापि इन में तीन तो संस्कृत के पद्य है और कहीं-कहीं संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में सरल गद्य भी है। मैथिली भाषा में पच्चीस सुंदर पद दिए है। राधा-माधव के मिलनोपाय का वर्णन ही इस छोटे ग्रंथ का विषय है। साहित्य के ग्रथो में 'नाटिका' के जिन लक्षणों का वर्णन हमें मिलता है उन में से सभी लक्षण इस नाटिका मे हमें नही मिलते है। तथापि प्रधान बातों के समावेश को देख कर इसे 'नाटिका' कहने मे कोई विशेष आपत्ति नहीं देख पड़ती।

ग्रंथकार पंडित रामदास झा पंडित कृष्णदास झा के पुत्र थे। गंगादास, गोविंद-दास, (प्रसिद्ध गोविंद-गीतावली आदि के रचयिता), और हरिदास इन के सोदर भाई थे। ज़िला दरभंगा के लोहना ग्राम में इन का जन्म हुआ था। इन के पूर्वज सभी विशिष्ट विद्वान् और ग्रंथों के रचयिता हुए हैं।

कवि रामदास झा मिथिला के राजा सुदर ठाकुर के आश्रय में रहते थे। राजा सुदर ठाकुर, मिथिलाराज्योपार्जक महामहोपाध्याय महेश ठाकुर से ले कर नवें शासक हुए है। सुंदर ठाकुर का राज्यारंभ काल १०५१ फ़सली अर्थात् लगभग १६४४ ई० कहा जाता है। अतएव रामदास झा की भी स्थिति इसी समय में मानना होगा।

नाटिका के भाव, भाषा तथा रचना शैली सभी अत्यंत मधुर है। शब्द-काठिन्य तो है ही नहीं। इन की कविताओं मे उमापति उपाध्याय-रचित 'पारिजातहरण' का प्रभाव स्पष्ट मालूम होता है। बहुत से शब्दों में प्राचीनता की झलक भी स्पष्ट है। पुस्तक अत्यत उपादेय है, इस में कोई संदेह नहीं। संपादक ने अपनी भूमिका और टिप्पणियों से इस के महत्व को अत्यधिक बढ़ा दिया है। जहाँ-कहीं उन्हें सूर, तुलसी, विद्यापति, कालिदास आदि के भाव-सादृश्य मिले संपादक ने उन्हें उद्धृत पदो द्वारा दिखलाया है। अलंकारादि को भी यथास्थान बतलाने का प्रयत्न संपादक ने किया है। इन सब के लिए हम उन्हे हार्दिक धन्यवाद देते है। कोई भी मनुष्य इस ग्रंथ की टिप्पणिओं को देख कर 'भुवन' जी के परिश्रम को समझ सकता है। आशा है इसी प्रकार आप के प्रयत्न से और भी ग्रथो के दर्शन होंगे।

श्री उमेश मिश्र

साहित्य-समीक्षा

शतपंच चौपाई—(भावप्रकाशिका टीका-सहित)—मूल-लेखक, गोस्वामी तुलसीदास; टीकाकार पंडित श्री विजयानंद त्रिपाठी, महोपदेशक, साहित्य-रंजन' प्रकाशक, गीता प्रेस, गोरखपुर। पृष्ठ-संख्या, १२+३२६। मूल्य ॥=)

'रामचरितमानस' की स्वयं गोस्वामी तुलसीदास द्वारा निर्दिष्ट 'शतपंच चौपाई' किन्हें समझना चाहिए यह प्रश्न अभी तक बहुत कुछ विवादग्रस्त रहता चला आया है। टीकाकार ने अपने मतानुसार इस का उत्तर प्रस्तुत पुस्तक में संगृहीत चौपाइयों को ही शतपंच चौपाई मान कर दिया है और इस के समर्थन में जो वक्तव्य द्वारा उस ने अपने तर्क दिए हैं वे युक्ति-संगत जान पड़ते हैं। उक्त चौपाइयाँ (जिन में कुछ दोहे भी सम्मिलित हैं) 'रामचरितमानस' के अंत में दिए गए कागभुशुंडी व गरुड़ के संवाद वाले अंश में आती हैं, और ग्रंथ का उपसंहार-स्वरूप होने के कारण बहुत महत्वपूर्ण समझी जाने योग्य हैं। टीकाकार ने उक्त पद्यों को पाँच प्रसंगों में विभक्त कर उन्हें भिन्न-भिन्न शीर्षकों के अंतर्गत रक्खा है, और प्रत्येक चौपाई का भाव स्पष्ट करने के लिए उस की विस्तृत विश्लेषणात्मक व्याख्या की है, तथा भावसाम्य दिखलाने के लिए कहीं-कहीं उद्धरण भी दिए हैं। व्याख्या कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक लंबी हो गई है, फिर भी पुस्तक संग्रहणीय है।

सौंदरनंद-महाकाव्य—मूल-लेखक, महाकवि अश्वघोष; अनुवादक, पंडित रामदीन पांडेय, एम्० ए०, बी एल्०, अध्यापक, राँची कालेज (बिहार); प्रकाशक, श्री दुलारेलाल भार्गव, अध्यक्ष, गंगा-पुस्तक-माला, लखनऊ। पृष्ठ-संख्या, ११+९०। मूल्य ।।)

प्रस्तुत पुस्तक का विषय भदंत अश्वघोष के सौंदरनंद-महाकाव्य का केवल कथा-सार है। संकलयिता ने 'वक्तव्य' में अपने तथा पुस्तक के प्रकाशक के संबंध में कुछ परिचयात्मक एवं प्रशंसात्मक बातें लिखी हैं जो अनावश्यक प्रतीत होती हैं, और 'उपक्रम' में जो उस ने आलोचनात्मक विचार प्रकट किए हैं वे भी बहुत-कुछ अधूरे व अव्यवस्थित हैं। फिर भी अनुवादित अंश का गद्य अच्छा है, और उसे पढ़ते समय वैसा बाहरी प्रभाव नहीं दीखता। हाँ, एकाध स्थलों पर दो-चार वाक्य ऐसे अवश्य आ गए हैं जो, समालोच्य पुस्तक

की प्राचीनता की दृष्टि से, खटकने वाले कहे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए 'अतः दक्ष नगर जनसंख्या में द्वितीय लंदन हो गया" (पृ० १५) तथा "ये वृक्ष 'अरेबियन नाइट्स' के भूगर्भ-स्थित उद्यान के वृक्षों को भी मात करते थे" आदि ऐसी बातें हैं जिन्हें काल व परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए सर्वथा अनुपयुक्त कहा जा सकता है।

साहित्य की झांकी—लेखक, श्री गौरीशंकर 'सत्येंद्र' एम्० ए०, विशारद, शिक्षक सी० ए० इंटरमीडिएट कालेज, मथुरा। प्रकाशक, श्री भगवानदास केला, व्यवस्थापक, भारतीय ग्रंथमाला, वृंदावन। पृष्ठ-संख्या, २+५+१२६। मूल्य ।।।)

इस पुस्तक में लेखक के ७ साहित्यिक निबंध संग्रहीत हैं जिन में से प्रथम पांच का संबंध हिंदी साहित्य के भक्तिकाव्य से है, और अंतिम दो के विषय उन के शीर्षक क्रमशः 'हिंदी नाटकों में हास्यरस्य' एवं 'भूषण कवि और उन की परिस्थिति' से जाने जा सकते हैं। लेखक का उद्देश्य अपने उक्त निबंधों द्वारा हिंदी साहित्य में "अध्ययन शैली का स्वरूप उपस्थित करना और साहित्य के अमर रूप और उस के धारारूप की झांकी कराना है और इसी लिए उस ने विशेष कर अपने प्रथम "पांच निबंधों में भक्ति-काल तक के हिंदी साहित्य की मूल प्रवृत्तियों का अंतर्दर्शन" कराने की चेष्टा की है। लेखक के विचार इस विषय में अवश्य ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि किसी भी साहित्य के इतिहास का पूर्ण ज्ञान केवल उस के कवियों वा लेखकों तथा उन की रचनाओं का परिचय मात्र देने से नहीं हो सकता। साहित्य-संबंधी इतिहास के रचयिता का मुख्य लक्ष्य अपने साहित्य के वास्तविक रूप तथा उस के विकास की धाराओं के विविध क्रमों का पता लगाना होना चाहिए। हिंदी साहित्य के इतिहासकार अभी तक इस ओर समुचित ध्यान देते हुए नहीं दीख पड़ते, और अब आवश्यकता है कि इस बात के महत्व पर अधिक ज़ोर दिया जाए। लेखक के सभी विचारों से विषय के विशेषज्ञ विद्वान् संभवतः सहमत न होंगे, किंतु पुस्तक विशेषकर नवीन दृष्टिकोण की ओर संकेत करने वाली होने के कारण पढ़ने योग्य है।

प० रा० च०

लव् पोएम्स् इन हिंदी—लेखक, श्री ओ० सी० गांगुली। प्रकाशक, श्री ए० एन्० गांगुली, ६ ओल्ड पोस्ट आफ़िस स्ट्रीट, कलकत्ता। २९ सादे और ४ रंगीन चित्र सहित। ५६ पृष्ठ। १९३६। मूल्य ५)

गांगुली महोदय भारतीय कला के मर्मज्ञ हैं और कलकत्ते से "रूपम्" नाम की जो कला पत्रिका निकला करती थी, उस के संपादक रह चुके है। अब आप 'लिट्ल् बुक्स् आन् एशियाटिक आर्ट' नाम की एक ग्रंथमाला निकाल रहे है, जिस में एशिआई कला के विविध अगो पर विवेचन निकल रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक उसी ग्रंथमाला में चौथा प्रकाशन है। सजधज, छपाई-सफ़ाई और चित्र-संकलन की दृष्टि से पुस्तक सचमुच कला की वस्तु जान पड़ती है।

परंतु हिंदी की प्रेम-सबंधी कविताओ पर जो लेखक का छोटा-सा निबंध है, वह विषय का विस्तार देखते हुए अपूर्ण भी है और एकांगी भी। आरंभ में ही लेखक ने यह स्वीकार कर लिया कि उस का हिंदी कविता का परिचय गंभीर परिशीलन पर आश्रित नही है। अधिकांश रीति-कालीन पद्यों के फुटकर उदाहरण के आधार पर हिंदी के वृहत् कविता-साहित्य की आलोचना कर डालना किंचित् साहस का काम है। पुस्तक में उद्धृत हिंदी कविताओं के पाठ प्रूफ़ की अशुद्धियों के कारण नितांत भ्रष्ट हो गए है। इन अशुद्धियो की संख्या सैकड़ों में जायगी। लिप्यंतर भी शुद्ध नहीं हुआ है। कविताओं के अनुवाद शाब्दिक नही हैं, जैसा कि शास्त्रीय ग्रंथों की रीति है, वरन् उन में बड़ी स्वतंत्रता ली गई है। फिर भी संग्रह जैसा हुआ है, अंग्रेजी पाठकों के लिए मनोरंजक होगा। जो कविताएँ उद्धृत की गई है वह वास्तव में पुस्तक में संग्रहीत चित्रों को स्पष्ट करने के लिए, और इस दृष्टि से संकलन अनुपयुक्त नहीं है। चित्र भारतीय चित्रकला की विविध शैलियों के परिचायक है और अपने ढंग के उत्कृष्ट नमूने हैं। पुस्तक की चारुता पर हिंदी पद्यों की भ्रष्ट छपाई के कारण बड़ा आघात पहुँचता है। अंग्रेजी में मतिराम के लिए 'मॉतिराम', पहाड़ी के लिए 'पाहाड़ी' आदि लिख देना बंगाली दोष है, और हिंदी वालों को बहुत खटकेंगे।

रा० द०

हिंदी फ़ोक्-सांग्ज़—लेखक, श्री ए० जी० शिरेफ़, आई० सी० एस०। प्रकाशक, हिंदी-मंदिर, इलाहाबाद। मूल्य १)

हिंदी लोक-गीतों के संबंध में जो निबंध इस पुस्तक में प्रकाशित हुआ है वह कुछ सक्षेप में इस से पूर्व लंदन की रायल एशियाटिक सोसाइटी के 'जर्नल' में प्रकाशित हो चुका था। श्रीयुत शिरेफ़ हमारे प्रांत के एक उच्च पदाधिकारी हैं, और न केवल हमारी भाषा

के प्रेमी वरन् जानकार भी हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उन्हों ने ६५ हिंदी लोक-गीतों के अनुवाद अंग्रेजी तथा स्काट भाषा के पद्य में दिए हैं। अनुवाद शाब्दिक न होने पर भी मूल-गीतों के वास्तविक भावों की रक्षा करते हैं, और यह आशा की जाती है कि यह हिंदुस्तान के बाहर के तथा इतर-प्रांतीय पाठकों को हमारे गीतों की मधुरिमा और जीवनी-शक्ति का कुछ परिचय देने में समर्थ होंगे। श्रीयुत शिरेफ़ ने गीतों के मूल-पाठ पंडित रामनरेश त्रिपाठी द्वारा संग्रहीत ग्राम-गीतों से लिए है, और उक्त पंडित जी के कार्य की सराहना करते हुए लिखा है कि "इन का हिंदी कविता पर उसी प्रकार गहरा प्रभाव पड सकता है, जिस प्रकार कि पर्सी के 'रेलिक्स' और स्काट गीतों के संग्रह का अंग्रेज़ी कविता पर अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में पड़ा था।" पुस्तक की छपाई आदि सुंदर हुई है और अंत में हिंदी के वे गीत भी दे दिए गए हैं जिन के अनुवाद प्रस्तुत किए गए हैं अथवा जिन का हवाला अंग्रेज़ी लेख में दिया गया है।

रा० ट०

जीवन-चरित्र

हज़रत मोहम्मद साहब का जीवन-चरित्र—लेखक, पंडित सुंदरलाल। प्रकाशक, दक्षिण-हिंदी-प्रचार-सभा, मद्रास। पृष्ठ-संख्या, ४+९०। मूल्य, ।ľ)

यह पुस्तक प्रसिद्ध धार्मिक महापुरुष हज़रत मोहम्मद साहब की जीवनी है और केवल थोड़े से ही पृष्ठों में बड़े अच्छे ढंग से लिखी गई है। लेखक ने मोहम्मद साहब की समकालीन परिस्थिति, उन के कार्यक्षेत्र, उन की कठिनाइयाँ, उन के प्रयत्न तथा उन की सफलता का संक्षिप्त परिचय दिया है, किंतु साथ ही उन की व्यक्तिगत योग्यता, उन की साधना अथवा आध्यात्मिक जीवन की झांकी का जो चित्र सामने रक्खा है वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पुस्तक के अंत में हज़रत के कतिपय उपदेशों का भी एक संग्रह है और विदेशी विद्वानों द्वारा की गई प्रशंसाओं के कुछ अवतरण भी हैं। प्रचार की दृष्टि से पुस्तक का मूल्य कुछ और कम रहता तो अधिक अच्छा होता।

प० रा० च०

रामबिलास पोदार—संपादक, श्री जवाहिरलाल जैन, एम्० ए०, 'विशारद'। प्रकाशक, रामबिलास पोदार-स्मारक-समिति, युसुफ़ बिल्डिंग, फ़ोर्ट, बंबई। १९३६।

शिक्षित, संपन्न, समाजसेवी और होनहार मारवाड़ी नवयुवक श्री रामबिलास पोदार की आकस्मिक मृत्यु से कुछ समय हुए बंबई में शोक की एक लहर फैल गई थी। प्रस्तुत पुस्तक में स्वर्गीय रामबिलास जी का जीवन, परिचय और उन के मित्रों के उद्गार एकत्र हैं। पुस्तक बहुत सुंदर छपी है और अनेक चित्रों से सजाई गई है। आशा है जिस ग्रंथमाला का यह पहला उपहार है उस में साहित्य को समुन्नत बनाने वाले अभिनव ग्रंथ भविष्य में प्रकाशित होंगे।

रा० द०

विज्ञान

सौंदर्य-विज्ञान—लेखक, श्री हरिवंशसिंह शास्त्री। प्रकाशक, मंत्री, काशी विद्यापीठ, बनारस छावनी। पृष्ठ-संख्या, ८+१५८। मूल्य ।।।)

हिंदी में सौंदर्यतत्त्व की विस्तृत वैज्ञानिक व्याख्या करने वाली कदाचित् यह सब से पहली पुस्तक है, तौ भी विषय-प्रतिपादन की सजीव शैली एवं भिन्न-भिन्न मतों की समुचित आलोचना, आदि की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि लेखक को बहुत अच्छी सफलता मिली है। सौंदर्य का विषय इतना महत्वपूर्ण होते हुए भी भारतीय लेखकों के लिए अभी तक यह बहुत कुछ अछूता ही रहा है। यत्र-तत्र प्रक्षिप्त विचार-प्रदर्शन के सिवाय इस ओर विशेष ध्यान देने का कष्ट हमारे बहुत कम लेखकों ने उठाया है। उधर योरपीय देशों में इस विषय पर न जाने कितने प्राचीन काल से गंभीर चर्चा होती आई है। हर्ष की बात है कि अब बँगला आदि प्रांतीय भाषाओं के भी लेखक इस विषय को अपनाने लगे हैं और आशा है कि कुछ दिनों में सौंदर्य का दार्शनिक विवेचन पूरे मनोयोग के साथ होने लगेगा।

समालोच्य ग्रंथ के लेखक काशी विद्यापीठ के शास्त्री हैं, और अपने अध्ययन-काल में उन का यह विषय प्रमुख रहा है। इसी संबंध में उन्हों ने अनेक ग्रंथों का पठन व परिशीलन किया और अपने आचार्य बाबू संपूर्णानंद जी की सहायता से इस नवीन विषय पर भी एक विचारपूर्ण रचना प्रस्तुत करने का साहस किया। इन बातों का दिग्दर्शन भूमिका-लेखक बाबू संपूर्णानंद के शब्दों तथा स्वयं लेखक के भी परिचयात्मक 'दो शब्द' से हो जाता है। पुस्तक नव अध्यायों में विभक्त है, जिन में भिन्न-भिन्न शीर्षकों में सौंदर्य के स्वरूप,

उस की परिभाषा एवं सौंदर्य तथा जीवन के संबंध के साथ-साथ भिन्न-भिन्न तद्विषयक मतों की समीक्षा भी दी गई है। समीक्षा में लेखक ने वैज्ञानिकों और दार्शनिकों के विचार उद्धृत कर उन पर अपनी टिप्पणी की है, जिस में, सभी प्रकार से, सहमत होना अत्यन्त कठिन है, किंतु तो भी सब के अंत में जो उन्हों ने निष्कर्ष रूप से सौंदर्य की परिभाषा दी है, वह बहुत अंशों में उचित जान पड़ती है। उन का कहना है कि "स्थूल या सूक्ष्म जगत में आत्मा की अभिव्यक्ति ही सौंदर्य है" और, कोरी वैज्ञानिकता को छोड़ कर, विचार करनेवालों के लिए इसे अपनाना बहुत कठिन न होगा। लेखक के अन्य सिद्धांतों पर विचार करने के लिए अधिक स्थान अपेक्षित है। इस पुस्तक पर सभी बातों की दृष्टि से विचार करते हुए, संक्षेप में, हम कह सकते हैं, कि यह मनन करने योग्य है और इस से हमारी हिंदी के साहित्य की भी वृद्धि होगी।

विज्ञान-रहस्य—लेखक, श्री मनोहरकृष्ण सक्सेना, विशारद, साहित्यरत्न। प्रकाशक, मानसरोवर-साहित्य। निकेतन, मुरादाबाद। पृष्ठ-संख्या, ३+१२७। मूल्य ।॥)

इस पुस्तक मे घरेलू उद्योग-धंधा-संबंधी अनेक बातें हरि और रमेश की बातचीत द्वारा लिखी गई हैं। जिस से बहुत सी उपयोगी कलाओं का ज्ञान होना संभव है। नित्य व्यवहार में आने वाली वस्तुओ का बनाना इस से सहज में सीखा जा सकता है।

प० रा० च०

धर्म और दर्शन

ऐतरेयोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, व माण्डूक्योपनिषद्—सानुवाद शांकरभाष्य-सहित। प्रकाशक, गीताप्रेस, गोरखपुर। पृष्ठ-संख्या क्रमशः ६+९४+२ ६+४+२३७+२; व ११+५+२७३+८। मूल्य क्रमशः, ।=), ॥=) व १)

उपनिषद् हमारे वैदिक-साहित्य की विभूति हैं, और गूढ़तम रहस्यों के उद्घाटन, दार्शनिक तत्त्वों के सरल विवेचन एवं आध्यात्मिक जीवन की समस्याओं के निराकरण-संबंधी इन की विशेषताओं के मर्मज्ञ इन्हें अटल शांति का स्रोत माना करते हैं। इन के महत्व के ही कारण, वैदिक काल से आगे चल कर इन के अनुकरण में भिन्न-भिन्न सांप्रदायिक उपनिषदों की रचना होने लगी और क्रमशः एक विशाल उपनिषद्-साहित्य का आविर्भाव हो गया। परंतु, वास्तव में, अब तक भी प्रमुख स्थान उन्हीं

प्राचीन उपनिषदों को प्राप्त है जो सीधे वैदिक साहित्य से निकली थीं। इस श्रेणी की उपनिषदों पर सांप्रदायिक आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार अलग-अलग भाष्य लिखे हैं, और इसी नियमानुसार मुख्य-मुख्य दस उपनिषदों को प्रस्थानत्रयी में भी स्थान प्राप्त है। गोरखपुर का गीताप्रेस, जान पड़ता है, इन्हीं उपनिषदों को स्वामी शंकराचार्य के अद्वैतवाद-मूलक भाष्य के साथ प्रकाशित कराने का विचार कर रहा है। कुछ दिन पहले ईश, कठ, केन, प्रश्न व मुंडक नामक पांच उपनिषदों को उपनिषद्-भाष्य खंड १, के नाम से निकाला था अब ऐतरेय, तैत्तिरीय एवं मांडूक्य उपनिषदों के भी वैसे ही अनुवादित सभाष्य संस्करण कदाचित् उपनिषद्-भाष्य खंड २, के रूप में निकालने वाला है।

ऐतरेयोपनिषद् ऋग्वेदीय ऐतरेयारण्यक के अंतर्गत आया है और इस का मुख्य विषय ब्रह्मविद्या है। इस के तीन अध्यायों में से प्रथम में सब के मूलस्वरूप केवल मात्र आत्मा के 'ईक्षण' से ले कर उस के पुरुष में प्रवेश कर जाने तक का सृष्टिक्रम दिया है, और इस प्रकार संसार को, आत्मा के ही संकल्प द्वारा आविर्भूत होने के कारण, आत्म-स्वरूप सिद्ध किया गया है। इसी भांति इस के द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में आत्मज्ञान को ही परमपद-प्राप्ति का एकमात्र साधन बतला कर उसे भिन्न-भिन्न प्रमाणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। स्वामी शंकराचार्य ने अपने भाष्य के उपोद्घात में तथा अन्य आवश्यक स्थलों पर भी अपने मत की पुष्टि मे बहुत कुछ लिखा है, और कर्म तथा कर्म-समुच्चित ज्ञान आदि की अपेक्षा केवल ज्ञान को ही मोक्ष का एकमात्र साधन मान कर उस के अधिकारी का संन्यासी होना आवश्यक बतलाया है। इन के अनुसार किसी भी आश्रम में संन्यास हो सकता है। हिंदी अनुवाद अधिकतर अक्षरशः किया गया है, किंतु भाव को स्पष्ट करने के लिए अनुवादक ने कहीं-कहीं कोष्टकों द्वारा अपनी ओर से भी कुछ जोड़ दिया है, जिस से अच्छी सहायता मिलती है।

तैत्तिरीयोपनिषद्, इसी प्रकार, कृष्ण-यजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक के ७, ८ एव ९ प्रपाठकों को कहते हैं। उपनिषद् में इन के नाम क्रमशः शीक्षावल्ली, ब्रह्मानंद-वल्ली व भृगुवल्ली भी है और अंतिम दो वल्लियों को आचार्य वरुण के नाम पर एक साथ 'वारुणी उपनिषद्' कहने की भी परंपरा है। यह उपनिषद् भी ब्रह्मविद्या-प्रधान है। परंतु इस के प्रथम अंश मे उपासना एवं गुरु-शिष्य-संबंधी शिष्टाचार तथा गृहस्थ-

जनोचित सदाचार का निरूपण है और फिर अन्य दो अंशों द्वारा ब्रह्मज्ञान की विशद व्याख्या की गई है। अंतिम अंश में ही भृगु एवं उस के पिता वरुण के प्रश्नोत्तर है जिन के कारण उसे भृगुवल्ली कहते हैं। आचार्य शंकर ने इस उपनिषद् के भाष्य के भी आरंभ मे परमपद की प्राप्ति का एकमात्र साधन ज्ञान को माना है और भिन्न-भिन्न तर्क-वितर्कों द्वारा कर्मकांड-संबंधी सिद्धांतो के खंडन करने की चेष्टा की है। इस उपनिषद् का भी हिंदी अनुवाद ऐतरेय की ही भांति हुआ है।

मांडूक्योपनिषद् अथर्ववेदीय ब्राह्मण-भाग का एक अंश है और अपने केवल बारह मत्रों के कारण मुख्य दस उपनिषदों में सब से छोटी है। किंतु स्वामी शंकराचार्य के दादागुरु गौड़ पादाचार्य ने जो इन पर २१५ कारिकाएं लिखी है उन के कारण इन का कलेवर एवं महत्व दोनों बढ़ गए है। इस उपनिषद् का प्रधान विषय ओंकार तथा उस की तीन मात्रा अ उ म् का सविस्तर वर्णन है। वास्तव में संपूर्ण उपनिषद् गौड़पादीय कारिकाओं के प्रथम प्रकरण में ही समाप्त हो जाती है और इन के शेष तीन प्रकरणो मे आचार्य के सांप्रदायिक सिद्धांत, अद्वैतवाद, का स्पष्टीकरण मात्र है। स्वामी शंकराचार्य ने अपना भाष्य विशेष कर इन कारिकाओ को ही लक्षित करके लिखा है और यह उपनिषद् अपने सभाष्य मांडूक्यकारिका के रूप में अद्वैतवाद का एक अत्यंत प्रामाणिक ग्रथ बन जाती है। इस का भी हिंदी अनुवाद पूर्ववत् किया गया है और इस के अनुवादक ने ग्रंथ के आरंभ में ११ पृष्ठों की एक भूमिका लिख कर इस के विषय को भली भाति स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। ऐतरेय एवं तैत्तिरीय उपनिषदों के आदि में भी अनुवादक ने क्रमशः 'प्रस्तावना' तथा 'निवेदन' द्वारा उन के विषयों का सार दे दिया है और तीनों उपनिषदों के अंत मे अनुक्रमणिकाएं भी लगी हुई हैं। तीनों उपनिषदो मे एक-एक चित्र भी दिए गए हैं और तीनों की छपाई आदि को स्वच्छ व सुंदर बनाने की चेष्टा की गई है।

भक्तियोग—लेखक, चौधरी रघुनंदनप्रसाद सिंह। प्रकाशक, गीताप्रेस, गोरखपुर। पृष्ठ-संख्या, ४ + ६९९। मूल्य १≈)

इस पुस्तक के आरंभ में हिंदू विश्वविद्यालय के अध्यापक पंडित जीवनशंकर जी याज्ञिक द्वारा लिखी हुई भूमिका से पता चलता है कि इस के लेखक दरभंगा राज के एक पदाधिकारी थे और पटना में रहते थे। खेद की बात है कि ग्रथ के प्रकाशित होने

के पहले ही उन का देहावसान हो गया। समालोच्य ग्रंथ के पढ़ने से विदित होता है कि उन्हें भक्तियोग-संबंधी ग्रंथों से अच्छा परिचय था, एवं इस विषय का गहरा अनुभव भी था। भक्ति के प्रायः प्रत्येक अंग पर उन्हों ने सविस्तर किंतु साथ ही सप्रमाण विवरण देने का प्रयत्न किया है। ग्रंथ, वास्तव में, उन के कई वर्ष पूर्व दो खंडों में प्रकाशित किसी 'साधनसंग्रह' नामक रचना का एक अंश मात्र है। मूल रचना इस समय अप्राप्य है, और उस के शेष अंश 'कर्माभ्यासयोग' एवं 'ज्ञानयोग' के नाम से क्रमशः तारा-यंत्रालय, काशी तथा गीताप्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित हैं। प्रस्तुत पुस्तक अपने पूर्वरूप से परिवर्द्धित है। इस में उपासना-क्रम एवं प्रेम का आवश्यक परिचय देते हुए लेखक ने भक्ति की व्याख्या बड़े विस्तार से की है और आगे चल कर इसी विषय के प्रसिद्ध नव लक्षणों में उत्तरोत्तर विशेषता दिखलाते हुए इसे 'राधाभाव' में परिणत कर दिया है। लेखक के विचारों के मुख्य आधार शास्त्रीय प्रमाण एवं प्रसिद्ध संतों के अनुभव जान पड़ते हैं, और इन की सहायता से उस ने भक्ति-विषयक सिद्धांतों को अधिक से अधिक स्पष्ट करने में बड़ा परिश्रम किया है। पुस्तक में यत्र-तत्र पाया जानेवाला पुनरुक्ति-दोष एव उस की कलेवर-वृद्धि भी इसी बात के परिणामस्वरूप हैं। तो भी ग्रंथ पढ़ने योग्य है।

श्री अरविंद और उन का योग—संपादक, लक्ष्मणनारायण गर्दे। प्रकाशक, मदनगोपाल गाड़ोदिया, श्री अरविंद ग्रंथमाला, ४ हेयर स्ट्रीट, कलकत्ता। पृष्ठ-संख्या, ५+८५। मूल्य ।।)

श्री अरविंद के नामादि से परिचित रहते हुए भी अधिक लोग उन की रहस्यमयी साधना तथा उस के आधारभूत सिद्धांतों के विषय में प्रायः कुछ भी नहीं जानते। 'श्री अरविंद-ग्रंथमाला' का आयोजन विशेषकर ऐसे ही लोगों के लिए हुआ है। प्रकाशक ने अपने छोटे से 'वक्तव्य' द्वारा श्री अरविंद के योग की विशेषता एवं उस के महत्व को समझाने की चेष्टा की है। उस के अनुसार इस का मुख्य ध्येय "प्रभुचैतन्य की विज्ञान-शक्ति का मन, बुद्धि, प्राण व शरीर में अवतरण करना, जड़-प्रकृति में दिव्य जीवन उत्पन्न कराना" है। पुस्तक भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा लिखे गए ८ लेखों का संग्रह है और इन के लेखक श्री दिलीपकुमार राय, श्री नलिनीकांत गुप्त, श्री अनिल बरणराय एवं श्री महेंद्रनाथ सरकार हैं। इन्हें पढ़ने से पता चलता है कि ये निःसंदेह अपने विषय के विशेषज्ञो द्वारा लिखे

गए है। पुस्तक में श्री अरविंद का एक चित्र भी है और इस के काग़ज़, छपाई, आदि सभी उत्तम हैं।

प० रा० च०

समाजशास्त्र और राजनीति

संसार की समाज-क्रांति और हिंदुस्तान—मूल-लेखक डाक्टर गजानन श्रीपत खैर। प्रकाशक, काशी विद्यापीठ, बनारस। संवत् १९९३। पृष्ठ-संख्या २८५+९+२। मूल्य (अजिल्द का) १॥)

यह मूल-लेखक की मराठी रचना का अनुवाद है। आरंभ में श्री भगवान्दास जी ने ९ पृष्ठ की भूमिका में लेखक और ग्रंथ के विषय का परिचय कराया है। अनुवाद बहुत सुंदर हुआ है; पढ़ने में मौलिक ग्रंथ का-सा आनंद आता है।

लेखक ने यूरोप और अमरीका की सैर की है, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक अवस्थाओं को ग़ौर से देखा है और उन से हिंदुस्तान के लिए उपयोगी नतीजे निकालने का प्रयत्न किया है। यह पुस्तक उस शैली में नहीं लिखी गई है जिस में समाज या राजनीति-संबंधी वैज्ञानिक ग्रंथ लिखे जाते हैं। पर यह गंभीर विचारों से शून्य भी नहीं है। इस के चार भाग हैं—पहले भाग में अमरीका की संस्कृति की विवेचना की है। दूसरे में रूस की क्रांति और सोवियट-प्रथा का विश्लेषण है। तीसरे भाग में जर्मनी, इंग्लैंड और इटली की चर्चा है। चौथे भाग में संसार-प्रगति की दृष्टि से कुछ भारतीय समस्याओं पर प्रकाश डाला है।

वर्तमान युग विज्ञान और यंत्र का है। गत दो सौ वर्ष के विज्ञान ने संसार के पुराने धार्मिक और सामाजिक विचार बदल दिए हैं और बदल रहा है। विज्ञान की सहायता से बने हुए यंत्रों ने आर्थिक जीवन की काया-पलट कर दी है, खेती की उपज बढ़ा दी है, कारखानों में विशाल परिमाण में चीज़ें पैदा (मास प्रोडक्शन) कराई हैं, समस्त देशों में पारस्परिक संबंध स्थापित कर दिए हैं। इस युगांतर में पाश्चात्य देशों में बहुत सी उन्नति हुई है, धन-वैभव बढ़ा है, शिक्षा का प्रचार हुआ है। पर अनेक जटिल समस्याएँ भी पैदा हो गई है। इन को सुलझाने के लिए रूस ने समष्टिवाद का सहारा लिया है; जर्मनी और इटली ने उस के विपरीत फ़ाशिज़्म अंगीकार किया है, इंग्लैंड, फ़्रांस आदि देशों ने अपनी

सुदृढ़ संस्थाओं मे कुछ परिवर्तन करना ही यथेष्ट समझा है। लेखक ने इन विषयों की चर्चा सावधानी और स्वतंत्रता से की है।

राष्ट्रसंघ और विश्वशांति—लेखक, श्रीयुत रामनारायण यादवेंदु, बी० ए० एल्-एल्० बी०। प्रकाशक, मानसरोवर-साहित्य-निकेतन, मुरादाबाद। १९३६। पृष्ठ-सख्या, ३२४। मूल्य ३॥)

इस पुस्तक की भूमिका श्रीयुत संपूर्णानंद जी ने लिखी है और एक विद्वतापूर्ण विवेचना के बाद यह नतीजा निकाला है कि "विश्वशांति का सब से बड़ा और प्रबल वस्तुतः एकमात्र शत्रु पूंजीवाद है।·········विश्वशांति तभी होगी जब मनुष्य-समाज का संगठन नए ढंगपर होगा।"

हिंदी साहित्य के हितचिंतक इस पुस्तक का हृदय से स्वागत करेंगे। आज कल्ह अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की जानकारी बहुत आवश्यक है। कारण यह है कि इन का प्रभाव प्रत्येक देश की आर्थिक और सांस्कृतिक अवस्था पर पड़ता है। हिंदी मे अभी तक इस विषय की रचनाएँ बहुत कम हैं। आलोच्य पुस्तक में राष्ट्र-संघ (लीग अव् नेशंस्) का पूरा वर्णन किया गया है, और भिन्न-भिन्न देशों के पारस्परिक संबंधों पर भी प्रकाश डाला गया है। जो लोग समाचार पत्र पढ़ते है वह इस पुस्तक के सहारे बहुत सी बातो को स्पष्टतः समझ सकेगे। गत महायुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ, अंतर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय (दि पर्मानेंट कोर्ट अव् इंटरनेशनल जस्टिस) और अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ (इंटरनेशनल लेबर ऑर्गनाइज़ेशन)—यह तीन बड़ी संस्थाएँ शांति की स्थापना के लिए, और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए स्थापित हुईं। इन का विस्तृत वर्णन पुस्तक के पहले भाग में किया है। दूसरे भाग में अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार किया है।

लेखक का विश्वास है कि शांति का अग्रदूत भारतवर्ष है। हिंदू, बौद्ध, और जैनों के अहिंसा-सिद्धांत से इस मत का आंशिक समर्थन होता है। इस युग में महात्मा गांधी ने अहिंसा-सिद्धांत का व्यवहार राजनैतिक क्षेत्र मे किया है, और संसार को कुछ नए सबक सिखाए हैं। पर यह भी मानना पड़ेगा कि हिंदुओं के राजनैतिक साहित्य में युद्ध और साम्राज्य-प्रसार को क्षत्रिय-धर्म का दर्जा दिया है।

पुस्तक मे दो-एक छोटी त्रुटियाँ है। लेखक और भूमिका-लेखक के चित्र दिए हैं।

इन की कोई विशेष आवश्यकता न थी। कहीं-कहीं नाम या शब्द केवल अंग्रेजी में ही लिख दिए हैं जिस से अंग्रेज़ी न जानने वालों को असुविधा होगी।

बेनीप्रसाद

कोष

उर्दू-हिंदी कोष—संपादक रामचंद्र वर्मा। प्रकाशक, हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, बंबई। १९३६। मूल्य २।।)

देवनागरी लिपि में एक उर्दू-हिंदी कोष की आवश्यकता का अनुभव लोग बहुत दिनों से कर रहे थे। प्रस्तुत कोष से इस आवश्यकता की बहुत-कुछ पूर्ति हो जाती है। सुयोग्य संपादक ने इसे भरसक पूर्ण बनाने का उद्योग किया है। इस की शब्दसंख्या १०१६० है। उर्दू शब्दों के 'हिज्जो' का पता इस से अवश्य नहीं चल पाता है। यदि कुछ विशेष लिपि-चिह्नों का प्रयोग किया जाता तो यही त्रुटि दूर हो सकती थी। इस कोष के प्रकाशन में संपादक का उद्देश्य व्यवहारिक है, वैज्ञानिक नहीं, और इस दृष्टि से इस कोष को हिंदी-प्रेमी तथा हिंदी के विद्यार्थी अवश्य उपयोगी पावेंगे।

फ़ोर थाउज़ैंड इंपारटेंट हिंदी वर्ड्स—(चार हज़ार मुख्य हिंदी शब्दो की सूची)—सपादक—रेवरेंड जे० सी० कोएनिग, बालोदा बाज़ार, सी० पी०। प्रकाशक, मिशन प्रेस, जबलपुर। मूल्य १।।)

यह हिंदी का शब्द-कोष अपने ढंग का अनोखा तथा अत्यंत महत्वपूर्ण है। बच्चो तथा सर्वसाधारण के लिए लिखी गई लगभग १५० पुस्तकों तथा पत्रिकाओं में से ४००० ऐसे हिंदी शब्दों का संग्रह इस में किया गया है जो सब से अधिक प्रयुक्त हुए हैं। ये ४००० शब्द भी चार पृथक् श्रेणियों में विभक्त हैं। सब से अधिक प्रयुक्त प्रथम १००० शब्द एक कालम में दिए गए हैं, तथा क्रम से दूसरे, तीसरे, और चौथे हज़ार शब्द शेष तीन कालमों में हैं। प्रत्येक शब्द के आगे उस की तुलनात्मक प्रयोग-संख्या भी दे दी गई है।

वैज्ञानिक उपयोगो के अतिरिक्त इस शब्द-संग्रह का व्यवहारिक उपयोग भी पर्याप्त हो सकता है। भविष्य में बच्चों तथा सर्व-साधारण के लिए पुस्तके लिखने वालो के लिए यह शब्दकोष विशेष सहायक हो सकता है। वे अपनी ऐसी रचनाओं मे अप्रयुक्त तथा कठिन शब्दावली को इस शब्द-संग्रह की सहायता से आसानी से बचा सकते हैं। सामग्री एकत्रित करने में मिशनरी पुस्तकों की सहायता प्रचुर मात्रा में ली गई है, इस लिए

कुछ ऐसे शब्दों की प्रयोग-संख्या ऊपर उठ गई है जो शब्द वास्तव में सर्वसाधारण की भाषा मे इतने अधिक नहीं प्रचलित हैं। ऐसी छोटी-छोटी त्रुटियों के रहते हुए भी यह कहना पडेगा यह उद्योग अत्यंत सराहनीय है और अपने ढंग का पहला है। वास्तव मे इस ढंग के एक और भी अधिक विस्तृत, पूर्ण, तथा वैज्ञानिक प्रयोग की आवश्यकता है, जो हिंदी भाषा के विद्वानों द्वारा होना चाहिए। तो भी इस मार्ग के पथ-प्रदर्शन का श्रेय सदा इस मिशन-मडली को ही रहेगा, जिस के लिए ये कार्यकर्ता बधाई के पात्र हैं।

धीरेंद्र वर्मा

यात्रा

उत्तराखंड के पथ पर—लेखक, प्रोफेसर मनोरंजन, एम्० ए०। प्रकाशक, पुस्तक भडार, लहेरिया सराय, (बिहार)। पृष्ठ-संख्या ३००। सचित्र। मूल्य २)

हिंदुओं के चार धामों में श्री बदरीधाम ही ऐसा है जिस की यात्रा यात्रियो को पूर्व-काल की कठिनाइयों की कुछ याद दिला सकती है, यद्यपि यहाँ का मार्ग भी सुगम होता जा रहा है। इस पुस्तक में हमें पर्वतीय यात्रा-मार्ग के अनेक चित्र और अनुभव मिलेगे। जो कुछ वर्णन दिया गया है उस की नींव उस दिनचर्या पर है, जिसे पथ में नियमित रूप से लेखक लिखा करता था। लेखक की शैली मनोरंजक है, और अन्य यात्रियों के लिए इस मे बहुत सी ज्ञातव्य बातें मिलेंगी। लेखक न केवल एक श्रद्धालु के रूप में, वरन् एक विनोदी, सहृदय, प्रकृति-प्रेमी के रूप मे हमारे सामने आता है। अपनी निजी, घरेलू बातो को जन-साधारण के सामने रखने में एक सीमा का पालन करना उचित है। लेखक यत्र-तत्र इस सीमा को पार कर गया है, यही पुस्तक के विषय में एक आपत्ति है। पुस्तक अनेक चित्रो से सुसज्जित है और इस में एक उपयोगी मानचित्र भी लगा हुआ है।

रा० द०

स्फुट

लिपिकला—लेखक, सुलेखाचार्य पंडित गौरीशंकर भट्ट। प्रकाशक, अक्षर-विज्ञान कार्यालय, मसवानपुर, कानपुर। पृष्ठ-संख्या, २+२८+३४। मूल्य ।)

लेखक से हिंदी के पाठक भली-भाँति परिचित होंगे। आप लिपिकला के विशेषज्ञ हैं और यह पुस्तक, एक प्रकार से, उन के सिद्धांतों का सचित्र संग्रह है।

प० रा० च०

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ़ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्०। मूल्य १।)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा। सचित्र। मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा। मूल्य १।)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी। अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा। मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)। मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी०। सचित्र। मूल्य ६॥)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त बड्थ्वाल। सचित्र। मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास। मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी०। मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य १।)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्०। सचित्र। मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० सचित्र मूल्य ३)

(१३) ...

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०। मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए० सचित्र। मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ। मूल्य सजिल्द ३।।); बिना जिल्द ३)

(१७) हिंदी, उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा मूल्य सजिल्द १।।); बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक—मिर्जा अबुलफ़ज़्ल। मूल्य १।)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)। मूल्य सजिल्द ४); बिना जिल्द ३।।)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना। मूल्य सजिल्द ५।।); बिना जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए०। मूल्य ४।।) सजिल्द; ४) बिना जिल्द।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार। मूल्य प्रत्येक भाग का सजिल्द ५।।); बिना जिल्द ५)

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी० एस्०। सचित्र। मूल्य बिना जिल्द ६।); सजिल्द ६।।)

(२४) प्रेम-दीपिका—महात्मा अक्षर अनन्यकृत। संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य ।।)

(२५) संत तुकाराम—लेखक, डाक्टर हरिरामचंद्र दिवेकर, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस), साहित्याचार्य। मूल्य सजिल्द २); बिना जिल्द १।।)

(२६) विद्यापति ठाकुर—लेखक, डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०। मूल्य १।)

हिंदुस्तानी एकेडेमी के उद्देश

हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्देश हिंदी और उर्दू साहित्य की रक्षा, वृद्धि तथा उन्नति करना है। इस उद्देश की सिद्धि के लिए वह

(क) भिन्न भिन्न विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों पर पुरस्कार देगी।

(ख) पारिश्रमिक देकर या अन्यथा दूसरी भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित करेगी।

(ग) विश्व-विद्यालयों या अन्य साहित्यिक संस्थाओं को रुपए की सहायता देकर मौलिक साहित्य या अनुवादों को प्रकाशित करने के लिए उत्साहित करेगी।

(घ) प्रसिद्ध लेखकों और विद्वानों को एकेडेमी का फ़ेलो चुनेगी।

(ङ) एकेडेमी के उपकारकों को सम्मानित फ़ेलो चुनेगी।

(च) एक पुस्तकालय की स्थापना और उस का संचालन करेगी।

(छ) प्रतिष्ठित विद्वानों के व्याख्यानों का प्रबंध करेगी।

(ज) ऊपर कहे हुए उद्देश की सिद्धि के लिए और जो जो उपाय आवश्यक होंगे उन्हें व्यवहार में लाएगी।

मुद्रक— [illegible] पाण्डेय
ला जर्नल प्रेस इलाहाबाद

हिंदुस्तानी

नी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

अक्तूबर, १९३७

हिंदुस्तानी एकेडेमी
संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी, अक्तूबर, १९३७

संपादक—रामचंद्र टंडन

लेख-सूची

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ७ } अक्तूबर, १९३७ { अंक ४

सिंधु-सभ्यता और उस का विश्वव्यापी प्रभाव

[लेखक—श्रीयुत अमृत वसंत]

पाश्चात्य पंडित अब तक यही मानते चले आ रहे हैं कि सुमेरियन, सिंधु, मिश्री, क्रीटन आदि भिन्न-भिन्न सभ्यताएँ भिन्न-भिन्न देशों में स्वतंत्र रूप से उत्पन्न हो कर विकसित हुई थी। परंतु अब ज्यों-ज्यों नवीन खुदाइयों द्वारा अधिकाधिक प्राचीन वस्तुएँ मिलती जाती हैं, त्यों-त्यों भिन्न-भिन्न सभ्यताओं में समानता दृष्टिगोचर होने लगी है, और इस निष्कर्ष की ओर प्रवृत्ति हो रही है कि सभ्यता किसी एक स्थान से उत्पन्न हो कर सारे संसार में फैली थी।

दक्षिण-पश्चिम ईरान में सुसा की खुदाई में सब से नीचे एक महत्त्वपूर्ण सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए है। यह ताँबे के युग की सभ्यता थी। मानव-जाति की प्रगति के इतिहास में सर्वप्रथम पत्थर, फिर तांवा, फिर काँसा और फिर लोहे का युग आया। सुसा के सब से नीचे के नगर (जिस को सुसा प्रथम कहा जाता है) की तांवे की सभ्यता को मानव-जाति की सब से अधिक प्राचीन सभ्यता माना गया है, और पुरातत्त्ववेत्ता इस को प्रोटो-इलामाइट-सभ्यता कहते हैं सुसा के अतिरिक्त यह ईरान और के अनेक स्थानो में प्राप्त

प्रोटो-इलामाइट-सभ्यता

पुरानत्त्ववेत्ता यह मानते हैं कि प्रोटो-इलामाइट-सभ्यता किसी अन्य देश से वहाँ पहुँची थी। इस सभ्यता के चिन्ह ईरान के पूर्व की ओर विलोचिस्तान और सिंध में प्राप्त हुए है। काठियावाड में भी मि० फ़ूट को इस सभ्यता की वस्तुएँ प्राप्त हुई थी। यह ताँबे के युग की सभ्यता थी। राजपूताना और काठियावाड़ में प्राचीन-काल में ताँबा निकलता था, अतः प्रोटो-इलामाइट-सभ्यता की उत्पत्ति की सभावना भारत के पश्चिमी भाग मे ही हो सकती है।

सरस्वती नदी, जिस के तट-प्रदेश को हमारे प्राचीन साहित्य यें सभ्यता की आदि-भूमि कहा गया है, उत्तर भारत से पश्चिम-भारत की ओर बहती हुई काठियावाड मे खवात की खाड़ी में समुद्र से मिल जाती थी। इसी का तट-प्रदेश ताँबे की उत्पत्ति का क्षेत्र था, अतः ज्ञात होता है कि ताँबे के युग की प्रोटो-इलामाइट-सभ्यता, सरस्वती के तट-प्रदेश पर ही उत्पन्न हुई थी। अतः हमें उस को सरस्वती-सभ्यता कहना चाहिए। सुसा की खुदाई में प्रोटो-इलामाइट अर्थात् मरस्वती-सभ्यता के भग्नावशेषों पर पाँच फ़ुट मोटा धूल का स्तर प्राप्त हुआ है। इस पर सुसा का दूसरा नगर प्राप्त हुआ है, जिस की सभ्यता काँसे के युग की सुमेरियन सभ्यता थी। सुसा-प्रथम की ताँबे के युग की और सुसा-द्वितीय की काँसे के युग की सभ्यताओं की जो पुरातत्त्व-सामग्री प्राप्त हुई है, उस का अध्ययन कर के पुरातत्त्ववेत्ता इस निष्कर्ष पर आए है, कि सुसा-प्रथम की प्रोटो-इलामाइट-सभ्यता मे से ही सुसा-द्वितीय की सुमेरियन-सभ्यता उत्पन्न हुई थी। परंतु इन दोनों सभ्यताओं के अव-शेषो के बीच पाँच फुट मोटा धूल का स्तर पाया गया है, जिस से सिद्ध हुआ है कि सुसा-प्रथम के निवासी किसी कारण से इलाम और मेसोपोटामिया को छोड़ कर स्वदेश चले गए थे। इस बीच सुसा पर ऊजड़ हो जाने से धूल जमने लगी, और पाँच फ़ुट ऊँची जम गई। इस के पश्चात् पुनः सुसा के निवासी अपनी सभ्यता का विकसित रूप ले कर आए और सुसा का दूसरा नगर बसाया। इस प्रदेश में धूल बहुत अधिक उड़ने के कारण करीब २० वर्ष में एक फ़ुट ऊँची जम जाती है। इस प्रकार सुसा-प्रथम और द्वितीय के बीच का पाँच फ़ुट मोटा धूल का स्तर सवा सौ वर्ष में जमा होगा। इस से ज्ञात होता है कि सुसा-प्रथम की प्रोटो-इलामाइट अर्थात् सरस्वती-सभ्यता जब सवा सौ वर्ष पश्चात् पुनः वहाँ पहुँची तो. इतने अर्से में वह उन्नत हो कर सुमेरियन-सभ्यता बन चुकी थी

सुसा-प्रथम के निवासी क्यों इलाम और मेसोपोटामिया को छोड़ कर चले गए थे, इस का कारण ज्ञात न हो सका था। तीन वर्ष पूर्व मेसोपोटामिया में डाक्टर लैंग्डन को किश में और वुली को उर में खुदाई कराते समय प्रथम सुमेरियन राज-वंश की वस्तुओं के नीचे पानी-द्वारा जमी हुई मिट्टी का ८ फुट मोटा स्तर प्राप्त हुआ जिस में लोगों को पानी की बाढ़ द्वारा नष्ट-भ्रष्ट की हुई वस्तुएँ दबी हुई मिलीं। यह मिट्टी वास्तव में फ़रात की उस भयंकर बाढ़ द्वारा जमी थी जो वहाँ राजसत्ता की स्थापना के पूर्व आई थी, और जल-प्रलय के नाम से जिस का सुमेरो-बेबीलोनियन और भारत के प्राचीन साहित्य में विवरण लिखा हुआ है। इस के नीचे खोदे जाने पर सुसा-प्रथम और आमरी के समान उर और किश दोनों स्थानों में प्रोटो-इलामाइट अर्थात् सरस्वती-सभ्यता के चिन्ह प्राप्त हुए, जिस से सिद्ध हुआ कि वास्तव में इस प्रलय की बाढ़ के कारण ही प्रोटो-इलामाइट लोग इलाम और मेसोपोटामिया को छोड़ कर अपने देश अर्थात् भारत चले गए थे। यही कारण है कि प्रलय-कथा एक ओर मेसोपोटामिया में पाई जाती है, दूसरी ओर भारत में। सुमेर की प्रलय-कथा का नायक उतानपिश्तिम था, और 'शतपथ ब्राह्मण' की भारतीय कथा का नायक वैवस्वत मनु था। यह वैवस्वत मनु के राज्यकाल की घटना थी, इस लिए ऐतिहासिक दृष्टि से 'शतपथ ब्राह्मण' के रचयिताओं ने भारतीय प्रलय-कथा का नायक मनु को बनाया। इस से मनु के काल पर प्रकाश पड़ता है जो भारत के सब से प्राचीन राजवंश सूर्य-वंश का प्रथम राजा था। सुमेर-जाति की ईंटों पर लिखी हुई, किश, निप्पुर और वेल्ड-ब्लंडेल नामक वंशावलियों द्वारा ज्ञात हुआ है, कि बेबीलन-नगर के प्रथम सेमाइट राजा अनुबामुबाइल से १२७० वर्ष पूर्व मेसोपोटामिया में सुमेर-जाति का प्रथम राजा उक्कुसि ईरान की खाड़ी द्वारा इरीदु के बंदरगाह में सुमेर जाति को ले कर पहुँचा था। बेबीलन का प्रथम राजा अनुबामुबाइल ई० पू० २११३ में गद्दी पर बैठा था। इस से ज्ञात होता है कि ई० पू० ३३८३ में प्रथम सुमेर-राजा उक्कुसि मेसोपोटामिया पहुँचा था। उक्कुसि के पुत्र वक्कुस ने इस घटना के ३३ वर्ष पश्चात् ई० पू० ३३५० में सुसा-द्वितीय को बसाया था। सुसा-द्वितीय के नीचे के धूल के स्तर की उम्र से पता चलता है कि इस से सवा सौ वर्ष पूर्व प्रलय के कारण सुसा-प्रथम के निवासी भारत चले गए थे। अर्थात ई० पू० ३४७५ में प्रलय आया था मनु इसी समय भारत म राज्य करता था जो यहा का प्रथम राजा था

इस प्रकार ज्ञात होता है कि ई० पू० २४७५ के क़रीब भारत का राजवंशीय इतिहास शुरू होता है।

सुसा-प्रथम और आमरी की सभ्यता एक ही थी, यह हम देख चुके। आमरी मे इस सभ्यता के ऊपर सिंधु-सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए है। इन दोनों सभ्यताओं की वस्तुओं के अध्ययन-द्वारा ज्ञात होता है कि आमरी की प्रोटो-इलामाइट-सभ्यता (जिस को मैं सरस्वती-सभ्यता कहता हूँ) में से ही सिंधु-सभ्यता उत्पन्न हुई थी, अर्थात् उसी का विकसित रूप सिंधु-सभ्यता थी। इस प्रकार सरस्वती-सभ्यता में से इलाम और मेसोपोटामिया में सुमेर-सभ्यता आई, और भारत में इस में से सिंधु-सभ्यता उत्पन्न हुई। जब हम सुमेर और सिंधु-सभ्यताओं की वस्तुओं का अध्ययन करते हैं, तो ज्ञात होता है कि दोनों सभ्यताएँ एक-सी ही थी। सुसा-द्वितीय, उर, किश और जमदेतनस्र आदि सुमेरु-जाति के सब से प्राचीन नगरो की नीव मे मुहेंजोडेरो के आकार की पकी हुई ईंटे और सिंधु-लिपि मे लिखी हुई मुद्राएँ मिली हैं। इस से ज्ञात होता है कि सुमेर-सभ्यता वास्तव में सिंधु-सभ्यता ही थी, जो पश्चिम-भारत से मेसोपोटामिया पहुँची थी। प्रोटो-इलामाइट, सिंधु और प्रारंभिक सुमेरियन चित्र-लिपियो द्वारा भी यही प्रमाणित होता है कि प्रोटो-इलामाइट-लिपि में से सिंधु-लिपि और सिंधु-लिपि में से प्रारंभिक सुमेरियन-लिपि उत्पन्न हुई थी।

सिंधु और सुमेरियन सभ्यताएँ

आज से बीस वर्ष पूर्व तक मिश्री अर्थात् इजिप्शियन-सभ्यता को ही संसार में सब से अधिक प्राचीन माना जाता था। जब मेसोपोटामिया में पाश्चात्य पुरातत्त्ववेत्ताओं ने सुमेर-नगरों की खुदाई प्रारंभ की तो सुमेर-सभ्यता मिश्री-सभ्यता से भी अधिक प्राचीन सिद्ध हुई। सर फ़्लाइन्डर्स पेट्री के प्रयत्नों से मिश्र के प्रथम राजवंश के पूर्व की सभ्यता का भी पता लगा है। आश्चर्य की बात है कि यह मिस्र की प्राक्-राजवंशीय और प्रथम राजवंश के समय की सभ्यता राजा सर्गन के समय की सुमेर-सभ्यता से बिलकुल मिलती-जुलती पाई गई है, इस से असंभव नहीं कि सुमेर-सभ्यता में से ही मिश्री-सभ्यता का जन्म हुआ हो; और सुमेर-सभ्यता सिंधु-सभ्यता से उत्पन्न हुई थी, जैसा कि मैं यहाँ सिद्ध करूँगा।

प्रोटो अर्थात् सरस्वती म से कला की दृष्टि से दो सभ्यताएँ

उत्पन्न हुई थीं। प्रथम, वह सभ्यता जिस के अवशेष हड़प्पा और मुहेंजोडेरो में प्राप्त हुए हैं। इस सभ्यता के मिट्टी के पात्र सुसा-द्वितीय और उर तथा किश के पात्रों के समान हैं। इस की बहिन दूसरी सभ्यता के मिट्टी के पात्र, जो आकार में इस के समान ही हैं परंतु जिन के ऊपर की आकृतियों के रंग और चित्रण में कुछ फ़र्क है, वह सर्वप्रथम रोहड़ी के निकट झुकार नामक स्थान में पाए गए। इस लिए वह झुकार-सभ्यता कहलाती है। झुकार-सभ्यता के रंगीन मिट्टी के बर्तन मुहेंजोडेरो में सिंधु-सभ्यता के बर्तनों के साथ भी मिले हैं, जिस से सिद्ध होता है कि वह सिंधु-सभ्यता की समकालीन थी। इस समय सिंधु में नवाबशाह ज़िले के चन्हु-डेरो नामक स्थान में अमेरिका के शिकागो फ़ील्ड म्यूज़ियम आदि पुरातत्त्व-संस्थाओं की ओर से मिस्टर मैके के निरीक्षण में खुदाई हो रही है। यहां सिंधु-सभ्यता के अवशेषों के ऊपर झुकार-सभ्यता की वस्तुएं प्राप्त हुई हैं, जिस से सिद्ध होता है कि सिंध में सिंधु-सभ्यता के पश्चात् झुकार-सभ्यता का आगमन हुआ था। सिंधु और झुकार सभ्यता की कला-कृतियों की तुलना से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि सिंधु-सभ्यता में से झुकार-सभ्यता उत्पन्न हुई थी। हां, दोनों में बहिन-बहिन का संबंध था, यह बात अवश्य स्पष्ट दिखाई देती है। दोनों सभ्यताओं की लिपि का एक समान होना इस का बहुत बड़ा प्रमाण है। अब देखना चाहिए कि झुकार-सभ्यता किस प्रदेश से सिंध में पहुँची थी।

झुकार-सभ्यता

सरस्वती नदी दक्षिण पंजाब, पश्चिमोत्तर राजपूताना और रन कच्छ में से बहती हुई खंबात की खाड़ी में गिरती थी, यह मैं बता चुका हूँ। उस समय कच्छ आज की भाँति द्वीप नहीं था परंतु उत्तर में सिंध से जुड़ा हुआ था। भूगर्भ-शास्त्र की दृष्टि से यह बात सिद्ध हो चुकी है। इसी प्रकार संस्कृति की दृष्टि से भी कच्छ सिंध का ही भाई है। वहां की राजभाषा यद्यपि गुजराती है, तथापि जनता की भाषा तो सिंधी ही है जिस में कुछ गुजराती मिल जाने से वह कच्छी कहलाती है। यही बात काठियावाड़ के विषय में भी है। आज भी उस के उत्तरी और पश्चिमी समुद्र-तट पर सिंधी से मिलती-जुलती कच्छी, बाबेरी आदि बोलियां बोली जाती हैं। उस समय काठियावाड़ एक द्वीप के समान था, परंतु इस के दो ओर जहां आज कच्छ की खाड़ी और गुजरात प्रदेश है उस समय सिंधु और सरस्वती के प्रवाह बहते थे सरस्वती का प्रवाह इस को गुजरात से अलग करता था और सिंधु का प्रवाह

काठियावाड़

इस को उत्तर मे कच्छ से अलग करता था। सिंधु आज की भाँति कराँची के निकट नहीं, परंतु पूर्व की ओर कच्छ के रन में सरस्वती से जा मिलती थी। चान्हुडेरो इस के इस प्राचीन प्रवाह पर ही स्थित है। रन कच्छ के दक्षिण मे इन दोनों नदियों के सम्मिलित प्रवाह की दो धाराएँ हो जाती थीं। प्रथम कच्छ और काठियावाड़ के बीच से गुजर कर अरब-सागर से जा मिलती थी, जो सिंधु की धारा कहलाती थी और काठियावाड़ को गुजरात से अलग करती हुई, खंबात की खाडी में गिरने वाली सरस्वती की धारा कह-लाती थी। परंतु नदियों के प्रवाह, आवागमन में समुद्र की भाँति बाधक नहीं होते, इस दृष्टि से काठियाबाड द्वीप होते हुए भी उत्तर में कच्छ द्वारा सिध से मिला हुआ था और पूर्व में गुजरात से। उस समय सरस्वती के तट-प्रदेश पर संस्कृति उत्पन्न हुई थी, अतः वह काठियावाड़ तक फैली हुई थी, इस के प्रमाणों का मैं उल्लेख कर चुका हूं।

जब सिंधु में सरस्वती-सभ्यता विकसित हो कर सिंधु-सभ्यता के रूप मे परिणत हो गई तो अवश्य यह विकास काठियावाड़ में भी होना चाहिए। काठियावाड़ में जहां-जहां प्रागैतिहासिक काल की वस्तुएं मिली हैं, वहां-वहा मुहेंजोडेरो के सुसा-द्वितीय से मिलते हुए मिट्टी के बर्तन प्राप्त नहीं हुए। परतु उन के स्थान में झुकार-सभ्यता के बर्तन मिलते हैं। खीजड़िया टप्पा, जैतपुर, अबावल्ली, रंगपुर आदि स्थानों में ऐसे ही बर्तन और कुछ काँसे की वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। इस से सिद्ध होता है कि सरस्वती-सभ्यता में से सिंध और पंजाब मे हड़प्पा और मुहेंजोडेरो की सिंधु-सभ्यता उत्पन्न हुई और काठियावाड़ में झुकार-सभ्यता। मिट्टी के इन बर्तनों के साथ कुम्हार की भट्ठियां भी प्राप्त होने से इस बात की पुष्टि होती है। दूसरे इन वस्तुओ के साथ जो पत्थर के माला के गुरिए मिले हैं वे चान्हुडेरो मे झुकार-सभ्यता के गुरियों के समान ही है। इस प्रकार हम मान सकते हैं कि काठियावाड़ झुकार-सभ्यता का मूल-प्रदेश था, और यहीं से वह सिंधु-सभ्यता के पश्चात् सिंध मे फैली थी। मि० मैके का स्पष्ट कथन है कि झुकार-सभ्यता किसी और प्रदेश से सिंध में आई थी।

सिंधु और सरस्वती दोनों उत्तर-भारत से जा कर काठियावाड़ में समुद्र से मिलती थीं। यह हम देख चुके इस परिस्थिति में उत्तर-भारत का सामुद्रिक केंद्र बने

के किनारे था। परंतु प्राचीन काल में अधिकांश व्यापार और आवागमन नदियों द्वारा होता था, और इस प्रदेश में कोई ऐसी नदी समुद्र में नहीं गिरती थी, जिस के प्रवाह-द्वारा सारे उत्तर-भारत में नावों-द्वारा माल लाया और ले जाया जावे। परंतु काठियावाड़ के एक तो दो ओर समुद्र था, और दूसरे सिंधु और सरस्वती (जो सारे उत्तर भारत मे फैली हुई थी) के विशाल प्रवाह यहां आते थे और सारी नदियां उन मे ही गिरती थीं। इस कारण काठियावाड़ ही उस समय की भारतीय सभ्यता का सामुद्रिक केंद्र बना। यहां से इन सभ्यताओं के अनुयायी विदेशों के साथ व्यापार और आवागमन जारी रखते थे।

मुहेंजोडेरो, और चान्हुडेरो में प्राप्त पुरातत्त्व-सामग्री द्वारा सिद्ध होता है कि सिंधु-उपत्यका-वासी नाविक नहीं थे। इस विषय मे मि० मैके लिखते हैं—

"परंतु इस बात का अभी कोई प्रमाण नहीं प्राप्त हो रहा है कि सिंधु देश के नगर-निवासी एक नाविक जाति के थे; और जो कुछ व्यापार भारतवर्ष और सुमेर के बीच होता था वह संभवत. एक तीसरी जाति के जहाजों द्वारा होता था।"[१]

सिंधु-उपत्यका और मेसोपोटामिया के बीच व्यापार करने वाली यह तीसरी जाति काठियावाड़-वासियों की ही हो सकती है। इस स्टीमरों के युग में आज भी देशी लकड़ी के जहाजों-द्वारा काठियावाड़ और मेसोपोटामिया के बीच बहुत बड़े पैमाने पर व्यापार होता है। आज भी भादों और माघ के महीनों मे जब कि पश्चिम की ओर जाने की हवा अनुकूल होती है काठियावाड के सैकड़ों मल्लाह अरबी में बातें करते हुए आप को बसरा और बग़दाद के बाज़ारों में मिलेंगे।

सुमेर और भारत के राजवंशों की एकता

सुमेर-साहित्य और वंशावलियों में स्पष्ट उल्लेख है कि सुमेर-जाति पूर्व की ओर से ईरान की खाड़ी-द्वारा अपने कृषि, कला, लिपि आदि के ज्ञान को ले कर मेसोपोटामिया आई थी। मेसोपोटामिया से पूर्व की ओर तो भारत ही है, जहां सिंधु-उपत्यका मे सुमेर-सभ्यता के समान सभ्यता मिली है, परंतु सिंधु-उपत्यका-वासी नाविक नहीं थे, और सुमेर-सभ्यता समुद्र-द्वारा मेसोपोटामिया में आई थी, इसी लिए डा० वुली ने भी अपनी

---

[१] मैके 'दि इंडस सिविलिज़ेशन' पृ० १७५

पुस्तक 'उर अव दि चैल्डिज' में सिंधु-उपत्यका के अतिरिक्त किसी अन्य प्रदेश से ही समुद्र द्वारा सुमेर-जाति को मेसोपोटामिया पहुँची हुई माना है।

सुमेर-वंशावलियों में लिखा है कि प्रथम राजा उक्कुसि ने समुद्र-मार्ग द्वारा पहुँच कर इरीदु बंदरगाह में अपनी प्रथम राजधानी स्थापित की। यही सुमेर-जाति को ले कर मेसोपोटामिया पहुँचा था। इस का पुत्र बक्कुस था। बक्कुस का युन-युन और युन-युन का अनेनु। यह सुमेर के प्रथम राजवंश (जो इरीदु का राजवंश कहलाता था) का राजा था। इन चारों सुमेर राजाओं के नामों को जब हम भारत के सब से प्राचीन सूर्य-वंश के कुछ प्रारंभिक राजाओं के नामों से मिलाते हैं, तो आश्चर्य-जनक समानता पाते हैं। पहले सुमेर राजा उक्कुसि का नाम इक्ष्वाकु से मिलता है। उक्कुसि के पुत्र बक्कुस का नाम इक्ष्वाकु के पुत्र विकुक्षि से मिलता है। बक्कुस का भाई निमी था, तो उसी प्रकार विकुक्षि का भाई निमि था। बक्कुस का पुत्र पुन-पुन था तो विकुक्षि का पुत्र पुरंजय था। पुन-पुन का पुत्र अनेनु था तो पुरंजय का पुत्र अनेना था। दोनों देशों की वंशावलियां केवल थोड़े से नामों को छोड़ कर जो शायद शासकों के रहे होंगे, रामचंद्र के पोते और लव के पुत्र अतिथि के नाम तक उत्तराधिकार के क्रम के साथ मिलती हुई आती हैं। इस प्रकार सिद्ध होता है कि भारत के सूर्य-वंशी और सुमेरियन राजा एक ही थे। सुमेर-वंशाव-लियों में इन राजाओं का राज्य-काल भी लिखा हुआ है, जिस से भारत के प्राचीन राजाओं के समय और राज्य-काल का उद्धार हो जाता है, जिस का भारतीय साहित्य द्वारा पता नहीं चलता।

इक्ष्वाकु मनु का पुत्र था, जिस के समय में ई० पू० ३४७५ में प्रलय आया था। हम देख चुके है कि वह ई० पू० ३३८३ मे मेसोपोटामिया पहुँचा था, और किश-वंशावली के अनुसार उस ने वहां ३० वर्ष राज्य किया। मनु भारत का प्रथम राजा था, और उस का पुत्र इक्ष्वाकु सुमेर का। इस प्रकार सिद्ध होता है कि इक्ष्वाकु भारत से ही सुमेर पहुँचा था। भारत से सुमेर-जाति को ले कर उपनिवेश बसाने के लिए मेसोपोटामिया जाने के करीब २०-२५ वर्ष पूर्व वह मनु के राज्य का उत्तराधिकारी हो चुका होगा। इस प्रकार ई० पू० ३४०३ या ३४०८ में मनु का राज्य-काल समाप्त हुआ होगा। प्रलय इस से ७२ या ६७ वर्ष पूर्व मनु के राज्य-काल में ई० पू० ३४७५ में घटित हुआ था मनु के कार्यों से पता चलता है कि अवश्य उस ने ७५ या ८०

वर्ष राज्य किया होगा। इस प्रकार दोनों पद्धतियों द्वारा निकाला हुआ काल-क्रम मिल जाता है।

पुराणों-द्वारा ज्ञात होता है कि इक्ष्वाकु की राजधानी पाताल थी। पाताल सिकंदर के आक्रमण तक सिंधु-नदी के मुख पर एक प्रधान बंदरगाह था। हम लोग अब तक सिंध में उस को हैदराबाद के पास मानते चले आए हैं। परंतु मेगास्थनीज़ ने उस को सिंधु नदी के मुख पर 'ओराष्ट्रे' द्वीप में बताया है। इसी प्रकार क्लेडियास टोलेमीयास नामक एक ग्रीक लेखक 'पैटालीन' को 'आभीरिया' अर्थात् कच्छ के दक्षिण में 'सुराष्ट्रीन' में लिखता है। इस से सिद्ध होता है कि पाताल सुराष्ट्र अर्थात् वर्तमान काठियावाड़ में सिंधु-नदी के मुख पर स्थित था। यह पाताल बंदरगाह इक्ष्वाकु की राजधानी थी। सेस ने इस को ९००० वर्ष का प्राचीन माना है। इस प्रकार कथानकों के आधार पर भी काठियावाड़ से सुमेर-लोगों और सभ्यता का मेसोपोटामिया पहुँचना सिद्ध होता है, जिस को कि इक्ष्वाकु समुद्र-द्वारा ले गया था। मेसोपोटामिया गरम देश है। अतः वहां पकी ईंटों की अपेक्षा कच्ची ईंटों के मकान ठंडे रहते हैं। पुरातत्त्ववेत्ता किश को सुमेर-जाति-द्वारा स्थापित सब से अधिक प्राचीन नगर मानते हैं। जमदेतनस्र भी इसी समय का है। आश्चर्य की बात है कि इन कच्ची ईंटों के नगरों की नींव में डाक्टर लैंग्डन को पकी हुई ईंटें ठीक आकार और माप में मुहेंजोडेरो के समान ही प्राप्त हुई हैं। इस के अतिरिक्त प्रथम सुमेर राजवंश की वस्तुओं के साथ किश, उर, जमदेतनस्र और सुसा-द्वितीय में हड़प्पा और मुहेंजोडेरो में प्राप्त मुद्राओं के समान मुद्राएं मिली हैं और उन पर सिंधु-लिपि ही खुदी हुई मिली है। सुमेर-सभ्यता की नींव में सिंधु-सभ्यता की इन वस्तुओं के पाए जाने के कारण पाश्चात्य पुरातत्त्व-वेत्ता विचारग्रस्त हो गए हैं कि क्या सिंधु-सभ्यता ही सुमेर-सभ्यता की जननी थी। परंतु मेसोपोटामिया और इलाम में प्राप्त ये सिंधु-लिपि की मुद्राएं आकार में मुहेंजोडेरो, हड़प्पा और चान्हुडेरो में प्राप्त मुद्राओं के समान नहीं हैं, इस लिए डा० वुली, लैंग्डन और मैके आदि विद्वान यह मानते हैं कि भारत के और किसी प्रदेश से, जहां भी सिंधु-सभ्यता फैली हुई होगी, ये मुद्राएं समुद्र-मार्ग द्वारा मेसोपोटामिया आईं। काठियावाड़ ही ऐसा दूसरा समुद्र-तट-स्थित प्रदेश हो सकता है, जहां तक कि सिंधु-सभ्यता फैली हुई थी। अतः ये मुद्राएं यहीं से सुमेर-लोगों के साथ मेसोपोटामिया पहुँची थीं फादर हेरास भी यही मानते हैं किश और इरीदु की नींव में

जो मिट्टी के वर्तन प्राप्त हुए है, वे भी मुहेंजोडेरो और हड़प्पा के समान न हो कर उस झुकार-सभ्यता के रंगीन वर्तन हैं जिन की सभ्यता की मूल-भूमि का होना मैंने काठियावाड को सिद्ध किया है।

अब लिपि को लीजिए। सुमेरियन-लिपि सिंधु-लिपि से मिलती-जुलती है। परतु जमदेतनस्र में प्राप्त सुमेरियन-लिपि जो प्रारंभिक-सुमेरियन-लिपि कहलाती है, वह सिंधु-लिपि से बहुत ही अधिक मिलती-जुलती है। डाक्टर हंटर ने 'दि स्क्रप्ट अव् हड़प्पा आर मुहेंजोडेरो' में लिखा है :—

"मुहेजोडेरो की लिपि जमदेतनस्र की आरंभिक सुमेरियन (ई० पू० ३५००) लिपि से, आधुनिक सुमुरियन-लिपि की अपेक्षा अधिक मिलती है[1]।"

इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि-विंदु से यही सिद्ध होता है कि सुमेर-सभ्यता भारत से ही मेसोपोटामिया में गई थी।

हिटाइट (खत्ती) सभ्यता

जब भारतीयो की सु-जाति सु-राष्ट्र से उपनिवेश बसाने के लिए इक्ष्वाकु के साथ मेसोपोटामिया गई, तो वहां पर इस समय तक फ़रात नदी की बाढ़ें बंद नही हुई थी। इस से इस नदी के किनारे नगर बसाना उन के लिए असंभव हो गया। अतएव शीघ्र इक्ष्वाकु इरीदु को छोड़ कर उत्तरी मेसोपोटामिया के ऊँचे मैदानो मे चला गया। यहाँ ऊँचाई के कारण बाढ़ों का भय न रहा। सुमेर-जाति के सब से प्राचीन नगर किश और जमदेतनस्र इस ऊँचे प्रदेश मे ही बसाए गए। इस बात का दूसरा प्रमाण यह है कि इस घटना के २०० वर्ष पश्चात् जब फ़रात की बाढ़े बंद हो गई तभी दक्षिण मेसोपोटामिया के नीचे मैदानों में उन्हो ने उर बसा कर अपनी राजधानी बनाई। उर की खुदाई से ज्ञात हुआ कि भविष्य में फ़रात की बाढ़ उस को नष्ट न कर दे इस लिए फ़रात के किनारे टूटे-फूटे मिट्टी के बर्तनों का कोट बाध कर और फिर मिट्टी द्वारा सारी भूमि को समतल कर के उर को बसाया गया था। उत्तर मेसोपोटामिया से कुर्दिस्तान और एशिया माइनर के उपजाऊ मैदान सटे हुए थ, अतः इक्ष्वाकु ने कुर्दिस्तान में अपनी दूसरी राजधानी स्थापित की। तलहलफ़ नामक स्थान मे इस के भग्नावशेष प्राप्त हुए है। पाश्चात्य-विद्वानों के अनुसार एशिया-माइनर

---

[1]पष्ठ २१

की हिटाइट जाति की यही सब से प्राचीन राजधानी थी। यहां जो मिट्टी के बर्तन और अन्य कला-सामग्री प्राप्त हुई है, वह चान्हुडेरो में प्राप्त झुकार-सभ्यता के बर्तन और कला-सामग्री से बिल्कुल मिलती-जुलती हैं। मि० मैके को यह बात स्वीकार करनी पड़ी है, जिस का गत २४ नवंबर के 'इलस्ट्रेटेड लंडन न्यूज़' में उन्हों ने सचित्र विवरण लिखा है।

जब हम हिटाइट लोगों की चित्र-लिपि पर विचार करते हैं, तो उस को भी सिंधु-लिपि से बहुत कुछ मिलती-जुलती पाते हैं। हिटाइट-लोग अपने लेखों में अपनी जाति का नाम खत्तीया लिखते थे। बेबीलोनियन और असीरियन लेखों में इन को खत्ती और मिस्री लेखों में खेता कहा गया है। इन का बाइबिल मे हिटाइट नाम लिखा है, इस लिए पाश्चात्य विद्वान इन को हिटाइट कहते है। परंतु हम इन को इन के असली नाम 'खत्तीया' से ही पुकारेंगे।

धार्मिक दृष्टि से खत्ती लोग वैदिक आर्यो से बहुत अधिक मिलते-जुलते थे। ये वैदिक देव इंद्र, वरुण, नसत्य आदि के उपासक थे यह बात इन की एक शाखा मित्तानी के राजा दुश्शरत के संधि-पत्र द्वारा सिद्ध हो चुकी है। इन की भाषा का अध्ययन कर के डाक्टर रोजनी आदि विद्वान इस मत पर आए है कि ये संस्कृत से मिलती-जुलती आर्य-भाषा बोलते थे। इस शोध के पश्चात् अब यूरोपियन विद्वान यह मानने लगे हैं. कि आर्य-लोग वास्तव में मध्य-एशिया के नहीं परंतु एशिया-माइनर के मूल-निवासी थे, और यहीं से मेसोपोटामिया और ईरान के स्थल-मार्ग-द्वारा भारत में पहुँचे थे। परंतु वास्तव में यूरोपियन विद्वानों के खत्तीया-आर्य किस प्रकार भारत से मेसोपोटामिया हो कर एशिया माइनर पहुँचे, यह हम देख चुके हैं। इस प्रकार यह प्रश्न भी हल हो जाता है कि आर्य भारत के ही मूल-निवासी थे, और कहीं बाहर से नहीं आए थे, वरन् भारत से ही अपनी अनुपम सभ्यता को ले कर सर्वत्र फैले थे।

सुमेर और सिंधु-उपत्यका-वासियों को पाश्चात्य विद्वान द्रविड़-जाति का मानते हैं, परंतु किसी भी प्रकार यह बात सिद्ध नहीं होती। खत्ती-भाषा की भाँति सुमेर-भाषा भी संस्कृत से निकली हुई सिद्ध होती है। इस के लिए कुछ एकार्थवाची उदाहरण देता हूँ। जैसे संस्कृत के मरुत, वात, द्यु, सूर्य आदि सुमेरियन भाषा मे मारूत, वाउत, दू और शूर हो जाते हैं। विज्ञान की दृष्टि से भी सुमेरियन और सिंधु -वासियो

के अस्थिपिंजर आर्य-जाति के सिद्ध होते है। डाक्टर गुह अगस्त १९२८ के 'माडर्न रिव्यू' मे 'सम एथ्रपालाजिकल प्राब्लेम्स अव् इंडिया' शीर्षक लेख में लिखते है कि :—

> "ऐसा कोई कापालिक अथवा पुरातत्व-संबंधी प्रमाण इस मत के लिए नहीं है, जो आजकल भारतवर्ष मे प्रचलित हो रहा है, अर्थात् यह कि द्रविड जाति ही सिंधु और सुमेर-सभ्यताओ की जननी थी, क्योकि दोनो ही सभ्यताएं ब्रैकिसिफैलिक-कपाल के लोगों की थीं, जैसा कि किश और अल-अबैद के पूर्व-सारगानी स्थलों और मुहेंजोडेरो में प्राप्त कपालो से ज्ञात होता है।"

अतः सिद्ध होता है कि भारत की सरस्वती, सिंधु आदि सभ्यताएं आर्य थी, और इन से उत्पन्न सुमेरियन, खत्ती, मिस्री आदि सभी सभ्यताएं आर्य थीं।

खत्तीया-जाति की अनेक ऐसी मुद्राएं मिली है जिन पर इक्ष्वाकु और विकुक्षि के चित्र पाए जाते हैं, और उन पर खत्ती-चित्रलिपि में उन के नाम खुदे हुए हैं। खत्तियो की दूसरी राजधानी बोगाज़केई के निकट एक प्राचीन चट्टान पर राजा बक्कुस अर्थात् विकुक्षि का बहुत बड़ा चित्र है जिस में वह एक हाथ में गेहूं और जौ की बालें तथा दूसरे में हल लिए खडा है। इस से प्रकट होता है कि भारत के ये आर्य-राजा किस उद्देश्य से विदेशो में गए थे। सर जार्ज बर्डवुड ने 'स्वा' नामक पुस्तक में 'हिटाइट लोगों का साम्राज्य' नामक अपने निबंध में इस मूर्ति के विषय में लिखा है कि "वेषभूषा की दृष्टि से यह भारत के गुजरात-प्रांत के किसी भद्र-पुरुष की आकृति उद्भासित होती है," जो इस बात को सिद्ध करता है कि ये शासक पश्चिम भारत से ही पश्चिम एशिया में पहुँचे थे।

खत्तीया-जाति की अपनी अलग ही कला थी, जिस में से क्रीटन और ग्रीक कला उत्पन्न हुई थी। तल-हलफ़ मे प्राप्त मूर्तियों द्वारा सिद्ध होता है कि मिश्री मूर्ति-निर्माण-कला इस से उत्पन्न हुई थी। जिस प्रकार सुमेर-जाति ने पश्चिम एशिया के दक्षिणी भाग को अपनी प्रवृत्तियों का केंद्र बनाया, उसी प्रकार खत्तियों ने उत्तरी-पश्चिम एशिया को। ये लोग एक ओर कास्पियन-सागर के निकट मध्य-एशिया तक पहुँच गए, जहां अनाउ-ओसिस में इन की सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए। तल-हलफ़ की भाँति यहां की पुरातत्त्व-सामग्री भी चान्हुडेरो की झुकार-सभ्यता से बिल्कुल मिलती हुई है- जिस को मि० मैके ने स्वीकार किया है

एशिया-माइनर के निकट यूरोप की भूमि में ग्रीस के थेसेली प्रदेश, वोल्गो की खाड़ी के आसपास का प्रदेश, डेन्यूब और राइन की उपत्यकाओं और काले समुद्र के आस-पास से ले कर कारपेथियन पर्वतों तक वहां झुकार-सभ्यता से मिलती हुई तल-हलफ़ और जमदेतनस्र की सभ्यता के मिट्टी के रंगीन बर्तन और अन्य पुरातत्त्व-सामग्री पाई जाती है। यूरोपियन पुरातत्त्ववेत्ता इस को यूरोप की सब से प्राचीन प्रागैतिहासिक काल की सभ्यता मानते हैं, और इस को रंगीन मिट्टी के बर्तनों की सभ्यता (पेंटेड पाटरी कल्चर) कहते हैं। एक ओर यह पुरातत्त्व-सामग्री तल-हलफ़, जमदेतनस्र और अनाउ की सामग्री से मिलती है, तो दूसरी ओर भारत की झुकार-सभ्यता से मिलती है। यूरोप के इन प्राचीन रंगीन बर्तनों पर डेन्यूब और राइन की उपत्यका में जो लिपि मिली है, वह भी खत्ती-लिपि, जमदेतनस्र की प्रारंभिक सुमेरियन और सिंधु-लिपि से मिलती हुई है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि भारतीय आर्य-सभ्यता एशिया-माइनर से खत्तियों-द्वारा यूरोप में फैली।

यूरोप की प्राचीन सभ्यता

जिस जाति की यह सभ्यता थी उस को नार्डिक कहा जाता है। ये लोग कृषक थे, जैसा कि इन के कांसे के हथियार-औज़ार और मिट्टी के अनाज भरने के बर्तनों द्वारा ज्ञात होता है। ये हल में भारतीयों की भाँति बैल जोतते थे, और आवागमन के लिए बैलगाड़ियों का उपयोग करते थे। ये पृथ्वी माता की पूजा करते थे, जिस की मिट्टी की मूर्त्तियां, मुहेंजोडेरो, चान्हुडेरो, उर, किश, जमदेतनस्र, तल-हलफ़, ट्राय, क्रीट-द्वीप में प्राप्त हुई हैं। मिट्टी के पात्रों में मृतक-भस्म प्राप्त होने से ज्ञात होता है कि भारतीय आर्यों की भाँति ये मृतकों का अग्नि संस्कार करते थे। इन की प्राचीन काव्यमय कथाओं के संग्रह का नाम 'एडा' है जो वेद का वेडा हो कर बन गया है। यूरोप की प्राचीन और अर्वाचीन भाषाएं सभी आर्य-भाषाएं हैं और इसी लिए वे इंडो-आर्यन कहलाती हैं। सुमेर-वंशावलियों में इक्ष्वाकु का उक्कुसि के अतिरिक्त एक और नाम तोर भी मिलता है। यही तोर एडाओं में थोर हो गया है। एडाओं की कथा के अनुसार राजा थोर जिनिगंगेप अर्थात् अर्थात् एशिया-माइनर के मैदानों से बरफ़ के पुल अर्थात् बास्फ़ोरस के मुहाने को पार कर के स्वस्तिक और गरुड़ को ले कर यूरोप में पहुँचता है। इस से ज्ञात होता है कि ई० पू० ३३वी सदी में भारतीय सभ्यता ने यूरोप में प्रवेश किया था

नार्डिक जाति

जाति की

रस्में और कथाएं भी भारत से बहुत अधिक मिलती-जुलती हैं। यूरोप की प्राचीन जातियो मे भिन्न-भिन्न रूपो में प्रलय-कथा का पाया जाना भी महत्त्वपूर्ण है।

प्रलय, जो मेसोपोटामिया में आर्य-जाति पर घटित हुआ, एक महान दुर्घटना थी। सुमेरियन प्रलय-कथा से ज्ञात होता है कि सरस्वती-सभ्यता वाले प्रारंभिक आर्य नाविक-कला से अनभिज्ञ थे, और इसी लिए उन को मेसोपोटामिया में इतनी भयंकर हानि उठानी पडी कि यह घटना एक जातीय दुर्घटना मानी गई। समुद्र-पार के देशों में सरस्वती-सभ्यता के चिन्हों का प्राप्त न होना भी इन लोगों की नाविक-कला की अनभिज्ञता का परिचय देता है। इस घटना के कारण ही आर्य-जाति में नाविक-कला की प्रवृत्ति जगी और इस के पश्चात् हम आर्यो को बड़े-बड़े समुद्र पार करते हुए पाते है, जो उन की सभ्यता के संसार-व्यापी होने का मुख्य कारण हुई। इसी लिए प्रलय की घटना को उस समय महत्त्वपूर्ण माना गया था क्योंकि वह आर्यो की जागृति का कारण हुई। आज जो मूल्य रामायण और महाभारत की कथा का है, वही मूल्य उस समय प्रलय-कथा का था। यही कारण है कि आर्य-जाति के प्रसार के साथ-साथ प्रलय-कथा का भी प्रसार हुआ।

मेसोपोटामिया, एशिया-माइनर और यूरोप के अतिरिक्त यह कथा पैसिफ़िक के द्वीपों से ले कर अमेरिका तक पाई जाती है। इस से ज्ञात होता है कि जिस प्रकार आर्य-जाति भारत से पश्चिम में यूरोप तक फैल गई उसी प्रकार पूर्व में वह अमेरिका तक फैली।

कुछ वर्ष पूर्व पैसिफ़िक के ईस्टर और नेकर-निहोआ द्वीपो में प्रागैतिहासिक काल की सभ्यता के भग्नावशेष प्राप्त हुए थे। यह किस जाति की सभ्यता थी यह अब तक

पैसिफ़िक में भारतीय सभ्यता

ज्ञात न था। सन् १९३२ में ईस्टर-द्वीपों के इन खँडहरो में लकड़ी की तख्तियों पर कुछ लेख मिले, जिन की लिपि को देखने से ज्ञात हुआ कि वह मुहेंजोडेरो की सिंधु-लिपि से मिलती-जुलती है। इस साम्य को देख कर पाश्चात्य पुरातत्त्ववेत्ता आश्चर्य-चकित हो गए हैं। 'दि स्क्रिप्ट अव् हड़प्पा एंड मुहेंजोडेरो' की प्रस्तावना में डाक्टर लैंग्डन लिखते हैं कि :—

"सिंधु और ईस्टर-द्वीपों की लिपि की समता के संबंध में कोई संदेह नहीं हो सकता। हमारे सामने कोई ऐतिहासिक साम्य का प्रश्न उपस्थित

> होता है, अथवा किसी अज्ञात ढंग से यह लिपि चल कर पैसिफ़िक के सुदूर द्वीपों में फैल जाती है, कहा नहीं जा सकता। ईस्टर-द्वीपों की लकड़ी की पट्टियों की तिथि अज्ञात है। यही लिपि, ठीक भारतीय मुहरों की भाँति प्राचीन सुमेर के भिन्न भागों में, मूसा और टाइग्रिस के पूर्व के किनारे की भूमि में मुहरों पर प्राप्त हुई है।"

जो लोग आज से दो वर्ष पूर्व सिंधु-सभ्यता को केवल सिंधु-उपत्यका में ही सीमित मानते थे, और फ़िनीशियनों को ही सब से प्राचीन मल्लाह समझते थे, वे कहते हैं कि :—

> "एक बात निश्चित है कि पुरा काल में यात्रा तथा आवागमन जितना समझा जाता है, उस से कहीं अधिक होता था। टायर के समुद्रगामी जहाज़ों के समय से एथेन्स के जहाज़ों के समय तक, समुद्री यात्रा के इतिहास में ह्रास ही हुआ था, उन्नति नहीं हुई थी। परंतु फ़िनीशियनों के पूर्व स्थिति विपरीत ही थी, और जो यात्रा नियरचुस के लिए साहसी यात्रा मानी जाती वही मुहेंजोडेरो के नाविकों के लिए एक साधारण बात थी।"

लिपि के अतिरिक्त पैसिफ़िक के इन द्वीपों में जो विशालकाय मूर्त्तियाँ मिली हैं, उन की कला से स्पष्ट भारतीयता टपकती है। इन में की 'हो-हा-हाका-नाना-हिया' नामक मूर्त्ति जो ब्रिटिश-म्यूज़ियम में रक्खी है, उस के विषय में लिखा गया है कि मुखाकृति और कला की दृष्टि से ज्ञात होता है, कि यह भारतवासियों की कृति थी।[१]

यह सभ्यता भारत से कब और कैसे पैसिफ़िक में पहुँची यह देखना चाहिए। आश्चर्य की बात तो यह है कि पैसिफ़िक के काले और बदशकल निवासियों के मध्य में इन द्वीपों पर एक गौरवर्ण और सुंदर जाति पाई जाती है। मानव-वंश-विज्ञान के सारे आचार्यों ने इस को यूरोपियनों के समान माना है, इस लिए ये ओशेनिक आर्य कहलाते हैं। इन लोगों की दंतकथाएँ बहुत सुंदर होती हैं, और इन में की मुख्य-मुख्य संस्कृत-साहित्य के ब्राह्मण-ग्रंथों की कथाओं से मिलती-जुलती हैं, जैसे कि आदि में पृथ्वी और आकाश का मिला होना, और अंधकार होना, फिर इन का अलग हो जाना और बालक के रूप में माउई अर्थात् सूर्य का आगमन। यह कथा 'ऐतरेय-ब्राह्मण' (४–२७) की कथा से मिलती है। इन

---

१ 'डेली एक्सप्रेस' ..., जिल्द ३ पृ० २६६

लोगों में भारतीय आर्यो के ब्राह्मण वर्ण की भाँति एक सर्वोच्च पुजारी वर्ग है, जो गा-गा कर दतकथाएं भी सुनाते हैं। ये कथा-काव्य वैदिक मंत्रों की भाँति प्राथमिक अंधकार, शोक-निमग्न रातें, पृथ्वी, जगत, अंतरिक्ष और टांगाओरा अर्थात् सर्वव्यापी ईश्वर की भावनाओ से ओत-प्रोत होते हैं। ये टांगाओरा को सर्व-व्यापी, त्रिकाल-व्यापी और अनंत मानते हैं। डाक्टर कीन के शब्दों में "मानो वैदिक भावनाएँ ही पोलीनीशिया के एक द्वीप से दूसरे द्वीप तक पैसिफ़िक में फैली हुई हों।"

वास्तव मे यही ओशेनिक आर्य ईस्टर-द्वीपों मे प्राप्त सभ्यता को भारत से ले कर यहा आए थे जिस मे सिंधु-लिपि के लेख प्राप्त हुए हैं। इन में भी प्रलय की कथा प्रचलित है, इस से प्रतीत होता है कि आर्यो के भारत से पश्चिम-एशिया और यूरोप में प्रसार के पश्चात् शीघ्र ही इन्हों ने पैसिफ़िक मे अपने उपनिवेश स्थापित किए। मिश्र में प्रलय की कथा नही पाई जाती, इस से ज्ञात होता है कि आर्यो के मिश्र-गमन के समय कथा के रूप मे उस का महत्त्व नष्ट हो चुका था। मिश्री सभ्यता का प्रारंभ ई० पू० २७०० के करीब हुआ था, जैसा कि हम आगे देखेंगे। अतः पैसिफ़िक में इस से पूर्व ही आर्यो का प्रवेश हो चुका था। ई० पू० ३२०० के क़रीब की यह घटना है।

ईस्टर और नेकरनिहोआ और पैसिफ़िक के अन्य द्वीपों में केवल ऐसे स्थानो पर ही इन भारतीय सभ्यता-स्थापकों की बस्तियों के अवशेष पाए गए हैं; जहां कोई क़ीमती धातु की प्राचीन खान हो या निकट मे समुद्र मे मोती निकलते हों। इस से अनुमान होता है कि व्यापार के लिए क़ीमती धातु और मोतियों के निकालने के लिए ही ये उपनिवेश स्थापित किए गए थे। इस से यह भी ज्ञात होता है कि पश्चिम की भाँति पूर्व में पैसिफिक तक आर्यो के पोत आते-जाते रहते थे।

पेरू और चीली मे एंडियन पर्वत पर कुछ अत्यंत प्राचीन काल के दुर्ग, प्रासाद, मूर्त्तियां, सड़कें, नहरें आदि पाए जाते हैं, जिन के निर्माताओ का पता नहीं लगता। अमेरिकन पुरातत्त्ववेत्ता इन के निर्माताओं को प्रागैतिहासिक एंडियन जाति कहते है। पेरू में टिटीकाका झील के निकट इन की सर्व-प्रथम राजधानी तियाहुयानाको के भग्नावशेष पाए जाते हैं। यहां दरवाज़ों और दीवालों पर सूर्य और स्वस्तिक की आकृतियां चित्रित पाई गई है जिस से ज्ञात होता है कि ये लोग सूर्य-पूजक थे वैदिक आर्य सूर्य

दक्षिण अमेरिका की प्रागैतिहासिक एंडियन-सभ्यता

पूजक थे। सिंधु-उपत्यका-वासियों के प्रधान देव सूर्य ही थे, जैसा कि मि० मैके ने सिद्ध किया है।[1] इसी प्रकार सुमेरियन सूर्य-पूजक थे। खत्ती सूर्य-पूजक थे और इन के वंशज आज भी काठियावाड़ में सूर्य-पूजक हैं। प्राचीन मिश्र-वासियों की सूर्य-पूजा तो प्रसिद्ध ही है। इन सभी जातियों की सभ्यता के चिन्हों में स्वस्तिक की आकृतियां मिली हैं। एंडियन जाति की स्थापत्य-कला से भी यही बात प्रकट होती है कि वे सूर्य-पूजक थे और स्वस्तिक को सौभाग्य-चिन्ह मानते थे। अत. वे भी बहुत कर के भारतीय आर्य थे जो पैसिफिक के पश्चात् उस के किनारे स्थित दक्षिण अमेरिका की एंडियन-घाटी में आ बसे थे। इन की स्थापत्य-कला ईस्टर-द्वीप की स्थापत्य-कला से मिलती-जुलती है। ईस्टर-द्वीपों की भाँति यहा भी ऐसी विशाल मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, जिन की कला से भारतीयता टपकती है।

इन के कला-कौशल को देख कर आज के पाश्चात्य इंजिनियर दाँतों तले उँगली दबाते हैं। एंडियन पर जो दुर्ग और प्रासाद हैं वे करीब ३० फ़ुट लंबे, १० फ़ुट चौड़े और १॥ फुट मोटे पत्थर के महाकाय टुकड़ों को जोड़ कर बनाए गए हैं। १७००० फुट की ऊँचाई पर ये सहस्रों पाषाण-खंड कैसे चढ़ाए गए होंगे यह एक पहेली है। सिंचाई के लिए नदियों से नहरें निकाल कर पुलों और सुरंगों द्वारा पार्वत्य-प्रदेशों के पार उन को निकाल कर इन्हों ने ऊसर भूमि को हरा-भरा बनाया। इन की निकाली हुई सड़कें आज की सड़को के समान है। कई स्थानों पर ग्रह-नक्षत्रादि की स्थिति देखने के लिए वेधशालाएं बनाईं। ये सब ज्यों के त्यों आज तक मौजूद हैं।

इन प्राचीन विदेशी सभ्यता-स्थापकों के विषय में पेरू के प्राचीन निवासी 'इंकाओ' में अनेक कथाएं प्रचलित थीं, जिन को स्पेन के यात्रियों ने लिखा है। इन कथाओं में सर्व-प्रथम प्रलय-कथा आती है, जिस के अंत में नवीन सृष्टि-रचना होती है। फिर सूर्य-देव अपने पुत्र मैंको-कापक को तथा उस की स्त्री मामा-उलो-हुआका को सभ्यता-स्थापन के लिए स्वर्ग से भेजते हैं। यह दंपति टिटीकाका झील के किनारे तिया-हुआनाको और कुज़को नगर बसाते हैं। यहां के निवासियों को सभ्य बनाते हैं। उन को ऊन के वस्त्र बुनना और खेती करना सिखलाते हैं। और उन को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठता का ज्ञान देते हैं, और जीवनदाता के रूप में सूर्य-पूजा का आदेश देते हैं। कुज़को सूर्य-पूजा

---

[1] वि इंडस पृ० ८८

का केंद्र बन जाता है। वहां सोने की दीवालों का मंदिर बनाया जाता है, जिस को स्पेन-निवासियों ने जा कर लूटा था। इस प्रकार एंडियन-जाति के लोगों ने जो भारतीय आर्य थे वहां के मूल-निवासियों को सभ्य बनाया। यही मूल-निवासी पेरू के प्राचीन इंका थे। इंका का अर्थ सूर्य का पुत्र होता है। इन में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था थी। इन का सामाजिक संगठन साम्यवादी ढंग का था। अमेरिकन पुरातत्त्ववेत्ता अब स्वीकार करने लगे हैं कि इन की स्थापत्य-कला सुमेरियन-शैली के समान थी। इंका-लोगों के जो मिट्टी के खिलौने मिले हैं वे मुहंजोडेरो में प्राप्त खिलौने से बहुत अधिक मिलते है। हम एंडियन-शैली में सभ्यता के प्रारंभ का समय ईस्टर-सभ्यता से एक या दो शताब्दी बाद ई० पू० ३००० के क़रीब मान सकते हैं।

पेरू के पश्चात् आर्य-सभ्यता मेक्सिको पहुँची, परंतु इस से पूर्व वहां दक्षिण-भारतीय द्राविडों की सभ्यता जो नाग-द्वीप से वहां पहुँची थी स्थापित हो चुकी थी।

मेक्सिको और मध्य-अमेरिका

मेक्सिको के प्राचीन स्तूप दक्षिण-भारतीय मंदिरों के छत्रों से बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। इन्हों ने वहां नाग-पूजा का प्रचार किया। इस के पश्चात् आर्य वहां पहुंचे, और उन्हों ने नाग-पूजा को हटा कर सूर्य-पूजा प्रचलित की। मेक्सिको-वासियों में भी प्रलय-कथा प्रचलित थी, और उस के पश्चात् वहां सूर्य-पुत्र क्वेत्जाल-को-अतल ने सभ्यता, कृषि और सूर्य-पूजा का प्रचार किया। मेक्सिको में क्रमशः कीचे, टोल्टेक, नाहुआ, अज़टेक और माया-जाति की सभ्यताएं स्थापित हुई। इन सब की प्रलय की और अन्य कथाए भारतीय कथाओं से मिलती हुई हैं।

माया-जाति का एक पुराण है जो 'पोपोलवुह' कहलाता है। प्रलय के पश्चात् बेर्हारिंग के स्थल-मार्ग और पैसिफ़िक के जल-मार्ग द्वारा मायाओं के पूर्वज कीचे किस प्रकार अमेरिका आए इस का इस में वर्णन है। इस के अतिरिक्त इन की उत्पत्ति-संबंधी कथाएं भी हैं। ऋग्वेद और अवेस्ता की भाँति पोपोलवुह में भी उत्तर-ध्रुव के दृश्यों का वर्णन है। और बहुत से साम्य बताए जा सकते हैं; परंतु वह एक लेख की सीमा से बाहर की बात होगी अतएव प्राचीन मिश्र की सभ्यता की उत्पत्ति पर संक्षेप में दृष्टिपात कर के इस लेख को समाप्त करूँगा।

मिश्र के प्रथम राजा जिस ने वहा सभ्यता स्थापित की थी उस का नाम मनीय

मेनेज़ लिखा है। सेती-प्रथम की वंशावली में मिश्र की चित्रलिपि में इस का जो नाम लिखा

प्राचीन मिश्र

है उस का उच्चारण अंग्रेज़ पुरातत्त्वज्ञ 'मेना' और जर्मन 'मज' करते हैं। 'मेना' की अपेक्षा 'मंज' मनीथो के ग्रीक नाम 'मेनेज़' से अधिक मिलता है, इस लिए हम इस को 'मंज' कहेंगे। इस मज ने ही मिश्र ने सभ्यता स्थापित की और वहां का प्रथम राजा तथा वंश-प्रवर्त्तक हुआ। उस ने मिश्र मे जो समाज-व्यवस्था स्थापित की वह भारतीय समाज-व्यवस्था के समान थी। मिश्र के राजा और प्रजा कट्टर सूर्य-पूजक थे, यह प्रसिद्ध ही है। अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वान मंज और भारत के मनु को एक समझते है। यह बात ग़लत है। वास्तव में मज भारत का मनु नही था परंतु उस का वशज था।

आज से कुछ वर्ष पूर्व तक मंज को काल्पनिक राजा माना जाता था क्योंकि उस के समय की कोई वस्तु नहीं मिलती थी। कुछ वर्ष पूर्व सर फ़्लिन्डर्स पेट्री को मिश्र के एबिडोस नामक स्थान में मिश्र के प्राक्-राजवंशीय काल का एक क़ब्रिस्तान मिला। इस मे जो मिट्टी के पात्र और पुरातत्त्व-सामग्री मिली है, वह मुहेंजोडेरो और चान्हुडेरो में प्राप्त पात्रों और वस्तुओं के समान ही है। इस के अतिरिक्त सर पेट्री को अनेक लेख ऐसी लिपि मे मिले जो मिश्री-चित्राक्षरों की माता सिद्ध हुई है। आश्चर्य की बात है कि यह लिपि सिंधु और सुमेरियन दोनों लिपियों से बहुत-अधिक मिलती हुई है। इस क़ब्रिस्तान में सर पेट्री को एक ख़ाली क़ब्र मिली है, जिस में इस आदिम मिश्री-लिपि में आबनूस की लकड़ी पर खुदे हुए लेख मिले हैं। इन लेखों द्वारा ज्ञात हुआ कि यह मिश्र के प्रथम राजा 'मज' की समाधि है, इन लेखों मे मंज का पूरा नाम 'अहामंज' लिखा हुआ है। वह इन लेखों मे अपने को सूर्य-वंशी उक्कुसी कुलोत्पन्न राजा शगुर का पुत्र 'अहामंज' लिखता है। इस से यह भली भाँति सिद्ध होता है कि मंज सूर्य-वंशी इक्ष्वाकु कुलोत्पन्न राजा सगर का पुत्र असमंज था, जिस ने ई० पू० २७१२ में मिश्र में राज्य स्थापित किया और इसी समय से मिश्र के इतिहास का प्रारंभ हुआ। सुमेर-वंशावलियों में भी उक्कुसि के वंश में राजा शगुर या शरुगिन के वड़े पुत्र का नाम मनिश या मंज मिलता है। इस प्रकार भारत, सुमेर और मिश्र की वंशावलियां एक-सी मिल जाती हैं। सगर या शगुर वह राजा था जिस को पाश्चात्य पुरातत्त्ववेत्ता सर्गन कहते हैं, और जो प्राचीन जगत का सब से बड़ा सम्राट् हुआ है जिनवा में प्राप्त असुरवानी पाल के में भाषा म शगुर का

आत्मचरित मिला है जो उस के विष्णु आदि पुराणों में वर्णित चरित्र से बिल्कुल मिलता हुआ है। वह अपनी मूल राजधानी का नाम अजुदु लिखता है, जो अजुध्या या अयोध्या से मिलता है। सगर या सर्गन के निप्पुर और किश में जो लेख प्राप्त हुए है, उन से पता चलता है कि भारत, पश्चिम एशिया से ले कर मिश्र, उत्तर अफ्रीका और ब्रिटिश-द्वीपो तक उस का साम्राज्य था। आयर्लैंड में उस के समय की कुछ वस्तुएं प्राप्त हुई है। स्पेन और कार्नवाल की रांगे की प्राचीन खानों में भी ऐसी ही वस्तुएं प्राप्त हुई हैं। सगर की समाधि भी असमंज की समाधि के बाजू में सर पेट्री को एबिडोस में प्राप्त हुई है। यह प्रागैतिहासिक काल में भारतीय सभ्यता के संसार-प्रसार की कथा का अति संक्षिप्त वर्णन है।

अध्यापक सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

[लेखक—श्रीयुत भोलानाथ शर्मा, एम्० ए०]

(१)

इस युग में भारतवर्ष की जिन भव्य विभूतियों ने इस को गौरव प्रदान किया है, और अपनी विलक्षण प्रतिभा से भारत की प्राचीन महत्ता की वास्तविकता को प्रमाणित किया है, उन में अध्यापक राधाकृष्णन् का स्थान बहुत ऊँचा है। उन की प्रतिष्ठा लोक-व्यापी है। भारतीय विचारपरंपरा का जितना सजीव, और हृदयस्पर्शी व्याख्यान इन के ग्रंथों में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। पर राधाकृष्णन् ने जिन महान् सत्यों का अपने ग्रंथों मे प्रतिपादन किया है वे केवल उन के मानसिक-क्षेत्र की क्रीड़ामात्र की सामग्री नहीं रहे हैं; उन्हों ने अपने ऋषितुल्य सरल जीवन में उन का क्रियात्मक सन्निवेश किया है। अतएव न केवल उन के ग्रंथ ही आकर्षक है, अपितु उन का जीवन भी अनुकरणीय है। यदि किसी विदेशी को भारतीय दर्शनों के सिद्धांतों का सर्वोच्च विवेचन देखना हो तो उस को अध्यापक राधाकृष्णन् के ग्रंथों से उत्तम साधन उपलब्ध नहीं हो सकता। उन की विद्वत्ता और सच्चरित्रता ने आज उन को संसार में प्रथम श्रेणी का दार्शनिक सिद्ध कर दिया है। आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में उन का प्राच्य-जगत के आचार एवं धर्म का प्रथम अध्यापक नियुक्त होना उन की महत्ता की स्पष्टतम स्वीकृति है।

आंध्र देश में, मद्रास से लगभग ४० मील पश्चिम की ओर, तिरुतणी नामक तीर्थ-स्थान है। यहीं सन् १८८८ में ५ सितंबर को अध्यापक राधाकृष्णन् का जन्म हुआ। उन के पूर्वपुरुष किसी समय सर्वपल्ली नामक स्थान में निवास करते थे, अतएव उन के कुल मे सर्वपल्ली शब्द प्रत्येक पुरुष के नाम का पूर्वांश बन गया है। इन के पिता मध्य-स्थिति के साधारण ब्राह्मण गृहस्थ थे, तथा स्थानीय ज़मींदार के यहां तहसीलदारी कर के अपनी जीविका चलाते थे यद्यपि उन के माता पिता अधिकांश दक्षिणी ब्राह्मणों के समान धार्मिक

लयों में ही हुई। अध्यापक राधाकृष्णन् के प्रारंभिक विद्यार्थी-जीवन में कोई विशेषता नहीं लक्षित होती थी। उस समय उन के स्वभाव में समधिक चांचल्य और औद्धत्य अवश्य था, जिस के कारण माता-पिता एवं शिक्षकों का अनुशासन उन्हें अखरता ही रहता था। जब आप ने इंट्रेंस परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास कर के एफ़० ए० कक्षा की पढ़ाई वेलोर के अमेरिकन मिशन कालेज में प्रारंभ की तब वहां के प्रिंसिपल का ध्यान इन की प्रतिभा की ओर आकृष्ट हुआ, और उन्हों ने इन की ओर अधिक ध्यान देना प्रारंभ कर दिया। एफ़० ए० परीक्षा भी इन्हों ने प्रथम श्रेणी में पास की और इस के उपरांत यह मद्रास के क्रिश्चियन कालेज मे भर्त्ती हुए और १९०७ में बी० ए० तथा १९०९ में एम्० ए० परीक्षाए पास कीं। बी० ए० परीक्षा में आप सर्वप्रथम रहे और एम्० ए० में अपने विषय—दर्शनशास्त्र—में केवल आप ही परीक्षोत्तीर्ण हुए।

ईसाई शिक्षणालयों में धार्मिक शिक्षा अनिवार्य है। बाइबिल का नित्यपाठ और ईसाई-धर्म की श्रेष्ठता पर प्रवचन इस शिक्षा के मुख्य अंग है। राधाकृष्णन् ने यह शिक्षा १२ वर्ष से अधिक प्राप्त की। उन दिनों स्वामी विवेकानंद वेदांत का प्रचार कर रहे थे। अमेरिका की अत्यंत सफल यात्रा से लौट कर उन्हों ने भारतवर्ष में भी प्रचार किया। उन के ग्रंथों और व्याख्यानों की सर्वत्र धूम मची हुई थी। इधर कालेज में वर्षों से ईसाई-धर्म की श्रेष्ठता के व्याख्यान सुनते-सुनते राधाकृष्णन् का चित्त इधर से ऊब-सा उठा था, उधर स्वामी विवेकानंद की प्रतिभा का प्रभाव पड़ा। इस का फल यह हुआ कि यद्यपि पाठ्यक्रम में कहीं भारतीय दर्शन-शास्त्र का जिक्र न था, तथापि राधाकृष्णन् ने वेदांत का अध्ययन प्रारंभ कर दिया और एम्० ए० परीक्षा में जो एक थीसिस लिखना होता था उस का विषय इन्हों ने 'दि इथिक्स अव् वेदांत' रक्खा। १९०९ में राधाकृष्णन् का विद्यार्थी-जीवन समाप्त हो गया।

एम्० ए० पास करते ही राधाकृष्णन् को मद्रास के प्रेसीडेंसी कालेज में दर्शन-शास्त्र के सहायक अध्यापक का स्थान मिल गया और यह प्रांतीय शिक्षा-विभाग के निचले ग्रेड में रक्खे गए। एक वर्ष अध्यापन करने के उपरांत यह ट्रेनिंग कालेज मे शिक्षण-कला का अध्ययन करने के लिए भेज दिए गए। १९११ में यह अपने पुराने पद पर स्थायी रूप से नियुक्त कर दिए गए। पाँच वर्ष के उपरांत इन्हें मुख्या-ध्यापक के पद पर नियुक्त कर दिया गया और ग्रेड भी बढ़ा दिया गया मद्रास कालेज

मे अध्यापन-कार्य करते हुए आप ने दो ग्रंथ भी लिखे। एक का नाम 'दि एसेंशल्स अव् साइकालोजी' (मनोविज्ञान के सारतत्त्व) और दूसरे का 'दि फ़िलासोफ़ी अव् रवींद्रनाथ टैगोर' (रवींद्रनाथ ठाकुर के दार्शनिक विचार) है। इन ग्रंथों का विवरण आगे यथास्थान दिया जायगा। राधाकृष्णन् की विद्वत्ता एवं अध्यापन-कुशलता की ख्याति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती थी, जिस से प्रभावित हो कर मैसूर विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने सन् १९१८ मे मद्रास की सरकार से इन की सेवाओं को माँग लिया। अतएव यह पाँच वर्ष के लिए मैसूर विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के मुख्य अध्यापक नियुक्त हो गए। विद्यार्थी-जीवन के अंतिम दिनों में जो उन की रुचि भारतीय दर्शनशास्त्र के अध्ययन की ओर झुक गई थी, वह मैसूर में आ कर संभवतया म० म० श्रीनिवासाचार्य और प्रो० हिरिअण्णा इत्यादि सज्जनों के संपर्क से और भी गहरी हो गई। म० म० श्रीनिवासाचार्य जी के हाल ही में प्रकाशित हुए 'दर्शनोदय' नामक ग्रंथ की भूमिका में राधाकृष्णन् ने लिखा है कि आचार्य महोदय के पास उन्हों ने विशिष्टाद्वैत तत्त्व का अध्ययन किया था। इस प्रकार मैसूर मे राधाकृष्णन् भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनो से भली भाँति परिचित हो गए। यहीं रहते हुए इन्हों ने सर्वप्रथम विशुद्ध दार्शनिक ग्रंथ 'दि रेन अव् रेलिजन इन कंटेंपोरेरी फ़िलासफी' (आधुनिक दर्शनों में धर्म का आधिपत्य) का प्रणयन किया। मैसूर विश्वविद्यालय में नियुक्त होने के दो वर्ष उपरांत सरकार ने इन्हे शिक्षा विषयक सर्वोच्च ग्रेड दे दिया।

सन् १९२० में सर ब्रजेंद्रनाथ सील के मैसूर विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर नियुक्त हो जाने पर कलकत्ता विश्वविद्यालय में सम्राट् पंचम जार्ज के नाम से निर्दिष्ट दर्शनशास्त्र के अध्यापक का स्थान रिक्त हो गया। उस समय सर आशुतोष मुखोपाध्याय कलकत्ता विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर थे और वे राधाकृष्णन् की प्रतिभा से परिचित थे। कहा जाता है कि उन्हों ने एक उभयनिष्ठ मित्र के द्वारा अध्यापक राधाकृष्णन् को यह विश्वास दिला कर उपरोक्त पद के लिए आवेदन-पत्र भेजने को प्रेरित करवाया कि वह पद उन्ही को दिया जायगा। फलतः सन् १९२० में राधाकृष्णन् कलकत्ता विश्वविद्यालय मे लगभग ३२ वर्ष की अवस्था में दर्शनशास्त्र के मुख्याध्यापक नियुक्त हो गए। इन के 'इंडियन फ़िलासफी' (भारतीय दर्शन) नामक सुविशाल ग्रंथ का प्रथम भाग १९२३ में प्रकाशित हुआ और   में विशेष-रूप से प्रतिष्ठित हुआ १९२६ में कैंब्रिज

मे ब्रिटिश साम्राज्य के समस्त विश्वविद्यालयों की कांग्रेस होना निश्चय हुआ, तब कलकत्ता विश्वविद्यालय ने आप को अपना प्रतिनिधि बना कर इंग्लैंड भेजा। इस अवसर पर अनेक सस्थाओं ने इन को व्याख्यान देने के लिए निमंत्रित किया। इन में सब से विशिष्ट आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का निमंत्रण था जिस में इन से अप्टन ट्रस्ट के लिए व्याख्यान देने की प्रार्थना की गई थी। यह व्याख्यान मांचेस्टर कालेज मे दिए गए थे। जिन दिनो मे इन व्याख्यानों की आयोजना की गई थी उन दिनों वहां नाविक दौड़ का सप्ताह था जो आक्सफोर्ड मे एट्सवीक कहलाता है। इस सप्ताह में विद्यार्थी और अध्यापक सभी नौ-प्रतिस्पर्धा देखने के लिए नदी तट पर जा डटते हैं और अच्छे से अच्छे व्याख्यानदाता को भी दीवारो को ही व्याख्यान सुनाना पड़ता है। पर राधाकृष्णन् के व्याख्यानों में कुछ ऐसा आकर्षण है कि मांचेस्टर कालेज का हाल श्रोताओं से खचाखच भर गया। अतिम व्याख्यान की समाप्ति पर मांचेस्टर कालेज के प्रिंसिपल जैक्स साहब ने जो धन्यवादात्मक शब्द कहे उन मे उन्हों ने बतलाया कि आप के व्याख्यान इतने महत्त्वपूर्ण थे कि जिन लोगो ने नाविक दौड के तमाशे से आकर्षित न हो कर इन व्याख्यानों को सुनना पसंद किया वे ही अधिक नफे में रहे। वे स्वय इतने प्रभावित हुए कि व्याख्यानों को सुनते हुए अनेक बार उन की हिंदू हो जाने की रुचि हुई। यह व्याख्यान 'हिंदू व्यू अव् लाइफ्' (हिंदू जीवन-दृष्टि) नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके है। कैंब्रिज विश्वविद्यालय में मॉरल साइंस क्लब मे इन्हों ने 'ब्रैडले और शंकर' पर एक प्रभावशाली व्याख्यान दिया, जब विश्वविद्यालय के दर्शन-शास्त्र, तर्कशास्त्र इत्यादि के आचार्य और विद्यार्थी उपस्थित थे।

इंग्लैंड से अध्यापक राधाकृष्णन् कलकत्ता यूनिवर्सिटी के प्रतिनिधिस्वरूप अमरीका में हार्वर्ड यूनिवर्सिटी में होने वाले अंतर्राष्ट्रीय छठे दार्शनिक सम्मेलन में भाग लेने के लिए गए और वहां भी इन्हो ने बड़ा प्रभाव उत्पन्न किया। बिना लेख के अथवा लिखित संकेतों के आप की अजस्र वाग्धारा ने सब श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध कर दिया। अत्यत स्पष्ट, प्रांजल एवं मर्मस्पर्शी शब्दों में आप ने आधुनिक जगत की संस्थाओं की, विशेष कर विज्ञान की समालोचना प्रस्तुत की, तथा पाश्चात्य-दर्शन में नव्यन्याय के सदृश बढ़ती हुई जटिल पारिभाषिक शब्दावली की उपहासास्पदता को प्रदर्शित करते हुए, दर्शन-शास्त्रियों को अनुपयुक्त विचार-प्रणाली का परित्याग कर मनुष्य जाति की प्रस्तुत समस्याओ की ओर अग्रसर होने का उपदेश दिया इस के अतिरिक्त इन्हों न शिकागो विश्व

विद्यालय में हैस्कल ट्रस्ट के लिए भी व्याख्यान दिए। इस प्रकार वर्षांत में अटलांटिक के दोनों तटों को भारत की कीर्ति-मुद्रा से मुद्रित कर के यह कलकत्ता लौट आए।

सन् १९२७ में इन के 'भारतीय दर्शन' नामक विशालकाय ग्रंथ का दूसरा भाग प्रकाशित हुआ। लगभग इसी समय डाक्टर ऐस्टलिन कार्पेंटर के अवकाश ग्रहण कर लेने पर मांचेस्टर कालेज में तुलनात्मक धर्मशास्त्र के प्रोफ़ेसर का स्थान रिक्त हुआ। लार्ड हाल्डेन ने अपने प्रभाव से यह पद अध्यापक राधाकृष्णन् के लिए सुरक्षित करवाने का उद्योग किया। यह पद आप को स्थायी रूप से दिया गया था, पर भारतवर्ष में ही अनेक प्रकार के कार्यों की पूर्ति में व्यस्त रहने के कारण इन्हों ने इसे अस्थायी रूप में ही स्वीकार किया। सन् १९२८ में ही इन्हें अपने स्थान पर पहुँच जाना चाहिए था पर कार्य-भार-वश आप १९२९ में इंग्लैंड जा सके। एक वर्ष तक वह स्थान आप के लिए रिक्त रक्खा गया। इसी बीच में नवजात आंध्र विश्वविद्यालय ने अपने द्वितीय कन्वोकेशन में इन्हें सम्मानार्थ डी० लिट्० उपाधि दी। आंध्रदेश को राधाकृष्णन् की जन्मभूमि होने का अभिमान होना उचित ही है।

इस बार भी अध्यापक राधाकृष्णन् को अनेक संस्थाओं से व्याख्यान देने के लिए निमत्रण मिले जिन में से सब से अधिक महत्त्वपूर्ण निमंत्रण हिबर्ट ट्रस्ट की ओर से था। हिबर्ट ट्रस्ट के व्याख्यान विश्वविश्रुत व्यक्तियों द्वारा दिए जाते हैं। राधाकृष्णन् प्रथम भारतीय हैं जिन को यह सम्मान मिला। इस के उपरांत विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर को भी उक्त ट्रस्ट ने निमंत्रित किया। राधाकृष्णन् ने इस ट्रस्ट के तत्त्वावधान में ४ व्याख्याल मांचेस्टर विश्वविद्यालय में, और चार लंदन विश्वविद्यालय में, कुल मिला कर आठ व्याख्यान दिए। मांचेस्टर के व्याख्यानों के अंत में प्रोफ़ेसर वीस ने इन को धन्यवाद देते हुए कहा "हम भूत-काल में संस्कृति, दर्शनज्ञान, और धर्म के लिए पूर्व के ही ऋणी रहे है। आज हम को एक प्रमुख प्राच्य दार्शनिक के चरणों में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, और उन के शब्दों और विचारों से हम ने शांति और सांत्वना प्राप्त की है।" लंदन विश्वविद्यालय मे भी राधाकृष्णन् के व्याख्यानों की बड़ी प्रशंसा हुई। जिस व्याख्यान-भवन में यह व्याख्यान हुए थे उस में तिल भर स्थान भी शेष नहीं रहा था। श्रोताओं में ऐसे मनुष्यों की संख्या भी पर्याप्त थी जो दिन भर के परिश्रम से चूर होते हुए भी व्याख्यान-दाता के सदेश को सुनने और उस के व्यक्तित्व से प्रभावित होने के लिए अपने विश्राम

की सुखद गोद को छोड़ कर उपस्थित होते थे। इन व्याख्यानों के अंत में सर कॉलिन्स ने प्रो० राधाकृष्णन् को संबोधन कर के कहा "श्रीमन्, मुझे अभिलाषा होती है कि जब अब से चालीस वर्ष पूर्व में लंदन विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र का विद्यार्थी था, तब मुझे आप जैसा गुरु प्राप्त हुआ होता।" उपरोक्त आठों व्याख्यान कुछ अन्य व्याख्यानों के सहित 'एन आइडलिस्ट व्यू अव् लाइफ़' (आध्यात्मिक दर्शन) के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। उपरोक्त ट्रस्ट के अतिरिक्त जोवेट व्याख्यान-निधि के ट्रस्टियो ने भी इन्हे व्याख्यान देने के लिए निमंत्रित किया। इस ट्रस्ट के लिए आप ने 'ईस्ट एंड वेस्ट इन रेलिजन' (धर्म मे पूर्व तथा पश्चिम) विषय पर व्याख्यान दिया। यह भी उपरोक्त नाम से पुस्तक-रूप मे प्रकाशित हो चुका है। कहते है कि कैंब्रिज में राधाकृष्णन् के व्याख्यान को सुन कर एक वृद्ध ईसाई-महिला ने अपने पास बैठे मित्र से कहा कि "आज मुझे लज्जा आती है कि हम भारतवर्ष में ईसाई-धर्म का प्रचार करने के लिए मिशनरियों को भेजते हैं।"

इन व्याख्यानों के अतिरिक्त राधाकृष्णन् ने एक वर्ष तक आक्सफोर्ड में मांचेस्टर कालेज में अध्यापन-कार्य भी किया, क्योंकि इसी के लिए वह इंग्लैंड गए थे। अध्यापक के रूप मे जिस किसी का भी आप से संपर्क हुआ वही आप की शिष्टता, अगाध विद्वत्ता और जीवन की सात्विकता से प्रभावित हुए बिना न रहा। कालेज के मुख्याधिष्ठाता प्रिंसिपल जैक्स ने इन की विदा के समय कहा था कि "मैं यह आशा प्रकट करने का साहस करता हूँ कि हम को भविष्य में भी आप के संभाषण सुनने का अवसर प्राप्त होगा।"

एक वर्ष आक्सफ़ोर्ड में व्यतीत कर यह १९३० के मध्य में कलकत्ता लौट आए। इसी समय के लगभग कलकत्ता विश्वविद्यालय में इन की नियुक्ति के पाँच वर्ष पूरे हो गए। इन की नियुक्ति पाँच वर्ष के ही लिए हुई थी। पर पाँच वर्ष के अंत में कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधिकारी इन के कार्य से ऐसे प्रसन्न हुए, कि उन्हों ने इन की नियुक्ति जीवन भर के लिए स्वीकार की। यह घटना कलकत्ता विश्वविद्यालय के इतिहास में अपने ढंग की पहली ही थी। महामना मालवीय जी के उद्योग से जब बनारस में अखिल एशिया की शिक्षा-कान्फ़रेन्स हुई तो उस का सभापति-पद भी इन को ही मिला। भारत-सरकार ने इन्हें राष्ट्र-संघ की बौद्धिक सहयोग समिति के लिए भारतवर्ष का प्रतिनिधि नियुक्त किया। सन् १९३१ में ने इन्हें 'नाइट' का पद प्रदान किया आंध्र देश ने आंध्र के वाइस

ने इन्हें अपने शिक्षाबोर्ड में भी सदस्य बनाया है, और आप देश-भाषा-विभाग के अध्यक्ष हैं। हिंदी-भाषा बोलने वालों को यह जान कर हर्ष होगा कि राधाकृष्णन् हिंदी को सार्वदेशिक भाषा बनाने के पक्ष में है, और दक्षिण में हिंदी-प्रचार-कार्य मे इन की पूर्ण सहानुभूति है। आंध्र-विश्वविद्यालय के कार्य का संचालन इन्हों ने जिस दक्षता के साथ किया है, उस से स्पष्ट है कि यह केवल शाब्दिक ज्ञान-सम्पन्न ही नहीं है, प्रत्युत कार्यक्षेत्र में भी पूर्ण सफलता प्राप्त करने की समता रखते हैं। अब आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे प्राच्य आचार-शास्त्र एवं धर्म के प्रोफ़ेसर के पद पर इन की नियुक्ति हुई है।

पिछले पाँच वर्षों में भारतवर्ष में भी इन्हों ने अनेक व्याख्यान दिए हैं। इन मे कुछ का संग्रह 'फ़्रीडम एंड कल्चर' (स्वतंत्रता और संस्कृति) के नाम से प्रकाशित हो गया है। इस के पूर्व अध्यापक राधाकृष्णन् की स्फुट रचनाओं एव व्याख्यानों का संग्रह 'हार्ट अव् हिंदुस्तान' (हिंदुस्तान का हृदय) प्रकाशित हुआ था। 'कल्कि' और 'दि रेलिजन वी नीड' नामक इन की दो और पुस्तकें इंग्लैंड में प्रकाशित हो चुकी हैं। इन के अतिरिक्त और कई भाषण इन के इस देश में तथा इंग्लैंड में हो चुके है जो पुस्तक-रूप में नही आए हैं।

(२)

अध्यापक राधाकृष्णन् के व्यक्तित्व की रूप-रेखा उपस्थित करना भी आवश्यक है। श्रीमती राधाकृष्णन् के साक्ष्य के आधार पर यह बतलाया गया है कि विद्यार्थी-जीवन में तथा प्रारंभिक अध्यापक-जीवन में राधाकृष्णन् में पर्याप्त निरंकुशता विद्यमान थी, पर धीरे-धीरे उन की साधना ने उन के रोषीले स्वभाव पर विजय पाई। अब तो अध्यापक राधाकृष्णन् सरलता और सौम्यता की प्रतिमा हैं। सुसंस्कृत जनता एवं सरकार दोनों ही इन्हें सम्मान की दृष्टि से देखती है, फिर भी अभिमान इन्हें छू भी नहीं गया है। कोई भी मनुष्य इन के संपर्क में क्यों न आए यह उस को महत्त्व-जनित दूरता का अनुभव नही होने देते। यह कई बार यूरोप गए हैं पर कहा जाता है कि वहां के जीवन से यह संतुष्ट नही है। इस बार भी जो इन्हों ने स्पालिंडग प्रोफ़ेसरशिप स्वीकार की वह बहुत दिनों तक सोच विचार कर की है। इन के लिए आक्सफ़ोर्ड का प्रमुख आकर्षण वहा का बौद्धिक तथा और -संबंधी सुविधाएं हैं जो भारत

वर्ष में अप्राप्य हैं। यह कहा जाता है कि आंध्र विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर पद पर रहते हुए अंतिम वर्ष में मद्रास की सरकार ने इन्हें शिक्षा-विभाग का डाइरेक्टर बनाना चाहा था। इसी समय आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय का भी प्रस्ताव मिला। वेतन और प्रभाव स्पष्टतया ही डाइरेक्टर होने में अधिक था; परंतु जिस जीवन का वरण उन्हों ने किया वह उन के स्वभाव के उपयुक्त ही है।

राधाकृष्णन् का जीवन एक मनीषी का जीवन है। अध्ययन, अध्यापन और मनन इन के जीवन का सतत व्यापार है। यद्यपि वह दर्शन-शास्त्र के विशेषज्ञ हैं तथापि गणित एवं विज्ञान की कुछ शाखाओं को छोड़ कर प्रायः कोई भी विषय ऐसा नहीं है कि जिस में इन की गति न हो, विशेष कर आप का साहित्य का ज्ञान तो संभवतया इतना ही विस्तृत और गभीर है जितना दर्शन-शास्त्र का।

अध्यापक राधाकृष्णन् के जीवन में एक बात ऐसी है जिस की व्याख्या नहीं की जा सकती। यदि आप को कहीं उन से भेंट हो तो आप देखेंगे कि उन का शरीर कृश है, लंबाई सामान्य से तनिक अधिक है, शिर पर पगड़ी है, आँखों पर चश्मा। यदि पगड़ी उतार कर रख दी जाय तो लंबे बाल इस प्रकार बिखर जायंगे जैसे कि अध्यापक आइंस्टाइन के शिर के बाल बिखरे रहते हैं। मुख और कान आवश्यकता से कुछ अधिक लंबे हैं। अनावश्यक मांसलता का शरीर में नितांत अभाव है। चश्मे के पीछे दो बड़े-बड़े नेत्र हैं और उन के पीछे एक ऐसा मस्तिष्क है जिस के सहारे वह नेत्र आप को आरपार देख सकते हैं। व्याख्यान देते समय वह प्रायः तनिक आगे को झुक जाते हैं। पर आप को उन के शरीर को देख कर उन की अटूट कार्यक्षमता और अपार स्फूर्ति का आभास नहीं मिल सकता। उन की आश्चर्यमयी कार्यक्षमता का पता तो आप उन्हें कार्य में जुटा हुआ देख कर ही कर सकते हैं। यूनीवर्सिटी की कार्यकारिणी समिति के सामने उपस्थित लंबे से लंबे कार्यक्रम आप शीघ्रातिशीघ्र समाप्त कर देते थे। अमेरिका-यात्रा में आप को प्रति दिन व्याख्यान देने पड़ते थे और रात्रि में यात्रा करनी पड़ती थी, जिस के दोनों छोरों पर व्याख्यानों के लिए तैयार रहना पड़ता था। साथ ही साथ अध्ययन का क्रम निरंतर चलता रहता था। इसी कारण कुछ आदमी राधाकृष्णन् पर जल्दबाजी का दोषारोपण करते हैं, पर वास्तव में बात यह है कि की बुद्धि इतनी निर्मल और सुव्यवस्थित है कि

विलंब नहीं लगता। उपरोक्त गुणों के अतिरिक्त अध्यापक राधाकृष्णन् में एक गुण अन्य व्यक्तियों के चरित्र और भावों को एक दम जान लेने का है। कहा तो यहां तक जाता है कि यदि आप राधाकृष्णन् से बातचीत करते हुए कोई कथन प्रारंभ करें तो आप के वाक्य पूरा करने के पूर्व ही आप के विचारों को आप से अच्छी तरह आप से पहले ही वह आप को सुना देंगे। ऐसा होने से कभी-कभी बातचीत करने वाले को इन में शिष्टता का अभाव प्रतीत होने लगता है पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। राधाकृष्णन की निर्मल त्वरितगति बुद्धि आप के विचारों में प्रविष्ट हो कर बीच में ही आप की सहायता को दौड़ पड़ती है।

पुस्तकाध्ययन को इन के जीवन का मुख्य व्यसन कहिए, चाहे व्यवसाय कहिए। किसी प्रकार के खेल-तमाशों का शौक इन्हें प्राय: नहीं के बराबर है। इन के मन बहलाने का क्षेत्र इन के परिवार का स्नेहमय वातावरण है। राधाकृष्णन् की चार पुत्रियां और एक पुत्र है।

यद्यपि इन का जन्म कट्टर दक्षिणी ब्राह्मण-कुल मे हुआ है पर इन की शिक्षा-दीक्षा के कारण इन के विचार अत्यंत उदार है। भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थिति का इन्हो ने अत्यंत गम्भीरता के साथ अध्ययन किया है, एवं तद्विषयक अपने विचारों को अत्यन निर्भीकता के साथ प्रदर्शित किया है। उन के व्याख्यानो एवं ग्रथों के पढ़ने से पता चलता है कि उन की नीति "शत्रोरपि गुणा: वाच्या. दोषा: वाच्या: गुरोरपि" रही है। राजनीति, समाजनीति एव भारतीय संस्कृति इन तीनों का जितना ज्ञान राधाकृष्णन् को है इतना हमारे प्रथम श्रेणी के राजनैतिक नेताओ में बहुत कम को होगा। भारतवर्ष की वर्त्तमान दुर्दशा से उन का हृदय पीड़ित है, अतएव अपने समावर्तन व्याख्यानों एवं 'इंडियन फिलासफ़ी' नामक ग्रंथ के अंत में उन्होंने सरकार की भी स्पष्ट शब्दों में आलोचना की है। अस्पृश्यता जसी घृणित प्रथा का घोर विरोध किया है। राजनीति का उद्विग्नतामय क्षेत्र उन के स्वभाव से मेल नही खाता अन्यथा इस में संदेह नही कि यदि अध्यापक राधाकृष्णन् राजनीति-क्षेत्र में प्रवेश करे तो वह ऐसा कार्यक्रम देश के समक्ष अवश्य रख सकते हैं जो भारत की आत्मा के अनुकूल एवं भारत की समस्याओं के लिए उपयुक्त हो सकता है। पर आप के स्वभाव को दृष्टि में रखते हुए ऐसा होने की संभावना बहुत कम है

(२)

अध्यापन-कार्य के साथ ही राधाकृष्णन् ने ग्रंथ-प्रणयन कार्य भी प्रारंभ किया। उन की बहु-प्रसू लेखनी ने अब तक अनेक ग्रंथों की रचना की है।

'दि एसेंशल्स अव् साइकालोजी' (मनोविज्ञान का सार) राधाकृष्णन् की प्रथम पुस्तक है। इस में मनोविज्ञान के सारभूत तत्वों का अत्यंत सरल और संक्षेप वर्णन उपस्थित किया गया है। लैंग जेम्स के अनुभावों को भावों के प्रेरक माननेवाले सिद्धांत का विवेचन विशेष द्रष्टव्य है। इस ग्रंथ की उपयोगिता निर्विवाद है। आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस द्वारा इस का प्रकाशित होना भी इस की सारवत्ता का प्रमाण है। यदि किसी को मनोविज्ञान के मूलतत्वो का ज्ञान थोड़े समय में प्राप्त करने की इच्छा हो तो इस से अधिक सरल दूसरी पुस्तक उपलब्ध नहीं हो सकती।

'रवींद्रनाथ ठाकुर के दार्शनिक विचार' (फ़िलासफी अव् रवींद्रनाथ टैगोर) की रचना अध्यापक राधाकृष्णन् ने मद्रास के प्रेसीडेंसी कालेज में अध्यापन-कार्य करते हुए की। इस के प्रारंभ में उन्हों ने उन पाश्चात्य पंडितों के मतों का सप्रमाण खंडन किया है, जो रवींद्रनाथ ठाकुर के विचारों को ईसाई-धर्म से प्रभावित हुआ सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। ग्रंथ के शेष भाग में इन्हों ने रवींद्रनाथ के विचारों की सारवत्ता, उन की साधना की अव्यर्थता तथा उन के मनन की वर्तमान जगत की समस्याओ के प्रति उपयोगिता का प्रतिपादन किया है। तथा अपने प्रत्येक कथन को विश्व-कवि की रचनाओं के उद्धरणो से समर्थित किया है। इस ग्रंथ की एक कमी कही जा सकती है। यह ग्रंथ विश्व-कवि के अंग्रेजी मे अनुवादित ग्रंथों के आधार पर रचा गया है, जो कि उन की समग्र रचनाओ का एक अश मात्र है। राधाकृष्णन् स्वयं अत्यंत कवित्वमय हृदय से संपन्न हैं। इसी कारण वह विश्व-कवि के विचारों को इतनी अच्छी तरह से विवृत करने में सफल हुए हैं।

मैसूर विश्वविद्यालय में अध्यापक रहते हुए राधाकृष्णन् ने अपने प्रथम विशुद्ध दार्शनिक ग्रंथ का प्रणयन किया। इस का नाम 'रेन अव् रेलिजन इन कंटेंपोरेरी फ़िलासफी' (वर्तमान दार्शनिक मनन में धर्म का साम्राज्य) है। पाश्चात्य देशों के विद्वानो को अपनी विशुद्ध विवेकपरता का अत्यंत अभिमान है। प्रायः दर्शन-शास्त्र के जितने भी इतिहास यूरोपीय भाषाओ म लिखे गए हैं सभी म पूव के दर्शन-ज्ञान का परिहार

किया गया है, क्योंकि यूरोप के पंडितमानी विद्वानों की सम्मति में प्राच्य देशों में दर्शन-शास्त्र अपने को कभी धर्म एवं पौराणिकता से मुक्त नहीं कर सका। उस ने कभी केवल विवेक-पथ का ग्रहण नही किया। यूबरवैक्, विंडलवांट, वेबर, लियोंरोविन इत्यादि सब की सम्मति इसी प्रकार की है। पाश्चात्य पंडितों के ऐसे विचारों का कारण यह था कि भारतीय विचारों से उन का परिचय इस देश में ईसाई-धर्म का प्रचार करने वाले मिशनरी लोगों की रचना से हुआ था। भारतीय विद्वानों ने यद्यपि अंग्रेजी भाषा मे भारतीय दर्शनों के उदात्त तत्त्वों को व्यक्त करने का प्रयत्न अवश्य किया था पर वह प्रयत्न केवल आत्म-रक्षण का प्रयत्न था, आक्रमणात्मक न था। अध्यापक राधाकृष्णन् ने ही सब से पहले आक्रमणात्मक स्थिति को ग्रहण किया और इन पंडितमानी दार्शनिको की तोपों का मुख स्वयं उन के घर की ओर मोड़ दिया। इस प्रकार का प्रयत्न राधाकृष्णन् के पूर्व नही हुआ था। इस ग्रंथ की भूमिका में अध्यापक राधाकृष्णन् ने यह बतलाया है कि यदि दार्शनिक लोग केवल विवेक का नेतृत्व ग्रहण कर के अपने मार्ग पर अग्रसर हो तो निश्चय ही वह आध्यात्मिक केवलाद्वैत पर पहुंचेगे। आधुनिक काल के यूरोपीय दार्शनिकों के अपने रास्ते से बहकने का कारण दार्शनिकता के क्षेत्र में धर्म का साम्राज्य है। इस ग्रंथ में यूरोपीय दर्शन के आधुनिक नेताओं की विचार-धाराओं का अवगाहन कर के राधाकृष्णन् ने बतलाया है कि यह लोग जब तक शुद्ध-विवेक का पक्ष ग्रहण करते है, उन की धारा की दिशा आध्यात्मिक अद्वैतवाद की ओर रहती है, पर आध्यात्मिक अद्वैतवाद इन लोगों के स्वीकृत धार्मिक सिद्धांतों के विपरीत है, अतएव वह शुद्ध-विवेक का पथ छोड़ कर पथ-भ्रष्ट हो जाते है। लाइबनिट्स्, जेम्स वार्ड, बर्गसां, विलियम जेम्स, रूडल्फ़ आयकन, बर्ट्रांड रसल, शिलर बाल्फ़ोर, रैशडल इत्यादि प्रमुख दार्शनिकों के विचारों का विवेचन इस ग्रंथ में किया गया है। जर्मनी से ले कर अमेरिका तक कोई ऐसा प्रमुख दार्शनिक नहीं है जो राधाकृष्णन् की आलोचना का विषय न बना हो। हां, जान ड्यूवी, जार्ज संतयाना, और फ़्रेडरिक नीट्शे अवश्य छूट गए है, जो नहीं छूटने चाहिए थे। सब से लंबी विवेचना बर्गसां के सिद्धांतों की की गई है, क्योंकि बर्गसा आधुनिक यूरोपीय दार्शनिकों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते है। इस ग्रंथ के अंत में संपूर्ण यूरोपियन विचार-धारा के मंथन के उपरांत एक अध्याय उपनिषदों के दृष्टिकोण पर भी लिखा गया है। इस के कुछ अंश तो १९१६ से ले कर १९१९ तक प्रसिद्ध दार्शनिक पत्रों में प्रकाशित हो चुके थे अतएव यह ग्रंथ   की २८ से ले कर ३२ वर्ष की अवस्था

तक की रचना है। पर इस की विचार-प्रौढ़ता, मनन-गांभीर्य, तथा शैली की मनोरमता आश्चर्यचकित करने वाली हैं। आलोचकों ने राधाकृष्णन् की आलोचना से अवश्य ही असम्मति प्रकट की है पर उन्हों ने उक्त दार्शनिकों के सिद्धांतो का जो विवरण उपस्थित किया है, उस की प्रामाणिकता के विषय में किसी को कोई आपत्ति नहीं हुई है। अतएव विवरणात्मक दृष्टि से यह ग्रंथ आधुनिक यूरोपीय दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने का उत्तम साधन है। अनेक यूरोपीय विश्वविद्यालयों ने इस ग्रंथ को दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियो के लिए पाठ्य-पुस्तकों की सूची में सम्मिलित किया है। इस के प्रकाशन के उपरांत दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में अध्यापक राधाकृष्णन् की महत्ता में किसी को संदेह नहीं रहा।

इस ग्रंथ के उपर्युक्त विवरण से यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि राधाकृष्णन् धार्मिक प्रवृत्ति के विरोधी है। पर यह धारणा ठीक नहीं है क्योंकि, राधाकृष्णन् स्वय अत्यत गंभीर, धार्मिक-भावना-संपन्न व्यक्ति है। इस के अतिरिक्त उन्हों ने अनेक ऐसे ग्रंथों की रचना की है जो धार्मिक प्रवृत्ति की उच्चतम समर्थक युक्तियों से अलकृत है। वास्तव में राधाकृष्णन् ने उन धार्मिक प्रवृत्तियों की निंदनीयता का प्रतिपादन किया है, जो संकीर्ण सांप्रदायिक भावनाओ की समर्थक और सच्ची धर्म-भावना की विरोधिनी है। ऐसी ही प्रवृत्तियां दार्शनिकों के सत्य के अन्वेषण के मार्ग का रोड़ा बन कर उन के विशुद्ध सत्य तक न पहुंचने का कारण बनी है। प्रकृत ग्रंथ के २३ पृष्ठ पर अध्यापक राधाकृष्णन् ने सच्चे दर्शन-शास्त्र और सच्चे धर्म के सामंजस्य का प्रतिपादन करते हुए बतलाया है कि अंततोगत्वा विशुद्ध विवेक और विशुद्ध धार्मिक विश्वास मे किसी प्रकार का विरोध नही हो सकता, क्योंकि मनुष्य-स्वभाव के विभिन्न पहलुओं में कोई छिपी हुई वैर-भावना नही है। इस दृष्टि से देखने पर यह विशालकाय ग्रंथ "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरणं व्रज" (गीता १८।६६) का एक भाष्य प्रतीत होता है। यह ग्रंथ अनेक दृष्टियो से महान होते हुए भी अपूर्ण है। इस में प्रस्तुत विषय की पूर्ति 'ऐन आइडियलिस्ट व्यू अव् लाइफ़' में हुई है, जिस का विवरण हम आगे करेंगे।

सन् १९२० मे सर ब्रजेंद्रनाथ सील के मैसूर विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर नियुक्त हो जाने पर अध्यापक राधाकृष्णन् उन के स्थान कलकत्ता विश्वविद्यालय में दर्शन-शास्त्र के 'किंग जाज फिफ्थ प्रोफ़ेसर' नियुक्त हुए सन् १९२१ के दिसबर मास म उन के

शक के पास भेजी जा चुकी थी। इस का प्रकाशन सन् १९२३ में प्रारंभ में हुआ। तीन वर्ष के उपरांत इस ग्रंथ के द्वितीय भाग का प्रकाशन हुआ। जार्ज ऐलन ऐंड अनविन् की दर्शन ग्रंथमाला मे इंग्लैंड के प्रमुख दार्शनिक प्रो० म्यौरहेड के संपादकत्व में यह प्रकाशित हुआ है। इस ग्रंथमाला के अन्य लेखक दार्शनिक जगत के सुप्रसिद्ध व्यक्ति ही हैं। यह ग्रंथ राधाकृष्णन् के अद्यावधि प्रकाशित ग्रंथों में सब से बड़ा है।

मैक्समूलर के 'सिक्स सिस्टेम्स अव् इंडियन थाट' के प्रकाशन के उपरांत भारतीय-दर्शन के क्षेत्र में बहुत कुछ शोध कार्य हो चुका था, पर उस का समावेश किसी एक ग्रंथ मे नही हुआ था। यह कार्य अध्यापक राधाकृष्णन् ने किया। और इसी कार्य को दास-गुप्त, रानडे और बेल्वेलकर भी करने में सन्नद्ध है। अध्यापक राधाकृष्णन् ने अपने 'भारतीय दर्शन' के प्रथम भाग की भूमिका में प्रकृत कार्य की कठिनता तथा अपनी योग्यता की ससीमता को स्पष्टतम शब्दों में स्वीकार किया है। विविध दर्शनो का एकश: पूर्णज्ञान प्राप्त करने के लिए बहुत से मनुष्य अपनी सारी आयु खपा देते हैं; अतएव एक व्यक्ति सभी दर्शनो का सर्वस्वीकृत विवरण उपस्थित करने में कदापि पूर्णतया सफल नहीं हो सकता। इस प्रकार का कोई भी प्रयत्न सब समालोचकों को संतुष्ट कर सकेगा, ऐसी आशा करना ही व्यर्थ है। इस के अतिरिक्त भारतीय दर्शन के सिद्धांतों को किसी आधुनिक भाषा में अभिव्यक्त करने मे और भी अनेक समस्याएं सामने आती हैं। भारतीय दार्शनिक विचार जिस समय सजीव था, उस समय मनन-प्रणाली आधुनिक मनन-प्रणाली से इतनी भिन्न थी कि उस समय के विचारों को आज कल की समझ मे आ जाने वाली भाषा में प्रकट करना सरल काम नहीं है। इस के अतिरिक्त भारतवर्ष में मौलिक मनन के युग की समाप्ति के उपरांत ऐसे दार्शनिकों का आविर्भाव हुआ जिन में मौलिक विचार-शक्ति की न्यूनता विपुल-जटिल वाग्वैभव के साथ अवतरित हुई थी। साधारण बात को भी बुद्धि के जबड़े को तोड़ डालने वाली वाक्यावलि मे उलझा कर प्रकट करना इन दार्शनिक-पुंगवों का व्यसन था। भारतीय दर्शन के अनुपम विचार-रत्न सर्वसाधारण के जीवन में अनुप्रविष्ट हो कर जीवन को उठाने में यथेष्ट रूप से सफल न हो सके, इस का एक प्रमुख कारण यह भी है कि वे विचार सर्वसाधारण की भाषा के आवरण में न आ कर पंडितों के मनोरंजन की सामग्री मात्र बने रहे। अतएव भारतीय दर्शन को प्राचीन ग्रथो के के आधुनिक समय की भाषा म सुगम रूप म

प्रस्तुत करना विशाल और अगाध जलराशि में डुबकी मार कर मोतियों को निकालने के सदृश कठिन कार्य है। तिस पर ऐसा कौन साहसी 'मरजीवा' हो सकता है जो यह दम भर सके कि उस ने रत्नाकर के सभी रत्नों की खोज कर ली है।

भारतीय दर्शन की समस्याओं को दृष्टि में रखते हुए यदि हम अध्यापक राधाकृष्णन् के प्रकृत ग्रंथ की आलोचना करें तो अवश्य मानना पड़ेगा कि उन को असाधारण सफलता प्राप्त हुई है। उन्हों ने एक ओर विविध भारतीय दर्शनों के मूल-भूत सिद्धातो का कभी परित्याग नही किया है, दूसरी ओर अनावश्यक बाल की खाल खीचने की प्रवृत्ति को रोका है। अतएव उक्त ग्रंथ में भारतीय मनन-धारा अपने सजीव रूप मे प्रकट होती है। इस के अतिरिक्त आदि से अंत तक स्थान-स्थान पर पाश्चात्य विचारकों एवं भारतीय विचारकों के विचार-साम्य का भी दिग्दर्शन कराया गया है। इसी कारण यह ग्रथ पाश्चात्य देशों में भारतीय दर्शन को अधिक बोधगम्य और जनप्रिय बनाने में सफल हुआ है। भारतीय दर्शनों की विविध शाखाएं सहस्रों वर्षो के मनन-व्यापार से विचार-संपन्न है, और साथ ही साथ प्रत्येक दर्शन ने एक विशेष प्रकार के दृष्टि-कोण और पारिभाषिक शब्दो कौ स्वीकार किया है। अतएव विदेशी लोगों को इस मनन-संपदा से अवगत करा देना और उन के चित्त में उस के प्रति रुचि उत्पन्न कर देना एक महान कृत्य है। स्वामी विवेकानंद एवं स्वामी रामतीर्थ वेदांत के लिए ऐसा ही कार्य कर गए थे। अध्यापक राधाकृष्णन् ने उसी दिशा में क़दम बढ़ाया है। संपूर्ण ग्रंथ तो विशेषज्ञों के लिए ही है, फिर भी प्रथम अध्याय, अंतिम अध्याय, एवं भूमिका सभी पढ़ सकते है, और उस से लाभान्वित हो सकते हैं। प्रथम अध्याय में भारतीय दर्शन की विशेषताओं का विशद स्पष्टीकरण है, तथा इसी अध्याय मे यह भी बतलाया गया है कि भारतीय दर्शन का पाश्चात्य विचारको से किन-किन बातों में मौलिक भेद है, और किन बातों में साम्य है। साथ ही भारतीय दर्शनो के सिद्धांतों के ज्ञान का क्या महत्व है, यह भी स्पष्ट कर दिया गया है। अंतिम अध्याय मे वर्तमान काल मे भारतीय मनन में मौलिकता के अभाव के कारणों का विवेचन किया गया है, तथा इस दयनीय स्थिति से छुटकारा पाने के उपाय बतलाए गए हैं। इस अध्याय मे हम को अध्यापक राधाकृष्णन् के गंभीर देश-प्रेम का परिचय मिलता है।

उपर्युक्त ग्रंथ के प्रथम भाग का दूसरा संस्करण प्रकाशित हो चुका है। इस संस्करण के परिशिष्ट में　　　　　　ने आलोचको के आक्षेपो का उत्तर दे कर अपने दृष्टि

कोण का स्पष्टीकरण किया है। प्रथम भाग से उपनिषद् वाला अंश एवं द्वितीय भाग से वेदांत वाला अंश पृथक् पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है और उपनिषद् वाले अंश के तो एकाधिक संस्करण हो चुके है।

'रेन अव् रेलिजन इन कंटेंपोरेरी फ़िलासफी' तथा 'इंडियन फ़िलासफी' के प्रणयन से अध्यापक राधाकृष्णन् ने भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों के प्रामाणिक ज्ञान का परिचय दिया है। इन के प्रकाशन के उपरांत दार्शनिक जगत में उन का निर्विवाद नेतृत्व स्थापित हो गया। पर राधाकृष्णन् दार्शनिक ही नही वे प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृति का भी अत्यत गभीर ज्ञान रखते हैं। उन की 'हिंदू व्यू अव् लाइफ' नामक पुस्तक तो हिंदू संस्कृति का दर्पण ही है। इस पुस्तक में अप्टन ट्रस्ट वाले व्याख्यान संग्रहीत है। यदि केवल प्रचार ही किसी ग्रथ की श्रेष्ठता का प्रमाण माना जाय तो यह ग्रंथ अध्यापक राधाकृष्णन् की रचनाओ मे सर्वोत्तम ठहरेगा। इस के अंग्रेज़ी भाषा में अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके है, तथा कई यूरोपीय भाषाओं में इस का अनुवाद हो चुका है। 'भारतीय दर्शन' नामक ग्रंथ तो विशेषज्ञो की रुचि-तर्पण की सामग्री है, पर यह पुस्तक इतनी सरल और सुचारु भाषा में लिखी गई है कि इस को सब कोई पढ़ कर लाभान्वित हो सकते है। संपूर्ण पुस्तक चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय मे धर्म के स्वरूप का निरूपण किया गया है। इस के साथ ही साथ हिंदू-धर्म के स्वरूप और विकास की रूप-रेखा का भी वर्णन किया गया है। दूसरे अध्याय में धर्मो के संघर्ष के ऐतिहासिक विवेचन के साथ धर्म-संघर्ष मे हिंदू-धर्म की विशाल उदारता का अत्यंत प्रांजल रूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया है। यह अध्याय वर्तमान समय के सांस्कृतिक संघर्ष की गुत्थियों को सुलझाने के लिए एक आदर्श प्रणाली का प्रदर्शक है। शेष दो अध्यायो में भी हिंदू-धर्म का स्वरूप अधिक विस्तार के साथ समझाया गया है।

हिंदू-जाति के पतन के अनेक कारणों मे से सब से प्रबल कारण आत्मविस्मृति है, और यह पुस्तक हिंदू-धर्म के सच्चे स्वरूप का प्रतिपादन कर उसी आत्मविस्मृति के मूल मे कुठाराघात करती है। पर आदि से अंत तक इस मे हिंदू-धर्म की स्तुति-मात्र ही नहीं है। जहा राधाकृष्णन् ने हिंदू-धर्म की उदार आत्मा का स्पष्टीकरण करने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी है, वहां हिंदू-जीवन में घुसी हुई बुराइयों की स्पष्टतम निंदा भी की है। यदि भविष्य में संपूर्ण मनुष्य-जाति की सांस्कृतिक एकता की स्थापना का स्वप्न सफल होने का

अग्रसर आए तो हिंदू-जाति उस महदनुष्ठान में क्या सेवा कर सकेगी ? इस प्रश्न का उत्तर इस ग्रंथ में दिया गया है। प्रत्येक हिंदू युवक और संस्कृतियों के विद्यार्थी के लिए यह पुस्तक पठनीय है। हिंदू-धर्म पर इतनी छोटी और साथ ही साथ महान् दूसरी पुस्तक शायद ही कही मिल सके।

'दि रेलिजन वी नीड' (अभीष्ट धर्म) नामक पुस्तिका का प्रकाशन अर्नेस्ट बेन की 'अफर्मेशन' नामक ग्रंथमाला में हुआ है। इस पुस्तक में सभ्य जगत का धर्म के प्रति क्या दृष्टि-कोण है, वर्तमान धर्मों की क्या स्थिति है, और अधिक संस्कृत बुद्धि-संपन्न व्यक्ति उन से क्यो असन्तुष्ट है, धर्म के अस्तित्व की अनिवार्यता क्यों है, एवं उपयोगिता क्या है तथा अभीप्ट धर्म में किन-किन तत्वों की आवश्यकता है, इत्यादि प्रश्नों का समाधान किया गया है। प्रायः मनुष्यों का विश्वास है कि विज्ञान की प्रगति से धर्मभावना निर्बल पड़ती जा रही है, और वह धीरे-धीरे निर्वाणोन्मुख हो रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से विविध धर्मों के मूल की खोज तथा, धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन ने भी धर्म के मल में निहित रहस्य और आ-कर्षण के रंग को वहुत कुछ फीका कर दिया है। तर्क के सिद्धांतों एवं दार्शनिक विचारों के प्रचुर प्रचार से भी धार्मिक श्रद्धा के स्थान पर संशयालुता की वृद्धि हुई है। विज्ञ जनों के विचार में धर्म की माया अंधकार के युगों में ही अपने को चरितार्थ कर सकती थी, इस प्रकाश के युग में धर्म अतीत का अनावश्यक एवं अनुपयोगी बखेड़ा है, तथा शिष्टों के समाज मे उस की चर्चा करने का फैशन नहीं है। राधाकृष्णन् ने ऐसे संपूर्ण तर्कों के मूल की खोज कर के उन का संतोषप्रद समाधान उपस्थित किया है। विज्ञान की विचारधारा का अव-गाहन कर उन्हों ने सिद्ध किया है कि विज्ञान बिना आत्मविप्रतिपत्ति के धार्मिक भावना का विरोध नहीं कर सकता। यह संभव है कि वर्तमान धर्म विज्ञान और तर्क की दृष्टि मे दोष-पूर्ण भले ही हो पर सार-धर्म, जिस के बिना मनुष्य की आत्मा की पूर्ण तुष्टि और मनुष्यजाति का वास्तविक कल्याण असंभव है, कदापि त्याज्य नहीं ठहराया जा सकता। यह ठीक है कि मनुष्य जाति की बाल्यावस्था में जो वस्त्र उस के लिए बनाए गए थे वे आज उस की प्रौढ़ावस्था में उस को नहीं सोहते पर यह अवस्था वस्त्रों को त्याज्य ठहराने की दलील नही हो सकती। मनुष्य के अंतरतम की प्यास की तृप्ति, सत्य की खोज, सामाजिक संबधो एव कर्तव्यो का समुचित एव सुचारु तथा सपूर्ण मानव-जाति का

बिना एक स्वप्नमात्र रह जायगी। वर्तमान धर्म आजकल सामाजिक व्यवहार में इतने स्थानों पर रोड़े अटकाता है कि उन से बचने के लिए यह कहने का चलन हो गया है कि प्रत्येक मनुष्य का धर्म उस का व्यक्तिगत मामला है, पर अभीष्ट धर्म इस त्रुटि को दूर कर देगा। वह व्यक्तिगत मामला बन कर केवल व्यक्ति और परमात्मा के पारस्परिक व्यवहार की 'सँकरी डगर' न हो कर राजपथ होगा, जिस पर मनुष्य के व्यक्तिगत, सामाजिक, नैतिक एवं राजनैतिक जीवन के सारे व्यवहार चल सकेंगे। तर्क और विज्ञान की कसौटी पर इस अभीष्ट धर्म को कसा जा सकेगा। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर भी एक आदर्श धर्म की कल्पना की उपयोगिता अकाट्य बनी रहती है। मानव-जाति के जीवन-संकटों के आने पर नवीन धर्मों की सृष्टि हुई है और उन धर्मों से मानव-जाति का कल्याण हुआ है। पर मानव की आत्मा की गंभीरता की पूर्ण थाह तो कदापि मिल ही नहीं सकती, अतएव यह स्वाभाविक ही है कि कल का धर्म, आज त्रुटिपूर्ण दिखलाई देने लगे, और एक नवीन धर्म आवश्यक जान पड़े। पर इस ग्रंथ का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि राधाकृष्णन् एक नए मसीहा बन कर नया धर्म-पथ चलाने के लिए कटिबद्ध हुए हैं। केवल उन्हों ने मानव-जाति के भावी कल्याण के लिए किए जाने वाले प्रयत्नों में अध्यात्मपक्ष को विस्मृत कर देने के विरुद्ध स्वर उठाया है।

सन् १९३० में अध्यापक राधाकृष्णन् ने जो हिब्बर्ट ट्रस्ट के व्याख्यान दिए थे वे 'ऐन आइडियलिस्ट व्यू अव् लाइफ़' (आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि) के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। यह पुस्तक कई दृष्टियों से 'रेन अव् रेलिजन इन कंटेपोरेरी फ़िलासफी' की विचार-धारा की संपूरक है। इस पुस्तक में प्राच्य जगत की आध्यात्मिक दृष्टि से पाश्चात्य जगत के ज्ञान एवं विज्ञान की आलोचना उपस्थित की गई है। 'रेन अव् रेलिजन' में तो केवल आधुनिक दार्शनिकों के ही विचारों की त्रुटियों का दिग्दर्शन कराया गया था, प्रकृत ग्रंथ में पाश्चात्य जगत के प्रायः समग्र मनन को ही चुनौती दी गई है। प्रारंभिक अध्यायों में पाश्चात्य जगत में आध्यात्मिकता के प्रति जो उदासीनता दृष्टिगोचर होती है, उस का वर्णन एवं उस के कारणों का ब्यौरा दिया गया है। इस के उपरांत उन सब आंदोलनों का विवरण उपस्थित किया गया है, जो बहिष्कृत धर्म-भावना के स्थान की पूर्ति के लिए उठ खड़े हुए हैं। विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, गणित, ज्योतिष, समाजविज्ञान, इत्यादि नाना विज्ञानों ने धर्म और   ८   के स्थान पर जो अन्य मत वाद प्रचलित किए

है, अध्यापक राधाकृष्णन् ने उन सब का अत्यंत सारवान् विवरण उपस्थित कर के उन की त्रुटियों को दिखला कर सिद्ध कर दिया है कि धर्म के रिक्त स्थान को ग्रहण करने की योग्यता इन में से एक में भी नहीं है। ग्रंथ के इस भाग को प्रस्तुत करने के लिए अध्यापक राधाकृष्णन् को कितना अध्ययन करना पडा होगा, यह सोच कर चकित हो जाना पड़ता है, और इस से भी अधिक चकित होना पड़ता है उन की विचारों के प्रस्तुत करने की अत्यंत स्पष्ट, हृदयस्पर्शी तथा अभीष्ट संक्षेपता से युक्त शैली पर। इस के उपरांत अध्यापक राधाकृष्णन् ने पाश्चात्य विज्ञान की शैली की मूलतः आलोचना की है और यह बतलाया है कि यूरोप की विचार-धारा क्योंकर आध्यात्मिकता से दूर हटती जाती है। विज्ञान की उपयोगिता को स्वीकृत करते हुए उन्हों ने एक अध्याय में यह बतलाया है कि मनुष्य की अंतरात्मा उस के जीवन का गंभीरतम अंग है। विज्ञान मनुष्य की जिन आवश्यकताओ की पूर्ति कर मानवीय तोष का विधान करता है, मनुष्य का जीवन-क्षेत्र उन्हीं तक सीमित नही है। केवल विज्ञानमय जीवन अनेक दृष्टियो से एक दैन्यमय एवं अपूर्ण जीवन होगा, और उस में मनुष्य की आत्मा को पूर्ण संतोष नही मिल सकेगा। मनुष्य-जीवन की कुछ आवश्यकताएं ऐसी भी है, जिन की पूर्ति का साधन विज्ञान के पास नहीं है। वास्तव में विज्ञान एव विज्ञान ही के समान विश्लेषणात्मक विचारशैली का उपयोग करने वाली दार्शनिक विवेचनाएं इन आवश्यकताओं के अस्तित्व को ही असिद्ध ठहराती है। पर प्रत्यक्ष-बोध का साक्ष्य इस के विपरीत है। साहित्य, संगीत इत्यादि उच्च कलाओं एवं वास्तविक धार्मिक भावना तथा अध्यात्मानुभव के मूल में यही प्रत्यक्षानुभव अथवा प्रत्यक्ष-बोध अथवा सहज ज्ञान ही काम कर रहा है। स्वयं विज्ञान इस प्रत्यक्ष-बोध का विरोध नही कर सकता। इस से बढ़ कर और कोई दूसरा प्रमाण नही है। यह स्वतः प्रमाण है। प्रत्यक्ष-ज्ञान की साधना का उच्चतम फल है, आत्मैक्य की प्रतीति। यही भारतीय वेदात की संसार को सब से बड़ी देन है। बहुत से आलोचक इस आत्मैक्यवाद को सदाचार-भावना का विलोपक और ईश्वर के अस्तित्व का विरोधी मानते हैं। अध्यापक राधाकृष्णन् ने बतलाया है कि ऐसी धारणा नितांत निर्मूल है। उन्हों ने जिस आत्मैक्यवाद का प्रतिपादन किया है उस में वास्तविक विश्व के संपूर्ण अंगों की यथास्थान स्वीकृति के साथ-साथ मानवीय स्वभाव की गहरी से गहरी की पूर्ति की है उन की ८ का विज्ञान

'टुडे ऐंड टुमारो सीरीज' में राधाकृष्णन् की 'कल्कि, आर दि फ़्यूचर अव् सिविलाइज़ेशन' (कल्कि अथवा मानव-संस्कृति का भविष्य) नामक पुस्तिका प्रकाशित हुई (१९२९)। यह तीन अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में संसार की वर्तमान अव्यवस्थित अवस्था का वर्णन उपस्थित किया गया है। विज्ञान ने पुराने आचार और विश्वासों को विध्वस्त तो कर दिया है, पर उन के स्थान पर नवीन आचरणादर्शों, विश्वासों एवं संस्थाओं का निर्माण न होने के कारण मानव-जाति के घर में एक अस्तव्यस्तता फैली हुई है। द्वितीय अध्याय में वर्तमान मानव-जीवन की समस्या पर विचार किया गया है। विज्ञान ने मानव-जीवन की भौतिक एवं मानसिक आवश्यकताओं की तृप्ति के उपाय तो प्रस्तुत कर दिए हैं, पर आध्यात्मिकता के लिए विज्ञान ने कोई प्रबंध नहीं किया है। पर कोई भी समाज केवल भौतिक समृद्धि की प्राप्ति कर लेने पर ही सभ्य नहीं कहला सकता। जीवन की पूर्णता की प्राप्ति तो मानवीय आत्मा को गंभीरता की खोज कर विश्व भर में एकात्मवाद की प्रतीति प्राप्त करने में है। भौतिक एवं मानसिक क्षेत्रों में अभूतपूर्व उन्नति होते हुए भी आज संसार नाना प्रकार की व्याधियों का शिकार बना हुआ है। क्या यह निश्चय ही इस बात का परिचायक नहीं है कि कहीं न कहीं मानवीय जीवन अस्वस्थ है? संसार की परिस्थिति ऐसी है कि बड़े-बड़े आशावादियों ने आशा का परित्याग कर दिया है; पर अध्यापक राधाकृष्णन् धार्मिकवृत्ति-संपन्न व्यक्ति हैं, अतएव घोर निराशा के अंधकार में भी वे आशा का पल्ला नहीं छोड़ते। प्रकृत ग्रंथ का अंतिम अध्याय 'पुनर्निर्माण' से संबंध रखता है। यदि मनुष्य-जाति को अपनी प्रस्तुत परिस्थिति से निकल कर कल्याण की ओर अग्रसर होना है, तो अवश्य ही उस को दृष्टि-कोण और संस्थाओं में परिवर्तन करना पड़ेगा। जीवन की गति को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ना पड़ेगा। ज्ञान और विज्ञान का परित्याग न कर के जीवन-यात्रा में उन से जो सहायता मिल सकती है, उस को ग्रहण करना होगा पर उन को जीवन का पथ-प्रदर्शक नहीं बनाना होगा। जीवन की गति को तो विश्वात्मभाव के ध्रुव की ही ओर अग्रसर करना होगा। अध्यापक राधाकृष्णन् का विश्वास है कि मनुष्य-जाति अंततोगत्वा अवश्य ही ध्रुव लक्ष्य तक एक दिन पहुँचेगी।

'कल्कि' के उपरांत राधाकृष्णन् के कतिपय स्फुट निबंधों एवं कुछ आलोचनाओं का संग्रह 'हार्ट अव् हिंदुस्तान' (हिंदुस्तान का हृदय) के नाम से मद्रास की नटेसन कंपनी द्वारा प्रकाशित किया गया यह एक अत्यंत उपयोगी पुस्तक है डाक्टर जे० के० मजूम

दार ने प्रस्तावना-स्वरूप एक निबंध इस के प्रारंभ में जोड़ दिया है, जिस मे अध्यापक राधाकृष्णन् के जीवन-चरित्र एवं ग्रंथों का अच्छा परिचय दिया हुआ है। प्रस्तुत निबंध मे मजूमदार महाशय की प्रस्तावना के जीवनी-खंड से पर्याप्त सहायता ली गई है, अतएव उन के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। 'हार्ट अव् हिंदुस्तान' को यदि भारतीय धर्मो के तुलनात्मक अध्ययन की भूमिका माना जाय तो अनुचित न होगा। इस ग्रंथ में अध्यापक राधाकृष्णन् ने हिंदू, मुसलमान, ईसाई एवं बौद्ध धर्मो की मौलिक समानताओं का दिग्दर्शन कराया है। उक्त धर्मो में समन्वय स्थापन करना ही इस ग्रंथ का ध्येय प्रतीत होता है। भारत में धर्म-कलह का अंत चाहने वालों का कर्तव्य है कि वे स्वयं इस पुस्तक को पढ़ें और अन्य मित्रों को इस के अस्तित्व से अवगत करा दें। इस को पढ़ कर देश के शिक्षित युवा परस्पर एक दूसरे के धर्मो को आदर की दृष्टि से देखना सीखेंगे तथा धार्मिक मैत्री का मार्ग प्रशस्त होगा। धार्मिक शिक्षा के अभाव का समर्थन शिक्षा-विभाग के अधिकारी यह कह कर किया करते है कि भारतवर्ष में किस धर्म की शिक्षा का प्रचार किया जाय; एक धर्म की शिक्षा दूसरे धर्म को मानने वाले विद्यार्थियों को अरुचिकर होगी। इस पुस्तक में इस समस्या का समाधान है। किसी धर्मावलंबी का हृदय न दुखा कर सब धर्मों और सदाचार की चर्चा इस ग्रंथ में की गई है।

उक्त पुस्तक के उपरांत इंग्लैंड से राधाकृष्णन् के पाँच व्याख्यानों का संग्रह 'ईस्ट ऐंड वेस्ट इन रेलिजन' (पूर्व और पश्चिम में धर्म की स्थिति) के नाम से प्रकाशित हुआ। प्रथम व्याख्यान मे तुलनात्मक धर्म-शास्त्र के स्वरूप, विषय, और प्रणाली का प्रतिपादन किया गया है। आक्सफ़ोर्ड के मांचेस्टर कालेज में तुलनात्मक धर्म-शास्त्र के अध्यापक पद से यह उन का पहला व्याख्यान है। दूसरा व्याख्यान लंदन में जोवेट ट्रस्ट के तत्वावधान में हुआ था। इस व्याख्यान में प्रसंगवश अध्यापक राधाकृष्णन् ने भारतीय धर्म के प्रति ईसाई धर्म के दृष्टि-कोण के इतिहास का भी प्रतिपादन किया है, और भारत के राजनैतिक इतिहास से उस की समानता का परिचय कराया है। इसी व्याख्यान में उन्हो ने एक स्थान पर लिखा है कि ज्ञानवान् मनुष्यों के लिए मिलन का प्रयत्न करने का प्रयत्न विलग करने के प्रयत्न की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होता है। तृतीय और चतुर्थ व्याख्यान मान्चेस्टर कालेज के गिरजाघर में दिए हुए उपदेश हैं। इन में कविता के गुण विद्यमान हैं। इन को पढ़ कर यह मान लेना पड़ता है कि ने अवश्य ही कवि-हृदय पाया है

अंतिम व्याख्यान में रवींद्रनाथ ठाकुर के महत्व का प्रतिपादन किया गया है। यह व्याख्यान कलकत्ते में कवि की ७०वीं वर्षगाँठ के उत्सव में दिया गया था।

'फ्रीडम एंड कल्चर' (संस्कृति और स्वातंत्र्य) अध्यापक राधाकृष्णन् की अद्या-वधि प्रकाशित पुस्तकों में सब से अंतिम है। यह भी मद्रास से निकली है। पुस्तक में सन् १९२७ से १९३६ तक के सात समावर्तनोपदेश (कन्वोकेशन एड्रेसेज़) संग्रहीत हैं और तीन विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं में विद्यार्थियों को दिए हुए अन्य व्याख्यान हैं। इस संग्रह में अध्या-पक राधाकृष्णन् के शिक्षा एवं राजनीति-संबंधी विचारों का परिचय प्राप्त होता है, और यह भी पता चलता है कि व्यवहारिक जीवन का आदर्श उन की सम्मति में क्या होना चाहिए। शिक्षा-क्षेत्र में अध्यापक राधाकृष्णन् भारत के पुरातन ज्ञान और आध्यात्मिक दृष्टिकोण के समर्थक हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। उन का विचार है कि यदि भारतीय विद्यार्थियों को ज्ञान-क्षुधा-जन्य मृत्यु से आत्मरक्षा करनी है तो उन को अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित ज्ञान-राशि को पचा कर आत्मसात् करना ही होगा। ऐसा करने पर ही हम विदेशी ज्ञान को पचा कर जीवनोपयोगी बना सकेंगे। इस के बिना हमारा अध्ययन अर्द्धपक्व भोजन के सदृश केवल विकार-पोषक मात्र बन सकेगा। पर भारतीय ज्ञान की उपलब्धि के साधनों और प्रकारों को बदलना आवश्यक है। शिक्षा के क्षेत्र में घोर परिवर्तनवादी तो भूत-कालीन ज्ञान के पूर्ण परित्याग पर ज़ोर देते हैं, तथा अपरिवर्तनवादी 'द्वादशवर्षं व्याकरणो श्रूयते' के पक्ष को नहीं छोड़ना चाहते। इन उभय अतिवादियों के मध्य में कौन मार्ग अनु-सरणीय है? अध्यापक राधाकृष्णन् आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के गुण-दोषों से जितना परि-चित हैं, वैसे बहुत कम अन्य व्यक्ति होंगे। उन का विचार है कि यह शिक्षा-प्रणाली सर्वथा निर्दोष न होते हुए भी साम्य-भाव, विवेक-प्रियता, इत्यादि की जननी एवं अंधविश्वासों और दुराग्रहों को निवारण करने वाली सिद्ध हुई है, और इस से भारत का उपकार हुआ है। राजनीति के क्षेत्र में अध्यापक राधाकृष्णन् भारत के लिए पूर्ण प्रजातंत्र-शासन के पक्ष में हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अध्यापक राधाकृष्णन् अंग्रेज़ जाति और भारत के संबंध को अभीष्ट समझते हैं, पर गत-वर्षों की राजनैतिक स्थिति ने अंग्रेज जाति में उन की श्रद्धा को जबरदस्त धक्का पहुँचाया है। इस धक्के के प्रभाव को हम अनेक स्थलों पर उन के व्याख्यानों में प्रतिध्वनित पाते हैं। पर साथ ही साथ यह भी स्पष्ट ही है कि वह अभी तक इस दिशा में पूर्णतया निराश नहीं हुए हैं क्योंकि किसी भी परिस्थिति में निराश होना तो

उन के मानसिक गठन के विरुद्ध हैं। इस पुस्तक को पढ़ने से पता चलता है कि वे विद्यार्थियों में सच्चरित्रता, स्वाभिमान, देशप्रेम, विवेकप्रियता तथा सक्रियता आदि सद्गुणों को देखना चाहते हैं। उन्नति के इसी सरल-सोपान से उन का परिचय है और इसी का वह उपदेश करते हैं।

इस लेख के लिखे जाने के अनंतर सर राधाकृष्णन् की कुछ अन्य रचनाएं प्रकाशित हुई हैं। 'दि वर्ल्ड्स अनबॉर्न सोल' (विश्व की अजात आत्मा) प्राच्य धर्मों के आचार्य के पद पर से दिया हुआ वह प्रारंभिक व्याख्यान है, जो उन्हों ने आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में दिया था। यह व्याख्यान इतना लोक-प्रिय हुआ कि अब इस की प्रतियां अप्राप्य हैं। 'रेलिजन इन ट्रांजिशन' नामक ग्रंथ में इन्हों ने अपना आत्मचरित 'माइ सर्च आफ्टर ट्रुथ' (मेरा सत्यानुसंधान) शीर्षक दे कर लिखा है। 'कंटेंपोरेरी इंडियन फिलासफ़ी' (समकालीन भारतीय दर्शन-विचार) नामक पुस्तक में, जिस का संपादन इन्हों ने ही किया है, राधाकृष्णन् का 'दि स्पिरिट इन मैन' (मानवीय आत्मा) शीर्षक लेख सन्निविष्ट है। 'हेरिटेज अव् इंडिया' नामक ग्रंथ में इन का हिंदू-धर्म और सभ्यता पर 'हिंदूइज़्म' नामक लेख निकला है। श्री रामकृष्ण परमहंस की पुण्य-स्मृति में प्रकाशित 'कल्चरल हेरिटेज अव् इंडिया' नामक विशाल ग्रंथ के लिए राधाकृष्णन् ने एक सुविस्तृत एवं सारगर्भित भूमिका लिखी है। इन के अतिरिक्त ब्रिटिश इंस्टिट्यूट अव् फिलासफ़ी की त्रैमासिक पत्रिका 'फिलासफ़ी' में उन का एक व्याख्यान 'विकासवाद एवं जीवनसार' नाम से प्रकाशित हुआ है। यह व्याख्यान सर राधाकृष्णन् ने उक्त संस्था की अवधानता में प्रस्तुत वर्ष के आरंभ में दिया था। इस में उन्हों ने यह बतलाया है कि सक्रिय आध्यात्मिकता ही जीवन का पूर्ण विकास है।

(४)

यह प्रश्न अत्यंत स्वाभाविक है कि अध्यापक राधाकृष्णन् के दार्शनिक विचार क्या हैं। उन के अद्यावधि प्रकाशित ग्रंथों की पृष्ठ संख्या ३००० से ऊपर होगी। इस ग्रंथ-राशि को मथ कर थोड़े से वाक्यों में उस का सार उपस्थित कर देना कठिन है अब तक ऐसा

पक राधाकृष्णन् का नाम पाश्चात्य जगत में प्रख्यात है बहुत से आदमी संक्षेप में उन के विचारों से परिचित होना चाहते हैं। ऐसे ही एक महाशय ने जोड की पुस्तक पढ़ कर तथा उन के विचारों से संतुष्ट न हो कर सीधा अध्यापक राधाकृष्णन् को ही पत्र लिखा। अध्यापक राधाकृष्णन् ने उन महाशय को लिख भेजा कि यदि आप मेरे दार्शनिक दृष्टि-कोण को जानना चाहते हैं तो मेरे ग्रंथों को पढ़िए, केवल प्रो० जोड का दिया हुआ परिचय पर्याप्त नहीं है। एक बात का ध्यान उन के ग्रंथों का अध्ययन करते समय में रखना उचित है। अध्यापक राधाकृष्णन् के अधिकांश ग्रंथ भारतीय संस्कृति एवं दर्शन-शास्त्र का स्पष्टीकरण ही करते हैं, अतएव उन की मौलिकता, शैली एवं दृष्टि-कोण तक ही परिमित है। 'ऐन आइडियलिस्ट व्यू अव् लाइफ' अवश्य ऐसा ग्रंथ है जिस में उन्हों ने अपने मनन के निष्कर्ष को स्वतंत्र रूप में अभिव्यक्त किया है। अतएव जो सज्जन संपूर्ण ग्रंथों को न पढ़ सकें वे केवल इसी ग्रंथ को पढ़ सकते हैं। यद्यपि शैली एवं कल्पना के औदार्य में यह ग्रंथ कवि एवं उपन्यासकार से प्रतिस्पर्द्धा करने वाला है, तथापि यह न भूल जाना होगा कि है यह ग्रंथ दर्शन-शास्त्र का ही।

राधाकृष्णन् सत्य के अनन्य-भक्त हैं। उन का कहना है कि सत्य के अनुसरण का परिणाम चाहे कुछ भी हो, सत्य की खोज चाहे हमें कहीं भी ले जाय, हम को सत्य का ही अनुसरण करना चाहिए। विवेक-भ्रष्ट हो जाना उन के मत में घोरतम पतन है। विवेक के नेतृत्व को स्वीकार कर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह जगत नाना-रूपों में एक अद्वैत शुद्धचैतन्य तत्वसत्ता की लीलात्मक अभिव्यक्ति अथवा रचना है। वही सारतत्व सर्वत्र वर्तमान है और मनुष्य की आत्मा में भी उस की ज्योति का अस्तित्व है। जीवात्मा तथा विश्वात्मा में अद्वैत भाव है। जगत के मूल में निवास करने वाली सत्ता वास्तव में आध्यात्मिक सत्ता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि अद्वैतवाद एवं ईश्वरवाद में विरोध है पर अध्यापक राधाकृष्णन् के मत में अद्वैतवाद एवं ईश्वरवाद में कोई विरोध नहीं है। मानव-जीवन में भी वही सत्ता अनुस्यूत है अतएव उस का अनुभव सब के लिए संभव है, और बहुतों ने उस का अनुभव किया है। धार्मिक भावना के मूल में उसी परमार्थ सत्य के साक्षात्कार का रहस्य निहित है, और इस साक्षात्कार के बिना धर्म केवल दिखावे की वस्तु रह जाता है। मानव-जीवन की साधना का एकमात्र ध्येय उस निर्विशेष सत्ता का अपरोक्ष अनुभव प्राप्त करना है सक्रिय जीवन में अध्यापक राधाकृष्णन्

शकर के निवृत्तिमार्ग को स्वीकार न कर के प्रेम और लोकसंग्रह की भावना से अनुप्राणित जीवन के समर्थक है। समाज-सुधार का दम भरने वालों के लिए उन के निम्नलिखित वाक्य सर्वदा स्मरणीय हैं---"दीन और खोए हुओं के प्रति सहानुभूति और उन को समझने के लिए उन के घावों का धोना और धब्बों को साफ़ करना आवश्यक है। एक मनुष्य की आत्मा अपने को दूसरे के प्रति केवल प्रेम और सहानुभूति द्वारा प्रकट करती है, प्रश्नोत्तर और तर्क द्वारा नही। यह सहानुभूति-पूर्ण प्रेम की भूखी है और नीरस जिज्ञासा से दूर रहने वाली।"

इन थोड़े से वाक्यों में अध्यापक राधाकृष्णन् के दार्शनिक विचारों का जो अत्यत सक्षेप विवरण दिया गया है उस पर अनेक आक्षेप किए जा सकते हैं। जीवात्मा एवं परमात्मा मे यदि अद्वैतभाव है तो मानव-जीवन में अपूर्णता क्यों है? यदि आधारभूत सत्ता सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है, तो संसार में दुःख, दैन्य, अज्ञान इत्यादि क्यों डेरा डाले हुए है? उक्त सिद्धांत को स्वीकार कर लेने पर जीवन साधना और सुधार का क्या प्रयोजन है, इत्यादि अनेक प्रश्न किए जा सकते है। अध्यापक राधाकृष्णन् ने अधिकांश आक्षेपो के अत्यंत विश्रंभोत्पादक उत्तर दिए हैं। उन के बहुत से समाधान शकाओं को निर्मूल कर देते हैं, पर कुछ शंकाएं अवश्य ऐसी है जिन का समाधान राधाकृष्णन् ही क्या किसी दार्शनिक के पास नही है। जीवात्मा एवं ब्रह्म मे अद्वैत स्वीकार कर लेने पर जीवात्मा की अपूर्णता का परिहार इस प्रकार किया गया है कि 'मनुष्य में ईश्वर न केवल वस्तुतः है वरन् साधना-रूप भी विराजमान है'। यदि यह समाधान स्वीकार हो तो साधना एवं सुधार भी व्यर्थ नही है, यह मानना ही पडेगा। दुःख-दैन्य का समाधान यह है कि पूर्णता की साधना के मार्ग मे कष्ट का होना अवश्यभावी है। ऊँचे चढ़ने में कष्ट और नीचे गिरने में सरलता स्वाभाविक ही है। पर इस शंका का क्या समाधान है कि विश्वात्मा ने अज्ञानान्वित जीवो की क्यों सृष्टि की? गौडपादाचार्य ने इन सब झमेलों को मिटाने के लिए अजातवाद सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। राधाकृष्णन् के ग्रंथों को पढ़ने से वह संभवतया अजातवाद से सहमत नहीं जान पड़ते। और फिर स्वयं अजातवाद भी कोई विशेप विश्वासोत्पादक समाधान नहीं है। यद्यपि अध्यापक राधाकृष्णन् के ग्रंथों में कुछ समस्याओं के उत्तर नहीं हैं, तथापि सच्ची धार्मिक साधना एवं उस की सार्थकता का जितना अच्छा विवरण उन के ऐन व्यू अव लाइफ म दिया गया है वैसा

अन्यत्र दुर्लभ है। शंकराद्वैत का भक्ति-भावना के साथ जैसा सुंदर समन्वय अध्यापक राधाकृष्णन् ने किया है, देखते ही बनता है। साथ ही साथ उन्हों ने पाश्चात्य विज्ञानों की विचार-पद्धति का विवेचन करके स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि विज्ञान के मूल में भी अध्यात्मतत्व निहित है।

अध्यापक राधाकृष्णन् की रचनाओं एवं उन की विद्वत्ता पर अनेक विद्वानों ने आक्षेप किए हैं। भारतवर्ष में ही ऐसे पंडितमानियों का अभाव नहीं है जो यह कहते हैं कि अध्यापक राधाकृष्णन् भारतीय-दर्शन का गंभीर ज्ञान नहीं रखते। एक महाशय तो यहां तक कहते सुनें गए है कि राधाकृष्णन् को न भारतीय दर्शन का ज्ञान है न पाश्चात्य दर्शनों का; वह तो केवल एक 'पत्रकार' है। पंडित लोग कठिन शैली के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की रचना का स्वागत नहीं करते। राधाकृष्णन् का अपराध यह है कि उन्हों ने दार्शनिक विचारों को सुचारु और सरल रूप दे कर उन को सर्व-साधारण को बोध-गम्य बना दिया है। रही भारतीय दर्शन के पूर्ण ज्ञान की बात; इस विषय में विचारणीय बात यह है कि कोई भी एक व्यक्ति संपूर्ण भारतीय दर्शन के सब अगों का समान ज्ञान रखने का दावा नहीं कर सकता। इस बात को अध्यापक राधाकृष्णन् ने 'भारतीय दर्शन' के प्रथम भाग की भूमिका में स्पष्टतम रूप में स्वीकार किया है। यह संभव हो सकता है कि उन के 'भारतीय दर्शन' के कुछ अंश दूसरे अंशों के समान उच्च कोटि के न हों पर इस में तनिक भी संदेह नहीं है कि उन्हों ने भारतीय दर्शन एवं संस्कृति का जैसा स्पष्ट साक्षात्कार किया है, वैसा शायद ही किसी अन्य भारतीय दार्शनिक ने किया हो। कुछ अत्यंत उच्च कोटि के भारतीय विद्वानों ने उन की विद्वत्ता को स्वीकार किया है। कलकत्ता विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध अद्वैती प्रो० कोकिलेश्वर भट्टाचार्य शास्त्री ने उन के 'भारतीय दर्शन' के अंतर्गत गीता के विवेचन का बँगला में अनुवाद किया है। कोकिलेश्वर शास्त्री जैसा विश्वविश्रुत विद्वान् अध्यापक राधाकृष्णन् की रचना के अनुवाद का परिश्रम स्वीकार करे इस से बढ़ कर प्रमाण राधाकृष्णन् के पांडित्य का क्या हो सकता है? म० म० अनंतकृष्ण शास्त्री अद्वैतवाद एवं मीमांसा दर्शन के बेजोड़ पंडित हैं। उन्हों ने अपनी 'वेदांत-परिभाषा' की टीका की भूमिका अध्यापक राधाकृष्णन् से लिखवाई थी। जिन लोगों का यह कहना है कि अध्यापक राधाकृष्णन् संस्कृत नहीं जानते, वे इस भूमिका को पढ कर अपने निर्णय की समीक्षा कर लें तो अच्छा हो म० म० प०

विशिष्टाद्वैत के अप्रतिम आचार्य है। उन्हों ने अपने हाल ही में प्रकाशित हुए ग्रंथ की भूमिका राधाकृष्णन् से ही लिखवाई हैं। जो व्यक्ति इन पुराने ढर्रे के पंडितो के स्वभाव से परिचित हैं वह स्वयं समझ सकते हैं कि वे लोग जिस किसी का इस प्रकार सम्मान न करेंगे।

जैसे भारतवर्ष मे अध्यापक राधाकृष्णन् के प्रशंसक एवं निंदक विद्यमान है उसी प्रकार पाश्चात्य देशों में भी हैं। वहां कुछ ऐसे व्यक्ति वर्तमान है जो वर्तमान भारतीय जाग्रति को ईसाई धर्म के प्रभाव से उत्पन्न मानते हैं। विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर के दार्शनिक विचारों की समीक्षा करते हुए स्वयं अध्यापक राधाकृष्णन् को ऐसे आलोचको की युक्तियों का खंडन करना पड़ा था। राधाकृष्णन् के विचारों में भी उक्त आलोचको को ईसाइयत का गहरा प्रभाव दिखलाई पड़ा है, और उन के विषय में उन के पास सब से बड़ी दलील है यह कि राधाकृष्णन् की सारी शिक्षा ईसाई शिक्षणालयों में हुई है। क्या हम इन तार्किकमन्य विद्वद्पुंगवों से पूछ सकते हैं कि क्या उन शिक्षणालयों में उन के अतिरिक्त किसी दूसरे विद्यार्थी ने शिक्षा नहीं पाई? और यदि पाई तो उस ईसाइयत की शिक्षा के जादू से कम से कम एक भी दूसरा राधाकृष्णन् क्यों न बन सका? स्वय राधाकृष्णन् तो ज्ञान के क्षेत्र में पूर्व और पश्चिम एवं हिंदू और ईसाई का भेद स्वीकार करते ही नही है, अतएव वह अपने ईसाई गुरुओं के प्रति अत्यंत श्रद्धा का भाव रखते हैं। पर इस के विपरीत मेरे अनुभव में एक नया ही विचार आया है। मैंने अपने एक धार्मिक दृष्टिसंपन्न मित्र को अध्यापक राधाकृष्णन् की 'हार्ट अव् हिंदुस्तान' नामक पुस्तक पढ़ने को दी। उन्हों ने पुस्तक पढ़ कर लौटाने पर मुझ से कहा कि इस पुस्तक में ईसाई धर्म पर जो अध्याय है उस से पता चलता है कि लेखक ने ईसाई धर्म को ठीक-ठीक नही समझा है। उक्त सम्मतियों से जो निर्णय निकलता हो पाठक स्वय निकाल लें।

पर पाश्चात्य देशों में अध्यापक राधाकृष्णन् के प्रशंसकों की संख्या ही अधिक है। अध्यापक म्यौरहैड इंग्लैंड के जीवित दार्शनिकों में अत्यंत निर्मल-दृष्टि-संपन्न हैं। उन्हो ने राधाकृष्णन् की 'ऐन आइडिलिस्ट व्यू अव् लाइफ़' की समीक्षा में लिखा था "उन (राधाकृष्णन्) में एक अमूल्य गुण है अर्थात् वह महान् यूरोपीय और उसी प्रकार महान् एशियाई विचारो की परपरा से अभिज्ञ हैं और इन दो परपराओ के बीच कहा

जा सकता है कि संसार का आध्यात्मिक ज्ञान समाविष्ट है। अतएव वह एक दार्शनिक बहुभाषिए के तुल्य है।"

प्रो० जोड ने सुप्रसिद्ध यूनानी विद्वान् और दार्शनिक प्लेटो एवं राधाकृष्णन् के विचारो में अनेक स्थलों पर समानता पाई है। लार्ड हाल्डेन राधाकृष्णन् के निर्मल ज्ञान पर मुग्ध थे। इसी प्रकार प्रिंसिपल जैक्स, प्रो० कार्पेटर, डा० वाइस इत्यादि चोटी के विद्वान् राधाकृष्णन् के प्रशंसकों में हैं।
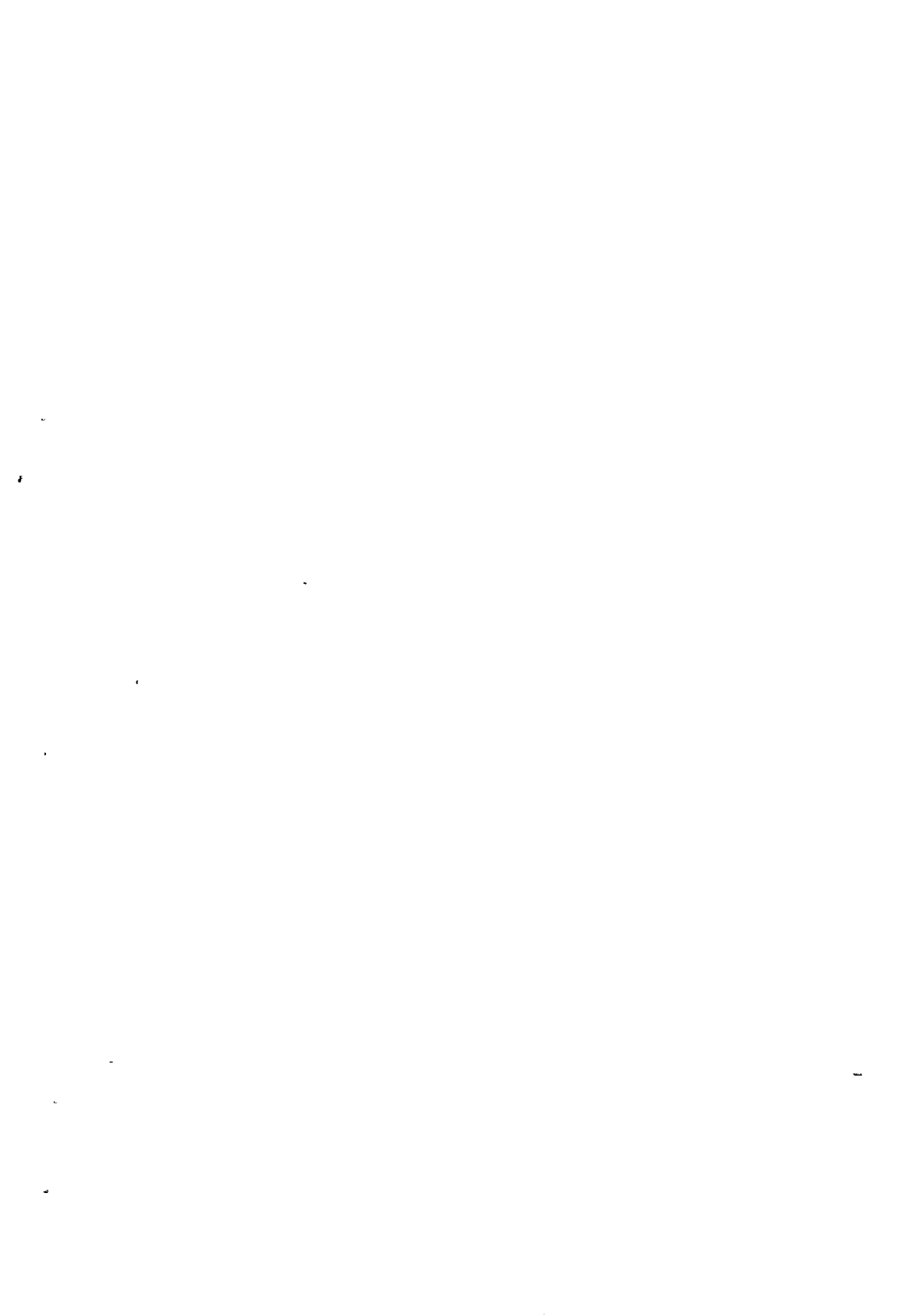
भारतीय-मुस्लिम वास्तुकला के आदर्श

[लेखक—डाक्टर बनारसीप्रसाद सक्सेना, एम्० ए०, पी-एच्० डी० (लंदन)]

किसी देश की वास्तुकला उस देश के अतीत गौरव तथा वर्तमान निष्पत्ति का जीना-जागता लेखा है; और कुछ अंशों में भविष्य-विषयक जातीय ईप्सा का द्योतक भी है। भारतीय वास्तुकला का सांगोपांग इतिहास यथार्थ में अभी लिखा ही नहीं गया। कतिपय यूरोपीय लेखकों ने इस विषय पर पुस्तकें अवश्य लिखी हैं, परंतु उन्हों ने जो कुछ भी लिखा है वह यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो या तो यूरोपीय दृष्टिकोण से उत्पन्न किसी कल्पना की व्याख्या है, या किसी विशेष विचार-बिंदु की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से पृथक् की हुई और अतिशयोक्तिपूर्ण विवेचना।

भारतीय कला के साधारण स्वरूप के विषय में विचार प्रकट करते हुए विंसेंट स्मिथ महोदय ने लिखा था—"हिंदुस्तान की भूमि पर रची हुई कृतियां बहुत कुछ विदेशी उत्पत्ति की हैं, और ऐतिहासिक दृष्टि से उन्हें विदेशी शैलियों का स्थानीय रूपांतर मात्र समझना चाहिए।" वही महोदय यह भी लिखते हैं कि—"हिंदुस्तान की विशिष्ट मुस्लिम कला सब की सब विदेशी है, और मक्का, इस्फ़हान तथा क़ुस्तुनिया की शैलियों के आधार पर रची गई है। मुग़ल-काल की भारतीय-मुस्लिम कला मुख्यतः ईरानी है, और सम्यक् तर्क के सिद्धांत पर उस की विवेचना ईरानी कला के परिशिष्ट के रूप में की जानी चाहिए न कि हिंदुस्तानी कला की एक शाखा के रूप में।" इसी प्रकार के मत कई अन्य लेखकों ने भी प्रकट किए हैं। परंतु इस का श्रेय डाक्टर आनंदकुमार स्वामी और ई० बी० हैवेल महोदय को है, कि उन के निरंतर प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप आज 'विशेषज्ञों' के हिंदुस्तानी कला के संबंध में विचारों में परिवर्तन हो रहा है।

हिंदुस्तानी कला का अपना एक आदर्श रहा है, यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती। संभव है यह बात उन लोगों को प्रतीत न हो जो वस्तुओं पर अमरीका के सैलानियों जैसी दृष्टि डालते हैं। परंतु जो भी इस विषय में तनिक सूक्ष्मता के साथ पैठेगा वह यह

अनुभव किए बिना न रहेगा कि इस की अपनी विशेषताएं हैं, कल्पना-संबंधी बारीकिया है, और रचना-विषयक विशालता है। साधारण रीति से यह बताया जाता है कि हिंदू शिल्प धार्मिकता का पुट लिए हुए है परंतु बहुत कम लोगों ने इसे व्यक्त करने का प्रयत्न किया है कि यह शिल्प धर्म के आदर्शों की किस भांति पूर्ति करता है और हिंदू धार्मिक विचारो की महत्ताओं को यह किस भाँति निर्दशित करता है। खजुराहो, भुवनेश्वर और मदुरा के मंदिर; अजंता, एलोरा और बाग की गुफाए; साँची, भारहुत और अमरावती के स्तूप—इन के विस्तृत वर्णन हुए हैं, परंतु इस बात का बहुत कम प्रयत्न हुआ है कि इन स्मारको का संबंध उन लोगों के जीवन तथा विचार से दिखाया जाय जिन की यह वास्तव मे कृतिया हैं, जिन्हें हम आज इतनी प्रशंसा की दृष्टि से देखते हैं।

इसी प्रकार की कमी उन लोगों के विषय में भी अनुभव में आती है जिन्हों ने भारतीय-मुस्लिम वास्तुकला के संबंध में लिखा है। इस की उत्पत्ति, विशेषताओं आदि के विषय मे जो अनेक भिन्न मत प्रकट किए गए हैं उन्हे देखते हुए यही कहा जा सकता है कि लेखको को तत्कालीन सामाजिक और मानसिक जीवन का या तो ज्ञान ही नही रहा है, या उन्हो ने अपने विषय को एक प्रकार से उस जीवन से पृथक् रख कर प्रतिपादित किया है। किसी भी जाति के उच्चतम आदर्शों का सार हमें उस जाति की कला में मिलता है और हम उस का सम्यक् अध्ययन उस समय तक नहीं कर सकते जब तक हम उस वातावरण से परिचय न प्राप्त करें जिस में वह पली और पुष्ट हुई है।

अपनी पृष्ठभूमि से अलग हो कर भारतीय-मुस्लिम वास्तुकला भारतीय संस्कृति से एक असंबद्ध चीज़ जान पड़ती है। वास्तव में वह ऐसी है नहीं।

भारतीय-मुस्लिम वास्तुकला के आदर्शों की विवेचना करने से पूर्व यह बात नितांत आवश्यक जान पड़ती है कि उस भ्रम का निराकरण हो जाय, जो फ़र्गुसन और विंसेंट स्मिथ द्वारा दिए गए अशुद्ध नामकरण के कारण उस कला के साथ संबद्ध हो गया है। फ़र्गुसन इसे 'इंडो-सारसेनिक' और विंसेट स्मिथ 'इंडो-पर्शियन' कहते हैं। दूसरे शब्दों में, एक का यह विश्वास है कि भारतीय-मुस्लिम वास्तुकला को प्रेरणा तथा आदर्श अरब से मिले हैं और दूसरे का मत है कि फारस या ईरान से निर्माण-संबंधी सूक्ष्मताओं

की ईरानी और भारतीय शैलियों में एक प्रकार का सादृश्य है, फिर भी उन दोनों के आदर्श जुदा हैं, उन की प्रेरणाएं भिन्न हैं।

इस प्रकार का उदाहरण देना किंचित भद्दा अवश्य होगा, परंतु यदि उर्दू या हिंदी भाषा रोमन लिपि में लिखी जाय तो क्या वह एक यूरोपीय भाषा बन जायगी ? अथवा क्या अंग्रेजी के विषय में इटालियन, फ़रांसीसी या जर्मन होने का शंका हो सकता है—केवल इसी लिए कि वह भी रोमन लिपि में लिखी जाती है ? एक लिपि होते हुए भी भाषाओं के विषय में जो बात सत्य पड़ती है वही फ़ारसी अथवा ईरानी और हिंदुस्तानी वास्तुकला-शैलियों के विषय में भी यथार्थ आती है। अर्थात् बाहरी साम्य के प्रत्युत यह भिन्न हैं। दोनों देशों की प्रेरणाएं भिन्न है ; ईरान और भारत के वातावरण न एक हो सकते थे, न थे। दोनों देशो के निवासियों मे भिन्नता थी। अतएव उन के आदर्श एक कैसे होते ? यह कहना कि चूँकि हिंदुस्तान के शासकों और ईरानियों का धर्म एक था इस लिए दोनों ने अपनी प्रेरणाएं अरब से प्राप्त की नितांत व्यर्थ है। अरब के पास तो अपना वास्तुकला का कोई आदर्श था भी नही। सारसेनी नमूने, जिन की उत्पत्ति इस्लाम के जन्म के बाद हुई, ऐसे थे जिन्हों ने अधिकाश उस देश के बाहर विकास पाया—या तो सिरिया में, या मिश्र में, या स्पेन अथवा ईरान में। जिस अर्थ में इस्लाम अरब की देन है, उस अर्थ में यह अरब की देन नही कहला सकते।

यदि इस्लाम के भारतीय धर्म से संपर्क ने यहां के निवासियों की भक्ति-भावना को सचेत किया और भक्ति-आंदोलन प्रचारित किया, जिस का प्रभाव स्वयं तत्कालीन सूफी विचारों पर हुए बिना न रह सका, यदि हिंदुस्तान के निवासी फ़ारसी भाषा तक की शैली और भाव में परिवर्तन लाने में समर्थ हुए, तो यह अनुमान कठिन न होना चाहिए कि यदि विजेता नए आदर्शों को ले कर इस देश में उतरे (जो कई कारणों से संदिग्ध है) तो वे आदर्श शीघ्र ही स्थानीय परंपरा में मिल-जुल गए। इस लिए वास्तुकला की इस शैली को भारतीय-ईरानी अथवा भारतीय-सारसेनी कहना अशुद्ध होगा, क्योंकि इस प्रकार का नामकरण विदेशी अंश पर अत्यधिक ज़ोर देता है। इसे भारतीय-मुस्लिम कहना अधिक उचित होगा क्योंकि यह हिंदुस्तान में मुस्लिम शासकों के समय में विकसित हुई।

परंतु की इस शैली के से महत्व का प्रश्न यह है कि इस के

आदर्श क्या रहे है। इस के निर्माण के भीतर क्या प्रेरणाएं काम करती रही है। इस संबंध मे यह बता देना अनुचित न होगा कि सौंदर्य-संबंधी रुचियां नैतिक आदर्शों की भांति स्थिर नही होती वरन् परिवर्तनशील होती हैं। जहां तक स्थापत्य-कला का संबंध है, अनेक प्रभाव ऐसे हैं जो परिवर्तन उपस्थित करते रहते है। इन मे व्यक्तिगत रुचि, राज-नैतिक तथा सामाजिक वातावरण, और विशेषतया कारीगरों की व्यक्तिगत योग्यता तथा समय-विशेष पर सामग्रियो की उपलब्धि है। भारतीय-मुस्लिम स्थापत्य-कला पर विचार इस कारण से भी सीमित हो जाता है कि प्राय: जितनी इमारतें बची हुई है, वह शासकों या राजाओं द्वारा बनवाई गई हैं। इस से हमें साधारण जनता के आदर्शों का या उन की निर्माण-पद्धति का पता नही चलता।

मुस्लिम इस देश मे विजेताओ के रूप में आए, और कई सदियों तक देश में उन की स्थिति का आधार बल-प्रयोग रहा। उन की स्थिति देश-निवासियो के लिए अप्रिय रही और वह अवसर पाने पर शासन को उलट देने के लिए उद्यत रहे। विरोध के इस वातावरण तथा साधारण अरक्षित स्थिति ने शासकों को ऐसी इमारते बनाने के लिए विवश किया जिस में कि वैरियों तथा आततायियो से रक्षा का ध्यान मुख्य रहा। इस के अतिरिक्त प्रत्येक शासक सिपाही होता था और वह फ़ौजी आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण करता था। ऐसी दशा में एक ही प्रकार की इमारत की ओर उस का ध्यान जाना स्वाभाविक था और वह थी क़िला या दुर्ग। इस के अर्थ यह नही हैं कि मुस्लिमो की बनवाई हुई प्रत्येक इमारत क़िला है; लेकिन प्रत्येक निर्माण-कार्य में यह दुर्ग अथवा रक्षा का आदर्श किसी न किसी रूप में उपस्थित अवश्य रहा। बड़ी मोटी और ऊँची दीवारे जिन के ऊपर पनाहें बनी हुई हैं, दीवारों में उचित स्थलों पर ठोस लकड़ी के लोहे के फ़र्मे मे कसे हुए भारी दरवाजे, जिन में लोहे के मोटे काँटे जड़े हुए है—इस शैली की भारतीय-मुस्लिम काल की प्रमुख इमारते है। इस प्रकार की दीवारें महलों, मक़बरों, मसजिदों, बाग़ों के चारों ओर बनी होती थी। मध्य-युग में यह सुदृढ़ दीवारें भीतरी इमारतों की वैरियों से रक्षा किया करती थी, और आज भी यह समय और जलवायु की अवहेलना करती हुई दिखाई देती हैं।

नागरिकों मे बादशाह का पद सब से मुख्य और प्रतिष्ठित था और इसी कारण वह उतना ही आपद्ग्रस्त भी था वह शासक जनता का नेता न्याय वितरण करने वाला

तथा जीवन और संपत्ति की रक्षा करने वाला था। जब तक वह अपनी प्रजा पर आतंक बनाए रख सके तभी तक वह अपनी स्थिति सुरक्षित रख सकता था। दूसरे शब्दों में बादशाह के सम्मान को बनाए रखने की आवश्यकता प्रबल थी। इस के कारण दरबार की आडंबर-पूर्ण शिष्टता का जन्म हुआ, शानदार जलूसों की आयोजना की गई और अन्य ढंग निकाले गए परंतु इन में सब से अधिक प्रभावशाली ढंग था बादशाह के लिए विशाल महलों का बनाया जाना। महल ऐसे विशाल बनते कि साधारण जनता उन्हें देखने मात्र से चकाचौंध हो जाती थी। बलबन का विशालता और शक्ति का प्रेम कहावत बन गया है। उस ने अपने लिए कोशक लाल नाम का महल बनवाया। उस की मृत्यु के उपरांत साम्राज्य में घोर अशांति फैली जिस के परिणाम-स्वरूप राज्य-क्रांति हुई। जलालुद्दीन फ़ीरोज़ ने अपने को बादशाह घोषित किया और गद्दी पर बैठा। परंतु जब वह ताजपोशी के लिए दिल्ली गया और वहां वह लाल कोशक के सामने पहुंचा तो उस पर कुछ ऐसा आतंक छाया कि वह घोड़े पर से उतर पड़ा और पहले की भाँति उस में पैदल प्रविष्ट हुआ। गद्दी, ताज, और राजदंड की भाँति महल भी बादशाहत का चिन्ह था और बादशाह की महत्ता का अनुमान उस के महलों की विशालता को देख कर किया जाता था।

इस संबंध में यह जान लेना मनोरंजक होगा कि अंध-विश्वास और गर्व द्वारा भी भारतीय-मुस्लिम वास्तुकला को बड़ी प्रेरणा प्राप्त हुई है। पठान-वंश के सुल्तान इस बात को शुभ नहीं मानते थे कि साम्राज्य का शासन पुरानी राजधानी अथवा पुराने शासक के महल से किया जाय। अतएव दिल्ली का प्रत्येक नया बादशाह जो गद्दी पर बैठा उस ने या तो अपने लिए नया महल निर्माण किया, या अपनी राजधानी का स्थल बदल दिया। 'पृथ्वी पर ४५ वर्ग मील का कोई दूसरा स्थल इतिहास के विद्यार्थियों के लिए इतने दिलचस्पी का नहीं है जितना कि वह स्थल जहां क्रमशः दिल्ली के सुल्तानों ने अपने निवास बनाए। कायकुबाद ने राजधानी दिल्ली से हटा कर किलोखारी में बनाई; इसी का नाम जलालुद्दीन फ़ीरोज़ खिलजी ने बदल कर शहरे-नौ रक्खा। सिरी, तुगलक़ाबाद, फ़ीरोज़ाबाद, शाहजहाँनाबाद, अपने-अपने ढंग से उन सुल्तानों की आकांक्षाओं के स्मारक हैं, जिन के नामों के साथ वह संबद्ध हैं।

राजधानी बदल देने का विचार सुल्तान-वंश के शासकों तक ही सीमित नहीं था। मुग़लों के समय में भी राजधानी का आगरा से सीकरी में बदला जाना और बाद में शाह

जहां के समय में आगरा से दिल्ली बदला जाना तो था ही, हमें इस बात के भी प्रमाण मिलते है कि बादशाह लोग यदि अपनी राजधानियों को नहीं तो अपने खास महलों को सजाने का तथा अपने अन्य प्रिय स्थलों की उन्नति का विशेष ध्यान रखते थे। लाहौर, काबुल और काश्मीर अब तक इस वंश के शासकों की निर्माण-संबंधी रुचि और कला-प्रेम का परिचय अपने अवशेषों द्वारा देते है।

दूरस्थ प्रांतों में हम यही बातें होते हुए देखते है। मालवा, धार, माँडू में, बंगाल, गना, पांडुआ, राजमहल में, गुजरात, अहमदाबाद, चंपानेर में, कुल्बर्ग और बिदर मे बहमनियों के यहां और गुलबर्ग और हैदराबाद में क़ुत्बशाहियों के यहां राज-व्यवस्था ऐसी थी कि इन भिन्न नगरों की प्रतिष्ठा राजधानी की भाँति थी। इन सभी जगहो मे शासकों के परिवर्तन के साथ नए निर्माणों की बहुतायत होती थी, जिन के द्वारा वास्तु-कला की भारतीय-मुस्लिम शैली में निस्संदेह बहुत विकास हुआ। और इस कारण कि प्रत्येक शासक अपनी प्रतिष्ठा के लिए नई इमारतें बनवाता, उन्नति की प्रगति तेज़ रही होगी।

प्रारंभिक सुल्तानों के समय के सैनिक वातावरण ने उन्हें मजबूर किया कि वे ऐसी इमारतें बनावें जो कि विशाल हों और जिन्हे देख कर भय उत्पन्न हो। मुस्लिम सैनिक थे ही, अतएव स्थापत्य-कला में भी उन्हों ने एक दृढ़ और बलयुक्त शैली का समर्थन किया। उत्साह के आधिक्य ने उन्हें बड़ी अलंकृत शैली ग्रहण करने पर विवश किया। इस का यह भी कारण हो सकता है कि उन पर हिंदू शैली से संपर्क की प्रतिक्रिया का असर रहा हो।

हिंदू निर्माणकार मुख्यतया शिल्पकार था। उस की कला का रहस्य ही अलंकारिकता मे था। वह अपनी व्यवस्था की विशालता तथा गूढ़ता से आँखों को चकाचौंध कर देता था। क़ुतबुद्दीन ऐबक, इल्तुतमिश और अलाउद्दीन का उद्देश्य हिंदुओं पर प्रभाव उत्पन्न करना था। चूँकि उन के अधिकांश कारीगर ग़ैर-मुस्लिम थे, इस लिए उन्हो ने स्वाभाविकतया उन तरीक़ों से प्रभाव उत्पन्न करना चाहा जिन का उपयोग उन के बैरी करते हैं। इस उक्ति का सब से अच्छा उदाहरण दिल्ली की क़ुव्वतुल-इस्लाम मसजिद मे मिलता है जिस को क़ुतबुद्दीन ऐबक ने सन् ११९१ ई० में आरंभ कराया था।

इल्तुतमिश और अलाउद्दीन खिलजी ने इस का विस्तार किया। क़ुतुबुद्दीन के समय के परदो का और अन्य दो सुल्तानो के समय म जो विस्तार हुआ है उस की

भी नक़्क़ाशियां, उन अंशों को छोड़कर जिस में तुग़रा तथा कूफ़ी खतों मे लिखे लेख है और इमारत का इस्लामीपना दिखाते है, सब व्यवस्था और कृति में हिंदू है। सभी इसे स्वीकार करते है, कि इस मसजिद के एक-एक खंभे हिंदू शैली के है। इसी प्रकार का काम अजमेर के अरबई-दीन-का-झोपड़ा नामक मसजिद मे मिलता है। यह मसजिद भी ऐबक के नाम से संबद्ध है।

इस प्रकार दूसरा आदर्श जिस पर कि प्रारंभिक मुस्लिम सुलतानों ने ज़ोर देने का प्रयत्न किया धर्म-संबंधी था। चूँकि वह विदेशी थे इस लिए इन शासकों ने आवश्यकता किसी ऐसे बंधन की महसूस को जो उन को एक में मिला हुआ रख सके। उन के लिए इस से सहज कोई दूसरी बात न जान पड़ी कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करने का प्रयत्न करे जिस से कि उन के इस्लाम धर्म के कम से कम बाहरी रूप का पालन किया जा सके। इस के अतिरिक्त बहुत से मुस्लिम संत बाहरी देशों से आ कर देश में बस गए थे। उन्हे अपने रहने के लिए ऐसे स्थानों की आवश्यकता थी जो कि उन के कार्यो के केंद्र भी बन सके। अतएव इन प्रारंभिक सुलतानों का एक कर्तव्य-सा हो गया कि इन के लिए मसजिदें निर्माण करावें और उन के व्यय के निमित्त भी प्रबंध करें। इस लिए इस मे कोई आश्चर्य की बात नही है कि भारतीय-मुस्लिम वास्तुकला का इतिहास मध्ययुग के बादशाहों द्वारा बनाए इन प्रार्थना-गृहों में अंकित है।

इन मसजिदों के बनवाने मे शासकों और निर्माण करने वालों दोनों ही ने अपना कौशल दिखाया। इन की संख्या देश में अनगिनित है। इन के नमूने भी जुदा-जुदा हैं, फिर भी उन मे एक समानता है। दिल्ली और अजमेर की कुतबुद्दीन ऐबक की मसजिदों से ले कर आगरे की शाहजहां की मोती मसजिद तक और कुलबर्ग की मसजिद को ले कर, जो कि हिंदुस्तान मे अपना जवाब नही रखती, निर्माण-कौशल की सभी विभिन्नताए आ जाती है।

मसजिदों की भाँति, मुस्लिम सुलतान मक़बरों के बनवाने के लिए भी उत्सुक रहते थे। इन इमारतों में भी धर्म के आदर्शो को ग्रहण किए रहने का प्रयत्न किया गया, लेकिन साथ-साथ इस बात का भी ध्यान रक्खा गया कि यह उन शाहों की प्रतिष्ठा के अनुकूल भी हों जिन की स्मृति मे यह बनाए जावें। ग़यासुद्दीन तुग़लक, फ़ीरोज तुग़लक, सय्यद मोहम्मद शाह होशग शाह गुलबर्गे के बहमन शाह और फ़ीरोज़ शाह सय्यद मुबारक

शेरशाह, हुमायूं आदि के मक़बरे एक ही आदर्श, अथवा आदर्शों का संमिश्रण प्रदर्शित करते हैं। देखने में वे न्यूनाधिक क़िले जैसे लगते हैं, और अपने वातावरण के अनुसार या तो उन सुलतानों के चरित्रों का निदर्शन कराते हैं जिन की वे स्मृतियां हैं अथवा उन के चरित्रों का जिन्हों ने उन्हें निर्माण कराया है।

सोलहवीं सदी के आरंभ से, देश के सामाजिक, धार्मिक तथा विचार-संबंधी वातावरण में नई प्रवृत्तियां आगे आईं। धीरे-धीरे शासन ने विदेशीयता के वाने का परित्याग कर दिया था। यह ठीक है कि मिश्रित अथवा पृथक् प्रतिनिधित्व के ढंग का कोई समझौता नही हुआ था, न इसी संबंध में कोई निश्चित समझौता हुआ था कि एक दूसरे की संस्कृति की रक्षा कैसे हो, परंतु इस मे कोई संदेह नही किया जा सकता कि प्रत्येक वर्ग दूसरे वर्ग के प्रति उचित आदर का भाव रखने लगा था। किस प्रकार इस देशवाले अपने विदेशी शासको का साथ देने लगे थे इस के उदाहरण में हम लोदियों के शासन को ले सकते हैं। लोदी विदेशी तो थे ही, लेकिन इब्राहीम के परास्त होने और मृत्यु के उपरात हिंदू बाबर के आधीन नही होना चाहते थे। वरन् उन्हों ने क्रियात्मकरूप से उस के वैरियो की सहायता की। जब कि दोनों वर्ग राजनीति के क्षेत्र में एक-दूसरे से इतने सन्निकट हो गए थे तो इस का अनुमान करना अनुचित न होगा कि वह अपने सांस्कृतिक आदर्शो मे परस्पर और भी निकट थे। जो पतली भेद की दीवार अब भी थी वह धर्म की थी; परंतु यह भी शीघ्र ही दूर हो गई क्योंकि प्रारंभिक मुगल शासक धार्मिक मामलों मे इतने कट्टर न थे।

ऐसी दशा में भारतीय-मुस्लिम वास्तुकला के आदर्शो ने एक नया रंग ग्रहण किया। मुस्लिम-शासन के आरंभ काल में इमारतों की रूप-रेखा ऐसी होती थी जिस से कि उन की दृढ़ता का देखने वालों को अनुमान तथा उस से आतंक हो सके, शासकों के बल का निदर्शन हो सके और जिसे देख कर मुस्लिम स्वयं एक आश्वासन ग्रहण कर सकें। परतु जब शेरशाह ने यह सिद्धांत निश्चित किया कि किसान और रियाया का हित राज-हित से अभिन्न है तब शासकों और शासितों के बीच किसी प्रकार के भेद की दीवार को बनाए रखने की आवश्यकता जाती रही। इस लिए नई इमारतों में यद्यपि अब भी कुछ परपरागत दृढ़ता बनी रही, फिर भी उन का वाह्य रूप ऐसा नही होता था जो दर्शको के हृदयों पर आतंक का प्रभाव उत्पन्न कर सके। इस परिवर्तन का उदाहरण हमें सहसराम के शेरशाह के मक़बरे म मिलेगा

परंतु यदि देखा जाय तो नई इमारतों में भी शासकों का दिखावे तथा विशालता का प्रेम तनिक भी कम नहीं हुआ है। मुग़ल बादशाह पिछले सुल्तानों से इस विषय में कुछ बढ़ कर ही ठहरेंगे। सीकरी का बुलंद दरवाज़ा तथा दिल्ली और आगरा के महल, मुग़ल बादशाहों की विशाल कल्पना, आकांक्षा तथा रुचि के परिचायक हैं। यदि वह हिंदुओं के कौशल का उपयोग करते हैं, तो केवल कला की उन्नति के लिए। सैनिक आदर्श अब भी मौजूद है।

सर यदुनाथ सरकार ने मुग़ल शासन-पद्धति को 'हल्के परदे के साथ लूट' बताया है, परंतु उन के विरुद्ध सब कुछ कह लेने के बाद भी इसे स्वीकार करना पड़ता है कि उन्हों ने वास्तुकला में मानवता के अंश को सम्मिलित किया।

सौंदर्य के आदर्श का विस्तार और भी अधिक उस समय हुआ जब कि मुग़लों ने इमारतों के साथ बाग़ों का चलन किया। जिस देश से मुग़ल हिंदुस्तान में आए थे वह अपने हरित बागों के लिए प्रसिद्ध था। तैमूर की जन्मभूमि 'शहरे-सब्ज़' के नाम से प्रसिद्ध थी। बाबर ने काबुल में कई बाग़ लगवाए थे। उस के उत्तराधिकारियों ने हिंदुस्तान में इस का चलन किया और उन्हें कोई इमारत उस समय तक पूरी नही जान पड़ती थी जब तक उस में बाग न हो—वह भी इस तरह नही कि बाद में लगाए गए हों, वरन् व्यवस्था का अंग हो। इस नई प्रवृत्ति का कारण मुग़लों का गहरा प्रकृति-प्रेम था। वह अपनी इमारतों के चारो ओर प्राकृतिक वातावरण उत्पन्न करना चाहते थे। वह बाग़ों की व्यवस्था करना तथा वृक्षों के लगाने की कला को खूब जानते थे और मकानों, महलों, मसजिदों आदि के साथ उचित रीति से बाग़ लगाते रहते थे।

आगरे में आने पर बाबर ने पहला काम जो किया वह यह था कि अपने लिए एक अच्छे सुखकर निवास को बनावे। उस के प्रयत्न के फल-स्वरूप आगरे में जो महल बना वह बाग़ के बीच व्यवस्थित था। इस इमारत का जो हम विस्तृत वर्णन बाबर के 'आत्म-चरित' में पाते हैं उस से हमें इस का अच्छा अनुमान हो जाता है कि किस प्रकार के बागों का प्रचलन बादशाह ने हिंदुस्तान में किया। उसे अद्भुत सफलता मिली। वह लिखता है:—"हिंद के लोगों ने, जिन्हों ने ऐसे व्यवस्थित तथा सुरम्य स्थल पहले नही देखे थे, यमुना के उस तट की भूमि को जिस पर यह महल बने थे काबुल का नाम दे दिया था।"

बाग की व्यवस्था ने ताजमहल के सौंदर्य को किस प्रकार वृद्धि प्रदान की है इस का वर्णन कई लेखकों ने किया है।

वास्तव में उद्यान मुग़लकालीन कला में सजावट का मुख्य आधार रहा है। "हम चाहे जिस छोटी या बड़ी इमारत को अथवा अन्य कलात्मक कृति को देखें, यही आधार सब जगह दिखाई देगा। चाहे हम दीवान ख़ास की फूलों की क्यारियों के तख़्ते को देखे, या उसी प्रकार के तख़्ते ताज के गिर्द देखें हम इस आधार को पावेंगे। इसी प्रकार गुलाब-जल के पात्र, गुलदान, फल की तश्तरियों और पुराने ईरानी शराब के प्यालों और हिंदुस्तानी चीनी की ईंटों में उद्यान ही सजावट का आधार मिलेगा। ....कालीनों, चीनी की ईटों, नक़्क़ाशियों और चित्रों मे लपेटदार सरो और फल के वृक्षों का जो अंकन हमें मिलता है वह साक्षात् बागों के आधार पर बने हैं और सरो के अनंतर फल के वृक्षों का रचना-क्रम जीवन, मृत्यु और अनंत का प्रिय लाक्षणिक चिन्ह है।" इस प्रकार मुगल-कालीन वास्तुकला ने सौंदर्य तथा विशालता के आदर्शों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। यह उन्नति तथा विकास का सूचक है। वास्तुकला का आदर्श संकुचित तथा सीमित नही रह गया है। यह अब कलात्मक वातावरण में स्वाभाविक और सहज सौंदर्य उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है। इस का उद्देश्य शासकों के निकट के वातावरण तथा जीवन का कला-पूर्ण चित्रण है। धर्म अब इस की प्रेरणा का मूल नहीं है। धर्म अब पृष्ठभूमि मे पहुँच गया है। अब इस का उद्देश्य रक्षा अथवा एकता का साधन बनना नही रहा। वास्तुकला संबंधी आदर्शों पर अब लौकिक रंग चढ़ गया है। परंतु इस ने उन्हे पतित नहीं होने दिया। बल्कि इस ने उन्हे वास्तविक हृदय की भावनाओं को सुस्पष्ट-रूप में प्रकट करने की विशेष क्षमता प्रदान कर दी है।

प्राचीन वैष्णव-संप्रदाय

[लेखक—डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०, (इलाहाबाद)]

तत्त्वदृष्ट्या ब्रह्मरूपमवाङ्मनसगोचरम् ।
साकारतां गतं कृष्णं धर्मसंस्थापनाय च ॥
नत्वा श्रीमदुमेशोऽयं जयदेवात्मजो द्विजः ।
तनोति वैष्णवमतं प्राचीनं विष्णुप्रीतये ॥

भारतीय शास्त्रों के दो प्रधान विभाग हैं—निगम और आगम। वेद तथा वेदमूलक ज्ञान एवं क्रियाप्रधान शास्त्र को 'निगम' कहते है। 'आगम' से साधारण रूप में सभी शास्त्र लिए जाते हैं, किंतु जब यह 'निगम' शब्द के साथ-साथ प्रयुक्त होता है, तब इस से तंत्र-शास्त्र या शक्ति या भक्तिप्रधान शास्त्र ही समझा जाता है। इसी लिए 'आगम' शब्द का अर्थ करते हुए प्राचीन ग्रंथकारों ने लिखा है—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ ।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते ॥

इस श्लोक में 'वासुदेवस्य मतं' यह देख कर 'आगम' के साथ वैष्णव-संप्रदाय का संबंध भी स्पष्ट हो जाता है। इस में भक्ति की प्रधानता है, और प्रायः यह शास्त्र शिव-पार्वती के संवाद-रूप मे पूर्व में रहा है, ऐसा मालूम होता है। ज्ञान, इच्छा, और क्रिया—ये सब भक्ति के व्याप्य है और उसी को पुष्ट करते है। नारद ने अपने 'भक्ति-सूत्र' में भी कहा है—'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा'[1]। अर्थात् कर्म, ज्ञान और योग से भी बढ़ कर भक्ति है। 'देवीभागवत' में भी कहा है—'मत्सेवातोऽधिकं किंचित् नैव जानाति

[1] ४·२५

कर्हिचित्'[1]। आगम के अनुसार मोक्ष भी भक्ति का व्याप्य ही है। जैसा कि 'नारद-पंचरात्र' में कहा गया है—

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याः चेटिकावदनुव्रताः॥

अर्थात् हरि की भक्ति तो महादेवी है, और मुक्ति एवं भुक्ति आदि उन की चेटियां हैं। अतएव मुमुक्षुओं को भक्ति ही को ग्रहण करना चाहिए। इसी लिए नारद ने कहा है—'तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः'[2]। इन के मत में 'पराभक्ति' ही जीवन का चरम पुरुषार्थ है।

भक्तिशास्त्र के अनेक प्राचीन आचार्य हुए हैं—पाराशर्य, गर्ग, शांडिल्य, नारद, कुमार, शुक, विष्णु, कौडिन्य, शेष, उद्धव, अरुणि, बलि, हनुमान्, विभीषण, काश्यप तथा बादरायण[3]। किंतु इन सभी आचार्यों ने अपने भिन्न-भिन्न ग्रंथ लिखे या नहीं, यह मालूम नहीं। केवल नारद और शांडिल्य के भक्ति-सूत्रों से हम परिचित हैं। इस के अतिरिक्त काशी के किसी दाक्षिणात्य विद्वान् के घर से एक और भी भक्तिसूत्र-रूप ग्रंथ मिला है, जो कि 'सरस्वती भवन स्टडीज' में प्रकाशित हुआ है[4]। इसी भक्तिशास्त्र के बल पर 'पंचरात्र' और 'भागवत' संप्रदायों ने अपने-अपने अस्तित्व को स्थिर किया है। ये दोनो संप्रदाय यद्यपि इस समय एक ही हो गए हैं, किंतु पूर्व में दोनों अलग-अलग थे। इस समय ये दोनों ही वैष्णव-संप्रदाय के नाम से भी विख्यात हैं।

वैष्णव-संप्रदाय प्राचीन काल से चार प्रधान विभागों में विभक्त है:—

१—**श्रीसंप्रदाय**—इस की आदिम प्रवर्तक श्री या लक्ष्मी हैं। इस के प्रधान संस्थापक श्रीरामानुजाचार्य हुए। बाद में श्रीरामानंद स्वामी ने इस का प्रचार बढ़ाया, इस लिए इसे 'रामानंद-संप्रदाय' और इस के अनुयायी को 'रामानंदी' भी कहते हैं। इस का दार्शनिक मत 'विशिष्टाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है।

२—**हंससंप्रदाय**—इस के प्रवर्तक सनकादि और प्रधान संस्थापक निंबार्काचार्य

---

[1] ७.३७ [2] ४.३३
[3] 'नारदसूत्र'. १०—२३: 'शांडिल्यसूत्र'. २.१. २९—३०
[4] भाग २ पृष्ठ ७४ ८१

हुए। अतएव यह 'निंबार्क-संप्रदाय' भी कहलाता है; और बाद को हरिव्यासस्वामी ने इस का प्रचार किया इस लिए यह 'हरिव्यासी' भी कहा जाता है। इस का दार्शनिक मत 'द्वैताद्वैत' या 'भेदाभेद' कहा जाता है।

३—ब्रह्मसंप्रदाय—इस के प्रधान प्रवर्तक ब्रह्मा, और संस्थापक मध्वाचार्य हुए। पश्चात् गौड़स्वामी ने इस का विशेष प्रचार किया। इस लिए यह 'मध्वसंप्रदाय' और 'गौड़िया-संप्रदाय' भी कहलाता है। इस का दार्शनिक सिद्धांत 'द्वैतवाद' कहलाता है।

४—रुद्रसंप्रदाय—रुद्र इस के प्रधान प्रवर्तक और विष्णुस्वामी प्रधान संस्थापक हुए। बाद को वल्लभाचार्य ने इस का विशेष प्रचार किया। इस लिए यह 'विष्णुस्वामी-संप्रदाय' और 'वल्लभ-संप्रदाय' भी कहलाता है। इस का दार्शनिक मत 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है।

'शक्तिसंगमतंत्र'[१] के अनुसार गौण और मुख्य भेद से तंत्रोक्त वैष्णव-संप्रदायों की संख्या निम्नलिखित दश है—

१—वैखानस—यह स्मार्त-वैष्णव कहा जाता है। इस के अनुयायी वैखानस मुनि के उपदेश के अनुसार दीक्षित होते हैं।

२—श्रीराधावल्लभी—वैष्णवों के प्रसिद्ध आचार तथा व्यवहार का पालन विशेष रूप से इस संप्रदाय में नित्य होता है। विष्णुमंत्रों का जप ये लोग सदैव करते रहते हैं। शांतभाव को प्रधान मान कर संसार की प्रत्येक वस्तु से अपने चित्त को हटा कर केवल विष्णु की चिंता में लगाना, इन का प्रधान ध्येय है।

इस के आदि-प्रवर्तक एक हरिवंश गोस्वामी थे जिन का जन्म संवत् १५५९ (१५०३ ई०) में आगरा में हुआ था। इन का पैत्रिक स्थान सहारनपुर जिला के 'देव-बनवास' नामक ग्राम में था। पूर्ण वयस्क होने पर यह वृंदावन गए, और वहां इन्हों ने एक नवीन संप्रदाय स्थापित किया जिसे लोग 'राधावल्लभ' के नाम से कहने लगे। कहा जाता है कि इन के श्वशुर ने इन्हें एक राधावल्लभ की मूर्ति दी थी और उसी के नाम पर यह संप्रदाय प्रसिद्ध हुआ। इन्हों ने बड़े खर्च से संवत् १६४१ मे राधावल्लभ का एक सुंदर मंदिर वृंदावन में बनवाया। ये लोग वैष्णव-चिन्ह शरीर में धारण करते थे।

---

[१] १ ८

३—गोकुलेश—इस संप्रदाय के लोग नाना प्रकार के आभूपणों का धारण करना, सुगधित द्रव्यों को शरीर में लगाना, तथा गौओं से प्रेम करना अपना मुख्य कर्तव्य समझते है। ये लोग कृष्ण के केलि-समय के स्वरूप को धारण करते हैं, और अपने शरीर, अर्थ, तथा प्राण को कृष्ण को समर्पण करते हैं। ऊपर से ये लोग कृष्ण के उपासक मालूम होते है किंतु अंतःकरण मे ये शक्ति के उपासक हैं। गानविद्या में इन का अधिक प्रेम होता है। ये अपने शरीर को लताओं से लपेटना पसंद करते है। इस संप्रदाय को वैष्णवो ने सर्वसिद्धिकर माना है। ये सब स्मार्त और वैष्णव के लौकिक कलह में लगे रहते है, और शिव और विष्णु के ऐक्य भाव को नही मानते।

४—वृंदावनी—इस संप्रदाय के लोगों को किसी वात की आशा नही रहती है। ये सब अपने को पूर्णकाम मानते है। ये सर्वदा प्रसन्नचित्त हो कर विष्णु की भक्ति में लीन रहते हैं। स्त्रियों के ध्यान में भी ये लगे रहते है, और उन के संग से चंचल भी हो जाते है। ये वनविहार पसंद करते हैं। और सुगंधित द्रव्य शरीर में लगाते है। सारूप्य-मोक्ष का ज्ञान इन्हे रहता है।

५—रामानंदी—'रा' से शक्ति तथा 'म' से शिव समझा जाता है। इन दोनो का सामरस्यप्रयुक्त जो आनंद है, उसी में ये लोग मग्न रहते हैं। ये शांतचित्त, प्रसन्नात्मा तथा विचारवान् होते है और वस्तुमात्र में समानरूप का अनुभव करते हैं। रामानंद स्वामी ने, जिन का जन्मकाल १३०० ई० कहा जाता है, इस संप्रदाय को चलाया।

६—हरिव्यासी—पापों को नाश करने में ये तत्पर रहते है। ये विष्णुभक्त और जितेंद्रिय होते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा तथा समाधि—इस अष्टांग योग का पूर्ण अभ्यास करते हैं; परार्थ ही में अपना समय लगाते है। ये शिव और शक्ति के स्वरूप को धारण करते हैं।

इस संप्रदाय के आदि-संस्थापक बुंदेलखंड के निवासी एक हरिराम शुक्ल थे जिन का जन्म १५१० ई० में हुआ था। इन्हीं का दूसरा नाम हरिव्यास मुनि था। यह श्री भट्ट के शिष्य और परशुराम के गुरु थे। निंबार्काचार्य की बनाई हुई 'दशश्लोकी' की एक टीका भी इन्हों ने लिखी है। इन्हों ने १५५५ ई० में वृंदावन जा कर पहले राधावल्लभ सप्रदाय को स्वीकार किया, किंतु बाद में उसे छोड़ कर एक दूसरा नया संप्रदाय अपने नाम पर ही चलाया

७—**निंबार्क**—इस संप्रदाय वाले स्वातंत्र्यप्रेमी होते हैं। ये लोग पूजा के बाह्य स्वरूप ही में नियम-पूर्वक लगे रहते है। ये विष्णु के अनन्यभक्त होते हैं और प्रसन्नचित्त रहते है। ये अपने आचरणों को तथा शरीर एवं वस्त्रों को स्वच्छ रखते है। ये स्मार्तों के द्रोही होते हैं।

८—**भागवत**—इस संप्रदाय के लोग पूर्ण विष्णुभक्त होते है। ये अपने इंद्रियों को अपने वश मे रखते हुए सदैव प्रसन्न रहते हैं। स्मार्तों का गौरव इन्हें रहता है, किंतु ये शिव के विद्वेषी यहां तक होते है, कि भूल से यदि किसी शैव का संसर्ग हो जाय तो झट स्नान कर लेते हैं। शरीर को स्वच्छ रखना और सुंदर वेष बनाना इन का कर्तव्य है। ये अरुण वेष धारण करते हैं।

९—**पांचरात्र**—इस संप्रदाय वाले पंचरात्रि-व्रत करते है। ये रंडा को श्रीकृष्ण का प्रसाद कह कर उसे पूजते है। ये शिव की निंदा तो करते ही हैं, वैष्णवों की भी निंदा करते हैं।

१०—**वीरवैष्णव**—ये केवल विष्णुभक्त होते है और अन्य सब देवताओं की निंदा करते हैं।

अब यहां उपर्युक्त चार प्रधान वैष्णव संप्रदायों का परिचय दिया जाता है।

१—श्रीसंप्रदाय

श्री या लक्ष्मी इस की प्रवर्तक है, इस लिए इस संप्रदाय के लोग लक्ष्मीनारायण के उपासक होते है। इस का प्रधान केंद्र तामिल प्रांत कहा जा सकता है।[1] इस प्रांत के इतिहास से ज्ञात होता है कि वहां बहुत पूर्व वैष्णव धर्म-प्रवर्तक बारह भक्त हुए हैं, जिन के नाम ये हैं—सरोयोगिन्, भूलयोगिन्, महद्योगिन् या भ्रांतयोगिन्, भक्तिसार, शठकोप, मधुरकवि, कुलशेखर, विष्णुचित्त, गोदा, भक्तांघ्रिरेणु, योगिवाहन और परकाल[2]। इन के बाद छ: वैष्णवाचार्य हुए जिन में नाथमुनि[3] और उन के पौत्र यामुनाचार्य

[1] 'श्री मद्भागवत', ११—५—३८—४०
[2] एल. कृष्णस्वामी ऐयंगर, 'लाइफ एंड टाइम्स इत्यादि', पृ० ३—४
[3] के अंत में

बहुत प्रसिद्ध थे। मध्यवीथिभट्ट और कृष्णपाद भी प्राचीन आचार्य थे[१]। नाथमुनि दसवी शताब्दी में हुए यह कहा जाता है[२]। यह परकालमुनि के शिष्य थे। 'न्यायतत्व' और 'योगरहस्य' इन के प्रसिद्ध ग्रंथ हैं[३]।

इन के बाद यामुनाचार्य हुए जिन्हों ने वैष्णव-संप्रदाय को वैदिक सिद्ध करने का पूर्ण प्रयत्न किया। 'आगमप्रामाण्य', 'महापुरुषनिर्णय', 'सिद्धित्रय', 'गीतार्थ-सग्रह', 'चतुःश्लोकी' तथा 'स्तोत्ररत्न' इन के प्रसिद्ध ग्रंथ है। यामुनमुनि श्रीरगम मे रहते थे।

यामुनमुनि के प्रधान शिष्य प्रसिद्ध रामानुजाचार्य थे। रामानुज का दूसरा नाम लक्ष्मण था। इन का जन्म १०१७ ई० मे हुआ। इन के पिता का नाम केशव था जो रामानुज के जन्म के कुछ ही दिन बाद परलोक सिधारे। बाल्यावस्था में साधारण शिक्षा प्राप्त कर इन्हें वेदांत पढ़ने की उत्कट इच्छा हुई, और यह अपने मौसी के पुत्र गोविंद के साथ कांची आकर यादवप्रकाश से वेदांत पढ़ने लगे। किंतु यहां उन्हें संतोष नहीं हुआ। इतने में यामुनमुनि ने रामानुज के गुणों से प्रसन्न हो कर इन्हे श्रीरंगम बुलाया। परन्तु रामानुज के श्रीरंगम पहुँचने के पूर्व ही यामुनमुनि का देहांत हो चुका था। श्रीरगम पहुँच कर रामानुज ने बादरायण सूत्र के ऊपर भाष्य रचने की प्रतिज्ञा की, और पुनः कांची लौट कर चले आए। पेरिअनंबि-नामक संन्यासी से इन्हों ने संन्यास ग्रहण किया, पुनः श्रीरंगम जा कर स्थिर हो गए। पश्चात् अपने एक शिष्य (जिसे 'बोधायनवृत्ति' कंठस्थ थी), की सहायता से रामानुज ने 'श्रीभाष्य' की रचना की और बाद में 'वेदांतसार', 'वेदार्थसंग्रह', 'वेदांतदीप' तथा 'गीताभाष्य' आदि ग्रंथों की भी रचना की।

इन के अनुयायियों में 'तत्त्वत्रय' के रचयिता लोकाचार्य, 'पंचरात्ररक्षा' आदि ग्रथो के कर्ता वेदांतदेशिक, 'यतींद्रमतदीपिका' के रचयिता श्रीनिवासाचार्य आदि बहुत प्रसिद्ध हुए हैं।

---

[१] पृ० २ ५

तत्त्व

रामानुज के अनुसार चित्, अचित् और ईश्वर ये ही तीन मूल-तत्त्व हैं। इन में ईश्वर तो प्रधान अंगी है, और चित् तथा अचित् इस के दो विशेषण या अंग हैं। इसी लिए यह मत 'विशिष्ट-अद्वैतवाद' कहलाता है।

चित् तत्त्व

चित् तत्त्व ही जीवात्मा है, जो देह, इंद्रिय, मन, प्राण तथा बुद्धि से भिन्न है। यह स्वप्रकाश, आनंदरूप या सुखरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त या अतींद्रिय, अचिंत्य, निरवयव, निर्विकार तथा ज्ञान का आश्रय है। ईश्वर इस का नियामक है, अर्थात् ईश्वर की बुद्धि के अधीन इस का सब व्यापार होता है। ईश्वर ही इस का धारक है और यह ईश्वर का अंगभूत भी है।[१]

जीवात्मा का ज्ञान सर्वव्यापक है इसी लिए इसे भोग में कोई भी प्रतिबंधक नहीं होता, और एक ही काल में एक आत्मा अनेक शरीर ग्रहण कर सकता है।[२] यही जीव ज्ञाता, भोक्ता और कर्त्ता है। संसारी कार्यों के प्रति आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व नहीं है।[३] जीव में जो स्वातंत्र्य है वह ईश्वर-प्रदत्त है। इन दोनों में सेव्य-सेवक-भाव है। जीव जो कुछ करता है, सब ईश्वर-प्रेरित हो कर ही करता है।[४]

जीवात्मा के तीन भेद हैं—बद्ध, मुक्त तथा नित्य।

बद्धजीव—'बद्ध' उन्हें कहते हैं जिन का सांसारिक जीवन अभी समाप्त नहीं हुआ है। इन के रहने का स्थान चौदहों भुवन है। ब्रह्मा से ले कर अति तुच्छ कीड़े-मकोड़े तक सभी बद्ध हैं। इन बद्ध जीवों की उत्पत्ति के संबंध में कहा गया है कि भगवान् के नाभिकमल से ब्रह्मा हुए और उन से रुद्र, सनक, सनंदन, सनातन तथा सनत्कुमार; नारद आदि देवर्षि, वशिष्ठ, भृगु, आदि ब्रह्मर्षि; तथा पुलस्त्य, मरीचि, दक्ष, कश्यप आदि नौ प्रजापति उत्पन्न हुए।[५] इन से देव लोग; इंद्र, वह्नि, यम, निर्ऋत, वरुण, मरुत्, कुवेर, ईश, ब्रह्मा तथा अनंत ये दश दिक्पाल; विश्वभुक्, विपश्चित्, विभु, प्रभु, शिखि, मनोजव, अद्भुत,

---

[१] 'तत्त्वत्रय', पृ० ५, २४ [२] वही, पृ० १३
[३] वही, पृ० १९-२० [४] वही, पृ० २०-२१
[५] 'यतिपतिमतदीपिका', पृ० ३२। यहां 'मनुस्मृति' में लिखा है कि ब्रह्मा ने प्रजाओं को उत्पन्न करने के लिए दश प्रजापति बनाए जिन्हें ब्रह्मर्षि कहते हैं। इन के नाम दिए हैं—मरीचि अत्रि अंगिरा पुलस्त्य प्रलह क्रतु, प्रचेता वसिष्ठ, भृगु और नारद—१-३४-३५

त्रिदिव, बलि, इंद्र, सुशांति, सुकीर्ति, ऋतधाता तथा दिवस्पति ये चौदह इंद्र;[१] स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि तथा इंद्रसावर्णि ये चौदह मनु; असुर; पितृगण, सिद्ध; गंधर्व; किन्नर; किंपुरुष; विद्याधर आदि; धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष, तथा प्रभास ये आठ वसु ; अज, एकपात्, अहिर्बुध्न, पिनाकी, अपराजित, त्र्यंबक, महेश्वर, वृषाकपि, शंभु, हरण तथा ईश्वर ये ग्यारह रुद्र; विवस्वान्, अर्य्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र तथा उरुक्रम ये बारह आदित्य; दोनों अश्विनीकुमार; दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच, गुह्यक आदि देवयोनि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आदि मनुष्य-गण; पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप, पतग, कीट आदि तिर्यक्-गण; वृक्ष, गुल्म, लता, वीरुध तथा तृण आदि स्थावर; ये सब क्रमशः उत्पन्न हुए।

इन में से तिर्यक्-गण, स्थावर आदि को छोड़ अन्य सब 'शास्त्रवश्य' कहलाते हैं। इन में से कुछ तो भोग की इच्छा रखते हैं और कुछ मोक्ष की। भोगियों में भी कुछ तो अर्थ और काम को अपना ध्येय मानते हैं और कुछ केवल धर्म को। धार्मिक बुद्धि वाले पर-लोक को मानते हैं, तथा देवताओं एवं भगवान् में श्रद्धा और भक्ति रखते हैं। मुक्ति की इच्छा रखने वाले कुछ तो केवल ज्ञान-द्वारा प्रकृति तथा पुरुष के 'विवेक' को ही अपना ध्येय समझते हैं, कुछ 'भक्ति' तथा 'प्रपत्ति' के द्वारा भगवान् में लीन होना अपना कर्तव्य समझते हैं। इस भक्तिमार्ग में देवताओं के अतिरिक्त केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य ही को अधिकार है, शूद्र को नहीं। जो सब तरह से दरिद्र हैं, तथा जिन्हें भगवान् की शरण छोड़ अन्य उपाय न हो तथा जो अपना सर्वस्व भगवान् को समर्पण कर दें वे ही 'प्रपन्न' कहलाते हैं। इन में से कोई तो भगवान् द्वारा धर्म, अर्थ और काम इन तीनों की प्राप्ति को अपना ध्येय मानते हैं और कोई केवल मोक्ष को ही अपना चरम उद्देश्य समझते हैं। मोक्ष की इच्छा रखने वाले संसार से विरक्त हो कर, सत्संग से विवेकबुद्धि को प्राप्त कर, सद्गुरु के समीप जा कर भगवान् के चरणों में अपने को समर्पण कर देते हैं। इस के अधिकारी सभी होते हैं। इन में से कुछ तो ऐसे होते हैं जो प्रारब्ध-कर्म को मानते हुए

[१] 'देवीपुराण',

अपने शरीर के स्वाभाविक अवसान-समय की प्रतीक्षा करते हैं। वे 'दृप्त' कहलाते हैं। और जो इस संसार में अपने को प्रज्वलित अग्नि के मध्य में जलते हुए के समान मान कर शीघ्र से शीघ्र इस से छुटकारा चाहते हैं वे 'आर्त' कहलाते हैं।

मुक्तजीव—इन के अतिरिक्त कुछ ऐसे जीव हैं जो 'मुक्त' कहलाते हैं। ये लोग भगवान् की आराधना का उपाय जान कर अपना कर्त्तव्य समझ कर भगवान् की नित्य तथा नैमित्तिक आज्ञा का किंकर के समान पालन करते है, भगवान् तथा भगवद्‌भक्तों के प्रति कोई अपराध भूल से भी न हो इस का सतत ध्यान रखते हैं। अपने शरीर को छोड़ने के समय ये अपने सुकृत तथा दुष्कृत के भोग को नाश कर हृदय में परमात्मा का ध्यान करते हुए मुक्ति के द्वारस्वरूप सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर ब्रह्मरंध्र से निकल कर हृदय के साथ-साथ सूर्य की किरणों के सहारे अग्निलोक को चले जाते हैं। मार्ग में दिन, पूर्वपक्ष, उत्तरायण, सवत्सर के अभिमानी देवता लोग तथा वायु इन का सत्कार करते हैं। इस के बाद जीव सूर्यमंडल को भेद कर नभोरंध्र से होते हुए सूर्य लोक को पहुंच जाते हैं। इस के बाद चद्र, विद्युत्, वरुण, इंद्र तथा प्रजापतियों द्वारा मार्ग दिखाए जाने पर आतिवाहिकगणों के साथ-साथ चंद्रादि लोकों से होते हुए जीव वैकुंठ की सीमा में विद्यमान 'विरजा' नाम के तीर्थ में पहुँच जाते हैं। यहां आ कर ये जीव सूक्ष्म शरीर का परित्याग करते हैं।

यहां पर जीव अमानुषीय हाथों के स्पर्श के कारण अप्राकृतिक दिव्य-शरीर को धारण करते है। यहां पर इन का स्वरूप चतुर्भुजी हो जाता है तथा ये ब्रह्म अलंकारों से युक्त हो जाते हैं। फिर इंद्र, प्रजापति आदि नगर-द्वारपालों की आज्ञा से श्रीवैकुठ नाम के दिव्य नगर में ये प्रवेश करते हैं। इस के बाद गरुड़ तथा अनंत से युक्त झंडों से सजाए हुए दीर्घ प्राकारों सहित गोपुरों को पार करते हुए 'ऐरम्मद' नाम के अमृत सरोवर तथा 'सोम-सवन' नाम के अश्वत्थ को देख कर, हाथ में माला लिए हुए पाँच सौ दिव्य अप्सराओं द्वारा आदर-सत्कार पाते हुए, ब्रह्म-गंधादियों से अलकृत हो कर, अनंत, गरुड़, विष्वक्सेन आदि को प्रणाम करते हुए तथा उन से सम्मान पा कर, महामणि-मंडप के पास पहुंच कर, पलग के पास अपने आचार्य को देखते हैं। उन्हे प्रणाम कर जीव पलंग के पास जाते हैं।

वहां धर्मादि पीठ के ऊपर अनंत-कमल पर बैठे हुए, हाथ में चामर लिए हुए विमला आदि से सेवित, श्रीभूलीला के साथ, शंख, चक्र आदि दिव्य-आयुधों से युक्त, चमकते हुए किरीट मकराकृति कुडल गले के हार केयूर कटक श्रीवत्स कौस्तुम मणि मुक्ता

दामोदर-बंधन, पीतांबर, कांचीगुण, नूपुर आदि अनेक दिव्य-भूषणों से विभूषित, अनत उदार कल्याण गुणों के सागर श्रीभगवान् को देख कर उन के कमल-चरणों पर अपना सिर रख कर जीव प्रणाम करते हैं। इस के वाद श्रीभगवान् अपनी गोद में बिठा कर प्रत्येक जीव से पूछते हैं—'तुम कौन हो?' उत्तर में जीव कहता है—'मैं ब्रह्म प्रकार हूं' अर्थात् एक प्रकार का ब्रह्म हूं। फिर भगवान् उस की तरफ़ देखते हैं और इसी से जीव को अत्यंत हर्षानुभव प्राप्त होता है, तथा सब तरह के, सभी अवस्था के उपयुक्त भगवान् के प्रति सेवक-भाव तथा स्नेह जीव में आविर्भूत हो जाता है, और इस सब का अनुभव, जीव को होने लगता है। ऐसे जीव 'मुक्त' कहलाते हैं। ये मुक्त जीव ब्रह्म के समान भोग करते हैं। ये भी अनेक है, तथा सब लोकों में अपनी इच्छा से विचरण कर सकते हैं।[१]

नित्यजीव—'नित्यजीव' उन्हें कहते हैं जो कभी भी संसार में न आए हो।[२] इन में ज्ञान का सकोच कभी नही रहता है। ये भगवान् के विरुद्ध आचरण कभी नहीं करते। ईश्वर की नित्य इच्छा से ही इन के भिन्न-भिन्न अधिकार अनादि काल से नियत हैं। भगवान् के अवतार के समान इन के भी अवतार स्वेच्छा से ही होते है। अनंत, गरुड़, विष्वक्सेन आदि 'नित्यजीव' हैं।[३]

आत्मा में 'अचित्' के संसर्ग से अविद्या, कर्म, वासना तथा रुचि उत्पन्न होते है, ओर अचित् के निवृत्त होने से ही ये अविद्या आदि भी निवृत्त होते हैं।[४] इन तीनों प्रकार के चेतनों में जो ज्ञान है वह आत्मा के स्वरूप के समान नित्य, द्रव्यात्मक, अजड़ तथा आनद-स्वरूप है।[५] आत्मा के स्वरूप मे संकोच और विकास नही है और न तो अपने को छोड वह दूसरे किसी का प्रकाशक ही है। किंतु ज्ञान, संकोच तथा विकासवान् है, तथा अपने से अतिरिक्त का ही प्रकाशक है। मुक्तावस्था में ज्ञान सभी आत्मा में पूर्णतया विकसित रहता है। किसी का ज्ञान सदैव व्यापक रहता है, जैसे—देवताओं का; किसी का कभी भी व्यापक नहीं रहता है, जैसे—बद्धजीवों का; तथा किसी का कभी-कभी व्यापक रहता है, जैसे मुक्त पुरुषों का।[६]

---

[१] 'यतिपतिमतदीपिका', पृ० ३२—३६ [२] 'तत्त्वत्रय', पृ० २६
[३] 'यतिपतिमतदीपिका', पृ० ३६ [४] 'तत्त्वत्रय', पृ० २९
[५] वही पृ० ३५ [६] पृ० ३५ ३६

यह तत्त्व जड़ तथा विकारवान् है। इस के तीन भेद होते है—शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व, तथा शून्यसत्त्व। 'शुद्धसत्त्व' मे रजोगुण तथा तमोगुण नही रहते। इसी लिए यह नित्य है। यह ज्ञान एवं आनंद का जनक है। बिना किसी कर्म के केवल भगवान् की इच्छा से यह शुद्धसत्त्व नित्यधाम के वस्तुमात्र का आकार धारण कर लेता है। इसी से समस्त वैकुंठधाम, विमान, गोपुर, मंडप, प्रासाद आदि तथा नित्यमुक्त जीव एवं भगवान् का देह-पर्यंत बना है। यह अपूर्व तेजोमय वस्तु है जिस का पता नित्यमुक्तों को तथा ईश्वर को भी नहीं मिलता है। इस के स्वरूप को निर्णय करना अत्यंत कठिन है।[1] कोई इसे जड़ कहते हैं और कोई अजड़। अजड़ कहने वालों के मतानुसार नित्यमुक्त तथा ईश्वर के ज्ञान बिना ही यह स्वयं प्रकाशमान है। ससारियों को इस का अनुभव नहीं होता। शुद्धसत्त्व शरीरादि रूप में परिणत होता है और बिना किसी विषय के ही इस का भान होता है। शब्द, स्पर्श आदि इस के धर्म हैं।

अचित् तत्त्व

'मिश्रसत्त्व' में तीनों गुण मिश्रित रहते हैं। यह बद्ध पुरुषों के ज्ञान तथा आनद का आवरणस्वरूप है। इसी के कारण विपरीत ज्ञान भी उत्पन्न होता है। यह नित्य तथा ईश्वर की जगत्सृष्टिस्वरूप क्रीड़ा में 'परिकर' अर्थात् सहायक है। यही विकारो के उत्पादक होने के कारण 'प्रकृति', ज्ञान के विरोधी होने के कारण 'अविद्या', तथा विचित्र सृष्टि करने के निमित्त 'माया' कहलाता है। शब्दादि पॉच विषय, पाँच इंद्रिय, पाँच भूत पाच प्राण, प्रकृति, महत्, अहंकार तथा मन इसी के बढ़ते हुए परिणाम हैं।

'सत्त्वशून्य' त्रिगुणशून्य तत्त्व 'काल' है। यह प्रकृति तथा प्राकृतिक पदार्थों के परिणाम का हेतु है। यह भी नित्य तथा ईश्वर का क्रीड़ापरिकर एवं शरीर है। बिना काल के अधीन हुए ईश्वर भी जगत की सृष्टि नहीं कर सकते हैं। नित्य, नैमित्तिक तथा प्राकृत-प्रलय इसी काल के अधीन है।

शुद्ध तथा मिश्रसत्त्व से जीवात्मा तथा ईश्वर का भोग्य (विषय), भोगस्थान (चतुर्दश भुवन), तथा भोगसामग्री (चक्षुरादि) बनते हैं।

आत्मा तथा जड़ ईश्वराश्रित हैं। चित् और अचित् इस के देह हैं। इन को छोड़

---

[1] 'तत्त्वत्रय', पृ० ४१

कर पृथक् स्वरूप में चित् और अचित् नही रह सकते। अनंत ज्ञानवान्, आनंद का एकमात्र स्वरूप, ज्ञान, शक्ति आदि अच्छे गुणों से विभूषित, समस्त जगत की सृष्टि-स्थिति एवं संहार करने वाला, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का देने वाला, विचित्र शरीर धारण करने वाला तथा लक्ष्मी, भू एव लीला का नायक ईश्वर है। यह चारों प्रकार के भक्तों का आश्रयदाता है। अज्ञानिओ के लिए ज्ञानस्वरूप, अशक्तों के लिए शक्तिस्वरूप, अपराधियों के लिए क्षमास्वरूप, दुःखियो के लिए कृपास्वरूप, अविद्यादि दोषों से युक्तों के लिए वात्सल्यस्वरूप, मंदों के लिए शीलस्वरूप, कुटिलों के लिए सीधे स्वभाव का धारण करने वाला, दुष्ट हृदय वालो के लिए सुहृद्स्वरूप ईश्वर ही है।

ईश्वरतत्त्व

ईश्वर इतना दयालु है कि दूसरों को दुःख में देख कर आह भरता है, तथा उन के कल्याण के मार्ग को ढूँढ़ निकालता है। यही ईश्वर अपनी इच्छा से सकल जगत का कारण-स्वरूप है। संसार को उत्पन्न करने का एक-मात्र प्रयोजन भगवत्लीला है। ससार का संहार करना भी भगवान् की लीला ही है। यही ईश्वर स्वयं जगद्रूप मे परिणत हो जाता है।

भगवान् की देह के स्वरूप को वर्णन करते हुए लोकाचार्य ने कहा है[1]—यह उस के अपने स्वरूप तथा गुण के अनुरूप, नित्य, एक-रूप, शुद्धसत्त्वमय, अत्यंत तेजोमय, सुकुमार, सुंदर, लावण्ययुक्त, सुगंधियुक्त, यौवनावस्था को धारण करने वाला, दिव्य रूपवान् तथा योगियों का एक मात्र ध्येय है। भगवान् का शरीर उस के असली स्वरूप को जीव के देह के समान कभी भी नहीं छिपा सकता है। भगवान् का शरीर सकल जगत को मोहनेवाला है। इस रूप के दर्शन से सांसारिक समस्त भोग्य पदार्थों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। यह तीनों तापों को नाश करने वाला है। नित्यमुक्तों से सतत ध्यान करने योग्य यह भगवान् का स्वरूप है। दिव्य भूषणों से तथा दिव्य अस्त्रों से सदैव यह शरीर युक्त रहता है। यह भक्तों का रक्षक है, धर्म की रक्षा के लिए जब कोई जगत मे अवतार लेता है तो वह भगवद्देह से ही आविर्भूत होता है।

ईश्वर का स्वरूप पाँच प्रकार का है।

---

[1] 'तत्त्वत्रय' पृ० ११८ ११६ ' पृ० ११६ १२१

१—**पर**—यही वासुदेवस्वरूप कहलाता है। यह स्वरूप काल की गति से परे है। इस का कभी परिणाम नहीं होता है, निरवधि आनंद से सदा विभूषित रहता है। यही भगवान् का षाड्गुण्यविग्रह[1] कहलाता है इसी को वैकुंठ में देवता लोग नेत्रों से तथा ज्ञान से देखते रहते हैं।

२—**व्यूह**—यह स्वरूप विश्व की लीला के निमित्त है। यह संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के स्वरूप में वर्त्तमान है। संसारियों की रक्षा तथा भक्तों के प्रति अनुग्रह दिखाने के लिए यह स्वरूप है। 'पर' स्वरूप में तो ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेज ये छः गुण सदैव वर्तमान हैं, किंतु 'व्यूह' में केवल दो ही दो गुण प्रकट रूप में वर्तमान रहते है। अर्थात् ज्ञान तथा बल संकर्षण के स्वरूप में प्रकट है, प्रद्युम्न में ऐश्वर्य तथा वीर्य गुण एवं अनिरुद्ध में शक्ति और तेज रहता है।

३—**विभव**—यह अनंत होने पर भी गौण और मुख्य भेद से दो प्रकार का होता है। मुख्य विभव श्रीभगवान् का अंश तथा अप्राकृत देहयुक्त है। यही स्वरूप मुमुक्षुओं के लिए उपास्य है।

४—**अंतर्यामी**—इस स्वरूप से भगवान् जीवों के अंतःकरण में प्रवेश कर जीवों की सकल प्रवृत्तियों का नियमन करते हैं। इसी रूप से भगवान् सभी अवस्था में सभी जीव की सहायता करते हैं।

५—**अर्चावतार**—यह घट में रहने वाली भगवान् की उपास्य मूर्त्ति है।

भगवान् की उपासना को ही निदिध्यासन, योग, ज्ञान, या भक्ति कहते हैं। ध्यान के द्वारा भक्तिसाधन होता है और उसी से भगवान् प्रसन्न होते हैं। इन के मत में बंधन पारमार्थिक है। अतएव जीव और ब्रह्म-संबंधी अभेदबुद्धि-द्वारा उस बंधन का नाश नहीं हो सकता है। बंधननिवृत्ति केवल ईश्वर की प्रीति और प्रसन्नता पर निर्भर है। अभेद ज्ञान एक प्रकार से मिथ्या होने के कारण इस से बंधन और दृढ़ हो जाता है। जीव भोक्ता है, प्रकृति भोग्य है तथा ईश्वर इस का प्रेरक है। यह भेद इन के स्वरूप में रहता है। और अभेद-ज्ञान इस पारमार्थिक स्वरूपभेद को नष्ट करता है। इसी लिए उसे मिथ्या ज्ञान माना है।

---

[1] **ज्ञान बल ऐश्वर्य वीर्य शक्ति तथा तेज से परिपूर्ण भगवान का देह है** पृ० १२४

रामानुज के मतानुसार वर्णाश्रमोचित कर्म करने से चित्तशुद्धि होती है। चित्त-शुद्धि से भक्ति और भक्ति से मोक्ष-प्राप्ति होती है।

प्रसंगवश रामानुज के मत के अनुसार यहां ज्ञान का स्वरूप विवेचन किया जाता है। ज्ञान स्वयंप्रकाश तथा विभु है। नित्य-जीवों का तथा ईश्वर का ज्ञान नित्य एवं व्यापक है।

ज्ञानस्वरूप विचार

बद्धजीव का ज्ञान तिरोहित रहता है। मुक्तों का पहले तिरोहित रहता है पश्चात् आविर्भूत होता है। ये लोग भी ज्ञान को स्वतः प्रमाण मानते हैं। संकोच तथा विकासावस्था ले कर ही ज्ञान की उत्पत्ति एवं नाश का प्रयोग होता है। ज्ञान को रामानुज-मत वाले द्रव्य मानते हैं। यद्यपि आत्मा का गुण भी ज्ञान है तथापि प्रभा के समान यह गुण और द्रव्य दोनों हो सकता है। और इसी लिए अपने आश्रय से अन्यत्र भी ज्ञान रह सकता है।[१] मुक्तों का ज्ञान एक ही काल में नेत्र या सूर्य के तेज के समान अनंत देहों के साथ संयुक्त हो सकता है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न ये सब ज्ञान ही के स्वरूप हैं। ज्ञान मन का सहकारी है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, स्मृति, संशय, विपर्यय, भ्रम, विवेक, व्यवसाय, मोह, राग, द्वेष, मद, मात्सर्य, धैर्य, चापल्य, दंभ, लोभ, क्रोध, दर्प, स्तंभ, द्रोह, अभिनिवेश, निर्वेद, आनंद, सुमति, दुर्मति, सुप्रीति, तुष्टि, उन्नति, शांति, कांति, विरक्ति, रति, मैत्री, दया, मुमुक्षा, लज्जा, तितिक्षा, विचारणा, जिगीषा, मुदिता, क्षमा, चिकीर्षा, जुगुप्सा, भावना, कुहना, असूया, जिघांसा, तृष्णा, दुराशा, वासना, दुर्वासना, चर्चा, श्रद्धा, भक्ति, प्रपत्ति आदि जो जीव के गुण हैं वे सब ज्ञान ही की अवस्था-विशेष हैं।[२]

उक्त सभी गुणों में भक्ति तथा प्रपत्ति का विशेष स्थान है। इन्हीं दोनों से प्रसन्न हो कर ईश्वर मोक्ष देता है। यही मोक्ष के साधन हैं। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग आदि भी भक्ति ही के द्वारा मोक्षसाधक हैं, अन्यथा नहीं।[३] इसी प्रपत्ति को शरणागति भी कहते है। इसी के सहारे अर्जुन को श्री कृष्णभगवान् ने उपदेश दिया था, जैसा गीता में कहा गया है—

---

[१] 'यतिपतिमतदीपिका', पृ० २६
[२] वही, पृ० २७
[३] वही पृ० २९

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्[1] ॥

रामानुज के मत में भी समस्त पदार्थ प्रमाण और प्रमेय के भेद से दो प्रकार के के हैं। प्रमेय का संक्षिप्त वर्णन ऊपर हो चुका, अब प्रमाण के संबंध में भी कुछ लिखना आवश्यक है। प्रमा, अर्थात् यथार्थज्ञान, के करण को 'प्रमाण' कहते हैं। इन के मत में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण के भेद हैं।

प्रमाण-निरूपण

१—**प्रत्यक्ष-प्रमाण**—हम लोगों के इंद्रिय के द्वारा साक्षात् यथार्थज्ञान का जो करण है वही 'प्रत्यक्ष' है। इस के निर्विकल्पक और सविकल्पक दो भेद है। नीला, पीला आदि गुण तथा अवयव-संस्थान आदि से विशिष्ट प्रथम बार जो विषय का ज्ञान होता है वही 'निर्विकल्पक' है, और ऊहापोह-सहित गुण तथा अवयव-संस्थान आदि से विशिष्ट दूसरी, तीसरी बार जो वस्तु का ज्ञान है, वही 'सविकल्पक' प्रत्यक्ष है। दोनों ही भेदो मे विशिष्ट-विषयक ज्ञान इन के मत में, माना गया है। नैयायिकों के सिद्धांत से यह विलक्षण है। रामानुज के मत में अविशिष्टग्राही ज्ञान होता ही नही[2]। इंद्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से पाँचों इंद्रियों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ये लोग 'समवाय-संबंध' के स्थान मे एक 'आश्रय-संबंध' मानते हैं। ये इन भेदों के अतिरिक्त 'अर्वाचीन' और 'अनर्वाचीन' और भी दो भेद मानते हैं। फिर 'अर्वाचीन' के भी दो भेद हैं—'इंद्रियसापेक्ष' और 'इंद्रियानपेक्ष'। 'इंद्रियानपेक्ष' भी फिर दो प्रकार का है—'स्वयं-सिद्ध' और 'दिव्य'। योगजन्य प्रत्यक्ष 'स्वयं-सिद्ध' है तथा भगवत्प्रसादजन्य प्रत्यक्ष 'दिव्य' है। 'अनर्वाचीन' प्रत्यक्ष में इंद्रिय की कोई भी अपेक्षा नही रहती, जैसे—नित्यमुक्तजीव तथा ईश्वर का ज्ञान।[3]

स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, अभाव—जो कि इन के मत में भाव-स्वरूप ही है—ऊह, सशय तथा प्रतिभा ये सब प्रत्यक्ष प्रमाण ही के अंतर्भूत माने जाते हैं। ये लोग 'सत्ख्याति' वादी हैं इस लिए इन के मत में ज्ञान के सभी विषय सत्य है। यथार्थ में 'सर्व

---

[1] २—७ [2] 'यतिपतिमतदीपिका', पृ० ३
[3] वही, पृ० ४

विज्ञानं यथार्थम्' इस के अनुसार 'भ्रम' आदि भी यथार्थ है, मिथ्या नहीं। इस पर भी जो किसी ज्ञान को भ्रमात्मक कहते है, वह केवल लौकिक व्यवहार में बाधा उत्पन्न होने के कारण से ही। इस लिए स्वप्नज्ञान भी इन के मत में सत्य ही है।

ये तीन प्रकार के चैतन्य मानते हैं—अंतःकरणावच्छिन्न, अंतःकरणवृत्त्यवच्छिन्न, तथा विषयावच्छिन्न चैतन्य। जब ये तीनों चैतन्य एकत्रित होते है तभी 'साक्षात्कार' कहा जाता है।[1]

२—अनुमान-प्रमाण—'व्याप्य' के व्याप्यत्व के अनुसंधान से किसी व्यापक का जो ज्ञान है उसे ही 'अनुमान' और उस के करण को 'अनुमति' कहते हैं। व्याप्य और व्यापक में 'उपाधि'-रहित जो नियत संबंध है उसे ही 'व्याप्ति' कहते है। इस का ज्ञान बार-बार दो वस्तुओं को एकत्रित देखने से होता हैं। 'अन्वय' और 'व्यतिरेक' दो प्रकार की व्याप्ति होती है। 'अन्वयव्यतिरेकी' और 'केवलान्वयी' अनुमान के दो भेद ये लोग मानते हैं। 'केवल-व्यतिरेकी' में साध्य अप्रसिद्ध होने के कारण व्यतिरेक-व्याप्ति दुर्ग्रह है, इस लिए इसे ये लोग नही मानते।[2]

साधारणरूप से तो प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन ये पाँचों अनुमान के अवयवो को ये भी स्वीकार करते है, किंतु व्याप्ति और पक्षधर्मता इन दोनों अनुमान के प्रधान अंगों की सिद्धि केवल उदाहरण तथा उपनय ही के द्वारा होती है, इस लिए कभी तीन ही और कभी दो ही अवयवों को ये मानते हैं। यथार्थ में इन का कहना है कि जितने अवयवों के द्वारा विपक्षी को अपना सिद्धांत समझा सके, उतने ही अवयवों को मानना चाहिए।

उपमान, अर्थापत्ति और तर्क तथा कथा, जल्प, वितंडा, छल, जाति और निग्रह-स्थान ये सब अनुमान ही के अंतर्भूत है।

३—शब्द-प्रमाण—अनाप्तों से नही कहा गया जो वाक्य, उस से उत्पन्न जो उस का अर्थ, उसी के ज्ञान को शाब्दज्ञान तथा उस के करण को शब्द-प्रमाण कहते हैं। इन के मत में वेद अपौरुषेय और नित्य हैं शिक्षा आदि षडग से युक्त वेद प्रमाण हैं आप्त रचित

हो तो वह भी प्रमाण है। वेद-मूलक पुराण और इतिहास भी प्रमाण है। इन में भी जो विरोध-प्रतिपादक हैं वह अप्रमाण हैं। 'श्रीपंचरात्रयागम' में वेदों से कहीं भी विरोध नहीं होने के कारण यह सर्वथा प्रमाण है। 'वैखानस-आगम' और 'धर्मशास्त्र' वेदों के अविरुद्ध होने से प्रमाण हैं। बकुल आभरण आदि विद्वानों की उक्तियां सभी प्रमाणतर हैं, ओर श्रीरामानुज का श्रीभाष्य आदि तो प्रमाणतम है।

मिश्र-सत्व में तीनों गुण हैं। इसी को प्रकृति, माया, अविद्या आदि कहते हैं। यह नित्य है। भगवान के संकल्प से इस की साम्यावस्था में वैषम्य उत्पन्न होता है। इसी से यह कार्योन्मुखावस्था को प्राप्त कर अव्यक्त कहलाता है। पहले 'महत्' की उत्पत्ति होती है। गुण के अनुसार इस के तीन भेद है। इस से अहंकार उत्पन्न होता है। गुणानुरूप इस के भी तीन भेद हैं—वैकारिक, तैजस, और भूतादि। वैकारिक और भूतादि से ग्यारह इंद्रियां उत्पन्न होती है। मन भी इन के मत मे ज्ञानेंद्रिय है, इस लिए छः तो ज्ञानेंद्रिय और पाँच कर्मेंद्रिय हैं। इंद्रिय का परिणाम 'अणु' है। जब जीव योग के बल से दूसरे के शरीर में प्रवेश करता है, और अन्य लोकों में भी भ्रमण करता है, उस समय भी इंद्रियां जीव के साथ रहती हैं। मुक्ति में ये जीव का साथ छोड़ देती है, और प्रलय-पर्यत या तो इसी संसार मे रहती हैं या जिन के इंद्रियां नही हैं वे इन्हे ग्रहण कर लेते है।[1]

सृष्टि-प्रक्रिया

२—हंस-संप्रदाय

भगवान् ने हंस के रूप में सब से पहले इस संप्रदाय के सिद्धांतों को सनक आदि को सिखलाया। उन सबों ने फिर कुमार को सिखाया। कुमार से नारद और नारद से निबार्काचार्य को वही उपदेश मिले।[2] इसी लिए यह 'हंस-संप्रदाय' और 'निबार्क-सप्रदाय' भी कहलाता है। निबार्क सुदर्शन-चक्र के अवतार माने जाते है। इन के पिता अरुणमुनि और माता जयंतीदेवी थी। किसी-किसी मत से इन के माता और पिता के नाम क्रमशः सरस्वती और जगन्नाथ थे। ये निंबापुर या निंब या नैदूर्यपत्तन के रहने वाले तैलंगी ब्राह्मण थे। इन का जन्म किसी वैशाख शुक्ल तृतीया में हुआ था। डाक्टर

---

[1] 'यतिपतिमतदीपिका', पृ० १७

[2] १ ३—८ केशवस्वामी-रचित गीता की टीका

भडारकर के मतानुसार ये लगभग ११६२ ई० में मरे थे।[1] इस लिए इन का जीवन-काल बारहवीं सदी का प्रथम भाग होना चाहिए।

निंबार्काचार्य बड़े विद्वान् थे। इन में अलौकिक शक्ति भी थी। एक समय इन्हो ने अपनी शक्ति से एक संन्यासी को, नीम के पेड़ पर, अस्त हो जाने पर भी सूर्य का दर्शन कराया था, इसी लिए इन का निंबार्क नाम भी पड़ा यह कहा जाता है।[2]

'वेदांतपारिजातसौरभ', 'सिद्धांतरत्न', 'दशश्लोकी' 'श्रीकृष्णस्तव,' 'वेदात-कौस्तुभ', 'वेदांतकौस्तुभप्रभा', 'पांचजन्य', 'तत्वप्रकाशिका' तथा 'सकलाचार्यमतसग्रह' आदि ग्रंथ इन के मत के प्रतिपादक हैं।

निंबार्क-मत का दार्शनिक सिद्धांत 'भेदाभेद' या 'द्वैताद्वैत' है। इस मत मे जीवात्मा, परमात्मा या ईश्वर और प्रकृति या जड़ ये तीन तत्त्व हैं। ये तीनों आपस मे भिन्न-भिन्न है। इसी लिए ये द्वैतवादी है। जीव तथा प्रकृति ये दोनो परमात्मा के अधीन हैं। परमात्मा ओतप्रोत-भाव से जीव और जड़ में वर्तमान हैं। परमात्मा के बिना इन दोनों की स्थिति ही नहीं हो सकती है। परमात्मा से उन का इतना ही अंतर है जितना कि समुद्र का उस के तरंग से।[3] इसी लिए एक प्रकार से ये अभेदवादी भी हैं।

तत्त्व-निरूपण

'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' इत्यादि श्रुति के आधार पर ये लोग जीव को 'अणु' मानते है।[4] प्रत्येक प्राणी में जीव भिन्न-भिन्न है, और इसी से सुख-दुःख के वैचित्र्य का समाधान हो सकता है। यह अनंत और गुणमयी माया से बद्ध है। यह ज्ञान का आश्रय और ज्ञानस्वरूप भी है। इसी लिए इंद्रिय के बिना भी जीव में ज्ञान रहता है।[5]

जीवात्मा-निरूपण

जीव द्रष्टा, भोक्ता, कर्त्ता और श्रोता सभी है। यह अणु होने पर भी समस्त शरीर के सुख-दुःख का अनुभव करता है। इसी समस्त शरीर में प्रकाश भी है। अणु होने पर भी

---

[1] 'वेदांतपारिजातसौरभ'—भूमिका, पृ० ३; डाक्टर आर० जी० भंडारकर—'वैष्णविज्म ऐंड शैविज्म', पृ० ६२

[2] 'भक्तमाल', सर्ग २२ [3] 'वेदांतपारिजातसौरभ', १-२-५-६; २-१-१३

[4] पृ० १० , २ ३—१९, २२

[5] , पृ० ६ ११

गुणों के कारण जीव विभु भी है किंतु इस में सर्वगतत्त्व नहीं है। जीव स्वतंत्र नहीं है। यह अपने ज्ञान, कर्म, मोक्ष तथा बंधन सब के निमित्त ईश्वर पर निर्भर है। परमात्मा के अनुग्रह से सज्जन लोग जीवात्मा का भी ज्ञान प्राप्त करते हैं।[1] यह आनंदमय नहीं हो सकता है। अपने किए हुए कर्म का भोग यह स्वयं करता है। यह भी नित्य है।

जीव दो प्रकार के हैं—बद्ध और मुक्त। अनादि कर्म और वासना के फलस्वरूप देव, मनुष्य तथा तिर्यक् आदि का शरीर धारण कर उस में आत्मा या आत्मीय वस्तु का जो दृढ़ अभिमान रखते हैं वही 'बद्ध' हैं। ये जीव वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए मरने के बाद अपने कर्मानुसार फल का भोग कर अवशिष्ट भोग के लिए पुन. जन्म ग्रहण करते हैं। एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने के समय जीव सूक्ष्मभूत से युक्त रहता है। इन के अतिरिक्त जीव 'मुक्त' है। मुक्त-जीव भी दो प्रकार के होते हैं—एक तो नित्य-मुक्त, जैसे गरुड, विष्वक्सेन, भगवान् के विविध आभूषण जैसे वंशी आदि। दूसरे जो सत्कर्म करते हुए पूर्व जन्म के कर्मों का भोग संपन्न कर संसार के बंधन से मुक्त हो जाते हैं। मुक्त होने पर ये सब अर्चिरादि मार्ग से पर ज्योतिःस्वरूप को पा कर अपने यथार्थ स्वरूप में आविर्भूत होते हैं, और फिर लौट कर इस संसार में नहीं आते। इन में से कोई तो ईश्वर-सादृश्य प्राप्त करते हैं और कोई अपने आत्मा के स्वरूप के ज्ञानमात्र ही से तृप्त हो जाते हैं।

मुक्त-जीव भी भोग भोगते हैं। इस के लिए जीव को अपना कोई शरीर धारण करना आवश्यक नहीं है। स्वप्न के समान भगवत्-सृष्ट-शरीर आदि के द्वारा कदाचित् भगवान् की लीला के अनुसार केवल संकल्पमात्र से शरीर उत्पन्न कर मुक्त-जीव भोग प्राप्त करता है।[2] इन का ऐश्वर्य जगत के व्यापार से शून्य है।

जड़-निरूपण

जड़ पदार्थ के तीन भेद हैं—१—**अप्राकृत**—इस का उपादान सत्त्व, रजस् और तमस् नहीं है।[3] यह प्रकाशस्वरूप है। भगवान् का शरीर, सब आभूषण, नगर, उपवन आदि सभी वस्तु इसी से बने हैं, और ईश्वर की नित्य-विभूति का स्वरूप भी इसी में देख पड़ता है।

---

[1] 'सकलाचार्यमतसंग्रह', पृ० ११; वेदांतपारिजातसौरभ २—३—२३, २४, २५, २८ २९ [2] वेदांतपारिजातसौरभ ४—४—१३ १५

[3] पृ० १२

२—प्राकृत—इस श्रेणी के समस्त पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। संसार के सभी पदार्थ प्राकृतिक हैं।

३—काल—यह तत्त्व प्राकृत और अप्राकृत दोनो से भिन्न है। यह नित्य और विभु है।[1]

उक्त तीनों जड़-तत्त्व जीवात्मा के समान नित्य हैं। तीसरा तत्त्व ईश्वर, परमात्मा, वैश्वानर, ब्रह्म, पुरुषोत्तम, भगवान् आदि नाम से प्रसिद्ध है। यह तत्त्व स्वभाव ही से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश इन पाँचों दोषो से शून्य है। यह क्षर और अक्षर दोनों ही से उत्कृष्ट है। सर्वज्ञ, सब से अचित्य और अनंत शक्ति वाला, ब्रह्मा, ईश और काल आदि सब का नियंता, स्वतत्र, यज्ञ आदि सत्कर्मो का फल देने वाला, विश्व और जन्म आदि का कारण, एक मात्र वेद-प्रमाण से जानने योग्य, सब से भिन्न और फिर सब से अभिन्न भी विश्वरूप भगवान् ही ईश्वर-तत्त्व है।[2] यह स्वयं आनंदमय है, और जीव के आनंद का कारण भी है। यह पुण्य-पाप से परे है। मुमुक्षु लोग इसी ईश्वर का ध्यान करते हैं। यह जीवात्मा से भिन्न है इस लिए अहित और अकरणादि दोष इस में नही लगता। यह सब का द्रष्टा है। अमृतत्व और अभयत्व इसी में हैं।

ईश्वर-निरूपण

अनन्यशरण उपासकों के ऊपर अनुग्रह दिखाने के लिए भगवान् उन के इच्छानुरूप स्वरूप धारण करते है। निरतिशय सुखस्वरूप भी यही है। तीनों काल में रहने वाले कार्यमात्र का और आकाश का धारक ईश्वर है। भूत और भविष्य का स्वामी तथा नित्य आविर्भूत स्वरूप यही है। इस में स्वाभाविक आनंद, ज्ञान, बल, और क्रिया हैं। ईश्वर सभी शक्तियों से संपन्न है और सब कुछ कर सकता है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध ये चारों स्वरूप इन्हीं के अंग है।[3] मुमुक्षु लोग गोपियों के सहित वृषभानुकन्या के साथ बैकुंठ मे बैठे हुए श्रीकृष्ण भगवान् ही की उपासना करते है। केवल प्रतिपत्ति ही से इन का अनुग्रह होता है। यही संसार का उपादान तथा निमित्त कारण है। सर्वशक्तिमान

---

[1] **'सकलाचार्यमतसंग्रह', पृ० १२**

[2] **वेदांतपारिजातसौरभ, १—१—२, ४, १०, १२**

[3] **वही १ १ १ १५ २१ २२ १ २ २ ५ ६, ८ १० १३ २५ २७ ३० १ ३ ९ १० १६, २४, २७ २ १ २१, २६**

ब्रह्म अपनी शक्ति के विक्षेप के द्वारा अपने को जगत के आकार में परिणत कर, अव्याकृत स्वरूप, शक्ति और कृति से युक्त हो परिणत होता है। अर्थात् जिस प्रकार दूध कार्यरूप मे परिणत हो जाता है उसी प्रकार अपनी असाधारण शक्ति से युक्त परमात्मा भी जगत के आकार में परिणत होता है।[1] प्रलयावस्था में जीवात्मा और जगत दोनों ही सूक्ष्मरूप मे भगवान् ही मे लीन हो कर रहते हैं। यह सब भूतों के अंतरात्मा हैं इस लिए जगत के वस्तुमात्र चर और अचर सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं। अतएव यथार्थ वस्तु का ज्ञान भी यथार्थ ही है। यह भी इसी से मालूम होता है। मिथ्याज्ञान इन के मत में नहीं हो सकता है।[2]

सृष्टि-निरूपण

'मन' अपनी नानाविध वृत्ति से जीव का उपकार करता है। त्रिवृत्करण प्रक्रिया के अनुसार शरीर की सृष्टि इस मत में मानी जाती है। इस लिए पृथ्वी से विष्ठा, मास और मन; जल से मूत्र, शोणित एवं प्राण; तथा तेजस् से हड्डी, मज्जा और वाक् शरीर में उत्पन्न होता है। इस से यह भी मालूम होता है कि 'मन' पार्थिव वस्तु है।[3]

अवस्थांतर-प्राप्त वायु ही 'प्राण' है। महाभूतों के समान यह भी उत्पन्न होता है। यह भी जीव का उपकरण है। देह और इंद्रियो का विधारण प्राण का असाधारण कार्य है। यह 'अणु' परिमाण का है।[4]

यथार्थ में जाग्रत जीव के वैराग्य के निमित्त ही संसार की गति मानी जाती है। सृष्टि भाव-पदार्थ से होती है। इंद्रियां भी एक प्रकार की तत्त्व हैं। जीव के साथ इन्हे स्वस्वामिभाव-संबंध है। विषय का ग्रहण करना इन का काम है। ये ग्यारह हैं।

स्थूल देह में जो गर्मी है वह सूक्ष्म शरीर का धर्म है। पापियों को चंद्रगति नही मिलती। दक्षिणायन में भी मरने पर विद्वानों को ब्राह्म-प्राप्ति होती है। यमालय मे जो जाते हैं उन्हें दुःख का अनुभव होता है। शूद्रों को ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं है। वेद नित्य हैं। विश्व चित् और अचित् रूप, अचिंत्य विचित्र-संस्थानसंपन्न तथा असंख्येय नाम और रूप आदि विशेषों का आश्रय है।

---

[1] 'दशश्लोकी', ५, ८—९; वेदांतपारिजातसौरभ १—४—२६; २—१—२३
[2] वेदांतपारिजातसौरभ १—१—२; १—२—१९
[3] वही २ ४ १२ २०
[4] वही २ ४—७ ९, १०, ११ १३, १७

इस प्रकार के सिद्धांतों को मानते हुए निंबार्काचार्य ने अपना देश छोड़ कर वृंदावन आ कर वैष्णव-मत का प्रचार किया। रामानुज ने लक्ष्मीनारायण को प्राधान्य दिया और निंबार्क ने राधाकृष्ण को। रामानुज ने भक्ति और प्रपत्ति में भेद माना किंतु निंबार्क ने भक्ति को भी प्रपत्ति ही में मिला दिया। रामानुज ने चित् और अचित् मानते हुए भी विशिष्ट ईश्वर की ही प्रधानता स्वीकार कर अद्वैतवाद को माना परंतु, निंबार्क ने द्वैत तथा अद्वैत दोनों में एक ही प्रकार की प्रधानता मानी, अतएव द्वैताद्वैत-सिद्धांत ही की स्थापना की। इन प्रधान भेदों के अतिरिक्त अन्य गौण बातों में इन दोनों मतों में अधिकतर समानता ही मालूम होती है।

रामानुज और निंबार्क मत में विशेष भेद

(अपूर्ण)

जमाल के दोहे

[लेखक—श्रीयुत नरोत्तमदास स्वामी, एम्० ए०]

जमाल एक प्रसिद्ध कवि हो गया है। उस के दोहे जन-साधारण में बहुत प्रचलित हैं। कूटों के लिए उस की विशेष प्रसिद्धि है। यह कवि जाति का मुसलमान था। पर कौन था, कब हुआ और कहां हुआ, इन बातों का निश्चित पता नहीं चलता। 'मिश्रबंधु-विनोद' में इस कवि का जन्मकाल संवत् १६०२ वि० और कविताकाल संवत १६२७ वि० बताया गया है।[1] कवि के एक दोहे में अकबर का नाम आया है, और वह भी इस प्रकार मानो कवि उस का समकालीन हो।[2] इस से जान पड़ता है कि 'विनोद' में बताया हुआ समय ठीक है।

'मिश्रबंधु-विनोद'[3] में 'जमाल-पचीसी' और 'भक्तमाल की टिप्पणी' नाम की जमाल की दो रचनाएं बताई गई हैं, और यह भी कहा गया है कि इस ने गूढ़ काव्य लिखा है। इस निबंध का लेखक कई बरसों से राजस्थान की जनता में प्रचलित दोहों का संग्रह करता आ रहा है। इस संबंध में जमाल के बहुत से दोहे उसे मिले। इन दोहों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) नीति-सबंधी,

(२) श्रृंगार-रस-संबंधी और

(३) कूट-काव्यात्मक।

मौखिक रूप के अतिरिक्त लिखित रूप में भी जमाल के दोहे इस निबंध-लेखक के देखने में आए। एक दोहा-संग्रह मे कोई ३७ दोहे मिले। एक और अलग पन्ने पर ३५ दोहे प्राप्त हुए जिन मे कुछ नवीन भी थे। उक्त 'जमाल-पचीसी' हमारी समझ में कोई अलग रचना

---

[1] 'मिश्रबंधु-विनोद', भाग १, पृष्ठ ३२१, (द्वितीय संस्करण)।

[2] आगे देखिए, दोहा नंबर ६२

[3] भाग १, पृष्ठ ३२१, (द्वितीय संस्करण)

नहीं किन्तु इन्हीं में से पचीस दोहों का संकलन मात्र है, जो किसी ने बाद में कर दिया है। यह नाम भी बाद का ही रक्खा जान पड़ता है। भक्तमाल की टिप्पणी के विषय में हमें संदेह है, कि वह जमाल की रचना है।

जमाल के जो दोहे हमें मिले हैं, उन की भाषा राजस्थानी है। बीच-बीच में व्रज और खड़ीबोली का प्रभाव भी पाया जाता है। हम नहीं कह सकते कि जमाल राजस्थान का निवासी था या नहीं। लोक-प्रचलित साहित्य की भाषा समय और देश के साथ बदलती रहती है। हमारा संग्रह राजस्थान में किया गया है, अतः उस की भाषा का राजस्थानी होना स्वाभाविक है। फिर भी राजस्थान में इस कवि के 'दूहों' का इतना अधिक प्रचार है कि उस का राजस्थानी होना बहुत संभव है। मुसलमान होने के कारण खड़ीबोली का प्रभाव स्वाभाविक ही है।

हमारे पास संगृहीत जमाल के दोहों की संख्या ७२ है, पर वास्तविक संख्या कुछ कम ही समझना चाहिए, क्योंकि कई दोहे दूसरे दोहों के पाठांतर मात्र हैं। कूटात्मक दोहों में कुछ कूटों के उत्तरवाले दोहे भी मिले हैं, पर अधिकांश के नहीं मिल सके।

हम समझते हैं कि जमाल के दोहों की संख्या और अधिक है। संभव है इस प्रयत्न को देख कर खोज-प्रेमियों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो, इस लिए अब तक प्राप्त समस्त दोहों को हम यहां प्रकाशित किए देते हैं। साधारण जनता को भी इन में पर्याप्त रस मिलेगा।

दोहे

(१) नीति

पूनम चाँद, कुसूँभ रँग, नदी-तीर द्रुम-डाळ।
रेत भींत, भुस लीपणो, ऐ थिर नहीं, जमाल ॥१॥

---

१ पूनों का चाँद कुसुम का रंग नदी किनारे के पेड़ की डाल, रेत की भीत और भुस का लीपना—ये कभी स्थिर नहीं रहते

दुतिया चाँद, मजीठ रँग, साध-वचन-प्रतिपाळ ।
पाहण रेख, करम्म गत, ऐ नहिँ मिटत, जमाल ॥२॥

इक रँग रंग[1] कुसुंभ रँग, नदी-तीर द्रुम-डाळ ।
रेत-भींत, भुस लीपणो, किम द्रढ रहै, जमाल ॥३॥

रंग ज चोळ मजीठ का, संत वचन प्रतिपाळ ।
पाहण रेख 'र करम गत, ऐ किम मिटै, जमाल ॥४॥

(२) प्रेम

जमला, ऐसी प्रीत कर, ज्यूं बाळक[2] की माय ।
मन लै राखै पालणै, तन पाणी कूँ जाय ॥५॥

जमला, ऐसी प्रीत कर, जैसी मच्छ कराय ।
टुक एक जळ थी बीछड़ै, तड़फ तड़फ मर जाय ॥६॥

जमला, ऐसी प्रीत कर, जैसी निस अर चंद ।
चंदे बिन निस साँवळी, निस बिन चंदो मंद ॥७॥

---

२. दूज का चाँद, मजीठ का रंग, सज्जनों का प्रतिज्ञा-पालन, पत्थर पर
रेखा, और भाग्य की गति—ये कभी नहीं मिटते।

३. एकांगी प्रेम (?) कुसुम का रंग, नदी के किनारे खड़े पेड़ की डाल
भीत और भुस का लीपना—ये क्यों कर स्थायी रह सकते हैं ?

४. मजीठ का रंग, सज्जनों का प्रतिज्ञा-पालन, पत्थर की रेखा और भाग
—ये क्यों कर मिट सकते हैं ?

५. ऐसी प्रीति करो जैसी बालक की मा बालक से करती है। वह चाहे जो
रही हो पर ध्यान उस का सदा बच्चे में ही रहता है। शरीर से पानी को जाती है,
अपने मन को सदा झूले में ही रखती है, जहां उस का बालक सोया है।

६. ऐसी प्रीति करो जैसी मछली जल से करती है, जो जल से ज़रा भी
ही तड़फ-तड़फ कर मर जाती है।

७. ऐसी प्रीति करो जैसी रात और चाँद में है। चाँद के बिना रात काली
है, और रात के बिना चाँद ज्योतिहीन हो जाता है।

---

[1] पाठ संदिग्ध है   [2] —बाले

जमला, ऐसी प्रीत कर, जैसी हिंदू जोय ।
पूत पराये कारणै, जळ-बळ कोयला होय[1] ॥८॥
जमला, ऐसी प्रीत कर, जैसी केस कराय ।
कै काळा कै ऊजळा, जय तब सिर सूँ जाय[2] ॥९॥
जमला, जा सूँ प्रीत कर, प्रीत सहित रह पास ।
ना वह मिलै न बीछड़ै, ना तो होय निरास ॥१०॥
प्रीत ज कीजै देह धर, उत्तम कुळ सूँ, लाल ।
चकमक जुग जळ में रहै, अगन न तजै, जमाल ॥११॥
जमला, कपड़ा धोइये, सत का साबू लाय ।
बूँद ज लागी प्रेम की, छींट-छींट[3] होय जाय ॥१२॥
जमला, लट्टू काठ का, रंग दिया करतार ।
डोरी बाँधी[4] प्रेम की, घूम रह्या संसार ॥१३॥

---

८. ऐसी प्रीति करो जैसी हिंदू की स्त्री करती है, जो एक पराए के पुत्र (अपने ति) के लिए जल कर राख हो जाती है (सती हो जाती है)।

९. ऐसी प्रीति करो जैसी सिर के केश करते हैं। (आगे का अर्थ स्पष्ट नहीं)।

१०. उस से प्रीति करो जो प्रेमपूर्वक पास में रहे, कभी मिले-बिछड़े नहीं और भी आशा न छोड़े (या जिस से निराशा प्राप्त न हो)। (अर्थ संदिग्ध है)

११. हे प्यारे, संसार में जन्म ले कर उत्तम कुल के व्यक्ति से प्रेम करना चाहिए ो कभी प्रेम करना न छोड़े जिस तरह चकमक का पत्थर युगों तक पानी में रहने पर अपनी आग को नहीं छोड़ता।

१२. सत्य का साबुन लगा कर कपड़ा धोओ। प्रेम की बूँद लगते ही टूक-टूक हो ायगा।

१३. काठ का बना हुआ एक लट्टू है, जिस को विधाता ने रंग दिया है। उस प्रेम की डोर बँधी है जिस के कारण वह संसार में घूम रहा है।

---

[1] सम्मन कवि का भी एक ऐसा ही दोहा मिलता है जो इस प्रकार है:—
सम्मन, ऐसी प्रीत कर, ज्यों हिंदू की जोय।
जीताँ जी तो संग रहै, मर्याँ प सत्ती होय ॥

[2] पाठ संदिग्ध है।

[3] —टूक-टूक [4] डोर ज लागी

जमला, प्रीत सुजाण सें, जे कर जाणै कोय।
जैसा मेळा निजर का, तैसा सेज न होय[1] ॥१४॥

जोबन की हूँ जिह करूँ, तन-मन करूँ कबाण।
नैणा के दो सर करूँ, जे कोय मिलै सुजाण ॥१५॥

मन उमगे हसती भयो, चिके पाट असराळ।
संकळ तोड़ै सार का, मुझ बस नहीं, जमाल ॥१६॥

या तन की जूती करूँ, काढ़ रँगाऊँ खाल।
पाँयन सें लिपटी रहूँ, आठूँ पोर, जमाल ॥१७॥

बकरी होस्यूँ राज री, काढ़ रँगाज्यो खाल।
पाँयन बिच लिपटी रहूँ, आठूँ पोर, जमाल ॥१८॥

जमला, तो सूँ कह रही, काढ रँगावूँ खाल।
तेरे पग कूँ पानही, जूती करूँ, जमाल ॥१९॥

---

१४. यदि प्रिय से कोई सच्चा प्रेम कर जाने, तो जैसा सुखकर मिलन नेत्रों का होता है, वैसा सेज का भी नहीं होता। (प्रिय के दर्शन का आनंद सब से बढ़ कर होता है)।

१५. यदि कोई सच्चा प्रेमी मिले तो मैं यौवन की डोरी, तन-मन का कमान और नेत्रों के दो बान करूं।

१६. मन उमड़ कर हाथी बन गया है, जो लोहे की जंजीरों को भी तोड़े डालता है। अब वह मेरे बस में नहीं रहा।

१७. अपने शरीर की चमड़ी को निकाल कर रँगाऊँगी, उस की जूती बनाऊँगी और प्रियतम के पैरों में आठों पहर लिपटी रहूँगी।

१८. हे प्रियतम, मैं तुम्हारी बकरी होऊँगी; मेरी चमड़ी को निकाल कर रँगा लो, और उस की जूती बना लो जिस से मैं तुम्हारे पैरों में आठों पहर लिपटी रहूँ।

१९. हे प्रियतम, मैं तुम से कह रही हूँ कि अपनी चमड़ी को निकाल कर रँगाऊँगी और तुम्हारे पैर के लिए जूती बनाऊँगी।

---

[1] ऐसा ही एक और दोहा नीचे लिखे अनुसार है—
नैणां हंदी प्रीतडी जे कर जाणै कोय
जो रस नणां ऊपजै सो रस सेज न होय

(३) विरह

जमला, प्रीत न कीजियै, काहू सों चित लाय।
अलप मिलण, विछड़न बहुत, तड़फ-तड़फ जिय जाय[१] ॥२०॥
पिव कारण सब अरपियो, तन-मन-जोबन, लाल।
पिया पीड़ जाणै नहीं, किण सूँ कहूँ, जमाल ॥२१॥
जमला, जोगण मैं भई, घात गळे म्रग-छाळ[२]।
बन-बन डोलत हूँ फिरूँ, करत जमाल जमाल ॥२२॥
जमला, सहु जग हूँ फिरी, बाँध कमर म्रग-छाळ।
अजहूँ कंत न मानही (?) अवगुण कोण, जमाल ॥२३॥
तन सरवर, मन माछळी, पड़ी विरह के जाळ।
तड़फ-तड़फ जिय जात है, वेगा मिलो, जमाल ॥२४॥
मन दारू, तन तपक है[३], विरह पलीता, लाल।
आह अवाज न निकसती जाती फूट, जमाल ॥२५॥

---

२०. किसी से भी चित्त लगा कर प्रेम मत करो क्योंकि प्रेम में मिलन तो थोड़ है, पर वियोग अधिक होता है, और तड़फ-तड़फ कर प्राण देने पड़ते हैं।

२१. हे प्यारे, प्रियतम को मैं ने तन, मन और यौवन सब कुछ दे दिया, पर प्रियतम व्यथा को नहीं जानते। अब किस से कहूं ?

२२. गले में मृगछाला डाल कर मैं जोगिन बन गई हूँ, और बन-बन में 'हे जमाल, माल' करती फिरती हूँ। (जमाल = प्रियतम का नाम)

२३. कमर में मृगछाला बाँधे हुए मै सारे संसार में फिर ली। पर प्रियतम भी नहीं मिलते (या, ध्यान में नहीं लाते)। मेरा क्या दोष है ?

२४. यह शरीर सरोवर है और मन मछली है जो विरह के जाल में जा पड़ी है। -तड़फ कर प्राण जा रहे हैं। हे प्रियतम, जल्दी मिलो।

२५. हे प्यारे, तन तोप है, मन बारूद है, और विरह पलीता है, यदि 'आह' रूपी ज न निकलती तो यह तोप फट ही जाती।

---

[१] पाठांतर मिलण बहु वीछड़न सोचत ही जिय जाय
[२] ओढ़ मिरग की छाल [३] दुखदाई छातियाँ तपक

साजण विसराया भला, सुमरचा करै बेहाल ।
देखो चतर विचार कै, साची कहै जमाल ॥२६॥

या तन की भट्टी करूँ, मन कूँ करूँ कलाल ।
नैणाँ का प्याला करूँ, भर-भर पियो, जमाल ॥२७॥

नैणाँ का लडुवा करूँ, कुच का करूँ अनार (?)।
सीस नाय आगे धरूँ, लेवो चतर, जमाल ॥२८॥

मनसा तो गाहक भए, नैणा भए दलाल ।
धनी वसत वेचै नहीं, किस विध वणै, जमाल ॥२९॥

गुण के गाहक लख भए, नैणा भए दलाल ।
वसत खसम वेचै नहीं, बाढै कहा, जमाल ॥३०॥

जमला, जिय गाहक भए, नैणा भए दलाल ।
धनी वसत नहिं वेचही, भूले फिरत जमाल ॥३१॥

जोबन आए गाहकी, नैणाँ मिले दलाल ।
गाहक आए लेण कूँ, वेचो क्यूँ न, जमाल ॥३२॥

---

२६. प्रियतम को भुला देना ही अच्छा है, क्योंकि याद करने से बुरा हाल हो जाता है। चतुर, विचार कर देख लो, जमाल सच कहता है।

२७. नैणाँ का प्याला=नयनों के प्याले ।

२८. लडुवा=लड्डू। नाय=नवा कर। लेवो=लो। चतर=हे चतुर प्रियतम !

२९. मन गाहक है, नयन दलाल है परंतु मालिक अपनी चीज को बेचता ही नहीं। अब कैसे बने ?

३०. गुण के लाखों ग्राहक हैं, नयन दलाल हैं; परंतु मालिक चीज को नहीं बेचता। फिर लाभ कैसे हो ?

३१. प्राण ग्राहक हैं, नयन दलाल हैं, परंतु मालिक चीज को बेचता नहीं। जिस से वे भूले से फिरते हैं।

३२ यौवन की खरीद के लिए ग्राहक आए हैं नयनरूपी दलाल भी मिल गए हे प्रियतम तुम क्यो नहीं बचते ?

(४) यौवन

जमला जोबन फूल है, फूलत ही[1] कुमळाय ।
जाण बटाऊ पंथसिर, बैसै भी[2] उठ जाय ॥३३॥

जब तरणायो मुझ्झ थो, पाय परत नित, लाल ।
कर ग्रह सीस नवावती, जोबन गरब, जमाल ॥३४॥

तरवर पत्त निपत्त भयो, फिर पतयौ ततकाळ ।
जोबन पत्त निपत्त भयो, फिर पतयौ न, जमाल ॥३५॥

(५) नायिका

नयण रँगीले, कुच कठिन, मधुर वयण पिक, लाल[3] ।
कामण चली गयंद-गति, सब विध वणी, जमाल ॥३६॥

सिस, खंजण, माणक, कँवळ, कीर, वदन[4] अेक डाळ ।
भवँग पूँछ तें डसत है, निरखत डरचो, जमाल ॥३७॥

---

३३. यौवन एक फूल है, जो फूलने के बाद तुरंत कुम्हला जाता है। टाऊ है, जो मार्ग में बैठता है और बैठ कर उठ जाता है (थोड़ी देर बैठने के ता है, ठहरता नहीं) ।

३४. हे प्यारे, जब मेरे पास यौवन था, तब सभी मेरे पाँवों पड़ते थे वन के गर्व में हाथ पकड़ कर सिरों को झुका देती थी। (अर्थ स्पष्ट नहीं)

३५. पेड़ पत्तों से रहित हुआ, पर तुरंत ही नए पत्तों से युक्त हो गया। ा पेड़ जब पत्तों से रहित हुआ तो फिर कभी पत्तों से युक्त नहीं हुआ।

३६. कामण=कामिनी। वणी=सजी हुई।

३७. चंद्रमा, खंजन, माणिक्य, कमल, शुक, और वदन (?) को ए देखा और देखा कि साँप पूँछ से डस रहा है। देख कर मैं डर गया।

(डाल=स्त्री का शरीर। ससि=मुख। खंजन=आँखें। कमल=मुख ासिका। भुजंग=वेणी।)

---

[1] पाठांतर [2] फूले [3] बैठत ही [4] अधर डसण पि पाठ सविघ्न है

जमला, एक परब्ब छबि, चंद मधे बिबि चंद ।
ता मध्धे होय नीकसे, केहर चढे गयंद ॥३८॥

प्रथम समै कुच ऊगते, कंचुकि कसण वणाय ।
मनु अनंग तंबू दिए, अरि-गंजण कूँ आय ॥३९॥

कर ज्यो गोर जमाल की, नगर कूप के माँय ।
म्रग-नैणी चपळा फिरै, पड़ै कुचन की छाँय ॥४०॥

(६) कूट

दधसुत कामण कर लिए, करण हंस-प्रतिपाळ ।
वीच चकोरन चुग लिए, कारण कोण, जमाल ॥४१॥

अरुणी राची करन पै, ताकी झिलकत कोर ।
पावक के भोरे भए, ता तें चुगत चकोर ॥४२॥

गोरी दधसुत कर गह्यो, हंस करण प्रतिपाळ ।
उडै न हंस चकोर चुग, कारण कोण, जमाल ॥४३॥

---

३८. एक अपूर्व पर्व (पूर्णिमा) की छबि है कि चाँद के अंदर दो चाँद दिखाई पड़े और उन में से हाथी पर चढ़ा हुआ सिंह निकला। (अर्थ स्पष्ट नहीं)

३९. युवावस्था के आरंभ में कुच उदित हुए, उन के ऊपर कंचुकी बंधनों से कसी हुई है। मानो शत्रुओं को जीतने के लिए काम ने आ कर तंबू कसे है।

४०. जमाल कहता है कि मेरी कब्र नगर के कूप के अंदर बनाना, जहां चपल मृगनयनियां फिरती हों और उन के कुचों की छाया पड़े।

४१. हंसों को चुगाने के लिए कामिनी ने मोती हाथ में लिए; पर बीच में ही चकोर उन्हें चुग गए। क्या कारण हुआ ?

४२. हाथों में मेहँदी की लाली रची हुई थी, उस का प्रतिबिंब मोतियों में पड़ रहा था, जिस से मोतियों को चकोरों ने अंगारे समझा और चुग गये।

४३ हंसों को चुगाने के लिए नायिका ने मोती हाथ में लिए पर हंस उड़ कर पास नहीं आते और चकोर चुग रहे हं क्या कारण है ?

कामण जावक रँग रच्यौ. दमकत मुगता-कोर ।
इम हंसा मोती तजे, इम चुग लिए चकोर ॥४४॥

वायस राहु भुजंग हर, लिखत त्रिया तत काळ ।
लिख-लिख मेटै सुंदरी, कारण कोण, जमाल[१] ॥४५॥

ससि पिक मैण समीर डर, खीण भयी अति बाळ ।
ता पिवरख (?) के कारणे, मेटत लिखत जमाल[२] ॥४६॥

आज अमावस, सबन घर, है वर दीपक माळ ।
मो मन में संकट भयो, कारण कोण, जमाल ॥४७॥

सब के पीतम निकट है, मो पीतम नहिं, लाल ।
इण कारण मो चित्त में, संकट भयो, जमाल ॥४८॥

त्रसावंत सुंदर भई, गई सरोवर-पाळ ।
सर सूक्यो, आणँद भयो, कारण कोण, जमाल ॥४९॥

---

४४. नायिका के हाथों में महावर का रंग रचा हुआ है, जिस का प्रतिबिंब मोतियों में पड़ रहा है, जिस से मोतियों का रंग लाल हो गया है, और वे मोती न दिखाई दे कर अंगारे दीख रहे हैं। इसी कारण हंसों ने उन्हें छोड़ दिया, और चकोरों ने चुँग लिया।

४५. नायिका काग, राहु, सर्प और महादेव के चित्र लिखती है और लिख-लिख कर मिटा देती है। क्या कारण है ?

४६. चंद्रमा, कोयल, कामदेव और मलय पवन के डर से वह विरहिणी बहुत क्षीण हो गई है। इस लिए उन्हें हटाने को राहु, काग, महादेव और सर्प के चित्र बार-बार लिखती और मिटाती है।

४७. आज अमावस्या है। सब के घर सुहावनी दीप-मालिका हो रही है। परंतु मेरे मन में संकट हो रहा है। क्या कारण है ?

४८. सब के प्रियतम पास में हैं, परंतु हे प्यारे, मेरे प्रियतम पास नहीं है। इसी कारण मेरे चित्त में संकट हो रहा है।

४९. सुंदरी प्यासी हुई, और सरोवर के किनारे गई। जाते ही सरोवर सूख गया, पर उस को आनंद हुआ। क्या कारण?

---

[१] पाठांतर—वायस राहु भुयंग य (व ?) पु, लिखत त्रिया त्रिण काळ ।
लिख लिख मेटै भी लिखै, कारण कोण जमाल ॥

[२] वध्रन हतै वायस डरूँ (?) कामदेव सूँ आल (?) ।
पन्नग मैं पथनह डरूँ ? ससि मुख राहु जमाल

अवधि दीय है मिलण की, त्याँ आय मिले जु लाल (?)।
सर सूके आणँद भयो, कारण एह, जमाल ॥५०॥

मालण वेचत कँवल कूँ, वदन छिपावत बाळ।[1]
लाज न काहू की करै, कारण कोण, जमाल ॥५१॥

चंद-ग्रहण जब होत है, दुनी देत है माल।
विरहिणि लोंग ज देत है, कारण कोण, जमाल ॥५२॥

बाळपणे धोळा भया, तरुणपणे भया लाल।
व्रध्धपणे काळा भया, कारण कोण, जमाल ॥५३॥

उमड़ घटा घन देख कै, चढ़ी अटा पर बाळ।
मोतिन लड़ मुख में लई, कारण कोण, जमाल ॥५४॥

सजि सोळह, बारह पहरि, चढ़ी अटा अेक बाल।
उतरी कोयल बोल सुण, कारण कोण, जमाल ॥५५॥

---

५०. प्रियतम ने मिलने की अवधि दी थी, और वहां आ कर वे मिले। इस कारण सरोवर के सूखने पर भी आनंद हुआ। (इस दोहे का पाठ और अर्थ दोनों संदिग्ध हैं।)

५१. मालिन कमल के फूल बेचती है। उन को देख कर बाला अपना मुख छिपा लेती है। वह किसी की लाज नहीं करती। फिर मुँह छिपाने का क्या कारण? (उत्तर—मुख सामने करने से कमल मुरझा जाते हैं, इस लिए)

५२. जब चंद्र-ग्रहण होता है तब दुनिया माल (माला? धन?) का दान करती है, पर विरहणी लवंग देती है। किस कारण?

५३. बालपन में सफ़ेद हुआ, युवावस्था में लाल हुआ, और वृद्धावस्था में काला हुआ। क्या कारण है? (उत्तर—अफ़ीम जो पहले सफ़ेद, फिर लाल और अंत में काली हो जाती है।)

५४. बादलों की घटा का उमड़ना देख कर बाला अटारी पर चढ़ी और मोतियों की लड़ी मुख में ली। किस कारण से?

५५. एक बाला सोलह शृंगार सजा कर और बारह आभूषण पहन कर अटारी पर चढ़ी पर कोयल का बोल सुन कर नीचे उतर आई। किस कारण से?

---

[1] आगे के दोहों के उत्तरवाले दोहे प्राप्त नहीं हुए।

सिव-अँग-भूखण कर ग्रहे, वण बैठी थों बाळ ।
पिव कारण विग्रह करै, कारण कोण, जमाल ॥५६॥
इत आवत, उत जात है, भगतन के प्रतिपाळ ।
वंसी सजवत कदम चढ़, कारण कोण, जमाल ॥५७॥
जमला, ढूँढण हूँ[1] गई, भूल पड़ी अेक[2] ताल ।
एक कँवळ, दो पाँखड़ी, बीचोंबीच[3] जमाल ॥५८॥
अगर चँदण की सिर घड़ी, विच वींटळी गुलाल ।
एक ज दरसण हम कियो, तीरथ जात, जमाल ॥५९॥

(७) फुटकर

सकल छत्रपति वस किये, अपणे ही बळ बाळ ।
सबळा कूँ अबला कहै, मूरख लोग,[4] जमाल ॥६०॥
जमला, करै त क्या डरै[5], कर कर क्या[6] पछताय ।
रोपै पेड़ बबूल का, आम कहाँ तें खाय ॥६१॥

---

५६. (अर्थ स्पष्ट नहीं) सिव-अंग-भूखन=विष ?

५७. भक्तों के प्रतिपालक इधर आते हैं, और उधर जाते हैं; तथा कदंब पर चढ़ कर वंशी सजाते हैं। किस कारण ?

५८. मैं प्रियतम को ढूंढ़ने के लिए गई। मार्ग में भूल कर एक तालाब में जा पहुँची। वहां देखा कि एक कमल है, जिस की दो पंखुरियां हैं, और ठीक बीच में प्रियतम बैठे हैं। (कमल=नेत्र। पाँखुरी=पलक)

५९. सिर पर अगर और चंदन का घड़ा है; बीच में गुलाल की कटोरी है। तीर्थ जाते हुए ऐसा एक दर्शन हम ने देखा। (अर्थ स्पष्ट नहीं)

६०. बाला ने छत्रपतियों (राजाओं) तक को अपने ही बल से वश में कर रखा है ऐसी सबला को मूर्ख लोग ही अबला कहते हैं।

६१. यदि करता है तो क्या डरता है, और करने के बाद क्या पछताता है ? जो बबूल का पेड़ रोपता है, वह आम कहां से खावेगा ?

---

[1] पाठांतर—मैं [2] निसि [3] जा में छिपे। [4] कारण कोण
[5] करौ त क्या डरौ [6] मी

जमला, अकबर[1] कर ग्रहे, बरसत कंचन-नीर।
हम सिर छत्र दळिद्द का, बूँद न पड़त सरीर ॥६२॥

जमला, तहाँ न जाइयै, जाँ केहरी निवाण।
आ सँभराईसि दुख्खड़ा, माराइसि अप्पाण ॥६३॥

जमला, जात तँबोलियो, उळटै पळटै पान।
अपणा साँइ कूँ यूँ मिलै, ज्यूँ जेह कुल में कबाण ॥६४॥

जमला, गुडी उडावता, तन की करता डोर।
कोह् जवाब जब थी गयो, गई बीच थी तोड़ ॥६५॥

जमला, बैठो चौंतरे, नखण गए टँकसाळ।
अंगूठी कर ही रही, गया नगीना, लाल ॥६६॥

गिर परबत डोलै नहीं, डोलै मंक्ष दुवार।
प्रीत ज लागी प्रेम की, सो क्यूँ मिटै, जमाल ॥६७॥

जो कछु किया सो तुम किया, मै न किया, मेरे लाल।
लंका सा गढ भेळिया[2], घर के भेद, जमाल ॥६८॥

अलक जु[3] लागी पलक सूँ, पलक रही ग्रह झाल।
आँखिन प्रेम फरक्किया, नींद न पड़त, जमाल ॥६९॥

अलक जु लागी पलक सूँ, देख एल के ताल।
दोय बगला एक माछळी, दोय दुख भए जमाल ॥७०॥

अलक जु लागी पलक सूँ, थिरक तरण तक ताल।
निरखि गरे छबि मीन कूँ, फिरि निकसे न जमाल ॥७१॥

अलक जु लागी पलक सूँ, पलक रही तिहाँ, लाल।
खिड़की खोलि न आवही सूरतियाक, जमाल ॥७२॥

---

६२. सम्राट् अकबर हाथ में ले कर सोने की वर्षा कर रहे हैं, पर बीच में श्री का छत्ता होने से मेरे शरीर पर उस वर्षा की बूंद भी नहीं पड़ने पाती।

६३–७२. (इन दोहों का अर्थ स्पष्ट न होने से नहीं दिया गया है।)

---

[1] । [2] तोड़िया। [3] न

समालोचना

कविता

सिद्धार्थ—रचयिता, श्री अनूप शर्मा, एम्० ए०, एल्० टी०। प्रकाशक, हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, बंबई। पृष्ठ-संख्या १८+३०२+१२। १९३७। मूल्य ३)

श्री जयशंकर 'प्रसाद' की 'कामायनी' के शीघ्र अनंतर श्री अनूप शर्मा के 'सिद्धार्थ' नामक महाकाव्य का प्रकाशित होना इस बात का सूचक है कि महाकाव्यों की रचना का युग अतीत नहीं हो गया। आज भी हमारे अनेक कविगण परंपरानुसार महाकाव्य की रचना करना अपना परम ध्येय समझते हैं। आद्यंत पढ़ लेने पर पाठक को यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि रचयिता ने इस महाकाव्य के प्रस्तुत करने में बड़ा परिश्रम किया है। सब कुछ देखते हुए यह परिश्रम असफल न कहा जायगा। हम कवि को उस के इस कृत्य पर हार्दिक बधाई देते हैं।

कवि ने अपने काव्य की रचना संस्कृत अथवा वर्णिक वृत्तों में की है। इस मार्ग में श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय अपने 'प्रियप्रवास' की रचना द्वारा अग्रणी रहे हैं। विषय भी अछूता नहीं है। कई भाषाओं में कवियों ने बुद्धचरित को अपनी प्रेरणा का आधार मान कर अपनी वाणी को पवित्र किया है। लेखक ने स्वयं सर एडविन अर्नाल्ड (जिसे वह भूल से मैथ्यू अर्नाल्ड लिखता है) की 'लाइट अव् एशिया' तथा अश्वघोष और श्री रामचंद्र शुक्ल के 'बुद्धचरित' की चर्चा की है। फिर भी कौन कह सकता है कि भगवान् शाक्यमुनि का पावन, शाश्वत, चरित्र अनेक कवियों की कल्पना को निरंतर सजग और प्रेरित नहीं कर सकता? इस दृष्टि से विषय के चुनाव में कवि के प्रति किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यह काव्य अठारह सर्गों में विभाजित हुआ है, जिन के शीर्षक शुभ स्वप्न, भाग्योदय, उन्मेष, अनुकंपा, अवरोध, संयोग, राग, अभिज्ञान, चिंतना, भावी, अभिनिवेदन, महाभिनिष्क्रमण व्यथा, संबोध, संदेश, यशोधरा, दर्शन और निर्वाण हैं। इस प्रकार प्रधान पात्र का चरित्र

जन्म के पूर्व से लेकर निर्वाण तक इस कृति में समाविष्ट हो सका है। महाकाव्य की मर्यादा का और विषय के महत्त्व का सर्वत्र कवि को ध्यान रहा है और कथा का कवि ने उचित रीति से निर्वाह किया है। हां, हम जानते हैं कि कविवर मैथिलीशरण गुप्त न अपनी 'यशोधरा' मे राहुल का कैसा सुदर चित्रण किया है। अतएव प्रस्तुत कृति में राहुल का चित्रण न लाना कथा के एक और मार्मिक अंग को छोड़ना है। भाषा अधिकतर परिमार्जित व्याकरण-सम्मत, प्रवाहिनी है; भाव उचित और मर्यादित हैं। इन बातों को ले कर रचना पर समग्र रूप से आक्षेप कदाचित् नही किया जा सकता। फिर भी कोई त्रुटि है जिसे हृदय अनुभव करता है। यों तो कविता का प्रभाव बहुत कुछ वाचक की मानसिक प्रवृत्ति और ग्रहण शक्ति पर अवलंबित है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि समग्र रूप से रचना में वह नव्यता, वह अलौकिकता नही है जो इसे साहित्य में अडिग स्थान दिला सके। भगवान् बुद्ध के चरित्र के विश्लेषण में कोई भी ऐसी बात नही है जो हमे कवि की मौलिकता तथा उस की चमत्कारिक बुद्धि से प्रभावित करे। महाकाव्य में हम पद्यात्मक प्रबंध से विशेषतर गुणों की अपेक्षा करते हैं।

कवि ने अपने काव्य के प्रारंभ मे 'कवि और काव्य' शीर्षक एक १४ पृष्ठों की भूमिका लिखी है। इन पंक्तियो के लेखक को कविता-ग्रथों में विस्तृत भूमिकाओं के लिखे जाने पर आपत्ति है। कवि की रचना की कसौटी उस की कविता है, न कि कविता-सबधी उस के विचार। ऐसी भूमिका और भी अनावश्यक उस समय हो जाती है जब कि (जैसा इस पुस्तक में है) उस का रचना से कोई साक्षात् संबंध न हो। कवि और कविता के सबंध में लेखक के जो विचार है उन की समीक्षा एक अलग विषय हो सकता है और स्पष्ट है कि लेखक के सभी विचारों से साहमत्य असंभव है। कवि के आदर्श यहां पर उस की रचना की जांच करने में सहायक नहीं, बाधक होते है। 'कवियों के मस्तिष्क की बनावट' आदि की व्याख्या स्पष्टत: कविता के रसास्वादन की दृष्टि से अप्रासंगिक है।

रचना की भाषा के विषय में कवि का वक्तव्य है :—"इस ग्रंथ को, मैंने जहां तक हो सका, शुद्ध खड़ीबोली में लिखने का प्रयत्न किया है—अर्थात् मिश्रित समास, उलटे समास, व्याकरण-असम्मत प्रयोग तथा व्रजबोली अथवा अन्य किसी बोली की पुट इस मे आप बहुत कम पावेंगे।" लेखक को निस्संदेह भाषा के प्रयोग में बहुत सफलता प्राप्त हुई है यह देखते हुए कि रचना सवत्र वर्णिक वृत्तो में हुई है केवल इस दृष्टि से

से 'सिद्धार्थ' कदाचित् अधिक सफल है। फिर भी 'पर' के स्थान में 'पै' का पुस्तक में बहु-प्रयोग खटकता है। अन्य बातों मे भी स्वतंत्रता ली गई है। 'अंगराग' को 'अँगराग' (पृ० ६९) 'सिंहासन' को 'सिँहासन' (पृष्ठ २८०), संदेश को 'सँदेश' (पृ० ११३) खड़ीबोली में लिखना उचित नहीं। प्रकाशित करने के लिए 'प्रकाशने' (पृ० १९१) भी खड़ीबोली का शुद्ध प्रयोग न कहा जायगा। 'बड़रे' और 'उनई' शब्द भी अनुपयुक्त हैं। इस प्रकार के यत्र-तत्र अन्य संदिग्ध प्रयोग मिलेंगे। इस के अतिरिक्त एक बात और है जो कि खटकती है। वह है हिंदी विशेषणों में संस्कृत के अनुसार लिंग-निदर्शन। देखिए—'मानी गई मदन की प्रभुता अजेया' (पृ० ६७) यहां साधारण हिंदी में अजेय का प्रयोग 'अजेया' के स्थान पर होगा और वह शुद्ध होगा। परंतु कदाचित् वर्णिक वृत्तों के ग्रहण करने के कारण इस प्रवृत्ति को वश में रखना रचयिता के लिए कठिन होता। इन छंदों के चुनाव के कारण ही अक्सर पदावली इतनी संस्कृतमय हो गई है कि पढ़ते हुए यह ध्यान क्षण भर के लिए विरत हो जाता है कि रचना हिंदी की है। उदाहरण के लिए कुछ स्फुट और बिना विशेष प्रयास के चुने हुए छंद लीजिए—

"आजन्म-कोकनद-कानन-कामचारी
मातंग-गंड-मद-चारण-चक्रवर्ती
मंदार-मेदुर-मरंद-रसाल-लोभी
हैं पश्यतोहर सुखी सर-मध्य-वर्ती।" (पृ० ९९)

"सकंप-शीर्षा, हरिता, मनोहरा,
महामनोज्ञा, अतिरम्यपल्लवा,
सुगंधयुक्ता, वृहती सुखावहा,
कदंबकी थी, अटवी सु-पुष्पिता।" (पृ० १०६)

"कुमुद्वती-संग पराग-राशिनी,
सुहासिनी वार-वधू-विलासिनी,
महा-तमोमंडल की प्रकाशिनी,
प्रबुद्ध ज्योत्स्ना यह मत्त-काशिनी।" (पृ० १३३)

परतु अन्यत्र सहज सरल भाषा का भी प्रयोग बराबर मिलता है

पुस्तक का प्रकाशन बहुत सुंदर ढंग से हुआ है, जिस के लिए प्रकाशकों की प्रशंसा होनी चाहिए।

रोटी का राग—रचयिता, श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल। प्रकाशक, सस्ता-साहित्य-मंडल, दिल्ली। पृष्ठ-संख्या ७८। १९३७। मूल्य ।॥)

'रोटी का राग' श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल की ४३ छोटी-छोटी कविताओं की पुस्तक का, किंचित् आकर्षक शीर्षक है। इस का पहला प्रस्तावित शीर्षक कदाचित् 'नए युग का राग' था परंतु इस बाद वाले शीर्षक से कविताओं के विषय का विशेष रूप से स्पष्टीकरण हो जायगा। इस कविता-संग्रह का संपादन श्री मैथिलीशरण गुप्त ने किया है, प्रस्तावना आचार्य काका कालेलकर ने लिखी है और सब से ऊपर बात यह है कि इसे महात्मा गांधी का आशीर्वाद प्राप्त हुआ है। महात्मा जी लिखते हैं—"कविताएं मुझे अच्छी लगी हैं। हेतु स्पष्ट और निर्मल है।" कवि शिक्षित, भावुक, नवयुवक हैं और इस से पूर्व वह अंग्रेजी में भी पद्य-रचना का अभ्यास कर चुके हैं। अपने विषय में वह लिखते हैं—"मैं भी पहले कुछ 'छायावादी'-सा था। किंतु दरिद्रनारायण के दर्शन से मेरा स्वप्न टूट गया, हृदय सिहर उठा, और 'रोटी का राग' ध्वनित होने लगा। मैं मानता हूं कि 'रोटी जीवन नही है' और शायद उस का राग अलापना कविता का अपमान करना है, किंतु एक भूखे देश की अनंत वेदना को देख कर मैं कैसे चुप रहूं?"

कवि ने इन रचनाओं द्वारा अपनी शिष्ट, परिमार्जित रुचि का परिचय दिया है। परंतु हमें यह न समझना चाहिए कि इस प्रकार की कविताएं, जो कि देश की दीनता और कृषकों तथा परिश्रमी जनों के दुःख से आर्द्र हों, आधुनिक हिंदी में प्रथम बार लिखी गई है। हम इस संबंध में स्वयं श्री मैथिलीशरण गुप्त की कृतियों को भूल नहीं सकते। 'भारत-भारती', 'किसान' आदि रचनाओं की मूल-प्रेरणा प्रस्तुत कवि की प्रेरणा से अभिन्न थी। फिर भी कवि की इन रचनाओं का स्वागत होना चाहिए और उसे हमें प्रोत्साहन देना चाहिए।

कविताएं साधारणतया अच्छी हैं यद्यपि अनेक स्थलों पर उपदेश देने की प्रवृत्ति कवित्व में बाधक भी हुई है। एक अनुभव पाठक को यह भी हुए बिना न रहेगा कि यद्यपि इन रचनाओं में से बहुत सी देश के ग़रीबों की दशा पर आँसू गिराती है, फिर भी कवि उन से [illegible] नहीं स्थापित कर सका है [illegible] कवि जब तक यह [illegible] नही स्थापित

करता तब तक उस की कविता, अनुप्राणित न होगी। उदाहरणार्थ २१ वें पद्य की यह पंक्तियां देखिए—

हम तो निर्धन हैं जमीन पर
धूल धूसरित सो रहते हैं,
सोप क्रीम या इत्र नहीं कुछ,
अति गँवार इस से कहते हैं . . .

इन पंक्तियों में वस्त्रहीन काले स्वस्थ-बुद्धि किसान की पुकार नहीं है। यह तो उस सफ़ेदपोश की पुकार है, जो कदाचित् उतना काला नहीं है, और जिस के मन से सोप, क्रीम, इत्र की वासना बहिष्कृत नहीं हुई है। हमारे गरीबों को इस प्रकार के लेखकों से बहुत बचने की आवश्यकता है जो उन को ग़रीब कह कर दयाभाव प्रदर्शित करते से नज़र आते हैं। हमें तो ऐसे गायक चाहिएं जो कि अपने को उन से अभिन्न कर दें। फिर भी कवि में एक विनम्रता है जो कि शुभ-सूचक है, एक निष्ठा है जो कि अनुभव बढ़ने के साथ उस की लेखनी को बल देगी, और उस के इस निश्चय को पुष्टि प्रदान करेगी—जो उस ने पहले गीत के अंत में दिया है—

साधारण जीवन के सुख-दुख गाऊँगा आडंबर त्याग,
संपति-विद्या-हीन जनों का करुणामय रोटी का राग!

पुस्तक में ऐसे भी गीत हैं जो छायावादी तथा इतर कवियों की कृतियों से अभिन्न हैं। इन में हमें 'रोटी के राग' की ध्वनि नहीं मिलती। उदाहरन के लिए ३४ से ४० तक के गीत देखिए। इन से ज्ञात होता है कि कवि-हृदय मृदुल, भावुक, तरल है।

हार—लेखक, श्री पद्मकांत मालवीय। प्रकाशक, दि नेशलिस्ट न्यूज़पेपर्स कंपनी लिमिटेड, प्रयाग। पृष्ठ-संख्या ४८। मूल्य ।।।)

श्री पद्मकांत मालवीय हिंदी के सुपरिचित और सफल कवि हैं। प्रस्तुत पुस्तक उन की छठी कृति है। इस में २५ छोटी-छोटी कविताएं एकत्र की गई हैं। 'मधुशाला', 'प्रियतम न आए', 'स्वागत', 'साक़ी से', 'प्रेम का श्राप' आदि शीर्षकों से उन का विषय जाना जा सकता है। कवि उर्दू कविता से बहुत प्रभावित है, और इस बात को वह स्वतन्त्रता-पूवक स्वीकार करता ह अधिकाश कविताओं म एक कसक एक वेदना और वियोग का

भाव है। कवि जीवन के दुःखों को विस्मृत करने के लिए साक़ी को निमंत्रित करता है। कदाचित् इसी कारण उस का वर्गीकरण आधुनिक 'हालावादी' हिंदी कवियों के साथ किया जाता है। पद्मकांत जी की भाषा, सहज, सरस और उर्दू पुट लिए हुए होती है। यत्र-तत्र कुछ त्रुटियां भी रह गई है। जैसे 'परिचय' शीर्षक कविता में 'गर्दिश में है अय्याम मेरा' पंक्ति शुद्ध नहीं है। 'अय्याम' का अर्थ टिप्पणी मे भाग्य दिया हुआ है। परंतु शाब्दिक अर्थ दिन हुआ क्योंकि अय्याम योम (दिन) का बहुवचन है। शुद्ध पंक्ति होगी 'गर्दिश मे है अय्याम मेरे।' 'जुदा के लिए 'जुदा', 'बेकार' के लिए 'बेक़ार' आदि अवश्य छापे के गलतियां हैं। यों तो छापे की अशुद्धियों की संख्या इस छोटी पुस्तक में सैकड़ों पर पहुँचेंगी।

मीरा-पदावली—संपादिका, श्रीमती विष्णुकुमारी श्रीवास्तव 'मंजु'। प्रकाशक, हिंदी-भवन, लाहौर। पृष्ठ-संख्या ४२—१२०। मूल्य १)

प्रस्तुत संग्रह में सुयोग्य संपादिका ने मीराबाई के २०१ पद एकत्र किए हैं। पुस्तक विद्यार्थियों के काम की है। आरंभ में १६ पृष्ठों में संपादिका ने 'मीराबाई की जीवनी' दी है; और इस के बाद १० पृष्ठों में 'मीरा की कविता और उस की भाषा' पर विचार किया है। दोनों ही निबंध विचार और मनन के साथ लिखे गए है, और इन में मीरा-संबधी सुलभ और यथा-संभव प्रामाणिक सामग्री का समावेश कर लिया गया है। यों तो इस पुस्तक से शास्त्रीय ढंग से शोधे हुए मीरा के पदों के पाठ की आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती, फिर भी जब तक वह किंचित बृहद् कार्य विद्वानों द्वारा नहीं संपादित होता, तब तक प्रस्तुत पुस्तक मीरा के पदों के एक संग्रह-ग्रंथ का काम देगी। संग्रह के साथ जोड़ा गया डिंगल शब्द-कोष, टिप्पणियां, तथा अंतर्कथाएं विद्यार्थियों के लिए सहायक सिद्ध होंगी।

रा० ट०

नाटक

अशोकवन—मूल-लेखक, श्री मुद्दु कृष्ण। अनुवादक, श्री ब्रजनंदन शर्मा। प्रकाशक, हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, बंबई। पृष्ठ-संख्या ८०। १९३७। मूल्य ।।–)

हमारे साहित्य की यह एक बड़ी कमी है कि उस ने दक्षिण-भारत के ग्रंथ-रत्नो को अनुवादों द्वारा का कोई निश्चित प्रयत्न नही किया है दक्षिण-भारत की

भिन्न भाषाओं के साहित्यों का इतिहास पुराना है, और वे भाषाएं समृद्ध भी हैं। अब जब कि उत्तरी और दक्षिणी भागों का साहित्यिक सम्पर्क बढ़ रहा है, यह कमी और भी खटकती है। अतएव दक्षिणी भाषाओं के जिन ग्रंथो के अनुवाद हिंदी में हों उन का विशेष रूप से स्वागत होना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तिका में तेलुगू के दो एकांकी नाटकों का अनुवाद हमारे सामने आया है। मूल-लेखक श्री मुद्दु कृष्ण तेलुगू के आधुनिक लेखकों में अपना विशेष स्थान रखते है। दोनों नाटकों में पहला अर्थात् 'अशोकवन' अधिक महत्व रखता है। लेखक ने इस बात का अनुभव किया है कि रामायण के मुख्य पात्रो के चरित्र, जैसे कि वह हमारे सामने साधारणतया रक्खे जाते है शास्त्रीय दृष्टि से यथार्थ नही हैं। राम के देवत्व में उस का विश्वास नहीं है। उस के विचार में लेखको ने सदा राम के साथ पक्षपात और रावण के प्रति विपक्षपात किया है। श्री मुद्दु कृष्ण ने अपने चरित्रों को देवत्व और राक्षसत्व के कक्ष से उतार कर मानुषी कक्ष पर रक्खा है और तर्क-पूर्ण ढंग से उन्हें प्रस्तुत किया है। लेखक में दो प्रकार की प्रतिक्रियाएं काम कर रही है—एक तो 'आर्यत्व' के विरुद्ध 'अनार्यत्व' (किसी बुरे आशय मे नही) की; दूसरी परंपरागत विश्वास के विरुद्ध ऐतिहासिक समीक्षा की। संभव है कि यह दोनों प्रतिक्रियाए लेखक को भक्त-श्रेणी के पाठको में 'उग्र' और 'निरंकुश' का नाम दिलाएं। फिर भी यह प्रतिक्रियाएं स्वाभाविक हैं, ऐसा स्वीकार ही करना पड़ेगा। लेखक ने विशेष कर रावण और सीता के चरित्रों का अपने अनुसंधान के अनुसार 'उद्धार' किया है। जिस दृष्टिकोण को लेखक ने ग्रहण किया है, वह सब अशो में चाहे मान्य न हो विचारणीय अवश्य है। उस की पुष्टि के लिए लेखक ने अधिकाश वाल्मीकि के आधार पर एक विस्तृत 'कैफ़ियत' भी लिखी है, यद्यपि स्वयं वाल्मीकि पर 'आर्यत्व' के प्रति पक्षपात का लेखक ने आरोप किया है। यह 'कैफ़ियत' भी पठनीय है।

दूसरे नाटक 'अनारकली' में कोई विशेषता नही है। अकबर और सलीम के समय मे सोफ़े और मेज़ों का वर्णन किंचित् खटकता है।

दुबिधा—लेखक, श्री पृथ्वीनाथ शर्मा। प्रकाशक, हिंदी-भवन, लाहौर। पृष्ठ-संख्या ६८। १९३७। मूल्य ।।)

तीन अंक के इस छोटे से नाटक में लाहौर के शिक्षित संभ्रांत समाज का चित्रण मिलेगा नाटक की प्रमुख पात्री सुधा विलायत में शिक्षा प्राप्त एक युवती है जो एक नव

युवक बैरिस्टर, केशव, से प्रेम करती है और अपने संपन्न माता-पिता की अनुमति से उस से विवाह करने जा रही है। सुधा को यह नहीं ज्ञात है कि केशव का विवाह हो चुका है और उस के एक पुत्र भी है, और केशव स्वयं वस्तुस्थिति पर परदा डालने का प्रयत्न करता है। एक दूसरा शिक्षित नवयुवक, विनय, जो किसी समय सुधा के आकर्षण का पात्र रहा था, और जो वास्तविक स्थिति से परिचित है अपनी प्रेमिका की रक्षा करता है, और विवाह नहीं घटित होने देता। सुधा स्वभावतः कृतज्ञ है, और अपने को विनय के प्रति समर्पण करने के लिए तैयार; परंतु विनय यह देखते हुए कि वही सुधा और केशव के विवाह-विच्छेद का कारण बना, और वह स्वयं संपन्न नहीं है, सुधा से विवाह के लोभ का संवरण करता है। विनय के चरित्र का चित्रण अच्छा हुआ है। रचना साधारण कोटि की है।

रा० ट०

निबंध

निबंध-निचय—लेखक, श्री जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी; संपादक श्री दुलारेलाल भार्गव; प्रकाशक, गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ; पृष्ठ-संख्या, २४७। मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक के आठ चुने हुए निबंधों और भाषणों का संग्रह है। श्री चतुर्वेदी जी हिंदी के हास्यरस के प्रसिद्ध लेखक हैं। इस में के अधिकांश निबंध हिंदी साहित्य-सम्मेलन के विविध अवसरों पर पढ़े जा चुके हैं। कुछ निबंध साहित्यिक दृष्टि से महत्व-पूर्ण हैं और उन में हिंदी के व्याकरण और ब्रजभाषा-कविता के सौंदर्य के संबंध में बहुत सी जानने योग्य बातें बड़े ही रोचक ढंग से लिखी गई हैं। इन में "अनुप्रास का अन्वेषण" शीर्षक लेख तो इतना रोचक और साथ ही उपादेय सिद्ध हो चुका है कि कई परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में भी रक्खा गया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग में ही जो कि आधुनिक हिंदी गद्य का उदयकाल था, हिंदी में बालकृष्ण भट्ट तथा प्रतापनारायण मिश्र आदि कुछ उच्च-कोटि के साहित्यिक निबंध-लेखक हो गए हैं। इन के बाद अनुवादों का युग आया और फिर मौलिक उपन्यासों और कहानी-लेखकों का, जो कि अब तक जारी है। पर उच्च कोटि के साहित्यिक निबंध का तो एक प्रकार से पूर्ण अभाव है। यह एक तथ्य है कि निबंध भी साहित्य का एक उतना ही महत्त्वपूर्ण अंग है जितना कि कहानी या नाटक आदि निबंध के लिए

प्रतिभा के साथ-साथ गंभीर अध्ययन और विशेष ज्ञान की भी आवश्यकता है। लेखक को अपने विषय का विशेषज्ञ होना पड़ता है और थोड़े में बहुत कहने की शक्ति होनी अनिवार्य होती है। कदाचित् इन्हीं कारणों से हम आधुनिक हिंदी में साहित्यिक निबंधों का अभाव देखते हैं। दुर्भाग्य से हिंदी में निबंधों का उचित आदर भी नहीं है। परंतु यह संतोष की बात है कि लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों की निबंधावलियां क्रमशः निकल रही हैं। पर अभी बहुत सी निकलने को बाक़ी हैं। प्रस्तुत पुस्तक का इस दृष्टि से आदर होना चाहिए।

रामकृष्ण परमहंस—प्रकाशक, स्वामी सत्यानंद, श्री रामकृष्ण मिशन, लक्सा, बनारस। पृष्ठ-संख्या ३२०। मूल्य ॥=)

प्रस्तुत पुस्तक स्वामी रामकृष्ण की शताब्दी जयंती के अवसर पर आए हुए निबंधों और श्रद्धांजलियों का स्मारक-ग्रंथ है। स्वामी रामकृष्ण इस देश के अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के महापुरुष हो गए हैं। इस संग्रह में आए हुए लेख अधिकतर अध्यात्म, धर्म-चर्चा तथा दर्शन से संबंध रखते हैं, और लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों तथा विचारकों के लिखे हुए हैं। कुछ लेख केवल स्वामी रामकृष्ण की जीवनी तथा साधना से ही संबंध रखते हैं। पर सभी लेख सुपाठ्य और ज्ञानोत्तेजक हैं और पुस्तक धर्म-जिज्ञासुओं के विशेष काम की है।

ग० द्वि०

धूप-दीप—लेखक, श्री 'माधव'। प्रकाशक, गीताप्रेस, गोरखपुर। पृष्ठ-संख्या २१६। मूल्य ।=)

इस पुस्तक में लेखक के २१ स्फुट निबंध एकत्र किए गए हैं। 'संतों की प्रेमानुभूति', 'समर्पण की ज्वाला', 'प्रेमयोगिनी मीरा', 'कबीर का हृदय', 'जायसी की प्रेमानुभूति', 'मृत्यु क्या है ?', 'एकांत शांति' आदि शीर्षकों से पुस्तक के अंतर्गत विषयों का अनुमान हो जायगा। लेखक की भाषा में प्रवाह है, और शैली में एक प्रकार का धार्मिक उन्माद है। इस प्रकार के निबंधों में किसी भी विषय की शास्त्रीय विवेचना की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। धार्मिक वृत्ति के पाठकों के लिए पुस्तक मनोरंजक सिद्ध होगी। आरंभ मे श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार की लिखी 'निवेदन' के रूप में एक संक्षिप्त प्रस्तावना है।

रा० ट०

भाषाशास्त्र

पर्शियन इन्फ्लुएंस अन् हिंदी (अंग्रेजी)——(फ़ारसी का असर हिंदी पर)। लेखक, पंडित अंबिकाप्रसाद बाजपेयी। प्रकाशक, कलकत्ता यूनिवर्सिटी।

पंडित अंबिकाप्रसाद बाजपेयी ने एक फ़ेह्रिस्त उन फ़ारसी, अरबी और तुर्की शब्दों की तैयार की है जो हिंदी में इस्तेमाल हुए है। इन ३००० शब्दों को जमा करते समय यह विचार पैदा हुआ कि इन शब्दो के हिंदी में आने के कारण खोजे जाएं। इस संबंध मे हिंदी भाषा के इतिहास पर और फ़ारसी-हिंदी के मेल-जोल पर प्रकाश डालने के लिए यह निबंध लिखा गया। पुस्तक पहले हिंदी में लिखी गई थी, लेकिन इसे कलकत्ता यूनि-वर्सिटी ने अंग्रेजी रूप मे छपवाया है।

मुसलमानों के हिंदुस्तान मे आने का वर्णन करने और संस्कृत और फारसी भाषाओं के शब्दों की समानता दिखाने के बाद बाजपेयी जी हिंदी का प्राकृत भाषाओ से संबंध बताते है और फिर अपने वास्तविक विषय की ओर ध्यान देते है।

हिंदी में ग़ैर भाषाओं के शब्द किस तरह आए, इस सवाल का जवाब यह है कि मुसलमानों ने हिंदी में कविता लिखना आरंभ किया और अमीर खुसरो हिंदी के आदि कवि हुए। मुसलमान और हिंदू कवियों ने इन का अनुकरण किया और इस प्रकार एक मिश्रित भाषा का जन्म हुआ जिसे रेख़ता कहते है। बाजपेयी जी का विचार है कि रेख़ता ही नई हिंदी की माता है। रेख़ते के आगे चल कर दो रूप हो गए——एक उर्दू और दूसरा हिंदी कहलाया। इन में धीरे-धीरे भेद बढ़ा। हिंदी नागरी अक्षरों में लिखी जाती थी। और सस्कृत और प्राकृत सें इस की पुष्टि होती थी। उर्दू ने अरबी अक्षरों का सहारा लिया और फ़ारसी-अरबी शब्दों से अपना कलेवर बढ़ाया। इस के अलावा उर्दू फारसी साहित्य और इसलामी सभ्यता के अधीन हो गई। इन कारणो से दोनों भाषाएं एक-दूसरे से परे हो गई और अब इन का मिलना असंभव जान पड़ता है।

इतिहास यह बतलाता है कि हिंदी की उत्पत्ति हिंदू और मुसलमानों के योग से हुई और इस योग के कारण हिंदी में अनेक फ़ारसी-अरबी और तुर्की के शब्द घुल-मिल गए।

पुस्तक लिखने में विशेष कर शब्दों की फ़ेह्रिस्त तैयार करने में बाजपेयी जी ने

जिस मेहनत से काम किया है वह सब तरह सराहने योग्य है। परंतु यह मानना पड़ेगा कि पुस्तक शास्त्रीय ढंग से नहीं रची गई है। शब्दों की फ़ेहिरिस्त के साथ-साथ जिन पुस्तकों से वह लिए गए हैं, उन का उल्लेख ज़रूरी था। हिंदी भाषा पर जो फ़ारसी का प्रभाव पड़ा उस का संपूर्ण विश्लेषण नहीं किया गया; बहुत सी भाषा-संबंधी, व्याकरण-संबंधी और अर्थ-संबंधी बातें रह गईं। हिंदी भाषा की उत्पत्ति पर जो निबंध लिखा गया है वह वैज्ञानिक दृष्टि से संतोष-जनक नहीं है। इस पुस्तक ने हिंदी जानने वालों का ध्यान एक आवश्यक विषय की ओर दिलाया है, जिस पर हिंदी भाषा-विज्ञान के विद्यार्थियों को विचार करना चाहिए।

ताराचंद

इतिहास

राजपूताने का इतिहास जिल्द ३, भाग १। डूंगरपुर राज्य का इतिहास—लेखक, महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा। मुद्रक, वैदिक यंत्रालय, अजमेर।

पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा का नाम हिंदुस्तान के इतिहासकारों और पुरातत्ववेत्ताओं की सब से ऊंची श्रेणी में है। आप की कृतियों में 'भारतीय प्राचीन लिपि-माला', 'भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री', 'सोलंकियों का इतिहास', 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' इत्यादि पुस्तकें आप की विद्वत्ता और खोज की साक्षी है। परंतु आप का सब से गंभीर कार्य 'राजपूताने का इतिहास' है जो १९२४ से छपना आरंभ हुआ था। इस की दो जिल्दें छप चुकी हैं, और यह पुस्तक तीसरी जिल्द का पहला, भाग है। पहली और दूसरी जिल्दें कई खंडों में छपी हैं। पहली जिल्द के एक भाग में राजपूताने का गज़ेटियर है, जिस में भूगोल-संबंधी तथा अन्य आवश्यक बातों का वर्णन है, दूसरे में राजपूत-जाति की उत्पत्ति की जाँच की गई है और क्षत्रिय तथा राजपूत घरानों का इतिहास दिया है। इस के बाद उदयपुर राज्य का इतिहास आरंभ होता है, जो दो खंडों में समाप्त होता है।

तीसरी जिल्द से अन्य राज्यों के इतिहास का सूत्रपात होता है। इन में पहला डूंगरपुर राज्य है। इस भाग में ग्यारह अध्याय हैं और चार परिशिष्ट। पहले अध्याय में डूंगरपुर राज्य का—जिस का प्राचीन नाम वागड़ देश है—भूगोल-संबंधी वर्णन है। दूसरे में गुहिल वंश के वागड़ देश पर अधिकार प्राप्त करने से पहले का इतिहास है अगले

आठ. अध्यायों में गुहिल-वंश की विजय और वागड़ पर राजसत्ता स्थापित करने के समय से आज तक का वृत्तांत दिया है। ग्यारहवें अध्याय में राजवंश के संबंधियों और सरदारो का संक्षेप से हाल लिखा है।

गुहिल-वंश के राजा मेवाड़ में राज्य करते थे और चित्तौड़ इन की राजधानी थी। बारहवी शताब्दी में चित्तौड़ के राजा क्षेमसिंह के वड़े लड़के सामंतसिंह ने वागड़ देश पर हमला किया और वहां के राजा को मार उस के इलाक़े पर अपना अधिकार जमाया। सामंतसिंह का राज्य बहुत दिनों नहीं क़ायम रहा परंतु उस के उत्तराधिकारियों ने दुबारा वागड़ पर अधिकार किया और वड़ौदा को राजधानी बनाया। संभवतः सन् १३५८ मे रावल डूंगरसिंह ने डूंगरपुर नगर बसाया और इसे अपनी राजधानी नियत किया। डूंगरपुर का राज्य जिस समय स्थापित हुआ वह हिंदुस्तान के इतिहास में बड़ी हलचल का समय था। तुर्कों के हमलों से उत्तरी हिंदुस्तान पायमाल हो रहा था, और सोलंकियों और परमारो के विरोध से राजपूतों की शक्ति दिनोंदिन घटती जा रही थी। डूंगरपुर के छोटे राज्य का इन झगड़ों में उलझना अनिवार्य था, परंतु राज्य के हस्तक्षेप का प्रतिस्पर्धियों के भाग्य पर क्या प्रभाव पड़ा कहना कठिन है। जब गुजरात और मालवा राजपूतों के हाथ से निकल कर मुसलमान सुलतानों के क़ब्ज़े में आए और इन में तथा मेवाड़ के महारानाओ मे आपस में युद्ध होने लगे तो बीच की छोटी रियासतों का इन युद्धों से प्रभावित होना ज़रूरी था। मुगलों के हिंदुस्तान पर विजय पाने से इन युद्धों का अंत हुआ। डूंगरपुर का स्वामी महारावल उदयसिंह बाबर के विरुद्ध राना साँगा की सहायता करता हुआ खानवा की लडाई में मारा गया। उस के बाद उस के लड़कों में झगड़ा हुआ और राज्य दो भागों में बँट गया। जब अकबर ने राजपूताने पर चढ़ाई की तो डूंगरपुर और बाँसवाड़े के रावलो ने मुगलो की अधीनता स्वीकार कर ली। इस के बाद वह मुग़ल मन्सबदारों में शामिल हो गए। जब मुग़ल-साम्राज्य की अवनति और मराठों का उत्कर्ष हुआ तो डूंगरपुर के रावलो ने मराठों को खिराज दे कर अपने राज्य की रक्षा करनी चाही परंतु मराठों ने रियासत को बहुत तंग किया और अंत में सन् १८१८ में महारावल जसवंत सिह दूसरे ने ईस्ट इंडिया कपनी से अधीनता की संधि कर ली।

इस संक्षिप्त वर्णन में हिंदुस्तान के मध्यकालीन इतिहास की सभी बड़ी घटनाओ की झलक मिलती है जहां राजपूतों की वीरता और साहस का दिग्दर्शन होता है, उन के

आपस के वैर और द्वेष की तस्वीरें भी सामने आती हैं। यद्यपि राजपूताने के इतिहास की इस जिल्द में एक छोटे घराने की उन्नति और अवनति का ब्योरा है परंतु वह छोटे पैमाने पर हमारे बड़े देश के महान संघर्षों और विप्लवों को चित्रित करता है।

पंडित गौरीशंकर हीराचंद की कृतियों से जो जानकारी रखते हैं वह इस जिल्द मे इतिहास के उन सब गुणों को पाएंगे जो पहली जिल्दों में दिखाई देते हैं। इतिहास की सामग्री के इकट्ठा करने में इस अवस्था में इतनी गहरी खोज और ऐसा कठिन परिश्रम विरले ही लेखक का काम है। हम आप को बधाई देते है कि आप ने ऐसी बहुमूल्य पुस्तक तैयार की और आशा करते हैं कि आप की लेखनी से अभी ऐसी और जिल्दें निकलेंगी जिन के कारण हिंदुस्तानी लेखकों का माथा ऊँचा हो।

ताराचंद

अर्थशास्त्र

बीमा—लेखक, ठाकुर कल्याणसिंह जी शेखावत, बी० ए०, जागीरदार रियासत जयपुर और जोधपुर। प्रकाशक, प्रेमप्रकाश मुद्रणालय, जयपुर। पृष्ठ-संख्या ५०३। मूल्य साधारण संस्करण २॥); राज-संस्करण ४)

भारतवासी बहुत गरीब हैं। इन की आर्थिक दशा अत्यंत शोचनीय है। इन की आर्थिक दशा सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि देशवासी उन तरीक़ों के अनुसार समझ-बूझ कर कार्य करें जो वैज्ञानिक और शास्त्रीय दृष्टि से लाभदायक सिद्ध हो चुके हैं। इन सब तरीक़ों का अध्ययन अर्थशास्त्र में किया जाता है। भारतवासियों ने इस शास्त्र की खूब अवहेलना की है। जिस शास्त्र का ज्ञान प्रत्येक पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष के लिए आवश्यक है, उस के जानने वालों की संख्या बहुत ही कम है। इस का एक कारण हिंदी में अर्थशास्त्र पर उत्तम पुस्तकों की कमी है। अर्थशास्त्र का एक प्रधान अंग बीमा है। इस विषय पर हिंदी में एक भी पुस्तक अभी तक मेरे देखने में नहीं आई थी। समालोच्य पुस्तक ही इस विषय की हिंदी में प्रथम पुस्तक है, और बड़े परिश्रम के साथ सरल भाषा में लिखी गई है। इस में जीवन-बीमा-संबंधी सभी आवश्यक बातों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। परतु अग्नि-बीमा, समुद्र-बीमा, मोटर-बीमा इत्यादि पर साधारण तौर से ही विचार किया गया है इस पुस्तक के मुख्य हैं—बीमा का इतिहास बीमा के सिद्धात और उन

का व्यवहार, जीवन-बीमा की श्रेणियां, वार्षिक वृत्तियां, बीमापत्रों की शर्तें, भारत मे इस व्यवसाय की वर्तमान दशा इत्यादि। एक प्रकरण में विद्वान लेखक ने यह समझाया है कि अपने लिए बीमा कंपनी पसंद करने में किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

यदि पुस्तक के अंत में पारिभाषिक शब्दों की सूची और इंडेक्स दे दिया जाता तो पुस्तक की उपयोगिता बढ़ जाती। इस उत्तम पुस्तक लिखने के लिए हम ठाकुर कल्याणसिंह जी को हार्दिक बधाई देते है और आशा करते हैं कि हिंदी-संसार इस का उचित आदर करेगा।

दयाशंकर दुबे

देशदर्शन

जापान-रहस्य—मूल-लेखक, श्री चमनलाल। अनुवादक, श्री मुकुदीलाल श्रीवास्तव। प्रकाशक, काशी विद्यापीठ, बनारस। पृष्ठ-संख्या १६+२३८। मूल्य १।।)

हिंदी में जापान के संबंध में लिखी हुई कई पुस्तकें मिलेंगी। प्रस्तुत पुस्तक उन मे सब से नवीन और सुपाठ्य है। मूल-पुस्तक अंग्रेज़ी मे लिखी गई थी। लेखक ने निजी अनुभव और भ्रमण के आधार पर ही यह पुस्तक रची है। लेखक को अपने देश से असीम प्रेम है और उस ने पुस्तक इस ढंग से लिखी है कि पाठक इसे पढ़ कर उन सभी परिस्थितियो से राष्ट्रीय उन्नति के लिए प्रेरणा प्राप्त करें जिन्हो ने जापान को आधुनिक इतिहास मे इतना अग्रसर किया है। जापानी जीवन और संस्थाओं का लेखक ने सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन किया है। वह लिखते है—"मैं जापान या जापानी चीज़ों का अंधभक्त नही हूं, किंतु इस पुस्तक को लिखते समय मैंने सिर्फ़ यही लक्ष्य अपने सामने रक्खा है, कि जापान की उन सब प्रशसनीय बातों का वर्णन किया जाय, जिन से हम अपने राष्ट्र के पुनर्निर्माण के कार्य में सहायता प्राप्त कर सकें।" लेखक के मत में जापान की उन्नति का रहस्य 'केवल सस्ती मुद्रा तथा सरकार की आर्थिक सहायता' में नहीं छिपा हुआ है, वरन् जापानियो की गहरी देशभक्ति, राष्ट्र की एक भाषा, अनिवार्य शिक्षा, सम्राट् के प्रति भक्ति, सम्मिलित कुटुंबप्रथा, ईमानदार और संतुष्ट मज़दूर, आविष्कारक बुद्धि तथा अपने को स्थिति के अनुकूल बना लेने की क्षमता, सस्ती विद्युत्-शक्ति, गमनागमन के सस्ते साधन, संभ्रात महिलासमाज, प्रत्येक घर में रेडिओ का होना, सस्ते से सस्ते अखबार, साहस आदि पर है इस पुस्तक में पाठक इन सभी विषयों पर प्रकाश पावेंगे

योरुप की सुखद स्मृतियां—लेखक, स्वामी सत्यदेव, परिव्राजक। प्रकाशक, सत्यज्ञान-निकेतन, ज्वालापुर (यू० पी०)। पृष्ठ-संख्या ३४०। १९३७। मूल्य १॥)

हिंदी में यात्रा-संबंधी साहित्य उपस्थित करने में जिन महानुभावों ने विशेष रूप से योग दिया है उन में स्वामी सत्यदेव का नाम आगे आता है। अमरीका और कैलाश-यात्रा विषयक आप की पुस्तकों से हिंदी पाठक भली भाँति परिचित हैं। अपनी १९२३ की जर्मन-यात्रा पर भी आप एक पुस्तक प्रस्तुत कर चुके हैं। सन् १९२७ से १९३० तक के अपने यूरोप के अनुभव समालोच्य पुस्तक में लेखक ने दिए हैं। साथ ही १९३४ की योरुप-यात्रा की स्मृतियां भी इस पुस्तक में समाविष्ट कर दी गई हैं। स्वामी जी के ये भ्रमण-वृत्तांत अधिकांश हिंदी पत्रिकाओं में निकल चुके हैं।

स्वामी सत्यदेव की वर्णन-शैली बड़ी सजीव और रोचक होती है। पाठकों को इस पुस्तक द्वारा बर्लिन, विएना, पेरिस, कोलोन, प्राग आदि प्रसिद्ध नगरों की काल्पनिक सैर का आनंद तो प्राप्त होगा ही उन प्रदेशों के रहन-सहन, आचार-विचार, धार्मिक तथा नैतिक आदर्शों का ज्ञान भी प्राप्त होगा। स्वामी जी एक अहम्मन्य तथा देशभक्त सज्जन है, साथ ही उन्हों ने सरस हृदय पाया है। इस का परिचय पाठकों को सहज में हो जायगा। पुस्तक में यत्र-तत्र स्वामी जी की अपनी रची हुई कविताए भी उद्धृत हैं। यद्यपि इन में कवित्व-गुण विशेष रूप से व्यक्त नहीं है, फिर भी हमें रचयिता के भावुक, देशप्रेमी हृदय की झलक मिल जाती है।

अन्वेषण की कहानियां—लेखक, श्री मदनलाल जैन, एम्० ए०, एल्० टी०। प्रकाशक, मैकमिलन ऐंड कंपनी, कलकत्ता। पृष्ठ-संख्या २००। १९३७। मूल्य १)

साहसी जीवन की कथाएं प्रत्येक अवस्था के लोगों के लिए एक विशेष प्रेरणा रखती है। परंतु नवयुवकों की शिक्षा में उन का निश्चित और मूल्यवान् स्थान है। इस दृष्टि से श्री मदनलाल जैन की पुस्तक का स्वागत होना चाहिए। जिन साहसी पर्यटकों ने अपनी कठिन और बहुत अंशो में रोमांचकारी यात्राओं तथा अनुसंधान द्वारा आदि काल से आज तक हमारे भौगोलिक ज्ञान को विस्तार दिया है, उन की कहानियां मनोरंजक और शिक्षाप्रद दोनों ही हैं। पुस्तक में पाँचों महाद्वीपों और ध्रुवप्रदेशों की खोज के वृत्तांत का समावेश हुआ है। अंत की दो कहानियों में समुद्र के गर्भ की खोज और एवरेस्ट शिखर के आरोहन के वणन दिए गए है

पुस्तक की भाषा सहज-सरल और विषय के सर्वथा उपयुक्त है। इस में कुछ आवश्यक चित्र और मानचित्र भी दे दिए गए है, जिन से पुस्तक का मूल्य बढ़ गया है।

रा० ट०

स्फुट

पत्रकारकला—लेखक, श्री विष्णुदत्त शुक्ल। प्रकाशक, सत्साहित्य प्रकाशन मंदिर, कलकत्ता। द्वितीय संस्करण, १९३७। पृष्ठ-संख्या ३००। मूल्य २॥)

समाचारपत्र इस युग की महान शक्तियों में है। उन के संगठन, संचालन, तथा अन्य अंतरंग बातों के विषय में जानकारी साधारण पाठकों के लिए भी एक मूल्य रखती है। परंतु उन लोगों के लिए जो व्यवसाय-रूप में इस धंधे से संबद्ध हैं, यह जानकारी अनिवार्य हो जाती है। हम चाहें तो अंग्रेजी मे 'जर्नलिज़्म' अथवा पत्रकारकला पर हमें आज सैकड़ों पुस्तकें मिल सकती है। शुक्ल जी की पुस्तक हिंदी में अपने ढंग की एक ही पुस्तक है। इस में हमें समाचारपत्रों के इतिहास, सगठन, रिपोर्टिंग, संवाददाता, समाचार समितियों, प्रूफ-रीडिंग आदि विषयों पर अनेक उपयोगी बातें एकत्र संकलित मिलेगी। विषय को भारतीय पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। समालोचना और भेंट, पारिश्रमिक और पत्रकारों की शिक्षा-व्यवस्था, संपादन और पत्रकार-परिषद् आदि आवश्यक विषयों पर उपयोगी परिच्छेद हैं। पुस्तक आद्यंत व्यावहारिक दृष्टि से लिखी गई है। हम लेखक को इस की रचना पर बधाई देते हैं।

रा० ट०

काव्यामृतबिंदु—सपादक, पंडित ललितचंद्र रैणा; प्रकाशक, मोहन न्यूज़ एजेंसी, कोटा। पृष्ठ-संख्या ९६। मूल्य ।।=)

प्रस्तुत पुस्तक का विषय हिंदी अलंकार-शास्त्र है और यह इंटरमिडिएट तथा हाईस्कूल के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर संपादित की गई है। जो अलंकार कोर्स में हैं उन्हीं की परिभाषा सरल और सुबोध गद्य में विविध रीति-ग्रंथों के आधार पर दी गई है। उदाहरण विद्यार्थियों की सुविधा के लिए उन्हीं की पाठ्य-पुस्तकों से ही दिए गए हैं। पुस्तक शिक्षार्थियों के लिए उपयोगी है।

ग० द्वि

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

१९३७

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी, १९३७

संपादक—रामचंद्र टंडन

लेख-सूची

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्ला यूसुफ़ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्०। मूल्य १॥)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा। सचित्र। मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा। मूल्य १॥)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी। अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा। मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)। मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी०। सचित्र। मूल्य ६॥)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल। सचित्र। मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास। मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी०। मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य १॥)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्०। सचित्र। मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी। मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०। मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक श्रीयुत [illegible] रेउ मूल्य कपड़े की जिल्द ३) सादी जिल्द ३)

(१७) हिंदी, उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा मूल्य कपड़े की जिल्द १॥); सादी जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक—मिर्ज़ा अबुलफ़ज़्ल। मूल्य १)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)। मूल्य कपड़े की जिल्द ४); सादी जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना। मूल्य कपड़े की जिल्द ५॥); सादी जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए०। मूल्य ४॥) कपड़े की जिल्द; ४) सादी जिल्द।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार। मूल्य प्रत्येक भाग का कपड़े की जिल्द ५॥); सादी जिल्द ५)

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी० एस्०। सचित्र। मूल्य सादी जिल्द ६); कपड़े की जिल्द ६॥)

(२४) प्रेम-दीपिका—महात्मा अक्षर अनन्यकृत। संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य ॥)

(२५) संत तुकाराम—लेखक, डाक्टर हरिरामचंद्र दिवेकर, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस), साहित्याचार्य। मूल्य कपड़े की जिल्द २); सादी जिल्द १॥)

(२६) विद्यापति ठाकुर—लेखक, डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०। मूल्य १।)

(२७) राजस्व—लेखक, श्री भगवानदास केला। मूल्य १)

(२८) मिना—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक, डाक्टर मंगलदेव शास्त्री, एम्० ए०, डी० फ़िल्०। मूल्य १)

(२९) प्रयाग-प्रदीप—लेखक, श्री शालिग्राम श्रीवास्तव। मूल्य कपड़े की जिल्द ४); सादी जिल्द ३॥)

(३०) भारतेंदु हरिश्चंद्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल्-एल्० बी०। मूल्य ५)

(३१) हिंदी कवि और काव्य—(भाग १) संपादक, श्रीयुत गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम्० ए०, एल्-एल० बी०। मूल्य सादी जिल्द ४॥); कपड़े की जिल्द ५)

हिंदुस्तानी एकेडेमी के उद्देश

हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्देश हिंदी और उर्दू साहित्य की रक्षा, वृद्धि तथा उन्नति करना है। इस उद्देश की सिद्धि के लिए वह

(क) भिन्न भिन्न विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों पर पुरस्कार देगी।

(ख) पारिश्रमिक दे कर या अन्यथा दूसरी भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित करेगी।

(ग) विश्व-विद्यालयों या अन्य साहित्यिक संस्थाओं को रुपए की सहायता दे कर मौलिक साहित्य या अनुवादों को प्रकाशित करने के लिए उत्साहित करेगी।

(घ) प्रसिद्ध लेखकों और विद्वानों को एकेडेमी का फ़ेलो चुनेगी।

(ङ) एकेडेमी के उपकारकों को सम्मानित फ़ेलो चुनेगी।

(च) एक पुस्तकालय की स्थापना और उस का संचालन करेगी।

(छ) प्रतिष्ठित विद्वानों के व्याख्यानों का प्रबंध करेगी।

(ज) ऊपर कहे हुए उद्देश की सिद्धि के लिए और जो जो उपाय आवश्यक होंगे उन्हें व्यवहार में लाएगी।